द्वितीय संस्करण की भूमिका

पुस्तक का नवीन पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। पुस्तक के प्रथम संस्करण का अध्यापक-अध्येयता समाज ने समुचित स्वागत किया जिससे एक वर्ष के अन्दर ही द्वितीय संस्करण की आवश्यकता पड़ी। पुस्तक की लोकप्रियता को देखते हुए इसे और भी अधिक आधुनिक एवं दिनाप्त (up-to-date) बनाने के प्रयास किए गए हैं। पुस्तक में आद्योपान्त यह प्रयास किया गया है कि भाषा बोधगम्य एवं सरल बनी रहे। आशा है पुस्तक का प्रस्तुत संस्करण विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

लेखक द्वय

विषय-सूची

(अ) कृषि

(ब) उद्योग व व्यापार

(स) यातायात

I

भारतीय कृषि तथा इसकी मुख्य समस्याएँ : कृषि उत्पादकता

(Indian Agriculture and its Main Problems : Agricultural Productivity)

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्त्व—कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ है। इसीलिए जान रसल ने एक स्थान पर लिखा है कि "यदि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में सुधार करना है तो वहाँ की कृषि की उन्नति करनी चाहिए।" स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में "कृषि को सर्वाधिक प्राथमिकता देने की जरूरत है। यदि कृषि असफल रहती है तो सरकार और राष्ट्र दोनों असफल रहते हैं।" निम्नलिखित विवरण से भारतीय कृषि का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा—

(1) **राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत**—राष्ट्रीय आय में कृषि व उससे सम्बद्ध व्यवसायों, जैसे पशुपालन, वानिकी (Forestry) आदि का हिस्सा लगभग 41% है। कोई भी दूसरा ऐसा व्यवसाय नहीं है जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय का इतना बड़ा भाग उत्पन्न होता है। संसार के अन्य उन्नतिशील देशों की राष्ट्रीय आय में कृषि के अनुपात का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अधिक उन्नतिशील देशों की राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग बहुत कम है। उदाहरणार्थ अमेरिका की राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग 5%, कनाडा में 7% तथा आस्ट्रेलिया में 13% है, जबकि भारत में यह लगभग 42% से भी अधिक है।

(2) **कृषि जीविका का स्रोत**—भारत में कृषि जीविका का प्रमुख स्रोत है। प्रति दस में लगभग सात व्यक्ति अर्थात् 67% कृषि पर निर्भर है, जबकि इङ्गलैण्ड, अमेरिका, कनाडा इत्यादि देशों में कुल जनसंख्या का 20% से भी कम भाग कृषि पर निर्भर है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत में कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या का अनुपात स्थिर-सा है, परन्तु इङ्गलैंड व अमेरिका जैसे विकसित देशों में वह घट रहा है, अर्थात् लोग कृषि से अन्य उद्योगों में जा रहे हैं।

(3) **कृषि विभिन्न उद्योगों के कच्चे माल का प्रमुख स्रोत**—भारन में कृषि के महत्त्व का कारण यह है कि इससे छोटे-बड़े सभी उद्योगों के लिए कच्चे माल की

पूर्ति होती है। सूती वस्त्र, चीनी, जूट तथा बागान उद्योग, ये सब कच्चे माल के लिए सीधे कृषि पर निर्भर हैं। बहुत से कुटीर व लघु उद्योग भी इससे चलते हैं।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्त्व**—भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ, जैसे चाय, तम्बाकू, तिलहन, मसाले आदि कृषि वस्तुएँ ही हैं। भारत के निर्यात के मूल्य का लगभग 48% प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से कृषि से ही प्राप्त होता है। आज के युग में निर्यात का भारत जैसे विकासशील किसी भी देश में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(5) **सरकारी आय-व्ययक की कृषि पर निर्भरता**—अपने देश में केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बजट बहुत कुछ कृषि पर निर्भर करते हैं, क्योंकि देश की अधिकांश जनता की आय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि से सम्बन्धित रहती है। अतः कर आदि के रूप में उसकी देय-क्षमता कृषि की स्थिति से प्रभावित होती है। यही कारण है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का आय-व्ययक (बजट) कृषि की स्थिति का अवलोकन करके ही विधान सभाओं और लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।

(6) **खाद्यान्न एवं कच्चे माल की प्राप्ति**—खाद्य पदार्थ किसी भी देश की जनता की प्राथमिक आवश्यकता होती है। इसकी सम्पूर्ण आवश्यकता के 90% से 95% तक की पूर्ति कृषि से होती है, अन्यथा आयात में अधिक विदेशी विनिमय करना पड़ता। आशा है, अब सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति देश में ही हो जाएगी।

(7) **आर्थिक विकास के लिए महत्त्व**—कृषि विकास आर्थिक विकास की कुंजी है। प्रो० काल्डोर ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक विकास की विशेषताएँ' में लिखा है कि कृषि-प्रगति, औद्योगिक प्रगति के लिये एक आवश्यक पूर्व शर्त है। इङ्गलैण्ड में सर्वप्रथम कृषि-क्रान्ति हुई, उसके बाद औद्योगिक क्रान्ति आई। प्रो० फिशर ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक प्रगति और सामाजिक सुरक्षा' में इस तथ्य पर जोर दिया है कि आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि विकास को प्रथम स्थान मिलना चाहिए।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान कृषि एवं उद्योग के बीच अन्तर्सम्बन्ध काफी घनिष्ठ हो गया है। यह अन्तर्सम्बन्ध और आत्म-निर्भरता निम्न बातों से स्पष्ट होती है—(क) कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र और इसी प्रकार औद्योगिक क्षेत्र से कृषि क्षेत्र को कच्चे माल तथा अन्य आगतों की पूर्ति; (ख) ग्रामीण जनसंख्या के लिये आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं जैसे—कपड़ा, फर्नीचर आदि की पूर्ति; (ग) औद्योगिक क्षेत्र को मजदूरी वस्तुओं की पूर्ति; (घ) सामाजिक उपरिसेवाओं जैसे मशीनों, नदी-घाटी परियोजनाओं, सड़कों आदि के विकास के लिए औद्योगिक क्षेत्र द्वारा आवश्यक पदार्थों की पूर्ति।

(8) **उपभोग में कृषि पदार्थों का महत्त्व**—भारत में कुल घरेलू उपभोग का लगभग 60% और घरेलू वस्तु उपभोग का 85% प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कृषि पदार्थ अथवा उनके द्वारा निर्मित वस्तुएँ ही होती हैं।

अन्य महत्व

(अ) आर्थिक नियोजन में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसका प्रभाव उद्योग-धन्धों व वाणिज्य, व्यापार तथा यातायात के साधनों पर पड़ता है।

(ब) भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण देश में वस्तुओं का मूल्य-स्तर विशेष रूप से कृषि उद्योगों से प्रभावित होता है।

(स) कृषि भारत की परिवहन-व्यवस्था का मुख्य अवलम्बन है, क्योंकि रेलवे, सड़क यातायात का अधिकांश व्यापार कृषि वस्तुओं को लाने ले जाने से ही प्राप्त होता है।

(द) भारतीय अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान होने के कारण सदैव से त्रिकेन्द्रित रही है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का महत्त्वपूर्ण **स्थान होने के कारण ही डा० वी० के० आर० वी० राव** ने कहा, "यदि पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास के पहाड़ को लाँघना है तो कृषि के लिए निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करना आवश्यक है।"

वास्तव में कृषि हमारे देश में केवल जीविकोपार्जन का साधन ही नहीं बल्कि अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ है। राष्ट्र की समृद्धि, योजनाओं की सफलता, राजनैतिक स्थि-रता सभी कृषि के विकास पर निर्भर हैं।

भारत में कृषि की प्रमुख विशेषताएँ

1. **आजीविका का प्रमुख स्रोत**—भारत में कृषि लोगों की आजीविका का प्रमुख स्रोत है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार कार्यशील जनसंख्या का 69% भाग कृषि से आजीविका प्राप्त करता है।

2. **अदृश्य बेरोजगारी**—भारतीय कृषि अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि यहाँ अदृश्य बेरोजगारी गम्भीर रूप से विद्यमान है। इसका कारण यह है कि यहाँ कृषि में आवश्यकता से अधिक लोग आश्रित हैं।

3. **श्रम प्रधान कृषि**—भारतीय कृषि श्रम-प्रधान है, क्योंकि एक तो यहाँ खेतों का आकार छोटा होने और कृषकों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से पूँजीगत साधनों और कृषि उपकरणों का अधिक प्रयोग संभव नहीं है और दूसरी ओर जन-संख्या की अधिकता के कारण श्रम सरलता से कम मजदूरी पर उपलब्ध हो जाता है।

4. **भारतीय कृषि मानसून का जुआ**—भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि कृषि क्षेत्र का उत्पादन मानसून पर आश्रित रहता है। यदि वर्षा अच्छी हो जाती है तो कृषि में समृद्धि होती है और यदि वर्षा पर्याप्त नहीं होती तो अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

5. **कृषि जोतों का छोटा आकार**—भारत में औसत कृषि जोत न केवल बहुत छोटी हैं, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हैं। खेतों का आकार छोटा होने से श्रम और पशु-शक्ति का भारी अपव्यय होता है और कृषि की आधुनिक प्रणाली का उपयोग नहीं हो पाता।

6. **निम्न कृषि उत्पादकता**—भारतीय कृषि की एक विशेषता यह भी है कि उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादकता और प्रति श्रमिक उत्पादकता दोनों ही बहुत कम हैं।

7. **उत्पादन की परम्परागत तकनीक**—भारत में कृषि तकनीक परम्परागत है। अतीतकाल से भारतीय कृषक जिन रीतियों का प्रयोग करते आ रहे हैं उनमें योजना अवधि के प्रथम 15 वर्ष तक विशेष परिवर्तन नहीं हुए थे। 1964-65 से गेहूँ का उत्पादन करने वाले प्रदेशों में, जिनमें पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश उल्लेखनीय हैं, कृषि विधियों में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। परन्तु जब हम कृषि के स्वरूप को समग्र रूप से देखते हैं तो आज भी कृषि तकनीक परम्परागत ही दृष्टिगोचर होती है।

8. **आबंटन कुशलता**—प्राय: यह समझा जाता है कि भारत में न केवल कृषि विधियाँ परम्परागत हैं बल्कि भारतीय कृषक आबंटन कुशलता पर कोई ध्यान नहीं देता। परन्तु डब्ल्यू० डी० हापर ने इस धारणा का विरोध किया है। उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जिले के सेनापुर गाँव के अपने अध्ययन के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि सेनापुर गाँव गरीब है, परन्तु उपलब्ध तकनीकी साधनों के भीतर आबंटन कुशलता का स्तर ऊँचा है।

9. **खाद्यान्न फसलों की प्रमुखता**—कृषि फसलों की दृष्टि से भारतीय कृषि में खाद्यान्न फसलों की प्रमुखता रही है। देश के कुल कृषि क्षेत्र के लगभग 75% भाग में खाद्यान्न फसलों तथा 25% भाग में व्यापारिक फसलों का उत्पादन किया जाता है।

10. **महाजनी पूँजी और ग्रामीण ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषि पर महाजनी पूंजी का नियन्त्रण और ऋणग्रस्तता छोटे कृषकों के जीवन का सामान्य लक्षण है। ऋणग्रस्तता से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि ऋण का सापेक्ष भाग छोटे किसानों पर अधिक है। आज भी एक-तिहाई कृषि-साख महाजन तथा साहूकार देते हैं। इस वर्ग की अनुचित कार्यवाहियाँ सर्वविदित हैं। अमित भादुड़ी के अनुसार तो पश्चिमी बंगाल में अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था का आधार भी महाजनी शोषण है।

11. **कृषि क्षेत्र में विविधता**—भारत एक विशाल देश है। भौगोलिक दृष्टि से इस देश में मिट्टी, वर्षा, तापमान, सतही पानी की उपलब्धि की दृष्टि से अन्तर इतने अधिक हैं कि एक ही राज्य के कुछ जिलों के लिये उपयुक्त कार्यक्रम अन्य जिलों की दृष्टि से बिल्कुल अनुपयुक्त हो सकता है।

भारत के कृषिक्षेत्र में विभिन्न विविधताओं के बीच यदि कोई समानता है वह यही है कि देश के सभी राज्यों में ग्रामीण क्षेत्र में 1960-61 के मूल्यों के आधार पर 15 रु० मासिक से कम आय वाले लोगों का प्रतिशत बढ़ रहा है।

भारत में कृषि उत्पादकता
(Agricultural Productivity in India)

भारत में कृषि उत्पादकता के सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन दल ने अपने प्रति-

वेदन में लिखा है, "भारतीय कृषि के उच्चतम उत्पादकता की किसी देश की उच्चतम उत्पादकता से तुलना की जा सकती है लेकिन भारत की औसत उत्पादकता बहुत कम है।"[1]

कृषि क्षेत्र में उत्पादकता की समस्या पर दो पहलुओं से विचार किया जा सकता है—(अ) प्रति हेक्टर उत्पादकता (भूमि उत्पादकता) और (ब) प्रति-श्रमिक उत्पादकता (श्रम उत्पादकता)। सामान्यतया कृषि क्षेत्र में उत्पादकता से तात्पर्य प्रति हेक्टर उत्पादन की मात्रा से होता है। भारतीय कृषि में उत्पादकता का स्तर दोनों ही दृष्टियों से नीचा है। जैसा कि निम्न आंकड़ों से स्पष्ट है :

प्रति हेक्टेयर उत्पादिता विभिन्न देशों में 1979

(किलोग्राम प्रति हेक्टेयर)

वस्तु	उत्पादिता	वस्तु	उत्पादिता
गेहूँ		गन्ना	
फ्रांस	3760	अमेरिका	84976
इटली	2682	आस्ट्रेलिया	82069
अमेरिका	2039	चीन	69950
भारत	1410	भारत	52903
चावल		मूंगफली	
जापान	5503	अमेरिका	2763
अमेरिका	5244	जापान	1730
चीन	3394	चीन	1271
भारत	1667	भारत	757

स्रोत—Indian Agriculture in Brief, 17th, Edition.

सम्पूर्ण भारत के लिए, मूल्य की दृष्टि से, भूमि उत्पादकता 1,037 रुपये प्रति हेक्टेयर है। लेकिन क्षेत्रीय दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में कृषि उत्पादकता में समानता नहीं है। जिस स्थानों पर भूमि उपजाऊ है तथा अन्य सुविधायें, जैसे सिंचाई आदि उपलब्ध हैं तथा जहाँ नकद फसल अधिक होती है वहाँ प्रति हेक्टेयर उत्पादन का मूल्य अधिक है, जैसे—केरल में 2,716 रुपये, पंजाब 1,859 रुपये, उत्तर प्रदेश 444 रुपये, हरियाणा 1,467 रुपये, मध्यप्रदेश 539 व राजस्थान 461 रुपये।

भारतीय कृषि में अन्य देशों की तुलना में श्रम उत्पादकता (Labour Productivity) कम है जो डालरों में 162 डालर है जबकि कनाडा में 8,126, अम-

1. निम्न उत्पादकता के कारण ही भारतीय कृषि पिछड़ी हुई है तथा यही कारण भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याओं का भी है।

रीका में 2,408, जापान में 2,265, ब्रिटेन में 2,057 है। भूमि उत्पादकता की भाँति श्रम उत्पादकता भी देश के विभिन्न भागों में समान नहीं है। जैसे—यह संपूर्ण भारत के लिए, 1,213 रुपये है। किन्तु पंजाब में 3,195 रु०, हरियाणा में 2,922 रु०, गुजरात में 1,457 रु०, उ० प्र० में 1,236 रु०, राज० में 1,129 रु०, महाराष्ट्र में 949 रु०, म० प्र० में 856 रु० और बिहार में 755 रु० है।

भारत में निम्न कृषि उत्पादकता के कारण

यद्यपि योजना काल में कृषि उत्पादकता में कुछ सुधार हुआ है फिर भी भारत में कृषि उत्पादकता अभी कम है। भारत में कृषि उत्पादकता के कम होने के कारणों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है जैसा कि आगे चार्ट में दर्शाया गया है—
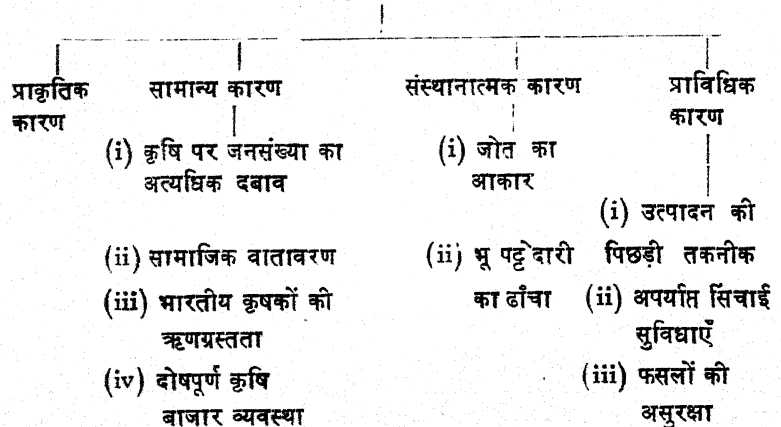
1. प्राकृतिक कारण

जैसा कि हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। यहाँ वर्षा काफी अनिश्चित रहती है। वर्षा कम होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और वर्षा अधिक होने से फसलें नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार कृषि उत्पादन में उच्चावचन का प्रमुख कारण भारतीय कृषि की प्रकृति पर अधिक निर्भरता हैं।

2. सामान्य कारण

(i) कृषि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव—भारत की लगभग 67% जनसंख्या अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर है, परन्तु इस 67% कृषि जनसंख्या द्वारा कुल राष्ट्रीय आय का 40% उत्पन्न किया जाता है। इसका कारण यह है कि कृषि पर आवश्यकता से अधिक लोग आश्रित हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली के

कारण बहुत से श्रमिक एक ही खेत पर काम करते हैं, जो ऊपर से देखने पर तो कार्यरत लगते हैं किन्तु वास्तव में बेकार होते हैं। वे अदृश्य रूप से बेकार रहते हैं, क्योंकि उनके द्वारा सम्पूर्ण उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हो पाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए 5 व्यक्तियों का एक कृषक परिवार भूमि के एक टुकड़े पर कार्य कर रहा है और उससे 30 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। परन्तु यदि 5 व्यक्ति की अपेक्षा 3 व्यक्ति ही इस भूमि के टुकड़े को जोतते हैं, तो भी 30 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहली परिस्थिति में यह प्रतीत होता था कि 5 व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त है, परन्तु वास्तविक परिस्थिति यह है कि केवल 3 व्यक्तियों के लिए ही रोजगार प्राप्त है। प्रो० नर्क्स ने इस स्थिति को अदृश्य बेरोजगारी या अतिरिक्त श्रम का नाम दिया है। जब तक भारतीय कृषि से जनसंख्या के अत्यधिक दबाव को कम नहीं किया जायगा, तब तक श्रम उत्पादिता में वृद्धि की सम्भावना नहीं है। कृषि पर जनसंख्या का दबाव अधिक होने का तात्पर्य यह हुआ कि एक निश्चित भूमि की मात्रा पर आवश्यकता से अधिक लोग काम करते हैं, जो सम्पूर्ण उपार्जित सम्पत्ति खा जाते हैं और बचत कुछ भी नहीं होती जिसका विनियोग कृषि के आगे के विकास के लिए जा सके।

(ii) **सामाजिक वातावरण**—भारतीय गाँव का सामाजिक वातावरण कृषि विकास में बाधक है। भारतीय कृषक अशिक्षित, अज्ञानी, अन्धविश्वासी, रूढ़िवादी एवं भाग्यवादी होने के कारण खेती के पुराने तरीकों से ही पूर्णतया सन्तुष्ट है और आर्थिक प्रगति का विचार उसे प्रेरित नहीं करता। ग्रामीण क्षेत्रों में जाति-प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली की अधिक विद्यमानता के कारण कृषकों में उस प्रेरणा का अभाव है जिससे उत्पादकता वृद्धि को प्रोत्साहन मिल सके, अतः जब तक पिछड़ेपन को स्थायी रखने वाला वर्तमान वातावरण परिवर्तित नहीं हो जाता तब तक कृषि की प्रगति की कोई संभावना नहीं है।

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसी दोषपूर्ण सामाजिक वातावरण के कारण भारत में कृषि उत्पादकता कम है। डब्ल्यू डेविड हापर सेनापुर गाँव के अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय कृषक अपने भौतिक स्रोतों का कुशलता के साथ पूरा-पूरा उपयोग करते हैं। जी० एस० सहोटा भी भारतीय कृषि में साधनों के आबंटन के विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'इस दावे का समर्थन कर पाना कठिन है कि भारतीय कृषक रूढ़ियों से ग्रस्त हैं और उनका आचरण विवेकपूर्ण एवं मितव्ययी नहीं है अथवा श्रम की सीमांत उत्पादकता शून्य है अथवा किसी भी प्रकार की पूंजी की सीमांत उत्पादकता अधिक है।"

(iii) **भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषक ऋण के बोझ से लदे हैं। महाजनों की शोषण-नीति के कारण "भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है और ऋण में ही प्राण त्याग देता है।" अतः भारतीय कृषकों के सामने वित्तीय कठिनाइयाँ हैं और वे भूमि-सुधार आदि में पर्याप्त पूंजी लगाने में असमर्थ हैं। इसके कारण भी हमारी कृषि की उपज कम है।

(iv) **दोषपूर्ण कृषि बाजार व्यवस्था**—भारत में कृषि-वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए सुसंगठित और सुव्यवस्थित बाजार का अभाव रहा है। अतः वे अपनी कृषि से उत्पादित वस्तुओं की बिक्री उचित मूल्य पर नहीं कर पाते। इस दोषपूर्ण कृषि-बाजार व्यवस्था के कारण कृषकों को अपने परिश्रमों का उचित पुरस्कार नहीं मिल पाता। अपने यहाँ उपजों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का अभाव है, एवं प्रामाणिक नाप-तौल की व्यवस्था नहीं है। किसान और उपभोक्ता के बीच अनेक मध्यस्थ हैं जो किसानों का शोषण करते हैं। इन सबका प्रभाव कृषि पर बुरा पड़ता है। कृषि उत्पादन से जो बचत कृषि और कृषकों के लाभ के लिए होनी चाहिए वह कृषकों द्वारा उत्पादक वस्तुएँ सस्ते भाव पर खरीद कर साहूकार, महाजन और मध्यस्थ खा जाते हैं। अतः कृषि एवं कृषकों की स्थिति सुधारने के लिए बचत नहीं हो पाती है।

3. संस्थानात्मक कारण

(i) **जोत का आकार**—भारत में औसत जोतें न केवल बहुत छोटी हैं, बल्कि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई हैं। निम्न आँकड़ों से विदित होता है कि अन्य देशों की तुलना में भारत में जोत का औसत आकार कितना छोटा है—

कुछ चुने हुए देशों में जोत का औसत आकार

देश	जोत का औसत आकार	देश	जोत का औसत आकार
अमेरिका	145	बेलजियम	14
इंग्लैण्ड	20	भारत	5.4
फ्रांस	20	चीन	35

भूमि का आकार तो छोटा है ही, खेती का आकार भी छोटा है, जिसका भारतीय कृषि की उत्पादिता पर बहुत ही बुरे प्रभाव पड़ते हैं। इससे समस्त श्रम और पशुशक्ति का भारी अपव्यय होता है। कृषि की आधुनिक प्रणाली का उपयोग नहीं हो सकता। सिंचाई में कठिनाई होती है व किसानों में झगड़े और मुकदमेबाजी की दुष्प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं। बहुत-सी भूमि, अति छोटे टुकड़े होने के कारण परती रह जाती है।

(ii) **भू पट्टेदारी का ढाँचा** (Pattern of Land Tenure)—कृषि की कम उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण जमीन जोतने वालों के लिए उचित प्रोत्साहन का अभाव रहा है। यद्यपि अब जमींदारी प्रथा का अन्त किया जा चुका है और विभिन्न राज्यों में काश्तकारी विधान (Tenancy Legislation) लागू हो चुका है, फिर भी स्थिति संतोषजनक नहीं है, क्योंकि काश्तकार भूमि का स्वामी नहीं है और जमीन पर खेती करने के बदले उसे भारी लगान देना पड़ता है। परिणामतः किसान

कृषि उत्पादिता में कोई विशेष रुचि नहीं लेता है। जमींदारी, मालगुजारी, रैयतवारी की समाप्ति के पूर्व तो स्थिति और भी बुरी थी।

4. प्राविधिक कारण

(i) **उत्पादन की पिछड़ी तकनीक या प्रविधि**—(अ) निर्धन व परम्परावादी होने के कारण भारतीय कृषक उत्पादन की पुरानी और अक्षम विधियों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं। (ब) उत्पादन में वृद्धि के लिए उपयुक्त और पर्याप्त खाद आवश्यक है, परन्तु भारत में गोबर की खाद और उर्वरक दोनों की ही बहुत कमी है। (स) कृषि उत्पादिता में वृद्धि के लिये अच्छी किस्म के बीज आवश्यक हैं, परन्तु भारतीय किसान बीजों की किस्म के बारे में उदासीन रहे हैं। कृषि विभाग और बीज-गुणन फार्म (Seed Multiplication Farms) सुधरे बीज के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। उपयुक्त मात्रा में अच्छी खाद की उपलब्धि की भी सुविधाएँ बढ़ाई जा रही हैं। परम्परागत कृषि-प्रणाली के दोषों को दूर करने के भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। स्पष्ट है कि भारत में कृषि की कम उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन की पिछड़ी तकनीक है।

आयर तथा हेडी की जाँच के अनुसार अमरीका में 1939 से 1961 के मध्य मक्का के प्रति हेक्टर के उत्पादन में जो वृद्धि हुई, उसमें 36% संकरण किस्मों के बीजों के प्रयोग, 81 प्रतिशत उर्वरकों के प्रयोग, 18 प्रतिशत क्षेत्रीय विशिष्टीकरण तथा 15 प्रतिशत दूसरे कारणों से हुई थी। इस प्रकार की जाँचों से प्रभावित होकर भारत में भी उर्वरकों और अधिक उपज देने वाले बीजों के अधिकाधिक प्रयोग पर जोर देकर हरित क्रांति का प्रयास किया गया है जिसमें केवल आंशिक सफलता ही मिली है।

(ii) **अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएँ** –कृषि के पिछड़ेपन का एक मूल कारण यह है कि हमारे देश के अधिकांश कृषकों को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है और कृत्रिम सिंचाई सुविधाएँ बहुत ही कम उपलब्ध हैं। कुल खेती योग्य भूमि के केवल 22% में ही सिंचाई होती है। इसलिए भारतीय कृषि को वर्षा का जुआ कहते हैं। यदि वर्षा हो जाय, तो अच्छी फसल उत्पन्न हो जाती है अन्यथा नहीं। यही नहीं, सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाओं के कारण भारत में केवल इकहरी फसल ही पैदा की जाती है। परिणामत: प्रति एकड़ तथा प्रति श्रमिक उत्पादिता का स्तर बहुत कम है।

(iii) **फसलों की असुरक्षा**—यद्यपि नियोजन काल में फसलों की सुरक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, लेकिन अभी भी फसलों की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो पाती और अनेक प्रकार की बीमारियों से उनकी क्षति होती है, अत: कृषि की उत्पादकता कम रह जाती है। एक अनुमान के अनुसार फसलों की असुरक्षा के कारण भारत में लगभग 5% की हानि होती है।

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने अथवा कृषि विकास हेतु सुझाव

जब तक भारतीय कृषि की उपर्युक्त समस्याओं का समाधान नहीं किया जायगा तब तक भारतीय कृषि का विकास सम्भव नहीं है। भारतीय कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था के जिन कारणों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन्हें दूर करने से ही भारतीय कृषि का स्थायी सुधार व विकास सम्भव है। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव इस प्रकार है :—

(1) **संस्थानात्मक उपाय**—व्यावसायिक ढाँचे में इस प्रकार का परिवर्तन किया जाना चाहिये कि केवल 50% लोग ही कृषि पर निर्भर रह जायँ। इस हेतु हमें ग्रामीण जनसंख्या के लिये वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी प्रकार भूमि-उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या में चकबन्दी और सहकारी खेती का निर्माण अन्तिम समाधान सिद्ध हो सकता है। भू-पट्टेदारी की समस्या का समाधान काश्तकारी विधान को प्रभावशाली ढंग से लागू करके तथा सहकारी खेती का निर्माण करके किया जा सकता है।

(2) **तकनीकी उपाय**—कृषि उत्पादिता में वृद्धि करने के लिए सघन कृषि प्रणाली अपनायी जानी चाहिये। भारतीय सरकार ने इस बात का अहसास करते हुए पहले ही सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम को प्रारम्भ कर दिया है। बढ़िया किस्म के उपकरणों का प्रयोग, उर्वरक का उपयोग, उन्नत बीजों का प्रयोग तथा कीटनाशकों का उपयोग बढ़ाकर एवं सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करके कृषि की उत्पादिता में वृद्धि करना इस कार्यक्रम के उद्देश्य हैं :—

(i) **श्रेष्ठतर तकनीकों और उन्नत औजारों का अपनाना**—उत्पादिता वृद्धि के लिये श्रेष्ठतर तकनीकों और उन्नत औजारों को अपनाया जाना जरूरी है। परन्तु भारत में किसानों के संकुचित दृष्टिकोण, निर्धनता व अशिक्षा आदि के कारण उन्नत और आधुनिक फार्म-मशीनरी का अधिक उपयोग नहीं हो रहा है, फिर भी विगत वर्षों में कुछ उद्यमी कृषकों ने इस दिशा में कुछ प्रगति की है।

(ii) **उन्नत बीजों का उपयोग**—उन्नत बीजों के द्वारा उत्पादन को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है। हर्ष की बात यह है कि भारत में कृषि विभाग, इण्डियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च, नेशनल सीड्ज कारपोरेशन आदि अनेक संस्थाओं ने उन्नत बीजों के विकास और उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिये बहुत प्रयत्न किए हैं। कुछ उन्नत किस्मों के नाम इस प्रकार हैं—सोनारा 64, लर्मा रोजो, शर्बती सोनारा, सोनालिक-सफेद लर्मा, पी० वी० 18, ताई चुंग नेटिव आदि। भारतवर्ष में उन्नत बीजों के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हो रही है और लोकप्रिय बनाने का भारतीय लक्ष्य बहुत ही उच्चाकांक्षी है।

(iii) **बहूद्देशीय फसलों का कार्यक्रम**—कृषि उत्पादिता में वृद्धि के लिए बहूद्देश्यीय फसल कार्यक्रम की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है।

(iv) **उर्वरक-उपभोग-स्तर बढ़ाना**—भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उर्वरक-उपभोग स्तर के बढ़ जाने से

कृषि उत्पादन और उत्पादिता की दर बढ़ेगी। भारतवर्ष में उर्वरक उपभोग का स्तर बहुत कम है। परन्तु सरकार किसानों का ध्यान इसके महत्त्व की ओर आकर्षित कर रही है और किसानों को इच्छित मात्रा में उर्वरक उपलब्ध करने का प्रबन्ध भी कर रही है।

(v) **कीटनाशक दवाइयों का उपभोग स्तर बढ़ाना**—कुल कृषि उत्पादन का लगभग 20% भाग भारत में कीटाणुओं के कारण नष्ट हो जाता है। इससे उत्पादिता कम हो जाती है। भारतवर्ष में कीटनाशक दवाइयों के उपभोग की अभी शुरुआत ही हुई है।

(3) **सिंचाई के साधनों का विकास एवं विस्तार**—चूंकि भारतीय कृषि मानसून पर अधिकांशतः आधारित है और मानसून अनिश्चित है। अपने प्रगाढ़ प्रयत्न से हम कृषि को मानसून के हाथ का जुआ बने नहीं रहने दे सकते हैं। अतः सिंचाई के साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। उनमें सिंचाई की छोटी, बड़ी और मध्यम तीनों ही श्रेणियों के साधनों का विकास किया जाना चाहिये और इनका पूरे देश में आवश्यकतानुसार विस्तार एवं विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। इनके विकास में छोटी सिंचाई योजनाओं को अधिक महत्ता दी जानी चाहिए क्योंकि, ये कम लागत में ही तैयार हो जाती हैं और शीघ्र लाभ देने लगती हैं। शासन इस सम्बन्ध में स्वतन्त्रता के प्राप्ति के बाद से ही सतर्क है और प्रत्येक प्रकार के सिंचाई साधनों का विकास कर रहा है। परन्तु इस समय लघु और मध्यम श्रेणी की सिंचाई प्रायोजनाओं की अधिक आवश्यकता है और शासन भी इससे अवगत है। अतः वह इस दिशा में अधिक प्रयत्न कर रहा है।

(4) **साख की सुविधाओं में सुधार**—कृषकों के पास पूंजी का अत्यधिक अभाव है। इन्हें दीर्घकालीन, मध्यकालीन एवं अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है। साहूकारों और महाजनों से प्राप्त साख द्वारा किसानों का शोषण अधिक होता है, लाभ कम। अतः साख की सुविधा में आवश्यक सुधार किए जाने चाहिए। इसके लिए सहकारी साख-सुविधा, भूमिबंधक बैङ्क एवं वाणिज्य बैङ्कों द्वारा साख सुविधा का विस्तार किया जाना चाहिए। तकावी की सुविधाओं में सुधार किया जाना चाहिए।

शासन इस संदर्भ में प्रयत्नशील है। उपयुक्त साख संस्थानों का विस्तार किया जा रहा है। रिजर्व बैङ्क एवं स्टेट बैङ्क इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रीयकृत वाणिज्य बैङ्क भी ग्रामांचलों में अपनी शाखाएँ खोलकर कृषि-साख का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(5) **कृषि-विपणन की व्यवस्था का विकास**—कृषकों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उचित मूल्य प्राप्त होना आवश्यक है, तभी उनकी स्थिति में सुधार हो सकता है और कृषि-उत्पादन बढ़ाने में उन्हें प्रोत्साहन मिल सकता है। इसके लिए अधिकाधिक विपणन समितियाँ एवं मंडियाँ स्थापित की जानी चाहिए। ग्रामीण कृषि मंडियों तक यातायात के साधनों एव मार्गों का विकास किया जाना चाहिए।

ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों के अन्न-भण्डार को सुरक्षित रखने के लिए भण्डारागार स्थापित किये जायँ और मूल्यों में स्थायित्व रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। शासन इस दिशा में भी प्रयत्नशील है। वह कृषि-मण्डियों, विपणन समितियों एवं भण्डारागार की सुविधाओं में वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु इस क्षेत्र में अब भी पर्याप्त विकास की आवश्यकता है।

(6) **पशुओं की स्थिति में सुधार**—पशुधन कृषि की महत्त्वपूर्ण पूँजी है। किन्तु हमारे देश में इसकी स्थिति बड़ी दयनीय है। अतः इसमें सुधार करने का प्रयत्न हमें इनके लिए चारा, चिकित्सा एवं नस्ल-सुधार की व्यवस्था करके करना चाहिए।

(7) **किसानों के व्यापक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था**—कृषि की स्थिति सुधारने के लिए कृषकों एवं ग्रामीण क्षेत्र की जनता की विचारधाराओं में आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है और भाग्यवाद, रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास को समाप्त करना अत्यावश्यक है। ऐसा करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का अत्यधिक प्रसार करना आवश्यक है। कृषि की नई एवं आधुनिक प्रणालियों से हमारे किसान अनभिज्ञ हैं। कृषि की नई रीतियों का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, योग्य एवं शिक्षित भारतीय कृषकों को विदेशों में प्रशिक्षण हेतु भेजा जाना चाहिए।

(8) **फसल बीमा योजना**—ज्ञात ही है कि भारतीय कृषि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ और अन्य कई आपत्तियों के कारण अनिश्चित-सी रहती है। अतः कृषकों की स्थिति भी इस संदर्भ में अनिश्चित रहती है, जिसका प्रभाव कृषि और कृषक दोनों पर ही बुरा पड़ता है। अतः कृषि फसलों के लिए बीमा का कार्यक्रम किया जाना चाहिए, ताकि किसी दैवी प्रकोप के बाद किसान, कृषि की अगली फसल के लिए विनियोग करने के योग्य रह सके। इस कार्यक्रम को कृषकों और शासन के सम्मिलित योगदान से चलाया जाना चाहिये। इस संदर्भ में कार्य प्रारम्भ किया जा चुका है। आशा है विस्तार तीव्रता से होगा।

(9) **कृषि-अनुसंधान विस्तार**—भारतीय कृषि प्रणाली में अनेक प्रकार के अनुसंधानों का पर्याप्त क्षेत्र है। अतः इसमें अनुसंधान का विस्तार किया जाना चाहिए और किये गये अनुसंधानों को व्यावहारिक रूप से उपयोगी बनाया जाना चाहिए। इससे कृषि में सर्वाङ्गीण सुधार हो सकता है। इस दिशा में भी प्रयत्न तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है। कई कृषि अनुसंधान संस्थान स्थापित किये जा चुके हैं।

(10) **भूमि-कटाव पर रोक**—वृक्षारोपण, बाँध और मेड़ों का निर्माण करके भूमि-क्षरण को रोकना अत्यावश्यक है; सूखी खेती भी इसमें उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(11) **सहकारी आन्दोलन का उपयोगी ढंग से विस्तार**—भारत, जो कि गाँवों का देश है और जहाँ पर 70% लोग कृषक हैं तथा उनमें से अधिकांश की आर्थिक स्थिति दयनीय है, वहाँ सहकारिता की महत्ता के सम्बन्ध में कितना भी कहा जाय कम है। किन्तु अभी तक इस क्षेत्र में जो भी विस्तार हुआ है, वह अनेक दृष्टि-

कोणों से दोषपूर्ण रहा है । अतः इसका विकास सही ढंग पर तीव्र गति से किया जाना आवश्यक है ।

(12) **बंजर भूमि का सुधार एवं उपयोग**—एक ओर हमारे यहाँ कृषि पर अत्यधिक भार है तथा बहुत से लोग भूमिहीन हैं, वहीं दूसरी ओर हजारों एकड़ बंजर भूमि पड़ी है । हमें चाहिये कि इसे कृषि योग्य बनाने का प्रयत्न करें । इससे कृषि उत्पादन बढ़ेगा, रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी और कृषि पर भार कम हो जायगा । केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था इस सम्बन्ध में प्रयत्नशील है, राज्यों में भी ट्रैक्टर संगठन सक्रिय हो रहा है ।

उपसंहार—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कृषि भारत की अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । फिर भी इसकी स्थिति ठीक नहीं है । गत बीस वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद भी हमारी कृषि अभी तक समस्याओं से लदी पड़ी है । किन्तु यदि वास्तव में हम अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारना चाहते हैं तो पहले कृषि की स्थिति सुधारनी होगी इस दिशा में क्रांतिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता है । किन्तु जो भी परिवर्तन लाये जायँ वे दीर्घकाल को ध्यान में रखते हुए लाये जाने चाहिये, ताकि कृषि में मौलिक सुधार हो सकें । विकास के लिए किये जा रहे प्रयत्नों में जनता के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है । जब तक जनता, विशेषकर कृषकों के मस्तिष्क में कृषि के संदर्भ में मौलिक विचार-परिवर्तन नहीं होते, कृषि की स्थिति सुधारना आसान कार्य नहीं होगा । किन्तु इस संदर्भ में जो भी कार्य किये जायँ वे व्यावहारिक एवं वास्तविक होने चाहिए ।

कृषि संरचना में सुधार के लिए राष्ट्रीय कृषि आयोग के सुझाव—राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपना प्रतिवेदन मार्च 1976 में संसद को प्रस्तुत किया जिसमें देश की कृषि संरचना की वर्तमान स्थिति का अध्ययन भावी प्रगति का अनुमान और कृषि संरचना में सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किए गए । कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्न-लिखित हैं :—

(i) कृषि विकास की ऐसी नीति निर्धारित की जानी चाहिए जिससे कृषि उत्पादनों की माँग और पूर्ति के मध्य सन्तुलन आ सके और कृषि उत्पादनों के वित-रण की न्याय पूर्ण व्यवस्था स्थापित हो सके ।

(ii) कृषि विकास में प्राथमिकताएँ निर्धारित करने और सरकारी सहायता प्रदान करने की दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ।

(iii) कृषि में विनियोग नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे कृषि के विभिन्न क्षेत्रों को पर्याप्त वित्त उपलब्ध हो सके और कृषि में अधिकतम रोजगार उपलब्ध करते हुए अधिकतम उत्पादन संभव हो सके ।

(iv) कृषि के लिए आधारभूत आर्थिक संरचना के विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए ।

(v) फसल उत्पादन, पशुधन, मुर्गीपालन, मत्स्य पालन और वनों के सम्बन्ध

विकास की समन्वित नीति अपनायी जानी चाहिए जिससे सभी क्षेत्रों में साथ-साथ विकास हो सके।

(vi) कृषि क्षेत्र में सेवाओं और वस्तुओं की पूर्ति के लिए संगठित कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए।

(vii) श्रम अतिरेक वाले क्षेत्रों में कृषि में मशीनों के प्रयोग पर उचित नियन्त्रण रखा जाना चाहिए जिससे अधिक रोजगार के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सके।

(viii) कृषि जोतों में स्वामित्व जोतों के साथ ही कार्यात्मक जोतों की सीमा का भी निर्धारण किया जाना चाहिए।

भारतीय कृषि का भविष्य विस्तृत खेती की तुलना में गहन कृषि पर अधिक निर्भर हैं—कृषि दो प्रकार से की जा सकती है प्रथम विस्तृत खेती और द्वितीय गहन खेती। जब कृषि क्षेत्र में वृद्धि करके कृषि के उत्पादन को बढ़ाया जाता है तो इसे विस्तृत खेती तकनीक कहते है। इसके विपरीत जब एक निश्चित भूमि क्षेत्र में श्रम, पूंजी तथा अन्य उपकरणों के प्रयोग को बढ़ाकर कृषि उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो इसे गहन खेती तकनीक कहते हैं।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय कृषि का भविष्य विस्तृत खेती पर निर्भर करता है अथवा गहन खेती पर। जहाँ तक विस्तृत खेती का प्रश्न है इसके लिए कृषि में प्रयुक्त भूमि के क्षेत्र में वृद्धि करनी होगी। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने से पूर्व देश में भूमि उपयोग के निम्न आँकड़ों का अध्ययन करना उपयोगी होगा।

1978-79 में भूमि का प्रयोग

	(करोड़ हेक्टेयर में)
1. वन (Forest)	6·71
2. खेती के लिए अनुपलब्ध नयी भूमि (Not available forcultivation)	3·9
2. अन्य बिना खेती की गयी भूमि ऊसर भूमि को छोड़कर (Uncultivation Land excluding fallow lands)	3·2
4. ऊसर भूमि (Fallow Land)	2·28
5. कुल फसली क्षेत्र (Net Area Sown)	17·53
	32·33

उपर्युक्त सारणी के अंकों से पता चलता है कि फसली क्षेत्र में वृद्धि की सम्भावनाएँ कम ही हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि परती और बंजर भूमि को खेती योग्य बनाया जा सकता है या नहीं। इस सम्बन्ध में किए गए विभिन्न सर्वेक्षणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि परती भूमि में कमी करके या बंजर भूमि को खेती योग्य बना कर कृषित क्षेत्र में इस समय बहुत अधिक वृद्धि की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। अधिकांश परती भूमि या तो कम वर्षा वाले प्रदेशों में उपलब्ध हैं या पहाड़ी प्रदेशों में

जहाँ कुछ मात्रा में परती भूमि रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने पर होने वाली भारी लागत के कारण ऐसी बहुत अधिक भूमि को सुधारना संभव नहीं है। खाद्य और कृषि मंत्रालय की बंजर भूमि सर्वेक्षण और भूमि-सुधार समिति द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि लगभग केवल 20 लाख एकड़ बंजर भूमि को ही कृषि योग्य बनाया जा सकता है। साथ ही भूमि के अन्य उपयोगों में कोई कमी होने की सम्भावना नहीं है, बल्कि सड़कों, भवनों और औद्योगिक केन्द्रों के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता होगी। वन क्षेत्र को भी कम करना उपयुक्त नहीं होगा। यही नहीं जनसंख्या वृद्धि के कारण भी विस्तृत खेती द्वारा विकास की संभावनाएँ अधिक नहीं है। अत: असंदिग्ध रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषित क्षेत्र में वृद्धि करने का अवसर अत्यन्त सीमित है। अत: वर्तमान कृषि योग्य क्षेत्र में ही गहन खेती करने और प्रति हेक्टेयर उत्पादकता में वृद्धि करने का सहारा लेना पड़ेगा। अन्य शब्दों में वर्तमान कृषि क्षेत्र में ही श्रेष्ठ बीजों, रासायनिक खादों, अच्छे उपकरणों इत्यादि का प्रयोग किया जाय तो कृषि उत्पादन काफी बढ़ सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गहन कृषि के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी। अत: देश में गहन कृषि विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी उपलब्ध की जाय।

कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न

कृषि उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए सरकार ने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में काफी प्रयत्न किये हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(i) सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाने के लिए लघु मध्यम व बड़ी योजनाएँ क्रियान्वित की हैं जिनमें भाखड़ा नांगल बाँध जैसी योजनाएँ भी सम्मिलित हैं।

(ii) उन्नत बीज उपलब्ध करने के लिए राष्ट्रीय बीज निगम व बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना की गई है।

(iii) फसलों को कीटाणुओं व रोगों से बचाने के लिए केन्द्रीय कृषि मंत्रालय ने अलग से एक 'सैल' की स्थापना की है जो आवश्यकता के समय हेलीकॉप्टर व हवाई जहाज से कीटनाशक दवाइयों को छिड़कवाता है।

(iv) भिन्न-भिन्न स्थानों पर रासायनिक खाद बनाने के कारखाने भारतीय खाद्य निगम व अन्य संस्थाओं ने स्थापित किये हैं।

(v) कृषकों को नवीन तकनीकों को समझाने व उनको व उनको कार्य में लाने के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था की है।

(vi) एक कृषक के छोटे-छोटे व बिखरे हुए खेतों को एक स्थान पर करने के लिए चकबन्दी कार्यक्रम लागू किये गये हैं।

(vii) ग्रामीण साख सुविधाओं में वृद्धि करने के लिए बैंकों को ग्रामीण शाखाएँ खोलने के लिए विवश किया है।

(viii) कृषि के मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिए राष्ट्रीय कृषि आयोग की स्थापना की गई है जो इस सम्बन्ध में समय-समय पर सरकार को सुझाव देता है।

(ix) सहकारी खेती को बढ़ावा देने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(x) कृषि अनुसंधान एवं विकास हेतु कई विश्वविद्यालय खोले गये हैं।

(xi) विपणन सुविधाएँ देने के लिए लगभग 3,000 बाजारों को नियमित बाजारों में बदल दिया गया है।

(xii) जोतों को अधिक छोटे होने से रोकने के लिए सम्बन्धित कानूनों में परिवर्तन किये गये हैं।

कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा किये गये उपर्युक्त प्रयत्नों का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि भारत में कृषि उत्पादकता में वृद्धि हुई है जैसा कि निम्न सारणी से स्पष्ट है—

कृषि उत्पादिता के सूचकांक

(आधार 1959-60 से 1961-62 = 100)

फसलें	1950-51	1960-61	1971-72	1980-81
1. खाद्यान्न	79.1	102.0	122.2	138.1
गेहूँ	83.6	101.6	164.7	183.1
दालें	97.7	108.7	101.6	103.7
2. तिलहन	103.1	104.8	111.0	118.2
3. कपास	84.7	119.5	149.9	152.8
4. जूट	90.9	98.0	104.6	104.5
5. गन्ना	90.8	104.6	107.3	129.9

सारणी से स्पष्ट है यदि असामान्य वर्षों को छोड़ दिया जाय तो आर्थिक नियोजन के तीस वर्षों में कृषि उत्पादकता में निरन्तर वृद्धि हुई है। परन्तु खाद्यान्नों में उत्पादिता अन्य उत्पादों की तुलना में अधिक बढ़ी है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि खाद्यान्नों में जहाँ गेहूँ और चावल की प्रति हैक्टर पैदावर में पर्याप्त वृद्धि हुई है वहाँ ज्वार, मक्का तथा बाजरा की प्रति हैक्टर पैदावार में थोड़ा सुधार हो सका है। दालों की उत्पादिता बिल्कुल नहीं बढ़ी है।

परीक्षा प्रश्न

1. कृषि-उद्योग के महत्त्व की विवेचना कीजिये और उसकी प्रमुख विशेषताओं का विवरण दीजिये।

अथवा

भारतीय कृषि की प्रमुख विशेषताएँ कौन-सी हैं ? वे किस प्रकार देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं ?

अथवा

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि के स्थान की विवेचना कीजिये और इस वक्तव्य

की समीक्षा कीजिये—"देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास की किसी भी योजना में कृषि के पुनर्संगठन और सुधार का आधारभूत महत्त्व है।"

2. देश में कृषि-उत्पादकता कम क्यों है ? इसकी उन्नति के लिये अल्पकालीन और दीर्घकालीन उपाय बताइये।

अथवा

आप कृषि भूमि की उत्पादकता वृद्धि के लिये अपने प्रान्त में किन उपायों का सुझाव देंगे ? अभी तक इस दिशा में क्या प्रगति रही है ?

अथवा

भारतीय कृषि उत्पादकता वृद्धि के क्षेत्र का वर्तमान फसल पद्धति में उपयुक्त परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए परीक्षण कीजिये।

अथवा

भारत में प्रमुख फसलों के प्रति एकड़ उत्पादन की विश्व के प्रगतिशील देशों से तुलना कीजिये और भारत में अत्यधिक कम उत्पादन के कारण बताइये।

[संकेत—कृषि उत्पादकता के कम होने के कारण दीजिये तथा कृषि विकास के लिए सुझाव दीजिए।]

3. "भारतीय अर्थव्यवस्था के नियोजन एवं विकास की मुख्य समस्या कृषि पुनर्गठन है।" विस्तारपूर्वक समझाइये।

[संकेत--संक्षेप में भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्त्व की विवेचना कीजिये जिससे यह स्पष्ट होगा कि भारतीय नियोजन तभी सफल होगा। इससे बाद कृषि के पुनर्गठन के लिए सुझाव दीजिये।]

4. "आर्थिक विकास की कुंजी कृषि विकास में निहित है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। देश के कृषि विकास के प्रोत्साहन के लिए उपाय बताइये।

[संकेत—इसमें कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्व बताना है।]

———

2

योजनाकाल में कृषि विकास (कृषि नियोजन) व हरित क्रान्ति

(Development of Agriculture during the Plan Period and Green Revolution)

या

राज्य एवं कृषि

(State and Agriculture)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के सुव्यवस्थित आर्थिक विकास के लिए सरकार ने 1 अप्रैल 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात किया।

कृषि-नियोजन आर्थिक नियोजन का ही एक भाग है जिसका सम्बन्ध केवल कृषि क्षेत्र में नियोजित विकास से है। कृषि नियोजन का तात्पर्य देश की कृषि व्यवस्था को सुदृढ़ व सन्तुलित करना, देश में उपलब्ध भूमि एवं संसाधनों का सर्वोत्तम ढंग से उपयोग करना और खाद्यान्नों की उत्पादकता में वृद्धि करना है। संक्षेप में कृषि नियोजन के निम्नलिखित उद्देश्य कहे जा सकते हैं—

(1) देश में उपलब्ध भूमि का पूर्ण एवं अनुकूलतम विदोहन करना। (2) कृषकों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना। (3) तीव्र औद्योगीकरण। (4) राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष वृद्धि करना। (5) रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना। (6) आर्थिक असमानता को दूर करना। (7) खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना। (8) प्रादेशिक असन्तुलन दूर करना। (9) कृषि उत्पादन में घट-बढ़ एवं विदेशी सहायता की अनिश्चितता से राष्ट्र को सुरक्षित रखना। (10) जनशक्ति नियोजन को बढ़ावा देना।

अब हम विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि की स्थिति का अध्ययन करेंगे—

1. प्रथम योजना काल में कृषि (1951-56)

चूंकि प्रथम योजना के आरम्भ के समय कृषि की दशा बहुत खराब थी तथा

देश अन्न संकट और अनिवार्य वस्तुओं के अभाव से ग्रस्त था इसलिए योजना आयोग ने कृषि को उच्चतम प्राथमिकता दी। इस सम्बन्ध में आयोग ने उल्लेख किया, "इन्हीं पाँच वर्षों की अवधि के लिए हमारे विचार में कृषि जिसमें सिंचाई और संचालन शक्ति भी शामिल है को उच्चतम प्राथमिकता मिलनी चाहिए। हम यह विश्वास रखते हैं कि खाद्य पदार्थों और उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन में भारी वृद्धि किये बिना, औद्योगिक विकास की ऊँची दर को कायम रखना असम्भव होगा।"

प्रथम योजना पर वास्तविक व्यय 1913 करोड़ रुपये हुआ, कृषि तथा सामुदायिक विकास, सिंचाई एवं बिजली पर कुल व्यय 601 करोड़ रुपये हुआ जो कि कुल वास्तविक व्यय का 31 प्रतिशत था।

इस योजना में कृषि की प्रगति सन्तोषजनक रही जो तालिका से स्पष्ट है :—

प्रथम योजना में कृषि

इकाई मद	1955-51 मी० टन	1955-56 (लक्ष्य)	1955-56 (वास्तविक उत्पादन)
खाद्यान्न	मी० टन 52.1	65.8	65.8
तिलहन	,, ,, 5.1	5.5	5.6
गन्ना	,, ,, 5.6	6.3	6.0
कपास	मि० गाँठें 2.9	4.2	4.0
पटसन	,, ,, 3.3	5.4	4.2

2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कृषि (1956-61)

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना का उद्देश्य प्रथम योजना के कार्य को आगे बढ़ाना और औद्योगीकरण की नींव डालना था। योजना आयोग ने तर्क दिया कि चूँकि प्रथम योजना में कृषि को सबल बनाया जा चुका है इसलिये द्वितीय योजना में उद्योगों पर अत्यधिक बल दिया जाना चाहिए।

इसमें लोक क्षेत्र में 4672 करोड़ रुपये व्यय किये गये जिसमें से कृषि तथा सामुदायिक विकास पर 549 करोड़ रुपये तथा सिंचाई व बिद्युत पर 882 करोड़ रुपये खर्च किया गया जो कि सम्पूर्ण धन का 30.6 प्रतिशत है। इस योजना के संशोधित लक्ष्यों एवं प्रगति का विवरण तालिका से स्पष्ट है।

द्वितीय योजना में कार्य

मद	इकाई	संशोधित लक्ष्य	1960-61 (लक्ष्य)
खाद्यान्न	मी० टन	81.8	82.0
तिलहन	,, ,,	7.7	7.0
गन्ना	,, ,,	7.0	11.4
कपास	मि० गाँठें	6.5	5 6
पटसन	,, ,,	5.5	6.1

इस योजना काल में कृषि के विकास से सम्बन्धित एक उल्लेखनीय बात यह है कि सामुदायिक विकास परियोजनाओं को तेजी से बढ़ाया गया और कृषि साख तथा सहकारिता के क्षेत्र में समुचित प्रगति हुई।

कृषि क्षेत्र में द्वितीय योजना काल में हुई धीमी प्रगति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण देश में कीमत स्तर का बढ़ना था। दूसरे खाद्यान्नों का आयात प्रथम योजना में कम हो गया था फिर बढ़ गया और मशीनरी तथा औद्योगिक कच्चे माल के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा का प्रयोग खाद्यान्न आयात के लिए किया जाने लगा। अतः द्वितीय योजना की क्षीण सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण कृषि क्षेत्र में लक्ष्यों की प्राप्ति न होना था।

3. तृतीय पंचवर्षीय योजना में कृषि (1961-66)

खाद्यान्नों में स्वावलम्बिता और उद्योग एवं व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक कृषि उत्पादन के लक्ष्य को तृतीय योजना के पांच मूल उद्देश्यों में से एक माना गया। इसमें कृषि उत्पादन की दर 3% से बढ़ाकर 6% करनी थी। इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 8573 करोड़ रुपए व्यय किए गए जिसमें से कृषि व सामुदायिक विकास के लिए 1089 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गयी थी। तीसरी योजना में कृषि उत्पादन लक्ष्य तथा उपलब्धियाँ निम्न तालिका के अनुसार हैं—

तीसरी योजना में कृषि

मद	इकाई	1965-66 (लक्ष्य)	1965-66 उत्पादन
खाद्यान्न	मे० टन	100·00	72·0
तिलहन	,, ,,	12·00	6·4
गन्ना	,, ,,	10·00	12·8
कपास	मि० गाँठें	7·0	4·8
पटसन	,, ,,	6·2	4·5

इस योजना मे प्राकृतिक अनिश्चितता के कारण निर्धारित लक्ष्य प्राप्त न हो सका।

4. वार्षिक योजनायें और कृषि (1966-69)

1966-67 में चौथी योजना को स्थगित कर 1966-67 से 1968-69 के दौरान तीन वार्षिक योजनाएँ तैयार की गईं। उनमें कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। तीनों योजनाओं में कुल मिलाकर 1623 करोड़ रुपए कृषि पर व्यय किए गए जो कि कुल खर्च का 24% था। इसमें कृषि तथा सामुदायिक विकास पर 1166 करोड़ रुपए व्यय किए गए।

तीसरी योजना, तीन पंचवर्षीय योजनाओं और चौथी योजना में कृषि से सम्बन्धित क्षेत्रों के लिए व्यय व्यवस्था

(करोड़ रुपये)

कार्यक्रम	तीसरी योजना (1961-63)	वार्षिक योजनायें (1966-69)	चौथी योजना (1969-74)
कृषि उत्पादन अनुसंधान व शिक्षा	203	252	510
लघु सिंचाई	270	314	476
भूमि संरक्षण	77	88	151
विकास क्षेत्र	2	13	29
पशुपालन	43	34	91
डेयरी एवं दूध आपूर्ति	34	26	45
मछली पालन	23	37	84
वन	46	44	92
भण्डारण, विपणन और जमा	27	15	65
खाद्य पदार्थ और सहायक खाद्य पदार्थ की तैयारी	—	—	19
वित्तीय संस्थाओं को केन्द्र की सहायता (कृषि क्षेत्र)	—	40	263
कृषि जिन्सों के समीकरण भण्डार	—	140	125
सहकारिता	76	64	151
सामुदायिक विकास एवं पचायतें	228	99	116
योग	1089	1166	2217

चौथी योजना (1969-74)

इस योजना में भी कृषि के विकास के लिए पर्याप्त धन रखा गया। इसमें पहले सरकारी क्षेत्र में कृषि विकास तथा सम्बन्धित कार्यक्रमों पर 2217 करोड़ रुपए और 1800 करोड़ रुपए निजी क्षेत्र में भी व्यय का प्रावधान था। परन्तु संशोधन के पश्चात कृषि विकास तथा बाढ़ नियंत्रण पर क्रमशः 2728 करोड़ रुपए तथा 1086 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया।

कृषि क्षेत्र में चौथी योजना के दो मुख्य उद्देश्य थे—प्रथमतः अगले वर्षों में कृषि उत्पादन में प्रतिवर्ष लगभग 5% निरन्तर वृद्धि करना, और दूसरे छोटे कृषकों और बारानी इलाकों के कृषकों को विकास कार्यों का अधिकाधिक लाभ पहुँचाना। इस योजना के उत्पादन के लक्ष्य अग्रांकित तालिका के अनुसार थे।

चौथी योजना (संशोधित) में कृषि पर व्यय

करोड़ रुपए

विकास मद	प्रस्तावित व्यय	वास्तविक व्यय
कृषि कार्यक्रम	2434.1	1987·5
संबंधित कार्यक्रम		
सहकारिता	178.6	249·9
सामुदायिक विकास एवं पंचायत	115·5	116.9
योग	2728.2	2353·3

चौथी योजना में उत्पादन के मुख्य लक्ष्य और उपलब्धियाँ

मद	इकाई	1968-69 का स्तर	चतुर्थ योजना का लक्ष्य (1973-74)	वास्तविक (1973-74)
खाद्यान्न	लाख टन	980	1290	1036
तिलहन	,, ,,	85	105	87
गन्ना	,, ,,	120	150	140
रूई	लाख गाँठ	60	80	69
पटसन	,, ,,	62	74	62

चौथी योजना में भी कृषि का विकास लक्ष्य के अनुरूप न हो सका क्योंकि कृषि विकास की दर लगभग 2·8% थी; जबकि लक्ष्य 5·6% रक्खा गया था। इस योजना में कृषि में विफलता के मुख्य कारण थे — सिंचाई सुविधाओं का अभाव उर्वरक तथा अच्छे किस्म के बीज की कमी और भूमि सुधार कार्यक्रमों का दोषपूर्ण क्रियान्वयन।

पाँचवीं योजना में कृषि (1974-79)

संशोधित पाँचवीं योजना में कृषि विकास एवं सिंचाई के लिए जानकारी क्षेत्र में 8084 करोड़ रुपए का वित्त प्रबन्ध किया गया जो कि योजना परिव्यय का 20·5 प्रतिशत था। चाहे भले ही मौद्रिक रूप में, कृषि एवं सिंचाई पर परिव्यय को योजना प्रारूप के 7411 करोड़ रुपए से बढ़ाकर संशोधित योजना में 8084 करोड़ रुपए कर दिया गया। परन्तु यदि कीमतों की वृद्धि के लिए समायोजन किया जाए तो वास्तविक रूप में संशोधित योजना का परिव्यय योजना प्रारूप में लक्षित व्यय से कम बैठता है।

पाँचवीं योजना में कृषि के उत्पादन का लक्ष्य और पूर्ति

मद	इकाई	लक्ष्य	उत्पादन (1977-78)
खाद्यान्न	मि० टन	133	125
तिलहन	,, ,,	12	8·9
गन्ना	,, ,,	173	181
कपास	मि० गाँठें	9	7·1
पटसन	,, ,,	7·7	7·1
उर्वरक	मि० टन	5·0	4·5

इस प्रकार इस योजना में लक्ष्य के अनुरूप ही उत्पादन हुआ।

छठी योजना में कृषि (1980-85)

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में कृषि और ग्रामीण विकास को उच्च-प्राथमिकता दी गयी है और कृषि उत्पादन बढ़ाने गाँवों में रोजगार तथा आय के अवसरों में वृद्धि करने एवं आत्म निर्भरता प्राप्त करने से लिए, कृषि का आधुनिकीकरण करने के प्रमुख उद्देश्य रखे गये हैं। विभिन्न विकास कार्यक्रम चलाने के उद्देश्य से छठी योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में परिव्यय कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों के लिए 12,539 करोड़ रुपये तथा सिंचाई और बाढ़ नियंत्रण के लिए 12,160 करोड़ रुपये निर्धारित किया गया है। इन दो क्षेत्रों पर कुल सरकारी व्यय 24699 करोड़ रुपये पाँचवीं योजना में रखे गये परिव्यय 8650 करोड़ रुपये से 186 प्रतिशत अधिक है।

इस योजना में कृषि कार्यक्रमों के लक्ष्य निर्धारित करते समय निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है—1. पहले प्राप्त हो चुके लाभों को समेकित करना, 2. भू-सुधारों के कार्यान्वयन और लाभ-ग्राहियों के लिए संस्थान-निर्माण की गति को तेज करना, 3. उत्पादन, संरक्षण, विपणन और वितरण की आवश्यकताओं पर एकीकृत रूप में ध्यान देकर उत्पादकों और उपभोक्ताओं—दोनों ही के हितों की रक्षा करना, 4. परिस्थितिकी (Ecology) मितव्ययता, उर्जा संरक्षण और रोजगार निर्माण के आधार पर भूमि जल-उपयोग के वैज्ञानिक स्वरूप को बढ़ावा देना, 5. नयी टेकनालाजी के लाभों का और अधिक किसानों फसल पद्धतियों और क्षेत्रों तक विस्तार करना; और नकद एवं गैर नकद आदानों द्वारा फार्म प्रबन्ध की कुशबता को बढ़ावा देना, और 6. प्रभावी राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा पद्धति (Notional Food Security System) का विकास ग्रामीण क्षेत्रों में आय तथा रोजगार सृजन के उत्प्रेरक के रूप में करना।

इस योजना का उत्पादन लक्ष्य एवं प्रगति नीचे सारिणी में दर्शायी गयी है—

छठीं योजना (1980-85) उत्पादन लक्ष्य एवं प्रगति

मद	इकाई	1981-82	1982-83 लक्ष्य	अनुमानित उपलब्धि	1983-84 लक्ष्य	छठीं-योजना 1984-85 लक्ष्य
खाद्यान्न	दस लाख टन	133.1	139.0-141.5	126.6	142.0	153.6
चावल	,,	53.6	56.5-58.0	48.6	57.0	63.0
गेहूँ	,,	37.8	38.5-39.0	41.5	41.0	44.0
मोटा अनाज	,,	30.3	31.0	24.5	31.0	32.1
दाल	,,	11.4	13.0-13.5	12.0	13.0	14.5
गन्ना	,,	183.6	180.0-185.0	177.4	180.0-185.0	215.0
तिलहन	,,	12.1	11.8-12.0	11.0	12.5	13.0
कपास	दस लाख गाँठ	7.8	8.2-8.5	7.5	8.2-8.5	9.5
पाट	,,	8.4	8.1-8.4	6.6	8.2-8.5	9.1

1982-83 में कृषि उत्पादन में आई गिरावट का कारण देश के बड़े भाग में पड़े भयंकर सूखे और अन्य क्षेत्रों में आई बाढ़ और समुद्री तूफानों के कारण खरीफ उत्पादन में आई तीव्र गिरावट थी। 1982-83 के दौरान करीब 126.6 लाख टन के अनाज का समग्र उत्पादन 1981-82 के दौरान हुए 133.3 लाख टन के रिकार्ड उत्पादन की तुलना में लगभग 50 लाख टन कम था।

अनाज से भिन्न अधिकांश प्रमुख फसलों का उत्पादन भी 1982-83 के दौरान काफी कम था। तिलहनों के 11.0 लाख टन के उत्पादन में 1981-82 के 12.1 लाख की तुलना में 13% की गिरावट पाई गई। पटसन (मेस्ता सहित) के 6.6 लाख गाँठों के उत्पादन में 14% की तीव्र गिरावट आई। 1982-83 के दौरान कपास का 7.5 लाख गाँठों का उत्पादन 1981-82 की 7.8 लाख गाँठों की तुलना में कम था। किन्तु अद्यतन अधिकारिक अनुमानों के अनुसार गन्ने का 183.6 लाख टन का उत्पादन पिछले मौसम के 177.4 लाख टन के उत्पादन की तुलना में कुछ अधिक था।

योजना काल में कृषि विकास के लिए किये गये प्रयत्न

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में देश में कृषि विकास हेतु अनेक प्रयत्न किये गये हैं। इनका विस्तृत विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

1. **गहन कृषि जिला कार्यक्रम**—सर्वप्रथम 1960-61 में आन्ध्र प्रदेश, बिहार,

राजस्थान, कर्नाटक, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश राज्यों के कुल 7 जिलों में तथा इसके बाद इसकी सफलता को देखकर 1963 में 9 और जिलों में गहन कृषि विकास कार्यक्रम लागू किया गया। वर्तमान समय में यह कार्यक्रम देश के प्रत्येक जिलों में चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम से कृषि उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

2. **सिंचाई योजनाओं का विस्तार**—हरित क्रान्ति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए लघु एवं वृहद सिंचाई योजनाओं के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। 1950-51 में देश का कुल सिंचित क्षेत्र 23 मि० हेक्टेयर था, जो बढ़कर 1982-83 570 मि० हेक्टयर हो गया।

3. **बहु-फसल कार्यक्रम**—इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना तथा छोटे कृषकों की आय बढ़ाने में सहायता करना है। इस कार्यक्रम की शुरुआत सर्वप्रथम 1971-72 से की गयी जिसमें 55 आजमाइशी बहु-फसली परियोजनाओं को स्वीकृति प्रदान की गयी। सन् 1975-76 171 मि० हेक्टेयर क्षेत्र बहु-फसल कार्यक्रम के अन्तर्गत था जो बढ़कर 1980-81 में 183 मि० हेक्टेयर हो गया था। छठीं योजना के अन्त तक इससे 200 मि० हेक्टेयर तक हो जाने का अनुमान है।

4. **उन्नत बीजों की व्यवस्था**—कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु उन्नत बीजों का उपयोग प्रमुख रूप से गेहूँ, चावल, ज्वार एवं बाजरा आदि फसलों के उत्पादन के लिए किया गया। इसके लिए 5 करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से 1963 में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गई। चतुर्थ पंचववर्षीय योजना में कृषि अनुसन्धान परिषद, राष्ट्रीय बीज निगम तथा कृषि विश्वविद्यालयों के सहयोग से उन्नत बीजों के उत्पादन में वृद्धि की व्यवस्था की गई। इस योजना के अन्त तक देश में 1000 टन बीज उत्पादित करने वाली 250 से भी अधिक इकाइयाँ स्थापित की गईं। सन् 1982-83 के दौरान राष्ट्रीय बीज निगम की आन्तर्राज्यीय विपणन के लिए अनाज, दालों, तिलहन, चारा, रेशा और सब्जियों के बीजों का 4.84 लाख क्विंटल उत्पादन हुआ था।

5. **रासायनिक उर्वरक**—हरित क्रान्ति की सफलता हेतु रासायनिक उर्वरकों के अधिकाधिक उपयोग पर जोर दिया गया है। फलतः इसके उत्पादन एवं उपयोग में निरन्तर वृद्धि हुई है। 1982-83 में 65.00 लाख टन उर्वरक की खपत हुई जो पिछले वर्ष से 4.9 प्रतिशत अधिक है। 1983-84 में लगभग 72 लाख टन उर्वरक की खपत होने का अनुमान है।

6. **कृषि यंत्रों का उपयोग**—इस योजना के अन्तर्गत देश में ट्रैक्टर, हार्वेस्टर, कम्बाइण्डडिल, काटन पिकर, गन्ना हार्वेस्टर, थ्रेसर तथा पम्पिंगसेट आदि यंत्रों का उपयोग बढ़ाने की व्यवस्था को गयी है। किन्तु इस योजना में इस बात पर पर्याप्त ध्यान रखा गया है कि इन यंत्रों के उपयोग का रोजगार पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इन कृषि-संयंत्रों का उपयोग केवल उन्हीं कार्यों में होना चाहिए जहाँ पर मानवीय श्रम इनके निष्पादन में अक्षम हो।

7. **राष्ट्रीय प्रदर्शन योजना**—यह योजना देश में सर्वप्रथम 1969 में प्रारम्भ की गई। इस योजना में कृषकों को अच्छी उपज प्राप्त करने सम्बन्धी आधुनिक तकनीकों

को प्रदर्शन के माध्यम से समझाया जाता है। इस योजना से महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि कृषि क्षेत्र की नवीनतम खोज अथवा अनुसन्धान की जानकारी कृषक को शीघ्र हो जाती है।

8. **कीटनाशक औषधियों का उपयोग**—सन् 1968-69 में फसल सुरक्षा कार्यक्रम 56 मिलियन हेक्टेयर भूमि में प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत 17 केन्द्रीय पौध संरक्षक केन्द्र चालू किये गये जो फसलों को कीड़े-मकोड़ों से सुरक्षित रखने हेतु उत्तम तकनीक प्रदान करते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में केवल 100 टन कीटनाशक औषधियों का उपयोग किया गया था जो बढ़कर 1982-83 में 45000 टन हो गया। इसके 1983-84 में 72,000 टन हो जाने की सम्भावना है।

9. **कृषि विपणन**—सरकार ने कृषि विपणन में सुधार के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयास किये हैं। विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय, केन्द्र और राज्य सरकारों को कृषि विपणन की तकनीकों के सम्बन्ध में परामर्श दिया करता है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में सहकारी विपणन समितियाँ महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। 1960-61 में प्राथमिक कृषि विपणन समितियों की संख्या 3108 थी जबकि वर्तमान में इनकी संख्या बढ़कर 3592 हो गई है।

10. **कृषि वित्त**—भारत में कृषक के सामने वित्त की समस्या सदैव बनी रहती है। योजना काल में इस समस्या को हल करने के सराहनीय प्रयास किये गये हैं। अल्प एवं मध्यकालीन साख की व्यवस्था प्राथमिक कृषि साख समितियों द्वारा की जाती है। दीर्घकालीन साख की व्यवस्था भूमि विकास बैंकों द्वारा की जाती है।

कृषि पुनर्वित्त निगम (ARFC) भी कृषि साख प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यह कृषि के लिए भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक, तथा अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की दीर्घकालीन साख की माँग की पूर्ति करता है।

बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि साख सुविधाओं की वृद्धि की दृष्टि से व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोलने को प्रोत्साहित किया जा रहा है तथा कृषि साख की शर्तों को और अधिक उदार बनाया जा रहा है।

11. **भूमि-सुधार**—कृषि की प्रमुख समस्या भूमि सुधार की है। इस दिशा में जो प्रगति हुई है वह संतोषजनक नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश के 40% क्षेत्र पर जमींदारों, जागीरदारों, ताल्लुकेदारों आदि का आधिपत्य था। इन्हें समाप्त करके लगभग 2 करोड़ कृषकों को भूमि का स्वामित्व सौंप दिया गया है। कृषकों के काश्तकारी अधिकार सुरक्षित करने हेतु तथा लगानों के नियमन की वैधानिक व्यवस्था की गई है। देश में भू जोतों की सीमा-बन्दी के कारगर प्रयास किये जा रहे हैं। सभी राज्यों द्वारा भू-जोतों की चकबन्दी सम्बन्धी कानून पास करके चकबन्दी के प्रयास किये गये हैं तथा जोतों के विभाजित होने पर रोक लगा दी गई है।

12. **मूल्य स्थायित्व की व्यवस्था**—भारत सरकार कृषि मूल्य आयोग के सुझावानुसार प्रतिवर्ष कृषि उपज का मूल्य निर्धारित करती है तथा इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए भारतीय खाद्य निगम द्वारा उपज खरीदने की प्रक्रिया प्रारंभ

की जा चुकी है जिससे उस निर्धारित मूल्य पर यदि दूसरे व्यक्ति उपजन खरीदें तो खाद्य निगम द्वारा उपज खरीदकर काश्तकारों को विपणन सम्बन्धी समस्याओं से बचाया जा सके। इस व्यवस्था से जहाँ एक ओर कृषि-उपजों के मूल्य में स्थायित्व बना रहता है वहीं दूसरी ओर कृषकों को उनकी फसल का उचित मूल्य भी प्राप्त हो जाता है।

13. **फसल बीमा योजना**—जनरल इंश्योरेंस कारपोरेशन आफ इंडिया तथा राज्य सरकारों द्वारा सम्मिलित रूप से पाइलेट योजना के रूप में स्वैच्छिक आधार पर फसल बीमा योजना 1979 में आरम्भ की गयी है। वर्तमान समय तक यह 10 राज्यों में क्रियाशील हो चुका है। फसलों की बीमा के सम्बन्ध में वर्ष 1983-84 के लिए भौतिक लक्ष्य 1·50 लाख हेक्टेयर तथा 1984-85 के लिए 2·10 लाख हेक्टेयर निर्धारित किया गया हैं।

14. **कृषि व ग्रामीण विकास हेतु राष्ट्रीय बैंक**—रिजर्व बैङ्क आफ इण्डिया द्वारा गठित कमेटी (CRAFICARD) की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार ने कृषि एवं ग्रामीण विकास हेतु राष्ट्रीय बैंक (NABARD) के गठन का निश्चय किया। इससे सम्बन्धित बिल संसद ने 14 दिसम्बर 1981 को पारित कर दिया है। इस बैंक ने 1 जुलाई 1982 से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। इसकी आरम्भिक दत्त पूंजी 100 करोड़ रुपये है। यह बैंक न केवल एक पुनर्वित्त प्रदान करने वाली संस्था है बल्कि यह सम्पूर्ण ग्रामीण साख-व्यवस्था की मार्गदर्शक है। कृषि पुनर्वित्त व विकास निगम को राष्ट्रीय बैंक में मिला दिया गया व इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कृषि साख विभाग, ग्रामीण आयोजन व नियंत्रण सेल के अधिकांश कार्य भी इस बैंक को सौंप दिये गये हैं।

15. **शुष्क भूमि कृषि विकास**—1969 के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में शुष्क भूमि-कृषि प्रणाली को लागू करने का निश्चय किया गया। इसके लिए सन् 1970-71 में केन्द्र प्रवर्तित समेकित बारानी-कृषि विकास योजना प्रारम्भ की गई। इस योजना के तहत भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के अनुसंधान केन्द्रों के सहयोग से 12 राज्यों में 24 परियोजनाएँ प्रारम्भ की गईं। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत बारानी खेती की नवीनतम तकनीकों के द्वारा सूखारोधक और शीघ्र उगने वाली प्रकाश-अग्राही किस्म की खेती की जाती है। 1978-79 तक यह योजना केन्द्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम के रूप में चलायी गयी और इसके पश्चात् राज्य क्षेत्रों में अन्तरित कर दिया गया।

16. **कृषि अनुसंधान व शिक्षा**—1973 में भारत में कृषि अनुसंधान व शिक्षा विभाग स्थापित किया गया। यह कृषि, पशुपालन व मत्स्य-पालन के क्षेत्र में अनुसंधान व विस्तार शिक्षा सम्बन्धी गतिविधियों को समन्वित करता है। इसके अतिरिक्त यह विभाग, परमाणु ऊर्जा विभाग, खाद्य एवं कृषि संगठन तथा सम्बन्धित क्षेत्रों में कार्यरत अन्य संगठनों अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी तथा खाद्य कृषि संगठन के

मध्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तालमेल बैठाने वाली एक कड़ी के रूप में कार्य करता है।

कृषि शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् अत्यन्त अहं भूमिका अदा करती है। सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में जो अस्तित्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का है, कृषि क्षेत्र में वही अस्तित्व कृषि अनुसंधान परिषद् का है। इस परिषद् ने कृषकों व अन्यों को व्यावहारिक शिक्षा देने के उद्देश्य प्रत्येक राज्य में एक कृषि विश्वविद्यालय तथा देश के विभिन्न भागों में कृषि विज्ञान केन्द्र स्थापित किए हैं। 1981 में इस तरह के 31 केन्द्र क्रियाशील थे व इन केन्द्रों में शिक्षा देने वालों को प्रशिक्षित करने हेतु 7 प्रशिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र थे।

17. **कृषि उद्योग निगम**—राजकीय उपक्रमों के रूप में 17 राज्यों में केन्द्र व राज्यों की समान भागीदारी के आधार पर कृषि उद्योग निगमों की स्थापना की गयी। इन निगमों का उद्देश्य अपने-अपने राज्यों में कृषि की अवस्थानुसार सुधरे हुए औजार, मशीन आदि के निर्माण वितरण व उनके प्रयोग को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करना है। 1979-80 से यह योजना राज्य क्षेत्र को हस्तान्तरित कर दी गयी तथा इस वर्ष केन्द्र सरकार ने कोई भी अतिरिक्त अंश पूंजी इसमें नहीं लगायी।

18. **जल व भू-संरक्षण**—जलवायु एवं भौगोलिक स्थिति जैसे पहलुओं के आधार पर सम्पूर्ण भारत को 10 भू-संरक्षण क्षेत्रों में विभक्त किया गया है तथा इन क्षेत्रों की मुख्य समस्याओं और प्रबन्ध सम्बन्धी प्रमुख कार्यों का पता लगाया गया है। भूमि तथा जल संरक्षण कार्यक्रमों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य देश के भू-साधनों की रक्षा करना, भूमि के कटाव और भूमि की शक्ति को घटने से रोकना तथा समस्या प्रधान जमीनों को फिर से उपजाऊ बनाना है। ये कार्यक्रम केन्द्र तथा राज्य स्तर पर और केन्द्र प्रायोजित योजनाओं के अन्तर्गत चलाए जाते हैं। 1980-81 के अन्त तक लगभग 2·44 करोड़ हेक्टेयर भूमि में मिट्टी संरक्षण उपाय किये गये, जिन पर 744 करोड़े रुपये व्यय हुए।

19. **स्थानीय खादों का उपयोग**—रासायनिक उर्वरकों के साथ ही साथ स्थानीय खाद सामग्री के उपयोग के कार्यक्रम पर विशेष बल दिया गया है। गाँवों में कम्पोस्ट बनाने, शहरों में कम्पोस्ट बनाने, हरी खाद बनाने, मल और कचरे के उपयोग जैसे कार्यक्रम सरकारी स्तर पर चलाए जा रहे हैं। केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय बायोगैस विकास परियोजना गठित कर बायोगैस का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। इसके लिए 50 करोड़ रुपये के परिव्यय की व्यवस्था है, और छठीं योजना की शेष अवधि में बायोगैस के 4 लाख संयंत्र लगाने का लक्ष्य रखा गया है। 1981-82 के दौरान 35000 बायोगैस संयंत्र स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया है।

20. **राष्ट्रीय कृषि आयोग**—राष्ट्रीय कृषि आयोग की स्थापना 1970 में की गई थी। 31 जनवरी 1976 को इसने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमें फसल पैदावार, भूमि एवं जल विकास, मत्स्य पालन, पशुपालन, वन, कृषि अनुसंधान, शिक्षा और प्रशिक्षण, सहायक सेवा संगठन, रोजगार, श्रमशक्ति आदि पर अपने सुझाव

प्रस्तुत किये हैं। कृषि एवं सहकारिता विभाग में स्थापित एक कार्यान्वयन कक्ष आयोग की सिफारिशों को क्रियान्वित कराता है।

21. **कृषि सेवा केन्द्र**—कृषि सेवा केन्द्रों की योजना सर्वप्रथम 1971 में लागू की गई। इस योजना के प्रमुख दो उद्देश्य है—प्रथम प्रशिक्षित उद्यमियों को रोजगार देना तथा द्वितीय कृषकों को उनके गाँवों में ही उचित मूल्यों पर कृषि के काम आने वाली वस्तुएँ उपलब्ध कराना। मार्च 1981 तक 3205 कृषि सेवा केन्द्र खोले गये।

योजना-काल में कृषि विकास का मूल्यांकन

यद्यपि योजना-काल में कृषि विकास में प्रगति हुई है, परन्तु फिर भी इस क्षेत्र में जो प्रगति हुई है इसे सराहनीय नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में कृषि-क्षेत्र में असफलता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

1. **दोषपूर्ण आर्थिक नियोजन**—यद्यपि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्य निश्चित किये गये हैं परन्तु कृषि क्षेत्र में विकास के लिए जो कार्यक्रम तैयार किये जाते हैं उनमें कोई समन्वय नहीं होता है। डॉ० गाडगिल 17 वर्ष पूर्व कहा था कि "मेरा विचार यह है कि जिसे वास्तव में आर्थिक नियोजन कहा जा सकता है, भारत में व्यवहार में बहुत थोड़ा है और कृषि में तो यह और भी कम है।" डॉ० गाडगिल का यह कथन आज भी सत्य है। कृषि क्षेत्र में नियोजन के अभाव का मुख्य कारण यह है कि सरकार की नीति में स्थिरता नहीं है। उदाहरणार्थ, गेहूँ के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने के कुछ समय बाद उसे समाप्त कर देना सरकारी नीति में अव्यवस्था का प्रमाण है।

2. **दोषपूर्ण भूमि-सुधार**—भारतवर्ष में भूमि-सुधार सम्बन्धी किये गये अनेक उपायों द्वारा देश में एक न्यायपूर्ण और गतिशील भूमि व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु आशातीत सफलता नहीं मिली है। परिणामतः ग्रामीण क्षेत्र में जो संस्थागत सुधार होने चाहिए थे वे 30 वर्षों के नियोजन द्वारा भी सम्पन्न नहीं हो सके। जापान तथा यूरोप के देशों में जहाँ भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक होने के बावजूद भी कृषि उत्पादकता अधिक है, वहाँ कृषि में तकनीकी सुधारों से पहले भूमि-सुधारों को लागू किया गया था।

3. **पूँजीवादी कृषि का विकास**—सरकार की नवीन कृषि नीति से पूँजीवादी कृषि का विकास हो रहा है, क्योंकि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है जो छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानों के सामर्थ्य से परे है। भारतवर्ष में 12% बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 50% है और ये ही 12% बड़े किसान नलकूप, पम्पिग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। परिणामतः नवीन कृषि विधि से निर्धन किसानों को लाभ नहीं हुआ है, बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10% भाग के हाथ में सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है।

4. **ग्रामीण ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषि व्यवस्था में ग्रामीण ऋणग्रस्तता विष की भाँति व्याप्त है। भारत में ऋण सम्बन्धी अधिनियम ग्रामीण ऋणग्रस्तता की व्यापक बीमारी के लिए प्राथमिक चिकित्सा के रूप में ही कार्य कर सके हैं।

5. **सिंचाई की अपर्याप्त व्यवस्था**—यद्यपि विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया गया है, परन्तु सिंचाई की व्यवस्था दोषपूर्ण है। सिंचाई के कार्यक्रम में पूर्ण समन्वय नहीं है। अत्यन्त सोचनीय बात यह है कि सिंचाई की सुविधाओं का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त सिंचाई की लागत में निरन्तर वृद्धि के कारण छोटा किसान सिंचाई की व्यवस्था का लाभ उठाने में असमर्थ है।

6. **लक्ष्यों से तुलना**—यदि हम अपनी उपलब्धियों की तुलना लक्ष्यों से करें तो हमें विदित होगा कि पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं के अतिरिक्त अन्य सभी योजनाओं में हमारी कृषि उत्पादन की उपलब्धियाँ निर्धारित लक्ष्यों की तुलना में कम रही हैं। अनेक बार तो निर्धारित लक्ष्य तथा वास्तविक उपलब्धि में ताल-मेल बिठाना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। उदाहरणार्थ—चतुर्थ योजना में कृषि उत्पादन में 5% वार्षिक वृद्धि लाने की व्यवस्था की गई जबकि वास्तविक उपलब्धि केवल 2·8% वार्षिक ही रही। पंचम योजना के अन्त तक कृषि की वार्षिक वृद्धि दर केवल 2% आँकी गई है। भारत की तुलना में थाईलैण्ड (4·9), दक्षिण कोरिया (4·1), तुर्की (3·6) तथा मिस्र (3·0) आदि देशों में वृद्धि की दर अधिक है।

7. **आवश्यकताओं से तुलना**—30 वर्षों के नियोजन के उपरान्त भी कृषि क्षेत्र में हम आत्मनिर्भर नहीं हैं। भारत में अभी तक विशेष रूप से 1975 के अन्त तक खाद्यान्न अभाव की गम्भीर समस्या बनी थी। खाद्यान्न की तरह दूसरे कृषिजन्य पदार्थों की भी कमी की अवस्था बनी रहती है और यदा-कदा हमें आयात का सहारा लेना होता है। दालों के अभाव की समस्या ने तो गम्भीर रूप धारण कर लिया है। संक्षेप में, भारत में कृषि का उत्पादन आवश्यकता से कम है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि योजना-काल में कृषि क्षेत्र में यद्यपि उत्साहजनक प्रगति हुई है। किन्तु हमें अभी बहुत आगे जाना है। हर्ष की बात है कि सरकार और योजना आयोग ने कृषि और ग्राम विकास को योजना का केन्द्र बिन्दु बनाने का फैसला किया है।

हरित क्रान्ति
(Green Revolution)

क्रान्ति शब्द में दो बातें सम्मिलित की जाती हैं—(i) किसी घटना में तीव्र परिवर्तन होना, यह परिवर्तन इतना तीव्र होता है कि इसका स्पष्ट आभास होता है। (ii) दीर्घकाल तक इस परिवर्तन के प्रभाव को अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा कुछ मौलिक परिवर्तन आते हैं। जब हम क्रान्ति शब्द के साथ 'हरित' शब्द को जोड़कर 'हरित-क्रान्ति' उपसर्ग का शब्द निर्माण करते हैं तो इसका अर्थ

होता है—(क) कृषि उत्पादन में सुस्पष्ट सुधार तथा (ख) एक लम्बी अवधि तक ऊँचे कृषि उत्पादन के स्तर का बने रहना।

भारत में 1966-67 में हरित क्रान्ति का शुभारम्भ हुआ।

संक्षेप में, सन् 1966-67 व 1968-69 के वर्षों में कृषि उत्पादन में जो आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है उसे ही हरित क्रांति कहा जाता है। 1966-77 में खाद्यान्नों का उत्पादन 75 मिलियन टन था, जो 1967-68 में बढ़कर 96 मिलियन टन हो गया। एक वर्ष में ही खाद्यान्नों के उत्पादन में 25 प्रतिशत वृद्धि निश्चय ही प्रशंसनीय है, भारत के इतिहास में कृषकों को पहले कभी भी इतना अधिक उत्पादन नहीं मिला था।

हरित क्रान्ति के तत्त्व अथवा हरित क्रान्ति के लिए उत्तरदायी घटक—हरित क्रान्ति के लिए उत्तरदायी घटक प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं—

(1) भारी उपजदायी बीजों का प्रयोग (2) उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक जोर (3) आधुनिक उपकरण एवं संयन्त्र (4) कीटनाशक औषधियों का प्रयोग (5) सिंचाई सुविधाओं में विस्तार (6) भूमि सुधार (7) मूल्य उत्प्रेरण (8) बहुफसली कार्यक्रम (9) विधायन, विपणन, एवं संग्रहण की सुविधाओं में वृद्धि (10) पर्याप्त कृषि साख (11) सघन कृषि जिला कार्यक्रम।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं का विस्तार पूर्वक वर्णन पूर्व में इसी अध्याय के '**योजना-काल में कृषि विकास के लिए किए गए प्रयत्न**' नामक शीर्षक में किया जा चुका है। अत: यहाँ पुन: बिन्दुवार वर्णन नहीं कर रहे हैं।

हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ या लाभ—हरित क्रान्ति के मुख्य लाभ निम्न-लिखित हैं—

1. कृषि उत्पादन में वृद्धि—हरित क्रान्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव बढ़े हुए कृषि उत्पादन से परिलक्षित होता है। कृषि उत्पादन का सूचकांक जो कि 1965-66 में 80·8 था 1982-83 में 146 हो गया है।

2. कृषकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन—नवीन कृषि विधि को लागू करने से भारत में कृषि का परम्परागत स्वरूप बदला है और किसान नयी तकनीक को अपनाने लगे हैं। **लैजिन्स्की** का मत है "तकनीकी सुधारों के सम्बन्ध में सबसे उत्साहवर्धक बात यह नहीं है कि इनसे कृषि उत्पादन बढ़ा है, बल्कि अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसान अब जोखिम उठाने के लिए तत्पर हैं और वे इन्पुटों का उपयोग बढ़ा रहे हैं। संक्षेप में नवीन कृषि विकास विधि के प्रभाववश आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गति मिली है।

3. श्रम की माँग में वृद्धि—नवीन विधि भूमि की बचत कराने वाली और श्रम का अधिक उपयोग करने वाली है जिससे देश में रोजगार में वृद्धि होगी। औजारों और उर्वरकों का उत्पादन करने में अधिक श्रम लगाया जायेगा तथा ट्रैक्टरों और कृषिगत यंत्रों की मरम्मत के लिए कुशल कारीगरों की माँग में वृद्धि होगी।

4. कृषि बचतों में वृद्धि—हरित क्रान्ति के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई है

जिससे कृषकों के बचतों की मात्रा में उल्लेखनीय प्रगति हुई। इस कृषि अतिरेक को देश के विकास के लिए काम में लाया जा सकता है।

5. **विश्वास**—भारत में हरित क्रान्ति से मुख्य लाभ यह हुआ है कि कृषक, सरकार, व जनता सभी में यह विश्वास जागृत हो गया है कि भारत कृषि पदार्थों के क्षेत्र में आत्मनिर्भर ही नहीं हो सकता है बल्कि आवश्यकता पड़ने पर निर्यात भी कर सकता है।

6. **आयात प्रतिस्थापना तथा निर्यात सम्बर्द्धन में सहायक**—हरित क्रान्ति के कारण कृषि जन्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि होने से इनके आयात पर व्यय होने वाली विदेशी मुद्रा की तो बचत होगी ही, साथ ही साथ आधिक्य को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकेगी।

हरित क्रान्ति कितनी हरी रही है
अथवा
क्या हम हरित क्रान्ति लाने में सफल हुए हैं ?

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है 'कृषि विकास' का नया उपक्रम सन् 1966-67 में शुरू किया गया। इसके द्वारा किसानों में नई गतिशीलता पैदा की जा रही है : (क) उन्नत बीजों, विशेषकर अधिक पैदावार देने वाले बीजों का उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। (ख) किसानों को कृषि उपज और ऋण देने की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ है। (ग) नई वैज्ञानिक तकनीकें किसानों तक पहुँचाई जा रही हैं। (घ) फसल संग्रह परिवहन और अनाज की बिक्री की समस्याओं पर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसी सम्भावना है कि इन सब कार्यक्रमों का सामूहिक परिणाम कृषि में हरित क्रान्ति ला देगा।

उपर्युक्त चारों प्रयत्न एक-दूसरे पर निर्भर हैं, अतः हरित क्रान्ति के लिए ये सभी आवश्यक हैं। इस क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य ही हुए हैं, कृषि क्षेत्र में उत्पादकता में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह सत्य प्रतीत होता है कि 'हरित क्रान्ति' प्रारम्भ हो गई है और कृषि विकास की व्यूह रचना उचित दिशाओं में चल रही है। किन्तु निम्नांकित कारणों से यह क्रान्ति पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं रही है :—

1. **पूंजीवादी कृषि का विकास**—नई कृषि उत्पादन-विधि के कारण भारत में **पूंजीवादी कृषि का विकास** हो रहा है क्योंकि अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिये उर्वरकों और सिंचाई पर भारी विनियोग करना पड़ता है जो छोटे व मध्यम श्रेणी के किसानों के सामर्थ्य से परे हैं। भारतवर्ष में 12% बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 50% है और ये ही 12% बड़े किसान नलकूप, पम्पिग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी विनियोग कर रहे हैं। परिणामतः नवीन कृषि विधि से निर्धन किसानों को लाभ हुआ है, बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10% भाग के हाथ में सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है।

अशोक रुद्र, माजिद और तालिब ने पूंजीवादी खेती का विश्लेषण करने के लिये पंजाब के बड़े किसानों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि नई कृषि-उत्पादन-विधि के कारण पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है।

श्री० जी० आर० सनी ने फिरोजपुर और मुजफ्फरपुर में हरित क्रान्ति के प्रभावों का अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों जिलों में हरित क्रान्ति से धनी और निर्धन किसानों के बीच खाई बढ़ी है।

2. **क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि**—भारत में हरित क्रान्ति से क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि हुई है। अधिक उपज देने वाले बीजों और उर्वरकों के प्रयोग से केवल गेहूँ की प्रति हेक्टेयर उपज में तो वृद्धि हुई है, अन्य किसी फसल पर इस योजना का कोई प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः गेहूँ का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में और विशेष रूप से पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के बड़े किसानों की सम्पन्नता बढ़ने से कृषि में भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज हो चली है, जबकि देश के अन्य सभी भागों में कृषि का स्वरूप परम्परागत बना हुआ है। अतः कहा जाता है कि **"हरित क्रान्ति से निर्धनता के सागर में सम्पन्नता के द्वीप बन गये हैं।"**

3. **संस्थागत सुधारों की उपेक्षा**—ऐसा प्रतीत होता है कि नई उत्पादन-विधि एकमात्र बल तकनीकी परिवर्तनों पर है। इसमें संस्थागत सुधारों जैसे भूमि सुधारों को किसी समय काफी जोरों से चर्चा थी, क्या आज उनको लागू करने की आवश्यकता नहीं रह गई है? यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जब तक देश के अधिकांश भागों में काश्तकारी प्रथा एवं बटाई-प्रथा (Share-cropping) विद्यमान है तब तक नीति को व्यापक क्षेत्रों में क्रियाशील नहीं किया जा सकता। अतः कृषि-क्षेत्र में विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए भूमि सुधार के उपाय अति शीघ्रता से अपनाए जाने चाहिए।

यदि बिना संस्थागत परिवर्तन के कृषि क्षेत्र में तकनीकी उपायों को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है तो इससे परम्परागत कषि का स्वरूप बदलकर आधुनिक नहीं हो जाता। **श्री के० एन० राज** का तो मत है कि इससे कृषि क्षेत्र में द्विविधता पैदा हो जाती है अर्थात् एक ओर तो बड़ी संख्या में छोटे किसान परम्परागत ढंग से खेती करते हैं और दूसरी ओर कहीं-कहीं आधुनिक यंत्रीकृत खेती होती है। इम प्रकार देश में अन्तर्क्षेत्र कृषि व्यवस्था का विकास होता है।

4. **विभिन्न एजेन्सियों में ताल-मेल में कमी**—नवीन कृषि विधि में व्यापक आयोजन का अभाव है। इसमें सिंचाई से भी ज्यादा बल उर्वरकों पर दिया गया है। **श्री आर० एस० सावले** के फार्म-प्रबन्ध अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि विकास में सर्वोच्च स्थान सिंचाई का है। कहने का तात्पर्य यह है कि उर्वरक के साथ-साथ सहयोगी तत्वों जैसे समय पर ऋण व बीज का उपलब्ध होना तथा सिंचाई संस्थापकों की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। **श्री वी० एस० व्यास** ने नई उत्पादन विधि के असन्तोषजनक कार्यान्वयन के बहुत से कारण बताए है जैसे राजकीय व्यवस्थाओं—कृषि-विभागों, पंचायतों एवं सहकारी समितियों में तालमेल

3

की कमी, बिस्तार सेवाओं द्वारा सूक्ष्म तकनीक के अनुकूल कार्य न कर पाना एवं सहकारी समितियों द्वारा यथोचित समय पर कृषि-आदानों, विशेषकर उर्वरकों को वितरित न कर सकना और साथ ही उधार क्रियाओं की व्यवस्था करने में असफल होना।

5. कृषि-श्रमिक की वास्तविक मजदूरी में कमी—भारत सरकार द्वारा हाल ही में दो जिलों फिरोजपुर (पंजाब) और मुजफ्फरपुर (उत्तर प्रदेश) में किये गये फार्म मैनेजमेन्ट सर्वेक्षणों से भी ऐसे ही निष्कर्ष निकलते हैं। फिरोजपुर में 1956-57 में पुरुष कृषि श्रमिक की दैनिक मजदूरी 2.46 रुपये थी जो तत्कालीर गेहूँ के मूल्य के आधार पर 7.3 किलो के बराबर थी। परन्तु 1967-68 में यद्यपि मजदूरी की दर बढ़कर 5.55 रुपये हो गई, परन्तु तत्कालीन कीमतों पर गेहूँ के रूप में यह मजदूरी गिरकर 6 कि० ग्रा० ही रह गई। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में भी नकद मजदूरी में वृद्धि 4.8% प्रति वर्ष की दर से हुई परन्तु उपभोक्ता मूल्य निर्देशांक (कृषि श्रमिकों के लिए) में वृद्धि की दर से 47% थी। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी वास्तविक मजदूरी दर प्रायः स्थिर ही बनी रही। अर्थशास्त्री प्रणव वर्धन ने भी कृषि श्रमिकों पर हरित क्रांति के प्रभाव का अध्ययन किया। श्री वर्धन के अनुसार पंजाब और हरियाणा के जिलों में दैनिक आकस्मिक पुरुष श्रम की मजदूरी में 1967-68 में 1960-61 की अपेक्षा 89% की वृद्धि हुई। परन्तु इसी अवधि में कृषि श्रमिकों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की कीमत में 93% की वृद्धि हुई। इस प्रकार पुरुष कृषि श्रमिक की वास्तविक औसत दर में कमी हुई है। स्पष्टतः हरित क्रांति का लाभ कृषि श्रमिकों को प्राप्त नहीं हुआ है। मार्टिन ऐबेल का कथन है कि हरित क्रांति एक बड़ी सीमा तक कृषि श्रमिकों के अथक परिश्रम का फल है, परन्तु यह उसके हाथों से निकलकर बड़े किसानों के गोदामों में चली गयी है।

6. ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि—हरित क्रान्ति के अन्तर्गत गहन कृषि विकास कार्यक्रमों को अपनाया गया है और गहन कृषि के परिणाम स्वरूप पंजीकरण में तेजी से वृद्धि हुई है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी में वृद्धि हुई है। हरित क्रान्ति के कारण पूंजीवादी कृषि प्रणाली को बल मिला है जिससे यंत्रों के बढ़ते हुए प्रयोग से मानव श्रम की माँग घट रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था न होने पर निराशा को जन्म मिलेगा तथा उसके दूरगामी परिणाम बहुत बुरे होंगे। कृषि यंत्रीकरण की गति को नियंत्रित किया जाना चाहिए।

7. ग्रामीण जनसंख्या का शहरों में पलायन—ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ती हुई बेरोजगारी के फलस्वरूप ग्रामीण जनसंख्या शहरों की ओर जा रही है, जहाँ पहले से ही अधिक भीड़ है। इस अतिरिक्त जनसंख्या के शहरों में जाने से वहाँ स्थानीय यातायात, आवास एवं जनस्वास्थ्य की समस्याएँ अधिक विकट होंगी जिनके सामाजिक परिणाम बहुत बुरे होंगे।

8. अन्य समस्याएँ—हरित क्रान्ति से कृषि पदार्थों के मूल्यों में गिरावट, कृषि फार्मों की व्यवस्था, जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति को सरल दृष्टिकोण से लेना, कृषि

उपजों के संग्रहण की व्यवस्था, आदि के सम्बन्ध में अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं जिनके तुरन्त हल की आवश्यकता है। जोत की अधिकतम सीमा 17-18 एकड़ निर्धारित करना हरित क्रान्ति पर एक भारी कुठाराघात सिद्ध होगा।

हरित क्रान्ति की सफलता हेतु सुझाव

देश में हो रही हरित क्रान्ति की गति को, इसके बुरे प्रभावों को देखकर, कम करने या समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि आज आवश्यकता इस बात की है कि नवीन कृषि नीति तथा देश की अर्थव्यवस्था में इस तरह के परिवर्तन किये जायँ, जिससे हरित क्रांति के बुरे प्रभावों को कम किया जा सके तथा देश के सभी वर्गों को इसके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। हरित क्रान्ति को अधिक सफल बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. **हरित क्रान्ति का विस्तार**—हरित क्रान्ति तभी क्रान्ति कही जायेगी जब कि इसके फल सभी को प्राप्त हों तथा सभी प्रांतों तथा सभी फसलों में यह सफल हो। यदि केवल धनी किसान ही इससे लाभान्वित होंगे तो इससे आय की असमानता में वृद्धि होगी। अतः निर्धन किन्तु प्रगतिशील किसानों (जो बहुसंख्यक हैं) को अधिकाधिक इस नीति को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

2. **संस्थाओं में समन्वय**—कृषि उत्पादन से सम्बन्धित सरकारी विभागों, पंचायतों, सहकारी समितियों व अन्य इसी प्रकार की संस्थाओं में समन्वय होना चाहिए और इन्हें नवीन कृषि नीति की सफलता के लिए उत्तरदायी ठहराना चाहिए।

3. **उर्वरकों का यथोचित वितरण**—चूंकि अधिक उपज वाले बीजों की खेती के लिए उर्वरक और अच्छी सिंचाई व्यवस्था का होना सबसे अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए यह आवश्यक है कि उर्वरकों के यथोचित वितरण की व्यवस्था की जाय तथा इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कृषकों को समुचित प्रशिक्षण दिया जाए। साथ ही, सिंचाई व्यवस्था का समुचित विस्तार होना चाहिए।

4. **मिट्टी का पर्यवेक्षण**—चूंकि भारत की मिट्टी में बहुत अधिक विविधता पाई जाती है, इसलिए कृषि वैज्ञानिकों को मिट्टी का पर्यवेक्षण करना चाहिए और उपयुक्त क्षेत्र के लिए उपयुक्त बीजों के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए।

5. **जमीन की न्यूनतम सीमा**— जिस तरह किसी व्यक्ति के पास अधिकतम जमीन की सीमा निर्धारित कर दी गई है, उसी प्रकार इसकी न्यूनतम सीमा भी निर्धारित की जानी चाहिए। न्यूनतम सीमा से कम भूमि को या तो खरीद लेना चाहिए या किसी बड़े टुकड़े के साथ जोड़ देना चाहिए।

6. **फसल बीमा**—कृषकों के लिए फसल बीमा योजना शीघ्रता एवं व्यापकता से लागू की जानी चाहिए।

7. **कम ब्याज-दर**—कम ब्याज दर पर उचित मात्रा में उचित समय पर ऋण दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

8. **न्यूनतम मूल्यों की गारण्टी**—हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप कुल उत्पादन

में वृद्धि होने पर मूल्य गिरना स्वाभाविक है। मूल्य में कमी के कारण कृषक को हानि हो सकती है। इस संभावित हानि से सुरक्षा दिलाने के लिए कृषि जन्य पदार्थों के मूल्यों में स्थिरता लाना तथा न्यूनतम स्तर के मूल्यों के कम होने पर सरकार द्वारा खरीद की गारण्टी आवश्यक है। अतः कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार परमावश्यक है।

9. **लालफीताशाही का उन्मूलन**—कृषि नीति सम्बन्धी निर्णयों को अविलम्ब कार्यान्वित करने के लिए ग्राम पंचायतों, सहकारी संस्थाओं व सरकारी विभागों आदि में समन्वय स्थापित करके लालफीताशाही को कम से कम किया जाना चाहिए।

10. **ग्रामीण-रोजगार अवसरों में वृद्धि**—हरित क्रान्ति से कुछ श्रमिकों के बेरोजगार हो जाने की संभावना है। अतः इस सम्बन्ध में यह सुझाव है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली पहुँचाने की व्यवस्था की जाय जिसके वहाँ ग्रामीण उद्योग धन्धे पुनर्स्थापित हो सकें और बेकार श्रमिकों को काम मिल सके।

11. **मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियाँ**—हरित क्रान्ति को अधिक गति देने, तथा इसके लाभों को समाज के सभी वर्गों को समान रूप से उपलब्ध कराने हेतु उचित मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए।

12. **प्रगतिशील किसानों को प्रोत्साहन**—प्रगतिशील किसानों को उत्साहित करने के लिए उन्हें हर सम्भव सहायता व मार्गदर्शन प्रदान किया जाना चाहिए। फसल प्रतियोगिताओं द्वारा उन्हें और अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

13. **असमानताओं को दूर करने के प्रयत्न**—हरित क्रांन्ति के फलस्वरूप बढ़ रही असमानताओं को दूर करने के लिए नवीन कृषि नीति के अन्तर्गत छोटे कृषकों खेतिहर मजदूरों को लाभ पहुँचाने के लिए विशेष कार्यक्रम अपनाने चाहिए। देश की कर प्रणाली में आवश्यक परिवर्तनों द्वारा बड़े तथा धनी कृषकों से प्रगतिशील दर से कर वसूल करना चाहिए तथा सार्वजनिक व्यय का अधिकांश लाभ कमजोर एवं निर्धन कृषकों को प्रदान किया जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

1. भारतीय योजनाओं में कृषि-विकास के लिए किये गए प्रयत्नों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। क्या ये प्रयत्न कृषि की समस्याओं के समाधान में सफल रहे हैं?

अथवा

"भारतीय कृषि वर्षा के साथ एक जुआ है।" क्या यह कथन अभी भी सत्य है? योजना-काल में भारत सरकार ने कृषि विकास के लिए जो कदम उठाए हैं उनकी समीक्षा कीजिए।

[**संकेत**—इसमें भारतीय कृषि का पंचवर्षीय योजनाओं में विकास का वर्णन करना है।]

2. हरित क्रांति से क्या आशय है? यह किस प्रकार सम्भव हुई और इसके क्या परिणाम रहे हैं?

अथवा

भारत में हरित क्रांति पर एक विवेचनात्मक लेख लिखिए।

अथवा

क्या आप इस विचार से सहमत हैं—"भारत में हरित क्रान्ति आ चुकी है लेकिन पूर्ण नहीं है।" यदि हाँ तो इसके पूर्ण करने के लिए सुझाव दीजिए।

[**संकेत**—इसमें हरित क्रान्ति से आशय, समस्याएँ व समाधान देना है।]

3

भूमि-व्यवस्था एवं भूमि-सुधार

(Land Tenure and Land Reforms)

भूमि व्यवस्था तथा भूमि सुधार का अर्थ—भूमि व्यवस्था से तात्पर्य उस व्यवस्था से है, जिसमें किसानों के भूमि संबंधी अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों की व्यवस्था होती है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, भूमि व्यवस्था से आशय (i) भूमि के स्वामी (ii) भूमि को जोतने वाले का भूमि के प्रति कर्तव्य, अधिकार एवं दायित्व तथा (iii) माल गुजारी देने के लिये राज्य से सम्बन्ध की व्याख्या से है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि व्यवस्था से अर्थ उस व्यवस्था से है, जिसके अनुसार भूमि का स्वामित्व एवं दायित्व निर्धारित किये जाते है।

एक आदर्श भूमि व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें निम्न गुण हों—(i) भूमि में जोतने वाले का स्वामित्व होना चाहिए (ii) लगान उचित मात्रा में लिया जाना चाहिए। (iii) भूमि के हस्तान्तरण की स्वतन्त्र व्यवस्था होनी चाहिए (iv) जोतों की सीमा निर्धारित होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत में प्रचलित भूमि व्यवस्था—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारत में भूमि-व्यवस्था या भू-स्वामित्व प्रणाली की निम्न तीन प्रथायें प्रचलित थीं—

1. **रैयतवाड़ी प्रथा** (Ryotwari System)—इस प्रथा को थामस मुनरो ने सर्वप्रथम सन् 1792 ई० में मद्रास में लागू किया जो धीरे-धीरे बम्बई, बरार, कुर्ग मध्य प्रदेश तथा असम में प्रचलित हुई। इस प्रथा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(i) इसमें किसान का सम्बन्ध सीधे सरकार से होता है तथा बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता (ii) जब तक भू-स्वामी सरकार को नियमित रूप से लगान देता रहता है तब तक वह भूमि का स्वामी बना रहता है, परन्तु लगान न देने की स्थिति में भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो जाता है। (iii) भूस्वामी को स्वेच्छा से कोई भी भूमि छोड़ने का या खरीदने का अधिकार होता है। (iv) बन्दोबस्त लगभग 20 या 30 वर्ष के लिये किया जाता है।

2. **महलवाड़ी प्रथा** (Mahalwari System)—यह प्रथा सन् 1833 के

'रेग्यूलेशन ऐक्ट' के अनुसार सर्वप्रथम आगरा व अवध में शुरू की गई। इसके पश्चात् पञ्जाब व मध्य प्रदेश के कुछ भागों में भी लागू की गयी। इस प्रथा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—(i) इसके अन्तर्गत गाँव की समस्त भूमि पर गाँव के किसानों का संयुक्त अधिकार रहता है। 'महाल' शब्द का अर्थ है 'गाँव। (ii) प्रत्येक गाँव का एक नम्बरदार होता है जो मालगुजारी को सरकारी कोष में जमा करता है। (iii) इस प्रथा में गाँव की बेकार बंजर भूमि, कुएँ, वृक्ष आदि सभी किसानों की संयुक्त सम्पत्ति होती है। (iv) इसके अन्तर्गत पहले से चले आये अधिकारों को ही प्रमाण मानकर बँटवारा होता है (v) यदि कोई किसान अपनी भूमि छोड़ता है तो वह संपूर्ण गाँव वालों की हो जाती है।

3. **जमींदारी प्रथा** (Zamindari System)—जमींदारी प्रथा ब्रिटिश राज्य की देन है। इसके अन्तर्गत स्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारी तथा अस्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारी प्रथा जैसी दो श्रेणियाँ थीं। स्थायी बन्दोबस्त वाली प्रथा में भूमि पर जमींदारों का पूरा अधिकार होता था और इसमें लगान की मात्रा हमेशा के लिए एक ही बार निश्चित कर दी जाती थी। स्थायी बन्दोबस्त की जमींदारी प्रथा मुख्यत: पश्चिम बङ्गाल, बिहार, असम, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास व उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित थी। अस्थायी बन्दोबस्त में सरकार का हिस्सा अस्थायी रूप से किसी निश्चित समय के लिये निर्धारित किया जाता था। यह प्रथा बङ्गाल, उड़ीसा, बम्बई उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित थी।

निम्न तालिका से 1947-48 में इन तीनों प्रकार की भूमि-व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का विभाजन स्पष्ट हो जाता है।

भूमि व्यवस्था के प्रकार	क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	कुल योग का प्रतिशत	प्रमुख राज्य जहाँ यह प्रचलित थी
रैयतवारी	6.12	38	मद्रास, बम्बई (महाराष्ट्र व गुजरात) असम, केरल
जमींदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	3.84	24	बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा
जमींदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	6.16	38	मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पञ्जाब

भूमि सुधार का अर्थ उद्देश्य एवं महत्त्व
(Meaning, objectives and Importance of Land Reform)

अर्थ—भूमि-सुधार, भूमि व्यवस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक शब्द है। सामान्यत: भूमि सुधार के अन्तर्गत (अ) मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति, (ब) असामी कानून में सुधार, (स) जोत की अधिकतम सीमा का निर्धारण, (द) कृषि का पुनर्संगठन

सम्मिलित किये जाते हैं। इस प्रकार भूमि-सुधार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। संक्षेप में, भूमि-सुधार का तात्पर्य कृषि के ढाँचे तथा संगठन में प्रगतिशील परिवर्तन करने से है। **प्रोफेसर गुन्नार मिरडल** के अनुसार, "भूमि-सुधार व्यक्ति और भूमि के सम्बन्धों में नियोजन और संस्थागत पुनर्संगठन है।"

भूमि सुधार के उद्देश्य—भूमि-सुधार निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है—

1. **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—भूमि-सुधार का प्रमुख उद्देश्य कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए उन बाधाओं को दूर करना है जो कृषि के ढाँचे में प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनके द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण होना चाहिए जिससे कि कृषि अर्थ-व्यवस्था में शीघ्रातिशीघ्र कुशलता और उत्पादकता के ऊँचे स्तर को प्राप्त किया जा सके।

2. **सामाजिक न्याय**—भूमि-सुधार का दूसरा उद्देश्य जो कि पहले उद्देश्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, यह है कि कृषि पद्धति में विद्यमान शोषण तथा सामाजिक अन्याय के सभी तत्त्वों को समाप्त किया जाय ताकि किसान को सुरक्षा प्राप्त हो सके और ग्रामीण जनसंख्या के सभी वर्गों को एक समान प्रतिष्ठा और अवसर प्राप्त हो सके।

3. **राजनीतिक उद्देश्य**—भूमि-सुधार का तृतीय उद्देश्य राजनीतिक है जिसके अन्तर्गत ग्रामीण जन समूह को अपने पक्ष में करने के लिए इस प्रकार की योजनाएँ बनाई जाती हैं और कार्य रूप में परिणित की जाती हैं।

विकासशील भारतीय अर्थ-व्यवस्था में भूमि-सुधारों का महत्त्व (Importance of Land Reforms in the Developing Indian Economy) भारत जैसे अर्द्ध विकसित देश के आर्थिक विकास में भूमि सुधारों का विशेष महत्त्व है। क्योंकि अभी तक हमारी भूमि-अधिकार-व्यवस्था, देश के पिछड़ेपन का एक मुख्य कारण रही है। संक्षप में भूमि-सुधार कार्यक्रमों का महत्त्व निम्नलिखित है :—

1. **कृषि उद्योगों पर महत्त्व**—भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, देश का आर्थिक विकास कृषि-विकास पर निर्भर करता है और कृषि की तभी उन्नति हो सकती है और उत्पादन से तभी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है जब भूमि-व्यवस्था इसके अनुकूल हो।

भूमि-सुधारों का मुख्य उद्देश्य, भूमि-व्यवस्था में अनुकूल परिवर्तन करके, कृषि उत्पादन को अधिकतम करना है। कृषि-उत्पादन मुख्यतया दो प्रकार के तत्त्वों पर निर्भर करता है—**तकनीकी और संस्थात्मक**।

तकनीकी तत्त्वों में अच्छे बीज, उर्वरक तथा अच्छे औजार आदि का समावेश किया जाता है, जिससे उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिलती है, भले ही किसी प्रकार का भूमि-सुधार लागू न किया जाय।

संस्थात्मक सुधारों के अन्तर्गत भू-स्वामित्व का कृषकों के हित में पुनर्वितरण असामी कानूनों में सुधार, मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति व कृषि का पुनर्संगठन आदि आते हैं।

वस्तुत: कृषि विकास के लिए तकनीकी और संस्थात्मक दोनों सुधारों को एक साथ अपनाया जाना चाहिए। क्योंकि जब तक संस्थात्मक परिवर्तन नहीं होंगे, तब तक तकनीकी सुविधाओं का समुचित प्रयोग नहीं हो सकेगा। अत: तकनीकी परिवर्तन तभी अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे, जब भूमि-व्यवस्था ठीक ढङ्ग की होगी। भूमि-सुधार संस्थात्मक परिवर्तन का ही प्रतीक है। अत: कृषि विकास तथा फलस्वरूप आर्थिक विकास के लिए भूमि-सुधार आवश्यक है।

2. **सामाजिक क्षेत्र में महत्त्व**—आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक न्याय स्थापित करने में भी भूमि-सुधार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि भूमि-सुधार आय तथा सम्पत्ति के समान वितरण में ही सहायक होते हैं। जहाँ भूमि के अधिकतर भाग के स्वामी बड़े-बड़े जमींदार हो, और बहुत से असामियों (Tenants) द्वारा खेती की जाती हो, वहाँ का सामाजिक ढाँचा न्यायोचित नहीं हो सकता। हमारे देश में अनुत्पादक जमींदारों से भूमि-अधिकारों को छुड़ाकर वास्तविक कृषकों को स्थायी अधिकार प्रदान करना, अमीर वर्ग से अतिरिक्त भूमि लेकर भूमिहीनों में वितरित करना, जमींदारों का उन्मूलन किया जाना इत्यादि ऐसे सुधार हैं, जिन्हें सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दिशा में उचित कदम कहा जा सकता है।

3. **अन्य महत्त्व**—(अ) भूमि-व्यवस्था का आर्थिक महत्त्व भी है, क्योंकि भूमि का लगान राज्य सरकारों की आय का एक प्रमुख साधन है। (ब) भूमि-सुधार कार्यक्रमों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि भी होती है, क्योंकि चकबन्दी, भूमि का पुर्नवितरण, वैज्ञानिक ढङ्ग पर जोतों का सङ्गठन इत्यादि ऐसे कार्य हैं, जिनकी कृषि-क्रियाओं का जन्म होता है और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर बढ़ते हैं।

भूमि-सुधार के महत्त्व पर जोर देते हुए **डॉ राधा कमल मुखर्जी** ने अपनी पुस्तक 'Land problems of India' में लिखा था कि "वैज्ञानिक कृषि अथवा सहकारिता को हम कितना ही अपना लें, पूर्ण सफलता हमें तब तक नहीं मिलेगी जब तक हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नहीं कर देते।"

प्रो० सैम्युलसन के मतानुसार—"सफल भूमि सुधार के कार्यक्रमों ने अनेक देशों में (साहित्यिक भाषा में) मिट्टी को सोने में बदल दिया है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में भूमि सुधार
(Land Reforms in India After Independence)

अभी तक भारतवर्ष में भूमि-सुधार के जो कार्य किये गये थे। उनका वर्णन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(i) मध्यस्थों एवं जमींदारों का उन्मूलन (Abolition of Intermidiaries and Zamindars) (ii) काश्तकारी व्यवस्था में सुधार (Reform in Tenancy System) (iii) जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण (Ceiling of Holdings) (iv) कृषि का पुनर्संगठन—(अ) चकबन्दी (ब) सहकारी खेती (स) भूदान (v) भू अभिलेखों को आधुनिक बनाना।

1. **मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति**—भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो जमींदार, जागीरदार

व ईमानदार आदि कई प्रकार के मध्यस्थ वर्ग पूरे देश के लगभग 40% क्षेत्र में फैले हुए थे। भारत के विभिन्न राज्यों ने अपने-अपने क्षेत्रों में अधिनियम पारित करके मध्यस्थों को समाप्त कर दिया है। लगभग 2 करोड़ से अधिक किसानों का अब सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इसके अतिरिक्त, निजी वन-क्षेत्र व कृषि योग्य बंजर भूमि भी सरकार को मिली है। जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए जो कानून पारित किए गए हैं उनकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—(i) जमींदारों से उनकी भूमि लेने के बदले उन्हें मुआवजा दिया गया है। केवल जम्मू-काश्मीर में, जहाँ कि भारतीय संविधान लागू नहीं था, बिना मुआवजा दिये ही मध्यस्थों के अधिकारों का उन्मूलन किया गया। इस मुआवजे का आधार तथा दर भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न थी। उदाहरण के लिये, मुआवजे का आधार उत्तर प्रदेश में शुद्ध सम्पत्ति हैं, जबकि असम, मध्य प्रदेश व राजस्थान में शुद्ध आय है। मुआवजे की राशि उत्तर प्रदेश में शुद्ध सम्पत्ति की 8 गुनी और राजस्थान में शुद्ध आय की 7 गुनी है। इसके अतिरिक्त, राज्य के सभी जमींदारों को समान दर से मुआवजा नहीं दिया गया। ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मुआवजे की दर घटती जाती है।

(ii) मुआवजे की यह धनराशि कुछ तो नकद और कुछ बांडों के रूप में दी गई। छोटे जमींदारों को प्रायः नकद क्षतिपूर्ति मिली है।

(iii) जमींदारों को व्यक्तिगत कृषि करने के लिए भूमि रखने की अनुमति दी गई है, परन्तु अधिकतम भूमि की सीमा निश्चित कर दी गई है।

(iv) जमींदारी उन्मूलन के बाद, काश्तकार या असामी ही सरकार का प्रत्यक्ष रूप से लगान देने के लिए जिम्मेदार हो गया है।

(v) भविष्य में जमींदारियाँ फिर से विकसित न हो जायँ इस हेतु काश्तकार के लिए अपनी भूमि पर स्वयं ही कृषि करना अनिवार्य हो गया है।

कठिनाइयाँ—जमींदारी उन्मूलन का विरोध हजारों व्यक्तियों ने किया और जब तक जमींदारी उन्मूलन नहीं हो गया था तब तक जमींदारों ने अनेक बाधायें डालीं, जैसे—(अ) कानूनी आधार पर उनका विरोध किया, (ब) अधिक क्षतिपूर्ति की माँग की, (स) हर प्रकार का दबाव डालकर असामियों से भूमि खाली कराने का प्रयत्न किया, भूमि का बँटवारा कर लिया, सहकारी कृषि का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त सरकार के सामने भी बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ आयीं, जैसे—भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी आँकड़ों का अभाव, जमींदारों के मुआवजों का धन निश्चित करना, भूमि की सारी पैमाइश का हिसाब फिर से तैयार करना, काश्तकारों के नाम और उनकी भूमि आदि का विवरण रखना। परन्तु अब तो इन सब कठिनाइयों का समाधान हो चुका है और लगभग हर जगह मध्यस्थों को समाप्त किया जा चुका है, केवल धार्मिक तथा दातव्य संस्थाओं के पास ही थोड़े अधिकार रह गये हैं। मुआवजे के रूप में अब तक 461 करोड़ रुपये में से 320 करोड़ रुपये नकद या बांडों के रूप में दिये जा चुके हैं।

जमींदारी उन्मूलन के प्रभाव

जमींदारी उन्मूलन के निम्नलिखित लाभकारी प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों पर पड़े हैं—

1. **शोषण का अन्त**—जमींदारों द्वारा काश्तकारों का जो शोषण किया जाता था उसका अन्त जमींदारी उन्मूलन से हो गया है।

2. **उत्पादन में वृद्धि**—जमींदारी उन्मूलन प्रथा से करोड़ों काश्तकारों को भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ है जिससे वे अब कृषि भूमि में स्थाई सुधार करने लगे हैं। भूमि का स्वामित्व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उत्पादन बढ़ाने को प्रोत्साहित करता है।

3. **सरकारी आय में वृद्धि**—जमींदारी उन्मूलन से सरकारी आय में भी वृद्धि हुई है क्योंकि पहले जो आय मध्यस्थों द्वारा हड़प ली जाती थी वह अब सरकार को प्राप्त होने लगी।

4. **सामन्तवाद का अन्त**—जमींदारों के अन्त से सामन्तवाद का अन्त हो गया है। अब कृषक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकते हैं और ग्रामीण जनता भी लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की प्रसासन व्यवस्था में उचित भाग ले सकती है।

5. **कृषकों का सरकार से सीधा सम्बन्ध**—जमींदारी उन्मूलन से कृषकों का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है जिससे उन्हें सरकारी सहायता मिलने में आसानी रहती है।

6. **कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सहायता**—जमींदारी प्रथा समाप्त होने से भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रमों का क्रियान्वयन आसान हो गया है। चकबन्दी, सहकारी खेती, अधिकतम जोत नियम आदि को अब आसानी से लागू किया जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि जमींदारी उन्मूलन सन्नियमों में कुछ दुर्बलतायें होने के बावजूद कुल मिलाकर इस कार्य ने क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। परन्तु, जैसे स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, "यह तो केवल विकास के मार्ग की एक बड़ी बाधा को हटाना है," यह एक प्रारम्भिक कदम था। अब जब सब बाधाएँ दूर हो गई हैं, हमें देश में आदर्श भूमि व्यवस्था स्थापित करने के लिए संयुक्त ग्राम व्यवस्था व सहकारी कृषि को शीघ्र एवं बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करना चाहिए। कार्य को सम्पन्न करने के लिए कृषकों को विभिन्न प्रकार की रियायतें तथा आकर्षण के अतिरिक्त आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(II) **काश्तकारी व्यवस्था में सुधार**—भू-सुधार का एक पहलू उन किसानों से सम्बन्धित है जो पट्टे पर जमीन लेकर खेती करते हैं। इनकी स्थिति बहुत कमजोर होती है और इनका शोषण किया जाता है। काश्तकारी सुधार के कार्य-क्रमों को निम्न 4 भागों में बाँटा जा सकता है—

(i) **लगान का नियमन : लगान के नियमन का सैद्धांतिक विश्लेषण**—भूमि का बढ़ता हुआ लगान इस बात का संकेतक है कि भूमि की पूर्ति के तुलना में भूमि की माँग अधिक है। प्रोफेसर खुसरो के मतानुसार जब लगान अत्यधिक ऊँचे हो जाते हैं तो कई बार काश्तकार अपनी जोत का आकार अनुकूलतम जोत से कम कर देता है और कई बार तो वह अपने जोत के आकार को न्यूनतम साध्य आकार से भी कम कर देता है, अतः खुसरो का मत है कि इस समस्या के समाधान के लिए लगान का नियमन आवश्यक है। परन्तु यदि केवल लगान का नियमन ही किया जाता है तो इससे भूमि के माँग और पूर्ति का अन्तर और भी बढ़ सकता है। अतः इस समस्या के समाधान के लिए भूमि की न्यूनतम और अधिकतम सीमा का निर्धारण बहुत आवश्यक है। इन दोनों उपायों का संयुक्त प्रभाव यह होगा कि माँग और पूर्ति के मध्य अन्तर कम हो जायेगा, और लगान नीचे स्तर में होंगे और काश्तकार आर्थिक दृष्टि से वांछनीय न्यूनतम भूमि को प्राप्त कर सकेगा। इसी तथ्य को नीचे रेखाचित्र से स्पष्ट किया गया है—

भूमि की माँग और पूर्ति का असंतुलन
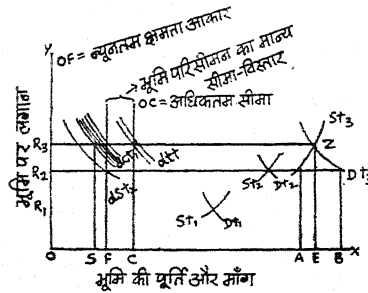
यदि माँग और पूर्ति को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो समय बीतने के साथ-साथ भूमि के माँग में वृद्धि उसकी पूर्ति से कहीं अधिक होने के कारण लगान में निरन्तर वृद्धि होती जायेगी जैसा कि टूटी हुई रेखा के दाहिने भाग में ST और DT वक्रों को आपस में काटने वाले बिन्दुओं से स्पष्ट है। यदि लगान का स्तर OR_2 पर स्थिर कर दिया जाय जो कि स्वतन्त्र प्रणाली के द्वारा निर्धारित लगान से कम है तो माँग और पूर्ति का अन्तर चित्र में AB है। यदि हम बायें भाग में देखें जिसमें dst छोटे काश्तकारों की ओर dlt बड़े काश्तकारों की माँग को प्रदर्शित करता है तो जब लगान OR_3 है तो छोटे काश्तकार OS भूमि पट्टे पर लेने को तैयार हैं जो कि न्यूनतम कुशल आकार या न्यूनतम सीमा से SF के बराबर कम है। अब यदि लगान OR_3 से कम करके OR_2 के बराबर कर दिया और भूमि की उच्चतम सीमा के निर्धारण द्वारा भू-स्वामियों के भूमि वापस लेने के अधिकार को सीमित कर दिया जाय तो भूमि की पूर्ति के माँग से कम होने पर रोक लग सकती है इसी प्रकार सीमा निर्धारण के द्वारा भूमि की माँग को OB तक बढ़ाने से रोका जा सकता है स्पष्टतः

लगान नियमन (मूल्य नियन्त्रण) तथा भूमि की सीमा निर्धारण (राशिनी) द्वारा काश्तकारों का शोषण भी रोका जा सकता है और उनकी जोत भी अलग कर जोत की तुलना में थोड़ी बढ़ सकती है।

इस दिशा में पारित कानून तथा उनका कार्यान्वयन

स्वतन्त्रता से पूर्ण कृषक अपने उत्पादन का लगभग 50% भाग लगान के रूप में देते थे जो बहुत अधिक था। प्रथम योजना में इस बात पर बल दिया गया था कि भूमि का लगान उत्पादन के 20 या 25% से अधिक नहीं होना चाहिए। अतः प्रत्येक राज्य में लगान के निर्धारण के सम्बन्ध में नियम पास कर दिये गये हैं। देश के सब राज्यों में लगान कम करने के उद्देश्य से कानून बनाये गये हैं। लेकिन लगान की दरें विभिन्न राज्यों में अलग-अलग तय की गई हैं जैसे पञ्जाब में यह फसल का $\frac{1}{3}$ भाग, केरल में $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{3}$, कर्नाटक, उड़ीसा, मणिपुर आदि में $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तय की गई हैं।

(ii) **भूमि के पट्टे की सुरक्षा**—भूमि के पट्टे की सुरक्षा से आशय यह है कि असामियों के भूमि सम्बन्धी अधिकार स्थायी होने चाहिए। जिससे कि उन्हें साधारण बहाने पर छीना न जा सके।

काश्तकारी अथवा पट्टेदारी की सुरक्षा से सम्बन्धित अधिनियमों को बनाते समय तीन आधारभूत उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है—(अ) बड़े पैमाने पर किसानों की बेदखली न हो, (ब) भू-स्वामी को केवल स्वयं खेती करने के लिए ही भूमि पुनः प्राप्त करते समय किसान के पास नियत न्यूनतम भूमि रहने दी जाय।

सभी राज्यों में कानून बनाये गये हैं जिनसे काश्तकारों को पट्टे की सुरक्षा प्रदान की गई है। काश्तकारों को उनके पट्टे से बेदखल नहीं किया जा सकता। कुछ एक विशेष परिस्थिति स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दी गई है, केवल इनके अन्तर्गत ही काश्तकारों को भूमि से अलग किया जा सकता है।

(iii) **मुआवजे की व्यवस्था**—यदि कोई काश्तकार किसी पट्टे की भूमि पर किसी तरह का स्थायी सुधार करता है, जैसे कुएँ का प्रबन्ध कृषि प्रसाधन का प्रबन्ध आदि और उसे वहाँ से हटा दिया जाता है तो ऐसी स्थिति में उसके द्वारा किये गये सुधारों के बदले में काश्तकार को पूरा मुआवजा दिया जाता है।

(iv) **काश्तकारों के लिये स्वामित्व अधिकार** (Right of ownership for Tenants)—द्वितीय योजना में यह कहा गया था कि पुनर्ग्रहण न किए जाने वाले क्षेत्रों में काश्तकारों को मालिक बना दिया जाय। यह कार्य तीन प्रकार से किया गया है—(अ) **गुजरात महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश व राजस्थान** में काश्तकारों को स्वामी घोषित कर दिया गया और काश्तकारों से भूमि स्वामियों को उचित किश्तों में क्षतिपूर्ति कराने की व्यवस्था की गई। (ब) **दिल्ली** में सरकार ने स्वयं क्षतिपूर्ति करके स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर लिये और काश्तकारों को स्वामित्व प्रदान करके उनसे उचित किश्तों पर क्षतिपूर्ति राशि वसूल करने की व्यवस्था की। (स) **केरल और**

उत्तर प्रदेश में सरकार ने स्वयं भूस्वामियों के अधिकार प्राप्त कर लिये और काश्तकारों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। काश्तकारों को छूट दी गयी कि या तो वे सरकार को उचित लगान देकर ऐसे ही चलते रहें अथवा निर्धारित क्षतिपूर्ति की राशि देकर पूरे स्वामी बन जायें।

अब तक लगभग 40 लाख काश्तकारों, उप-काश्तकारों व बटाईदारों को 37 लाख हेक्टेयर भूमि में स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो चुका है।

(III) **जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण**—इसका आशय किसी किसान परिवार द्वारा अपने कब्जे में रखी जाने वाली भूमि की अधिकतम मात्रा निर्धारित करना है। उस सीमा से अधिक भूमि का सरकार अधिग्रहण कर लेती है तथा इस भूमि को भूमिहीन किसानों में बाँट दिया जाता है।

सीमा कानूनों की प्रगति—सीमा कानूनों को दो स्पष्ट चरणों में पास किया तथा क्रियान्वित किया गया है। (अ) पहला चरण जो कि 1972 तक की समयावधि से सम्बन्धित है तथा (ब) बाद का चरण जो कि 1972 के बाद केन्द्र द्वारा तैयार 'National Guide lines' से सम्बन्धित है जिनको कि सभी राज्यों ने समान रूप से स्वीकार किया है। सीमा कानून से सम्बन्धित प्रमुख बातें निम्न हैं—(i) सीमा का स्तर; (ii) सीमा के क्रियान्वयन की इकाई; (iii) सीमा से स्वीकृत छूट (iv) अधिशेष भूमि का वितरण।

(i) **सीमा का स्तर**—जिन क्षेत्रों में पानी की नियमित पूर्ति उपलब्ध है और वर्ष में कम से कम दो फसलों का उत्पादन किया जाता है, वहाँ भूमि की उत्पादकता तथा अन्य कारकों को ध्यान में रखते हुए उच्चतम सीमा 10 से 18 एकड़ के बीच निर्धारित की गई है। जहाँ सिंचाई निजी साधनों द्वारा होती है वहाँ सीमा निर्धारण के लिए 1·25 एकड़ भूमि को सार्वजनिक साधनों द्वारा सिंचित क्षेत्र के एक एकड़ के बराबर मानने की व्यवस्था की गई है। लेकिन ऊपरी सीमा दोनों के लिए 18 एकड़ ही होगी। जिन भूमि क्षेत्रों में केवल एक फसल के लिए सिंचाई की सुविधा है, उनके लिए ऊपरी सीमा 17 एकड़ निश्चित की गई है। शेष सब प्रकार की भूमि के लिए निर्धारित सीमा 54 एकड़ है।

(ii) **सीमा के क्रियान्वयन की इकाई**—उच्चतम सीमा निर्धारण करने के लिए परिवार को आधार बनाया गया है। परिवार का आशय पति, पत्नी और नाबालिक बच्चों से है।

(iii) **सीमा से स्वीकृत छूट**—छूट दी गई भूमि में मुख्य उल्लेखनीय हैं: बागान क्षेत्र, पशु प्रजनन फार्म, सहकारी फार्म, धर्मार्थ संस्थाओं की भूमि आदि।

(iv) **अधिशेष भूमि का वितरण**—सीमा से अधिक भूमि का सरकार अधिग्रहण कर लेगी तथा इसे भूमिहीन किसानों में बाँट देगी। इस कानून के अन्तर्गत दिसम्बर 1982 तक विभिन्न राज्यों में 16·68 लाख हेक्टेयर भूमि अतिरिक्त घोषित की गई, जिसमें से 10·80 लाख हेक्टेयर भूमि राज्यों ने अपने अधिकार में ली तथा 7·84 लाख हेक्टेयर भूमि वितरित की गई। अतिरिक्त भूमि के वितरण से 14·3

लाख परिवार लाभान्वित हुए हैं, जिनमें से 7·8 लाख व्यक्ति अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जन जातियों के हैं।

अधिकतम जोत सीमा के पक्ष में तर्क

(1) **समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में सहायक**—यह नियम केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना में सहायता देते हैं तथा राजनीतिक जागृति की आकांक्षाओं को पूरा करते हैं।

(2) **कृषि आय का समान वितरण**—इससे कृषि आय का समान वितरण करने में सुविधा होगी।

(3) **सहकारी कृषि**—बड़ी जोतों की समाप्ति से समानता आयेगी तथा सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा।

(4) **रोजगार में वृद्धि**—अधिकतम जोत निर्धारण से जोत लघु एवं मध्यम आकार की रह जायेगी, जिससे रोजगार में वृद्धि होगी।

(5) **चकबन्दी को प्रोत्साहन**—अधिकतम जोत निर्धारण के नियमों के कारण जोतों का आकार छोटा हो जाता है जिससे चकबन्दी कार्यक्रम को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) **गहन खेती को प्रोत्साहन**—अधिकतम जोत निर्धारण से गहन खेती को प्रोत्साहन मिलेगा और कृषि उत्पादकता में वृद्धि होगी।

(7) **भूमि के असमान वितरण में कमी**—अधिकतम जोत सीमा निर्धारण से भूमि वितरण की विषमताएँ दूर हो जायेंगी।

अधिकतम जोत सीमा के विपक्ष में तर्क

अधिकतम जोत सीमा निर्धारण के विपक्ष में निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जाती हैं—

(1) **बड़े पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित होना**—अधिकतम जोत निर्धारण अधिनियम बड़े खेतों को छोटे-छोटे खेतों में बदल देता है जिसके कारण समाज बड़े पैमाने पर कृषि करने के लाभों से वंचित रहता है।

यह आपत्ति उचित नहीं है क्योंकि खेत प्रबन्धन के अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो चुकी हैं कि छोटे खेतों की उत्पादकता बड़े खेतों की उत्पादकता की तुलना में अधिक होती है। साथ ही बड़े पैमाने पर कृषि करने से प्राप्त होने वाले लाभों को चकबन्दी व सहकारी खेतों जैसे उपायों को अपना कर प्राप्त किया जा सकता है।

(2) **कृषि एवं गैर कृषि आय में विषमताएँ**—यदि शहरी भूमि पर सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जाती तो कृषि जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देने से कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र में विषमताएँ बढ़ जायेंगी।

आजकल जबकि शहरी भूमि और सम्पत्ति की मात्रा को सीमित करने के लिए सरकार आवश्यक कदम उठा रही है, यह आपत्ति भी निरर्थक है।

(3) **सीमा निर्धारण में कठिनाई**—भूमियों की उर्वराशक्ति तथा उन पर

सिंचाई सुविधाएँ भिन्न-भिन्न हैं। साथ ही भूमियों की विभिन्न श्रेणियाँ भी हैं। अतः एक व्यावहारिक कठिनाई सामने आती है कि सभी क्षेत्रों में कृषि भूमि की एक सी अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है।

यह कोई विशेष आपत्ति नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाओं, उर्वरा-शक्ति तथा कृषि उपज के मूल्यों को ध्यान में रखते हुए कृषि जोतों की उच्चतम सीमा निर्धारित की जा सकती है और वर्तमान समय में ऐसा किया भी गया है।

(4) **विपणन योग्य अतिरेक की कमी**--अधिकतम जोत अधिनियम लागू होने से खेत छोटे-छोटे हो जायेंगे जिससे किसानों के पास विपणन योग्य अतिरेक कम हो जायेगा।

वह तर्क कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है क्योंकि पहले जो कृषिहीन किसान बाजार से क्रय करके खाद्य पदार्थ खाते थे वे अब स्वयं उत्पादित करके अपने पास रख लेंगे। इससे विपणन योग्य अतिरेक में कमी हो जायेगी।

(5) **भूमिहीन किसानों की समस्या का समाधान न होना**—भारत में भूमिहीन किसानों की संख्या इतनी बड़ी है कि अधिकतम जोत निर्धारण से मिलने वाली अतिरेक भूमि से इनकी समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

यद्यपि यह सत्य है कि अधिकतम जोत निर्धारण से भूमिहीन किसानों की समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो सकता लेकिन अधिकतम जोत अधिनियमों से कुछ भूमिहीन कृषकों की समस्या तो अवश्य हल होगी और इससे आर्थिक विषमताएँ कम करने में सहायता मिलेगी।

(6) **विपक्ष में अन्य तर्क**—(i) भारत में भूमि का अभाव है अतः इस प्रकार के नियमों से कोई विशेष लाभ नहीं होता। (ii) बड़ी जोतों को छोटी-छोटी जोतों में बाँटने का कार्य सरल नहीं है। (iii) क्षतिपूर्ति की एक बहुत बड़ी राशि देनी होगी जिसकी व्यवस्था करने में सरकार को कठिनाई होगी। (iv) जोत की अधिकतम सीमा निम्न स्तर पर रखने से बहुत छोटे खेत हो सकते हैं जो आधुनिक प्रकार से खेती करते में कठिनाई प्रस्तुत कर सकते हैं।

यह सभी तर्क ऐसे हैं जिनमें कोई विशेष वजन नहीं है और उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(IV) **कृषि का पुनर्संगठन**[1]—इसके अन्तर्गत जो कार्य किये गये हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(अ) **चकबन्दी**—भारतवर्ष में महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व दिल्ली आदि राज्यों में चकबन्दी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

(ब) **सहकारी खेती**—भारतीय कांग्रेस के 1959 के नागपुर अधिवेशन में सहकारी कृषि सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये गये थे।

---

1. इसके अन्तर्गत किए गए कार्यों (चकबन्दी, सहकारी खेती और भूदान आन्दोलन) की विस्तृत चर्चा पृथक् अध्यायों में की गई।

उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान में सहकारी खेती की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई और इन राज्यों में सहकारी खेती सलाहकार परिषदें स्थापित की गयी हैं।

(स) **भूदान**—यह एक ऐच्छिक भू-सुधार कार्यक्रम है और इसके जन्मदाता आचार्य बिनोबा भावे हैं। यहाँ भूदान से आशय, स्वेच्छा से भूमि के दान से है।" इसका उद्देश्य बताते हुए आचार्य विनोबा भावे ने एक बार कहा कि "यह न्याय तथा समानता पर आधारित है कि भूमि में सभी का अधिकार है। इसलिये हम भेंट में भूमि की भीख नहीं माँगते बल्कि उस भाग की माँग करते हैं जिसमें निर्धनों का न्यायपूर्ण हक है।"

भूदान आन्दोलन के उद्देश्य एवं गुण—आचार्य भावे ने समय-समय पर अपने भाषणों में भूदान आन्दोलन के उद्देश्यों एवं गुणों पर प्रकाश डाला है जो निम्नलिखित विन्दुओं से स्पष्ट है—

(i) आर्थिक विषमता को अहिंसक ढंग से दूर करना (ii) मध्यस्थों की समाप्ति में सहायता करना (iii) कृषि योग्य बंजर भूमि को अधिक उपयोगी बनाना (iv) भूमिहीनों को भूमि उपलब्ध करा के ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या के हल में योग देना (v) स्वालम्बन, सेवा भावना, एवं नैतिकता पर आधारित सर्वोदय समाज की रचना करना (vi) भूमि के पुर्नवितरण के पश्चात छोटे-बड़े खेतों की उन्नति के लिए सहकारी समितियों की स्थापना को बढ़ावा मिलना (viii) भूमि पाने वालों को आय-वृद्धि का अवसर प्रदान कराकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाना (viii) छोटे-बड़े का भेदभाव दूर कर, समाज में त्याग की भावना जागृत करना।

भूदान आन्दोलन की कमियाँ—भारत में भूदान आन्दोलन की विगत वर्षों में जो प्रगति हुई है तथा लोगों ने जिस प्रकार की अकृषियोग्य भूमि को अपने निहित स्वार्थवश दान में दिया है व भाई-भतीजे वाद के आधार पर जिस प्रकार भूमि का वितरण किया है उससे इस आन्दोलन की प्रगति में लोगों को शंका होने लगी है। इस आन्दोलन की प्रमुख कमियाँ निम्नलिखित हैं—

(i) भूदान में प्राप्त भूमि ऊसर व बंजर होती है, पूर्णतः कृषि के लिये अयोग्य होती है अतः देश की कृषि समस्याओं को हल करने में यह आन्दोलन अधिक सहायक नहीं हो सका है।

(ii) इस कार्यक्रम के माध्यम से भूमिहीनों को भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े तो मिल जाते हैं किन्तु कृषि कार्य हेतु उनके पास कृषि औजारों का अभाव रहता है।

(iii) भूदान में पर्याप्त भूमि न मिलने के कारण इसका वितरण छोटे-छोटे टुकड़ों में ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार भूमि का उपविभाजन व अपखण्डन बढ़ता है।

(iv) भूदान आन्दोलन में प्रचार की कमी है।

(v) भूदान में प्राप्त भूमि का वितरण बड़ा ही दोषपूर्ण है। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति को उच्च प्राथमिकता दी जाती है।

प्रगति—इस भूदान आन्दोलन की शुरुआत 18 अप्रैल 1951 तैलंगाना (आन्ध्र-प्रदेश) के पोचमपल्ली नामक गाँव में हुई थी। इसी समय आचार्य भावे के सुझाव पर एक कृषक श्री रामचन्द्र रेड्डी ने 70 एकड़ भूमि इस प्रकार के हरिजनों को देने की घोषणा की। अन्तिम रूप में उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार विनोबा जी को लगभग 45 लाख एकड़ भूमि तथा 40,000 ग्राम दान में मिल चुके हैं। इसमें से लगभग 12 लाख एकड़ भूमि वितरित की जा चुकी है।

(v) **भू-अभिलेखों को आधुनिक बनाना**—भू-अभिलेखों का आधुनिकीकरण न केवल भूमि सम्बन्धी सुधारों को लागू करने के लिए आवश्यक है बल्कि कृषि-ऋण के लिए भी है। जिसका मिलना भूमि सम्बन्धी हक पर बहुत अधिक निर्भर होता है। भू-अभिलेखों की स्थिति हर राज्य में अलग है। कुछ राज्यों में तो ये अभिलेख काफी संख्या में अद्यतन हैं, पर अन्यों में, विशेषत: पूर्वी प्रदेश में जहाँ जमींदारी प्रथा पुरानी है। अभिलेखों में दी हुई प्रविष्टियों का वास्तविकता से कम ही सम्बन्ध है। अत: सारे देश में भू-अभिलेखों के संकलन और संशोधन का एक कार्यक्रम व्यवस्थित ढंग से शुरू किया गया है ताकि स्वामित्व और आसामियों, बटाईदारों और अन्य धारकों के अधिकारों के बारे में अद्यतन स्थिति स्पष्ट हो जाए। काम तो काफी हो चुका है, पर अभी बहुत कुछ करना शेष है।

भूमि-सुधार-नीति का एक लक्ष्य यह रहा है कि ग्रामीण समुदाय के अधिक निर्धन वर्गों के वास भूमि (होमस्टेड) काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार प्रदान कर दिए जाएँ। सभी राज्यों में वास भूमि काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार दे दिए गये हैं और पट्टे सुरक्षित कर दिए गये हैं। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के भूमिहीन कामगारों, और कारीगरों को लगभग 78 लाख मकान बनाने की जगह बाँटी गई है।

भूमि-सुधार का मूल्यांकन
(Evaluation of Land Reforms)

भूमि-सुधार का मूल्यांकन हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं, (i) भूमि सुधारों का प्रभाव (ii) भूमि सुधार नीति की कमियाँ।

I. भूमि-सुधारों का प्रभाव

भारतवर्ष में भूमि-सुधारों का उद्देश्य आर्थिक कुशलता में वृद्धि और सामाजिक न्याय रहा है। अत: हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में हम कहाँ तक सफल रहे हैं।

(अ) **भूमि-सुधारों का आर्थिक कुशलता पर प्रभाव**—भूमि-सुधारों के आर्थिक कुशलता पर पड़ने वाले प्रभावों को कृषि पदार्थों के उत्पादन में हुई वृद्धि के रूप में प्रकट किया जा सकता है। भूमि-सुधारों के आर्थिक कुशलता पर प्रमुख रूप से निम्न-लिखित प्रभाव पड़े हैं—

(i) प्रथम 3 पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में भूमि-सुधारों का कोई विशेष

लाभ प्राप्त नहीं हो सका। क्योंकि इनमें कई वैज्ञानिक कमियाँ रह गई थीं। विगत वर्षों में इन कमियों को दूर करने के प्रयास किये जा रहे हैं।

(ii) प्रथम 3 योजनाओं में कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए सरकार केवल भूमि-सुधारों तथा अन्य संस्थागत परिवर्तनों पर ही निर्भर रही। फलतः तकनीकी विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सन् 1966-67 के बाद ही सरकार ने तकनीकी विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं।

(iii) तृतीय योजना के अन्त तक कृषि उत्पादन में प्रायः गतिहीनता की स्थिति बनी रही। कृषि की नई तकनीक के आविर्भाव के बाद ही कृषि उत्पादन और कृषि उत्पादकता में अभूतपूर्व वृद्धि सम्भव हो सकी है। लेकिन नई तकनीक की सफलता के लिए भी संस्थागत ढाँचे में पर्याप्त और उपयुक्त सुधार होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भूमि-सुधारों ने कृषि उत्पादकता को बढ़ाने में कोई सहयोग नहीं दिया है अथवा कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए केवल संस्थागत परिवर्तन ही उत्तरदायी रहे हैं।

(ब) **भूमि-सुधारों का सामाजिक न्याय पर प्रभाव**—भूमि-सुधारों को लागू करने के बाद भारत में जिस प्रकार की कृषि संरचना का विकास हुआ है। उससे सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हो सकती है। अब हम भूमि-सुधारों के सामाजिक न्याय से सम्बन्धित पहलू पर विचार करेंगे—

(i) **कृषि संरचना संक्रांति काल की अवस्था में है**—भारतीय कृषि संक्रान्ति काल की अवस्था से गुजर रही है जिसकी प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—(क) प्रमुख रूप से अर्द्ध-सामन्त उन्मुख कृषि में बड़े पैमाने पर भूमि को पट्टे पर दिया जा रहा है : (ख) खेती का प्रयोग व्यापारिक खेती तथा बाजार उन्मुख कृषि के लिए किया जा रहा है।

(ii) **बड़े भू-स्वामियों के पास भूमि का संकेन्द्रण**—Agricultural Census Report 1970-71 के अनुसार, भारत में बड़े भू-स्वामियों के पास कुल जोतों का 4% भाग उपलब्ध है, लेकिन वे लगभग 30.5% क्षेत्र पर खेती करते हैं कि भूमि का केन्द्रीयकरण चन्द बड़े भू-स्वामियों के हाथों में है। ये भूस्वामी भूमि को पट्टे पर देकर खेती कराते हैं।

(iii) **छोटे किसानों का बना रहना**—छोटे किसानों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। छोटे किसान कृषि क्षेत्र की बड़ी मात्रा में खेतिहर मजदूरों की पूर्ति करते हैं। छोटे और सीमान्त किसान मध्यम वर्ग के किसानों के साथ मिल कर भारतीय कृषि को छोटे किसान —मालिक अर्थव्यवस्था का रूप प्रदान करते हैं।

(iv) **बढ़ती हुई भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या**—विभिन्न आर्थिक और गैर आर्थिक प्रभावों के परिणाम स्वरूप छोटे किसानों की भूमि से बेदखली के कारण भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। भूमि-सुधारों को लागू करने के बाद-अर्द्ध-सामन्त काश्तकारों तथा बटाईदारों की भूमि से बेदखली के कारण भी भूमिहीन किसानों को संख्या बढ़ी है। इन किसानों के पास अपनी निजी

भूमि न होने के कारण ये खेतों पर मजदूर के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य हो गये हैं ।

(v) **आधुनिक उपक्रमियों का उद्गम**—गत दो दशकों में कृषि क्षेत्र में आधुनिक उपक्रमियों का विकास हुआ है जिनके पास बड़ी मात्रा में भूमि है जिस पर वे किराए के मजदूरों तथा नई उत्पादन विधियों की सहायता से कृषि करते हैं ।

II. भूमि सुधार नीति की कमियाँ और आलोचनाएँ

भारत में भूमि-सुधार नीति की मुख्य कमियाँ और आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **दोषपूर्ण काश्तकारी कानून**—यद्यपि काश्तकारी सुधारों के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है लेकिन अब भी काश्तकारी कानून में निम्नलिखित दोष विद्यमान हैं—

(i) **बटाईदार की उपेक्षा**—शब्द 'काश्तकार' की परिभाषा में सामान्यतया बटाई दार को सम्मिलित नहीं किया जाता फलतः वे काश्तकारी कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं कर पाते।

(ii) **सामन्तवादी प्रणाली के चिह्न**—अब भी देश के कई भागों में विभिन्न आधारों पर काश्तकारों की बेदखली की जाती है इनमें लगान का भुगतान न करना, समय पर उपज का हिस्सा न देना, निजी खेती के लिए भूमि का स्वामित्व आदि प्रमुख है । इससे सामन्तवादी प्रणाली के प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई है ।

(iii) **दखलकारी का अधिकार** (Occupancy Right)—एक काश्तकार को दखलकारी का अधिकार उसी अवस्था में प्राप्त होता है जबकि वह सिद्ध कर दे कि वह 12 वर्षों से निरन्तर एक ही भूमि पर खेती कर रहा है । लेकिन भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में जहाँ कि जमींदारों का प्रभाव अभी भी बना हुआ है । इस बात को सिद्ध करना बहुत कठिन है ।

(iv) **मुआवजों की ऊँची दर**—काश्तकारी का प्रमुख उद्देश्य काश्तकार को उस भूमि का स्वामी बनाना था जिस पर कि वह खेती कर रहा था लेकिन अधिकांश काश्तकारों को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो सका है कारण यह है कि वे मुआवजों की ऊँची दरों का भुगतान करने में असमर्थ हैं ।

(v) **भू-स्वामित्व प्राप्त करने के अवसर खो देना**—एम० एल० दाँतवाला तथा सी० एच० शाह ने बम्बई काश्तकारी तथा कृषि भूमि कानून 1948 के कार्यान्वयन का अध्ययन करने के लिए महाराष्ट्र के दो जिलों तथा गुजरात के एक जिले के 36 गाँवों का सर्वेक्षण किया । इस सर्वेक्षण के उपरान्त उन्होंने निम्नलिखित कारण बताएँ हैं जिनकी वजह से संबद्ध काश्तकार ने भू-स्वामित्व प्राप्त करने के अवसर खो दिये हैं—

1. उसका नाम उस गाँव के अभिलेखों में सम्मिलित नहीं है, या
2. उसकी भूमि कानून के द्वारा दी गई 'छूट' के अन्तर्गत आती है, या

3. उसके किसी अपराध, दोष या लगान के भुगतान करने के कारण पहले ही उसकी काश्तकारी समाप्त कर दी गई है, या

4. वह अपनी इच्छा से अपने अधिकारों के भू-स्वामी को समर्पित कर चुका है, या

5. भू-स्वामी निजी काश्त या कृषि इतर कार्यों के लिए पहले ही भूमि वापस ले चुका है, या

6. सुनवाई के समय न्यायालय में नहीं जाता है, या

7. उसका काश्तकारी अधिकार प्रमाणित नहीं हो सका और इसलिए उसका मामला छोड़ दिया गया है, या

8. वह भूमि खरीदने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, या

9. वह भूमि के विक्री मूल्य की किश्तें समय पर जमा करने में असमर्थ रहता है।

(vi) **बड़ी मात्रा में बेदखली**—बहुत बड़ी संख्या में काश्तकारों को भूमि से बेदखली कर दिया गया। इस बेदखली के प्रमुख कारणों में से एक यह था कि कानून बनाने और उसे लागू एवं क्रियाशील करने के बीच समय-अन्तराल बहुत ज्यादा था। बेदखली (1) बड़े काश्तकारों की अपेक्षा छोटे काश्तकारों में (2) अधिक उन्नत प्रदेशों की अपेक्षा कम खुशहाल प्रदेशों में तथा (3) सामाजिक रूप से अधिक जाग्रत क्षेत्रों की अपेक्षा कम जाग्रत क्षेत्रों में अधिक थी।

डा० खुसरो के 'हैदराबाद' में जागीरदारी उन्मूलन और भूमि-सुधारों के आर्थिक और सामाजिक प्रभाव (1958) के अध्ययन से यह विदित हुआ है कि काश्तकारों की बेदखली बहुत बड़े पैमाने पर की गई है। उक्त अध्ययन से प्राप्त होने वाले परिणाम तालिका में दिये गये हैं—

हैदराबाद में काश्त सम्बन्धी अध्ययन

प्रति 100 सुरक्षित काश्तकारों में से

(1) वे, जो अभी तक भी सुरक्षित काश्तकार हैं	45·5
(2) वे, जो भूमि खरीद कर स्वामी बन गये	12·4
(3) वे, जिन्हें कानूनी ढंग से बेदखल कर दिया गया	2·6
(4) वे, जिन्हें गैर-कानूनी ढंग से बेदखल कर दिया गया	22·1
(5) वे, जिन्होंने भूमि का स्वैच्छिक समर्पण किया	17·5

उक्त अध्ययन के परिणाम अत्यन्त निराशापूर्ण हैं। 42 प्रतिशत काश्तकारों को भू-स्वामी वर्ग के हाथों उत्पीड़ित होना पड़ा तथा इस वर्ग ने काश्तकारों को अपने काश्तकारी अधिकार समर्पित करने के लिए वैध-अवैध सभी उपायों से बाध्य कर दिया। कुल परिणाम यह हुआ कि फसल सहभाजन करने वाले काश्तकार इस निश्चित में पहुँच गये कि उनका शोषण उसी प्रकार से होता रहा जिस प्रकार तथाकथित स्वेच्छिक समर्पण दबाव के परिणामस्वरूप हुए हैं अतः सामाजिक न्याय का लक्ष्य प्राप्त

करने की दृष्टि से काश्तकारी अधिकार लौटाने की व्यवस्था करना सर्वथा वांछनीय होगा।

प्राय: इस प्रश्न पर विचार किया जाता है कि क्या कुशल साधनों के प्रयोग की दृष्टि से कुछ तरह की काश्तकारी, विशेष कर फसल सहभाजन प्रणाली, अनुकूलतम से नीचे है अथवा नहीं। प्रोफेसर खुसरो का मत है कि इस प्रकार की कृषि प्रणाली के कुशलता सम्बन्धी परिणाम अत्यन्त गम्भीर हैं। खुसरो ने यह स्पष्ट किया है कि जहाँ भू-स्वामी लागत का बँटवारा नहीं करते हैं वहाँ प्रत्येक हेक्टेयर पर, भू-स्वामी कृषकों की तुलना में काश्तकार कृषकों के प्रति हेक्टेयर विनियोग की मात्रा कम है और इसलिए प्रति हेक्टेयर उत्पादन भी पर्याप्त कम है उन्होंने यह दर्शाया है कि यदि वह उन्नत आदतों का उपयोग करता है तो उसे इनका उपयोग न करने पर होने वाले लाभ की तुलना में कम लाभ होगा इसलिए उसे उन्नत विधियों का प्रयोग करने का कोई उत्साह नहीं होगा इसी तथ्य को नीचे रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है—
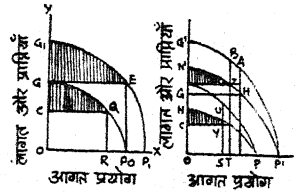
रेखाचित्र में GP सीमान्त सकल उत्पादन वक्र है और OC प्रति इकाई आगत समूह लागत है। स्वामी कृषक OR आगतों का प्रयोग करेगा, जहाँ प्रति इकाई आगत समूह लागत और सीमान्त सकल उत्पादन बराबर है परन्तु काश्तकार कृषक OS आगतों का ही उपयोग करेगा चूँकि यदि वह एक निश्चित प्रतिशत (मान लो 25%) उपज का भाग लागत के रूप में भू-स्वामी को देता है तो वह उस सीमा तक आगतों का प्रयोग करेगा जहाँ प्रति इकाई आगत-समूह लागत उसके लगान देने के बाद सीमान्त शुद्ध उत्पादन के बराबर होगी (NE वक्र)। यहाँ भू-स्वामी कृषक का लाभ GC है जबकि काश्तकार का लाभ NV है और अब यदि उन्नत विधियों का उपयोग किया जाय और इससे लागत में GG प्रति इकाई के बराबर वृद्धि हो जाय तथा सीमान्त सकल उत्पादन वक्र G'P' हो जाय तो भू-स्वामी का लाभ GG'E होगा जो कि पहले प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक है, लेकिन काश्तकार का लाभ GG'Z है जो कि पहले से कम है।

●

2. एकरूपता का अभाव—भूमि-सुधार कार्यों का दायित्व राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया है। विभिन्न राज्यों में अधिनियम बनाए गए हैं उनमें काफी भिन्नता है जैसा कि निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट है—

(i) **विविध प्रकार की छूटें**—अनेक राज्यों में कुछ छूटें दी गई हैं जिनका अनुचित लाभ उठाकर जमींदारियों और अनावश्यक रूप से बड़ी जोतें अब भी बनी हुई हैं। उदाहरण के लिए, ट्रस्टों के द्वारा अब भी दूसरों से काश्त कराई जाने के कारण भू-स्वामित्व अन्य व्यक्तियों के हाथों में ज्यों का त्यों बना हुआ है।

(ii) **जोत की सीमा**—जोत की सीमा अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग सिद्धान्तों पर निर्धारित की गई हैं। अतः अतिरिक्त भूमि कम उपलब्ध हो पाई है।

(iii) **समन्वय का अभाव**—विभिन्न कानूनों में समन्वय का अभाव प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न कर देता है तथा विभिन्न कार्यों में ताल-मेल भी नहीं बैठ पाता। परिणाम स्वरूप भूमि-सुधार कार्यक्रम न तो प्रभावी और न शीघ्रगामी हो पाते हैं।

(iv) **खुद काश्तकार का अधिकार**—जमींदारी उन्मूलन कानून में कहीं-कहीं यह व्यवस्था की गई थी कि यदि भूस्वामी चाहे तो खुद काश्त के लिए काश्तकारों से अपनी जमीन ले सकता है। अतः बड़ी संख्या में काश्तकारों को खेतों से बेदखल कर दिया गया।

(v) **चकबन्दी कानून की कमियाँ**—किन्हीं-किन्हीं राज्यों में चकबन्दी को स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है। अतः वहाँ चकबन्दी हो ही नहीं पाई है। उत्तर प्रदेश में चार खेतों का एक चक बनाया जाने की छूट के कारण चकों को वृत्ताकार बनाकर कठिनाइयाँ पैदा कर दी गई हैं।

3. प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव—देश में भूमि-सुधार सम्बन्धी अधिनियम तो बहुत अधिक पारित किये गये हैं लेकिन उनके प्रभावशाली क्रियान्वयन का अभाव रहा है। प्रो० गुन्नार मिरडल ने लिखा है, "भूमि-सुधार कानून जिस ढंग से कार्यान्वित किये गये हैं। उससे सामान्यतः उनकी (कानूनों की) भावनाओं और अभिप्राय को हताश होना पड़ा है।"

इसी प्रकार लेडजिन्स्की का यह निष्कर्ष है कि "भूमि-सुधार के लिए वास्तव में जितने कानून बनाए गए, चाहे उनका सम्बन्ध लगानों को नियमित करने, सुरक्षा और कब्जे का स्थायित्व अथवा अधिकतम सीमा का आरोपण और भूमिहीनों के लिए फालतू भूमि का बन्दोबस्त ही क्यों न रहा हो, फिर भी उनका देश भर में कार्यान्वियन न हो पाया।" यह तथ्य बम्बई और हैदराबाद के कानूनों के कार्यान्वयन से सम्बन्धित दो रिपोर्टों के अधिकांश भाग में वर्णित है, एक रिपोर्ट वी० एम० दांडेकर और सी० जे० खुदानपुर तथा दूसरी रिपोर्ट ए० एन० खुसुरू ने तैयार की थी।

प्रभावशाली क्रियान्वयन के अभाव के कई कारण हैं—

(i) **कानूनी अड़चनें**—भूमि-सुधार कानून अत्यन्त जटिल रहे हैं और बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा उन कानूनों में हमेशा कुछ न कुछ ऐसी कमियाँ निकाल ली गई हैं जिससे वे कानून के प्रभाव से बच सकें।

(ii) **प्रशासनिक अकुशलता एवं भ्रष्टाचार**—प्रशासनिक मशीनरी में भ्रष्टाचार के कारण भी भूमि सम्बन्धी रिकार्ड में परिवर्तन किए गए।

(iii) **भू-स्वामियों का राजनीतिक सत्ता में प्रभाव**—भू-स्वामियों का देश की राजनीतिक सत्ता में सदैव महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिसके कारण भूमि-स्वामियों के हितों के समर्थकों ने राज्य में भूमि-सुधारों को लागू नहीं होने दिया।

(iv) **भूमि के नवीनतम रिकार्डों का अभाव**—भूमि-सुधारों को लागू करने के लिए नवीनतम रिकार्ड व आँकड़ों की आवश्यकता होती है। किन्तु देश में इनका सदैव अभाव रहा है। इस कारण भी इनकी प्रगति धीमी रही।

(v) **छोटे किसानों की निष्क्रियता**—जब सरकार किसी कार्य के प्रति उदासीन हो तो कार्य से सम्बद्ध वर्ग का यह दायित्व होता है कि वह सरकार पर जोर डाले और सरकार को उचित काम करने के लिए बाध्य करे। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि वर्ग उचित रूप से संगठित हो। भारत में छोटे किसानों के इस तरह के संगठन का अभाव रहा है। जिसके कारण भू-सुधार कार्यक्रम के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं—

(iv) **कार्यक्रम की मूलभूत कमियाँ**—भूमि-सुधार कार्यक्रम में ही अनेक मूलभूत कमियाँ है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित है—(अ) विभिन्न उपायों के लागू करने में एक एकीकृत नींव का अभाव, प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग अलाप रहा है इससे कार्यक्रम में शिथिलता आ जाती है। (ब) विभिन्न राज्यों में पाये जाने वाले भू-सुधार सम्बन्धी कानूनों में विविधता तथा जटिलता; (स) कार्यक्रम की सफलता के लिये अनिवार्य है कि पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध हो किन्तु ये अभी तक उपलब्ध नहीं है।

4. **भूमि सम्बन्धी प्रलेखों की अपूर्णता**—भूमि-सुधार की धीमी प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि भूमि सम्बन्धी आँकड़े और प्रलेख पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हैं जिससे स्वामित्व के निर्धारण में कठिनाई होती है।

5. **भूमि के वितरण के परिवर्तन का अभाव**—कई वर्षों के भूमि-सुधार कार्यक्रमों के उपरान्त भी भूमि के स्वामित्व में विशेष परिवर्तन नहीं आया है। सीमा निर्धारण के अधिनियमों के क्रियान्वित न किये जाने से स्वामित्व की स्थिति पहले जैसे ही बनी है। कार्यशील जोतों के वितरण में भी विशेष अन्तर नहीं आया है। एक दशाब्दी से अधिक हो जाने पर भी भारत में भू-जोतों का वितरण काफी असमान है। यह इस बात का सूचक है कि भूमि-सुधार जोतों के वितरण को परिवर्तित करने में असमर्थ रहे हैं।

6. **सुसम्बद्ध नीति का अभाव**—भू-सुधार सम्बन्धी सभी पहलुओं को एक साथ तो लिया गया परन्तु उन सबको एक-दूसरे का परि-पूरक मानकर न तो उन पर विचार विमर्श किया गया और न उस दृष्टि से उनके कार्यान्वयन का प्रयास किया गया। एक सु-सम्बद्ध नीति अपनाने से लागत भी कम बैठती, कमियों का पता लगाना सरल होता तथा भू-सुधार कार्यक्रम को लागू करना सरल रहता है।

7. **अन्यदोष**—(अ) प्रोग्राम मूल्यांकन संस्था (Programme Evaluation Committee) द्वारा भू-सुधार के दो दोषपूर्ण प्रभावों का पता चलता है—प्रथम, पुराने भूमि-स्वामियों, जमींदारों द्वारा पुनः काश्त के बहाने भूमियों पर फिर काश्त अधिकार प्राप्त कर लिया गया, परन्तु फिर भी वे भूमि पर सुधार करने के उपायों के सम्बन्ध में उदासीन रहे। द्वितीय, उन्होंने अपने वित्तीय साधनों को व्यापार और बहुमूल्य धातुओं जैसे सोना-चाँदी आदि खरीदने में लगा दिया। इन दोनों कारणों ने विनियोग और उत्पादन पर कुप्रभाव डाला है।

(ब) भूमि-सुधार सम्बन्धी नीति ने भू-स्वामियों में अनिश्चितता की भावना पैदा कर दी है, क्योंकि भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों को जल्दी-जल्दी परिवर्तन किया जाता है कि उनके प्रभाव के अध्ययन करने का अवसर नहीं मिलता।

(स) भूमि-सुधार सम्बन्धी नीति देश के लिए काफी महँगी पड़ी, क्योंकि राज्य सरकारों को कई सौ करोड़ रुपये मुआवजों के रूप में देने पड़े।

(द) भूमि-सुधार के फलस्वरूप मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है जिसमें बहुत अधिक समय और धन का अपव्यय होता है।

(य) राज्य सरकारों को भू-विधान बनाने का अधिकार संविदा की कार्यविधि है। इस कारण लगान के नियमन और जोत की अधिकतम सीमा के निर्धारण में बहुत भिन्नता पायी जाती है।

(र) भूमि-सुधार अधिनियम जोतों पर अधिकतम सीमा लागू करने में असफल रहे हैं।

(ल) सहकारी कृषि समितियाँ भी बड़े भू-स्वामियों द्वारा बनायी गयी हैं और सहकारी सुविधाओं व साधनों का अनुचित लाभ उठाया गया है। ऐसी सहकारी कृषि-समितियाँ नगण्य हैं जो भूमिहीन मजदूरों या अनार्थिक जोतों के स्वामियों द्वारा उन्हीं के लाभ के लिए बनी हों।

भूमि-सुधार कार्यक्रम की सफलता के लिए सुझाव

1. **कानूनी विधियों को सरल बनाना**—भूमि-सुधार कानूनों की कानूनी विधियों को सरल बनाना चाहिए ताकि कानून अपना कार्य बिना किसी गतिरोध से कर सके।

2. **कार्यक्रमानुसार क्रियान्वयन** भूमि-सुधार कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए एक निर्धारित कार्यक्रमानुसार क्रियान्वयन किया जाना चाहिए।

3. **कानूनों का प्रचार**—भूमि-सुधार कानूनों का क्षेत्रीय भाषाओं के समाचार पत्रों और आकाशवाणी के माध्यम से प्रचार किया जाना चाहिए ताकि जनता इन कानूनों को समझकर उससे लाभान्वित हो सके।

4. **भूमि-सुधार अदालतों की स्थापना**—भूमि-सुधार अदालतें स्थापित की जानी चाहिए। इसके लिए गरीबों से कोई शुल्क नहीं लिया जाना चाहिए।

5. **वित्तीय व्यवस्था का प्रबन्ध**—जिन नए कृषकों को भूमि दी जाय उन्हें

वित्तीय व्यवस्था भी उपलब्ध की जानी चाहिए ताकि वे उस भूमि का समुचित उपयोग कर सकें ।

6. खेतिहर श्रमिकों व बटाई वालों के संघ की स्थापना—इन खेतिहर श्रमिकों व बटाईवालों के संगठन बनाए जायँ तथा उनके प्रतिनिधियों को भूमि-सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में सम्मिलित किया जाय ।

7. कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना—राज्य जिला, व तहसील स्तर पर कुशल प्रशासनिक मशीनरी की स्थापना की जानी चाहिए लेकिन इसमें पटवारी की भूमिका को नियंत्रित रखा जाना चाहिए ।

8. नवीन रिकार्ड तैयार करना—भूमि के सम्बन्ध में नवीन रिकार्ड तैयार किया जाना चाहिए ताकि स्वामित्व के प्रश्न पर मतभेद न हो सके ।

9. अन्य सुझाव—(i) भूमि-सुधारों के सम्बन्ध में जो काफी अनिश्चितता व्याप्त है उसे समाप्त किया जाना चाहिए । (ii) कृषकों को भूमि-व्यवस्था में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए । (iii) रोजगार के वैकल्पिक साधन ढूंढे जायँ जिससे अतिरिक्त जनसंख्या की आर्थिक दशा में सुधार हो । (iv) भूमि संरक्षण की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए (v) दायित्वों और अधिकारियों में समन्वय होना चाहिए जिनके लिए कृषि कार्य-कलापों का एक न्यूनतम स्तर निर्धारित किया जाना चाहिए । (vi) भूमि-सुधार में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि सहकारी कृषि के लिए भूमि भी एक न्यूनतम मात्रा में उपलब्ध हो सके । (vii) 20 सूत्रीय कार्यक्रम को सच्चाई व ईमानदारी से कार्यान्विन करने का प्रयास किया जाना चाहिए ।

भूमि-सुधार समीक्षा समिति के सुझाव

केन्द्रीय सरकार ने जून 1978 में योजना आयोग के सदस्य श्री राजकृष्ण की अध्यक्षता में एक भूमि-सुधार समीक्षा समिति की नियुक्ति की जिससे यह कहा गया कि वह देश में भूमि-सुधारों पर अमल की प्रगति की समीक्षा करे और इस सम्बन्ध में सुझाव दे । इस समिति ने अपना प्रतिवेदन नवम्बर 1978 में प्रस्तुत किया जिसमें निम्नलिखित सुझाव दिए गए—

1. राज्यों द्वारा पारित सभी भूमि-सुधार कानूनों को, जिन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल चुकी है, संविधान की 9वीं अनुसूची में शामिल किया जाना चाहिए जिससे कि भूमि-सुधारों को किसी भी अदालत में चुनौती न दी जा सके ।

2. राज्यों को अपने भूमि-सुधार कानून तुरन्त संशोधित करने चाहिए जिससे कि इससे सम्बन्धित मामले मालगुजारी विभाग द्वारा निपटाए जा सकें ।

3. भूमि सुधारों को चुनौती देने वाली 27155 रिट याचिकाएँ उच्च न्यायालय में लम्बित पड़ी हैं अतः इस कार्य के लिए न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए तथा यह कार्य एक या दो न्यायाधीशों को सौंप देना चाहिए ।

4. राज्यों के मालगुजारी विभाग की मशीनरी का विस्तार किया जाना चाहिए जिससे कि विचाराधीन मामलों का तुरन्त निपटारा किया जा सके ।

5. यह समिति थोड़े-थोड़े अन्तर से भूमि-सुधार के विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग रिपोर्ट देगी जिससे कि सम्बद्ध सरकारें उन पर विचार कर प्रमुख विषयों पर तुरंत कार्यवाही कर सकें।

6. सभी राज्यों के मालगुजारी अधिकारियों को भूमि-सुधार मामलों के निपटारे के लिए एक समयबद्ध कार्यक्रम अपनाना चाहिए जिससे इन अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध एक अपील व एक रिवीजन की व्यवस्था होनी चाहिए।

इस रिपोर्ट के आधार पर केन्द्रीय मन्त्रिमंडल ने निर्णय लिया है कि भूमि-सुधार सम्बन्धी कानूनों को संविधान की 9वीं सूची में सम्मिलित कर लिया जाय।

छठों पंचवर्षीय योजना 1980-85 में भूमि सुधार कार्यक्रम

इस योजना में भूमि-सुधार नीति के निम्नलिखित तत्त्व हैं—

1. जिन राज्यों में काश्तकारों को स्वामित्व के अधिकार देने की कानूनी व्यवस्था नहीं की गई है वहाँ यह एक वर्ष की अवधि, अर्थात् 1981-82 तक यह अवश्य प्रदान की जाय।

2. भूमि के रिकार्ड तैयार करने व उन्हें नवीनतम करने का कार्य 5 वर्षों की अवधि में 1984-85 तक अवश्य पूरा कर लिया जाय। प्रत्येक काश्तकार को एक पास बुक दे दी जाय जिसमें भूमि के सम्बन्ध में उसका स्टेटस/टाइटल, भूमि का वितरण (क्षेत्रफल, वर्ग आदि) स्पष्ट रूप से लिख दिए जाएँ।

3. सीलिंग के ऊपर की भूमि सरकार द्वारा अपने अधिकार में लेने तथा उसे वितरित करने की व्यवस्था 2 वर्ष के अन्दर अर्थात् 1982-83 तक अवश्य की जाय। अतिरिक्त भूमि के आबंटन में अनुसूचित जाति व जन जाति के लोगों को प्राथमिकता दी जाय।

4. चकबन्दी का काम कुछ चरणों में 10 वर्ष में पूरा कर लिया जाय। सिंचाई के कमांड क्षेत्रों में यह 3 से 5 वर्षों में पूरा किया जाय। एक न्यूनतम सीमा से नीचे पुनः अपखण्डन न होने दिया जाय।

5. सभी भूमि-सुधार कानूनों को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किया जाय।

6. भूमिहीनों को रिहायशी भूखण्ड देने का कार्यक्रम पूरा किया जाय।

विभिन्न राज्यों में भूमि-सुधार अधिनियम

1. उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन—उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन में अग्रणी प्रदेश है। उत्तर प्रदेश की विधान सभा ने 8 अगस्त 1947 को एक प्रस्ताव पास किया कि जमींदारी का उन्मूलन कर दिया जाय और इस कार्य के लिए एक समिति पं० गोविन्द वल्लभ पन्त की अध्यक्षता में बना दी गई जिसने रिपोर्ट अगस्त 1948 में दे दी। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर एक विधेयक 7 जुलाई 1949 को प्रस्तुत किया गया जो 16 जनवरी 1951 को पास हो गया। 24 जनवरी

1951 को राष्ट्रपति ने इस अधिनियम पर अपनी सहमति दे दी और 26 जनवरी 1951 ई० को यह उत्तर प्रदेश गजट (असाधारण) में प्रकाशित किया गया और इसी दिन से यह अधिनियम भूमि-कानून का भाग बन गया। लेकिन उत्तर प्रदेश के कुछ जमींदारों ने न्यायालय की शरण ले ली। अन्त में 5 मई 1952 को सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को वैध घोषित कर दिया जिसके फलस्वरूप राज्य सरकार ने 1 जुलाई 1952 से राज्य की कृषि जमींदारियों की भूमियों का स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया।

उत्तर प्रदेश में 30 जून, 1952 को जमींदारों के पास 4.13 करोड़ एकड़ भूमि थी जिनमें से 3·9 करोड़ एकड़ भूमि ही सरकार द्वारा लेने का निश्चय किया गया। क्षतिपूर्ति की मात्रा शुद्ध आय का 8 गुना रखी गयी। जमींदारों की कुल संख्या 20 लाख आँकी गयी जिसमें से 90% जमींदार केवल नाम मात्र के ही जमींदार थे और वे 25 रुपये वार्षिक से भी कम लगान देते थे। केवल 30,000 जमींदार (अर्थात् कुल जमींदारों की संख्या का 1.5 प्रतिशत) ही 250 रुपये वार्षिक से अधिक लगान देते थे। इस 30,000 की संख्या में 5,000 जमींदार 1,000 रुपये तक लगान देते थे तथा 400 ऐसे थे जो 10,000 रुपये से अधिक लगान देते थे। कुल क्षतिपूर्ति 150 करोड़ आँकी गई थी।

इस अधिनियम ने 4 प्रकार के कृषकों को जन्म दिया—

(1) **भूमिधर**—जमींदारी उन्मूलन के समय भूमिधरों के अधिकार केवल जमींदारों को उनकी सीर व खुद-काश्त भूमि पर दिये गये थे किन्तु अन्य प्रकार के काश्तकारों के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि कोई भी सीरदार अपनी भूमि के लगान का 10 गुना जमा करके भूमिधरी अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं। भूमिधर की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(i) भूमिधर को अपनी भूमि पर स्थायी अधिकार प्राप्त है; (ii) भूमिधर अपनी भूमि का उपयोग कृषि के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिए भी कर सकता है (iii) भूमिधर अपनी भूमि का मालिक है, उसको इसे बेचने, रहन रखने व अन्य किसी को हस्तान्तरित करने का पूरा अधिकार है। (iv) भूमिधर का लगान सीरदार के लगान से आधा होता है।

(2) **सीरदार**—जो काश्तकार 10 गुना जमा न करना चाहें वे सीरदार कहलायेंगे और वे सरकार को वही लगान देगें जो वे जमींदार को देते थे।

(3) **अधिवासी**—वे कास्तकार जो उप-किसान के रूप में कार्य करते थे, अधिवासी कहलायेंगे। इनका अपनी खेती की जमीनों को 5 वर्ष तक रखने का अधिकार दिया गया। इसके पश्चात 15 गुना लगान जमा कराकर सीरदार बन सकते थे।

(4) **आसामी**—यह वे व्यक्ति थे जो वन, भूमि, रहन भूमि व बगीचों की भूमि आदि पर खेती करते थे। इनके अधिकार स्थायी नहीं होते थे।

2. **मध्य प्रदेश जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि सुधार अधिनियम**—नवम्बर 1956 में मध्य प्रदेश के गठन के पूर्व मध्य प्रदेश के चार अंग थे—महाकोशल, मध्य

भारत, विन्ध्य प्रदेश और भोपाल। (i) महाकोशल क्षेत्र में 31 मार्च 1951 को राज्य शासन द्वारा 43 हजार ग्रामों के स्वामित्व पर अधिकार कर लिया गया तथा इनके द्वारा राज्य एवं कृषकों के बीच मध्यस्थ का कार्य करने वाले विभिन्न जमींदारों के मालगुजारी के एवं अन्य अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। (ii) जून सन् 1951 में तत्कालीन मध्य भारत का राज्य शासन विधान सभा द्वारा मध्य भारत जमींदारी समाप्ति विधान स्वीकृत किया गया। (iii) सन् 1952 में तत्कालीन विंध्य प्रदेश विधान सभा द्वारा विन्ध्य प्रदेश जमींदारी उन्मूलन व भूमि सुधार विधेयक स्वीकृत किया गया जिसे सन् 1953 में राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई। (iv) भोपाल क्षेत्र में भी 1951 में जमींदारी उन्मूलन अधिनियम लागू किया गया और जिन जमींदारों ने क्षतिपूर्ति (मुआवजा) लेना स्वीकार नहीं किया उन्हें वार्षिक रकम दिया जाना निश्चित किया गया।

नवम्बर 1956 में नए मध्य प्रदेश के गठन के पश्चात् भूमि कानूनों को एकत्रित तथा संशोधित करने का कार्य हाथ में लिया और मध्य प्रदेश भू-राजस्व संहिता 1956 बनाई गई। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं।

(अ) व्यवस्था—अब काश्तकार भू-स्वामी कहलायेंगे और उनके पास जो भूमि होगी उसके वे वास्तविक स्वामी होंगे।

(ब) काश्तकारों के अधिकार—जमीन को जोतने वाले काश्तकार जो अभी तक उपकाश्तकार अथवा शिकमी पट्टेदारी कहलाते थे वे अब इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत मौसमी काश्तकार कहलायेंगे। ये काश्तकार जिन भू-स्वामियों की जमीन जोतते हैं उन्हें यह अधिकार दिया गया है कि वे अपनी मौसमी काश्तकारी से अपनी व्यक्तिगत खेती के लिए 25 एकड़ तक असिंचित भूमि ले सकते हैं, लेकिन शर्त यह रहेगी कि मौसमी काश्तकार के पास कम से कम 10 एकड़ असिंचित भूमि बचनी चाहिए।

(स) अत्यधिक लगान वसूली पर प्रतिबन्ध—मौसमी काश्तकार द्वारा दिए जाने वाला अधिकतम लगान सिंचित भूमि के लिए भू-राजस्व के चौगुने से अधिक नहीं हो सकता।

(द) सिंचाई के अधिकार—मध्यस्थों की समाप्ति के दिन जिन तालाबों से ग्रामवासी सिंचाई अथवा अन्य प्रकार कार्य करते रहे वे तालाब भूतपूर्व मालिक को मुआवजा देने के पश्चात् राज्य सरकार के अधिकार में आ जाएँगे। फिर ग्रामवासियों को अधिकार होगा कि वे इस तालाब का प्रयोग कर सकेंगे।

मध्य प्रदेश के 1961 के भूमि कानून के अधीन एक धारा के अनुसार 12 मासी काम में आने वाली जमीन 25 एकड़ से अधिक रखने का अधिकार न होगा। मध्य प्रदेश भूमि की चकबन्दी ऐच्छिक ढंग से की गई है।

राज्य में सहकारी कृषि पर अधिक ध्यान दिया गया है। सहकारी कृषि समितियों में से सबसे अधिक उन्नति कृषि समितियों (Forming Societies) की हुई है।

अन्य सुधार—तीसरी योजना में भूमि सुधार के हेतु ग्राम पंचायत, जनपद

सभा एवं जिला परिषदों पर अधिक ध्यान दिया गया है। भूदान आन्दोलन में लगभग 6 एकड़ भूमि तथा 100 ग्राम दान में मिल चुके हैं जिनमें से कुछ भूमिहीन किसानों को वितरित की जा चुकी है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में प्रस्तावित भूमि-सुधार के कार्यक्रमों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। वे अब तक किस सीमा तक लागू किये जा चुके हैं?

अथवा

भूमि-सुधार प्रयासों की समीक्षा कीजिए और बताइए कि इनका ग्रामीण जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है?

अथवा

भारत में भूमि-सुधार के क्या उद्देश्य हैं? अभी तक जो भूमि-सुधार हुए हैं उनसे आपकी राय में इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक होती है?

अथवा

स्वाधीनता के पश्चात् भारत भूमि-सुधार नीति की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

[संकेत—सर्वप्रथम भूमि-सुधार का अर्थ और महत्त्व संक्षेप में लिखिए। इसके बाद पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भूमि-सुधार कार्यक्रमों का उल्लेख कीजिए। अन्त में भूमि-सुधार के दोषों को दूर करने के लिए सुझाव दीजिए।]

2. भारतीय कृषि के विकास के संस्थागत परिवर्तनों की :आवश्यकता समझाइए। इसी सन्दर्भ में भूमि-सुधार अधिनियमों का मूल्यांकन कीजिए।

4

भारत में कृषि जोतें–भूमि का उपविभाजन एवं अपखण्डन

(Agricultural Holdings, Sub-Division and Fragmentation of Holdings in India)

कृषि जोत का तात्पर्य भूमि की उस सीमा से है, जिस पर एक कृषक वास्तव में खेती करता है। परन्तु किसी को भूमिधर, भू-स्वामी मौरूसी, काश्तकार अथवा पट्टेदार के रूप में जितनी भूमि पर स्थायी और पैतृक अधिकार मिले हों उसे 'भू-स्वामियों की जोत' (Right holder's holding) कहते हैं। वह स्वयं जिस भूमि पर खेती करता है वह जोत कहलाती है।

कृषि जोत की विभिन्न धारणाएँ (Different concepts of Agricultural Holdings)—कृषि जोत के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणाओं का उल्लेख किया जाता है—(1) आर्थिक जोत या लाभकारी जोत (Economic Holding) (2) पारिवारिक जोत (Family Holding) (3) बुनियादी जोत (Basic Holding) (4) अनुकूलतम या इष्टतम जोत (Optimum Holding) (5) क्रियात्मक जोत (Operational Holding)।

1. **आर्थिक जोत**—आर्थिक जोत के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। जैसे कीटिंग्स (Keatings) के मतानुसार, "आर्थिक जोत वह है जो एक व्यक्ति को आवश्यक व्यय निकालने के पश्चात उसे तथा उसके परिवार को उचित सुविधा सहित पर्याप्त उत्पादन का अवसर प्रदान करती है।" कीटिंग्स का विचार है 40 एकड़ से 50 एकड़ तक अच्छी भूमि, जिसकी सिंचाई के लिए, कम से कम एक कुएँ की व्यवस्था हो, को आर्थिक जोत कहा जा सकता है।

डा० मान का विचार है कि "एक आर्थिक जोत वह है जो एक परिवार को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान कर सके।"

इस सम्बन्ध में स्टेनले जेवन्स (Stanley Jevons) के अनुसार "आर्थिक जोत वह है जो एक कृषक को न केवल न्यूनतम स्तर अथवा उचित स्तर प्रदान करती

है, अपितु रहन-सहन का उच्च स्तर प्रदान करती है।" उनके अनुसार आर्थिक जोत की सीमा 20 एकड़ से 30 एकड़ तक की होती है।

कृषि सुधार समिति ने आर्थिक जोत की जो विशेषताएँ बताई हैं वे इस प्रकार हैं—(I) किसान को रहन-सहन का उचित स्तर प्रदान करती हैं। (ii) एक सामान्य आकार के परिवार को सम्पूर्ण बर्ष के लिए रोजगार प्रदान करती हैं। (iii) सम्बन्धित प्रदेश की कृषि व्यवस्था को बल देती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक जोत एक कृषक द्वारा जोती गयी भूमि का वह क्षेत्र है जिस पर एक औसत आकार के परिवार का श्रम व पूंजी का सर्वोत्तम उपयोग हो सके तथा इसका शुद्ध उत्पादन कृषक के परिवार को एक अच्छा जीवन स्तर प्रदान कर सके।

2. पारिवारिक जोत—पारिवारिक जोत का आशय उस जोत से है जिससे किसान के कम से कम इतनी पैदावार अवश्य प्राप्त हो सके जिससे उसे प्रतिवर्ष 1600 रुपये की कुल वार्षिक आय प्राप्त हो सके और उसे मजदूरी एवं आवश्यक खर्चों को निकालकर 1200 रुपये की शुद्ध वार्षिक आय प्राप्त हो सके। साथ ही साथ जोत का क्षेत्रफल एक हल इकाई से कम न हो। इस प्रकार की जोत का आधार आय मानी गई। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आर्थिक जोत और पारिवारिक जोत को एक दूसरे का पर्यायवाची माना जाता है।

3. बुनियादी जोत—कृषि सुधार समिति के अनुसार, "बुनियादी जोत से अभिप्राय कृषि के लिए आवश्यक न्यूनतम क्षेत्र से है।" दूसरे शब्दों में बुनियादी जोत के अन्तर्गत भूमि का केवल उतना ही क्षेत्र आता है जिससे जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आर्थिक जोत की अपेक्षा यह जोत छोटी होती है। योजना आयोग के अनुसार, तीन बुनियादी जोतों को मिलाकर एक आर्थिक जोत के रूप में माना जा सकता है।

4. अनुकूलतम जोत—यह जोत की वह सीमा कही जा सकती है जिस पर कृषक को अपने साधनों-श्रम व पूंजी को सर्वाधिक कुशल ढंग से प्रयोग करने का उचित अवसर प्राप्त हो ताकि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इसे आदर्श जोत भी कहा जा सकता है क्योंकि उस जोत पर ही एक निश्चित कृषि पद्धति के अन्तर्गत श्रम एवं पूंजो का सबसे कुशल प्रयोग सम्भव हो सकता है। भारत में इस जोत का आकार आर्थिक जोत के आकार का तीन गुना से अधिक माना जाता है।

5. क्रियात्मक जोत—कषि संगणना (1970-71) के अनुसार—"क्रियात्मक जोत को उस समस्त भूमि के रूप में परिभाषित किया गया है जो पूर्णतः या आंशिक रूप से कृषि के उत्पादन कार्य में प्रयुक्त होती है और एक व्यक्ति के द्वारा अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर (स्वामित्व, कानूनी स्थिति, आकार एवं स्थानीयकरण को दृष्टि में रखे बिना) एक तकनीकी इकाई के रूप में प्रयुक्त होती है।" एक तकनीकी इकाई से अभिप्राय ऐसी इकाई से है जो एक प्रबन्ध के अन्तर्गत हो तथा जिसके एक ही उत्पादन के साधन (Same means of Production) हों।

आर्थिक जोत को निर्धारित करने वाले घटक—(Factors responsible for ditermining Economic Holding)—आर्थिक जोत के आकार को स्थान-स्थान और प्रदेश-प्रदेश के साथ विभिन्न घटक प्रभावित करते हैं, जिनमें कुछ प्रमुख निम्न हैं—

1. **भूमि की उर्वरा शक्ति**—जो भूमि अधिक उपजाऊ होती है उनसे अपेक्षाकृत अधिक आय व उन पर रोजगार के अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। अतः जिन क्षेत्रों में भूमि कम उपजाऊ है। वहाँ जोत की इकाई अपेक्षाकृत अधिक होगी।

2. **कृषि पद्धति**—खेती करने का तरीका कृषि जोत के आकार को निर्धारित करता है। यदि खेती पुराने ढंग से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा। इसके विपरीत यदि खेती आधुनिक साधनों ट्रैक्टरों, मशीनों आदि से की जाती है तो आर्थिक जोत का आकार बड़ा होगा।

वर्षा व सिंचाई की सुविधाएँ—जिन भागों में सिंचाई तथा वर्षा की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, आर्थिक जोत छोटी होती है। इसके विपरीत अनिश्चित वर्षा या सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाएँ होने पर आर्थिक जोत का आकार बड़ा होता है।

4. **फसलों की प्रकृति**—आर्थिक जोत के आकार को फसलों की प्रकृति द्वारा भी प्रभावित किया जाता है। यदि फसलें जैसे सब्जी, फल आदि की हैं तो आर्थिक जोत का आकार छोटा होगा लेकिन चावल, गेहूँ आदि के लिए आर्थिक जोत का आकार बड़ा होगा।

5. **बाजार की समीपता**—कृषि जोत से बाजार की दूरी भी आर्थिक जोत के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। उदाहरणार्थ, जो क्षेत्र किसी बड़े शहर के निकट होते हैं वहाँ पर भूमि की थोड़ी मात्रा भी आर्थिक जोत हो सकती है अपेक्षाकृत उन क्षेत्रों के जो शहर से वहुत दूर हैं तथा वहाँ से आने-जाने के पर्याप्त साधन भी नहीं हैं।

6. **वित्तीय सुविधाएँ**—आर्थिक जोत के आकार को निर्धारित करने वाले घटकों में वित्तीय सुविधाएँ भी आती हैं। यदि किसी स्थान पर कृषकों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ मिल जाती हैं, तो वहाँ पर आर्थिक जोत का आकार छोटा हो सकता है। लेकिन इसकी विपरीत स्थिति में आर्थिक जोत बड़ी ही होगी।

7. **कृषकों की शिक्षा एवं कार्य कुशलता**—जिन क्षेत्रों के कृषक शिक्षित होते हैं तथा उनकी कार्य कुशलता का स्तर अपेक्षाकृत अधिक होता है उन क्षेत्रों में भूमि की थोड़ी मात्रा भी आर्थिक जोत हो सकती है अपेक्षाकृत उन क्षेत्रों के जहाँ के कृषक अशिक्षित हैं तथा जिनकी कार्य कुशलता कम है।

8. **अन्य कारक**—उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त कृषि पदार्थों का कीमत स्तर, कृषि का उद्देश्य, कृषि की सामाजिक दशा इत्यादि आर्थिक जोत को प्रभावित करती हैं।

भारत में कृषि जोतें

भारत की प्रथम कृषि-संगणना 1970-71 के अनुसार देश में कुल कार्यशील जोते 7·85 करोड़ थी जो 16·2 करोड़ हेक्टेयर भूमि में थी। इनमें से आधी जोतें एक हेक्टेयर से कम की थीं जिन्हें सीमान्त जोतें कहा जा सकता है। द्वितीय कृषिगत संगणना 1976-77 की अवधि के लिए की गई थी। उसके परिणाम भी उपलब्ध हो गये हैं। दोनों में भू-जोतों का तुलनात्मक वितरण निम्न तालिका में दिया गया है—

1970-71 व 1976-77 में कार्यशील भू-जोतों का आकार के अनुसार वितरण

भू जोतों का आकार हेक्टेयर में	1970-71		1976-77	
	कुल जोतों का प्रतिशत	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	कुल जोतों का प्रतिशत	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
(सीमान्त) 1·0 हेक्टेयर से कम	50·9	9·0	54·6	10·7
(लघु) 1·0-2·0 हेक्टेयर	18·9	11·9	18·0	12·7
(अर्द्ध-मध्यम) 2·0-4·0 हेक्टेयर	15·0	18·5	14·3	19·9
(मध्यम) 4·0-10·0 हेक्टेयर	11·3	29·7	10·1	30·4
(बड़ी) 10·0 व अधिक हेक्टेयर	3·9	30·9	3·0	26·3
कुल	100·0	100·0	100·0	100·0

तालिका से स्पष्ट है एक हेक्टयर तक की जोतों की संख्या कुल कार्यशील जोतों की 55% थी लेकिन उनके पास भूमि के कुल क्षेत्र का 11% ही है जबकि 10 हेक्टेयर या अधिक की जोतें कुल जोतों का 3% है लेकिन उनके पास कुल क्षेत्र-फल का 26% भाग है इस प्रकार भारत में भूमि के वितरण में काफी असमानता है आज भी भारत में छोटे किसानों की संख्या अधिक है लेकिन उनके पास कुल कृषित भूमि का अंश वहुत कम है यदि हम अपने देश के खेतों के आकार की तुलना अन्य देशों के खेतों के आकार से करें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे देश के खेतों का आकार कई देशों की तुलना में बहुत कम है। जहाँ भारत में खेतों का औसत आकार 2·30 हेक्टेयर था (1970-71 में) वही कनाडा में यह 187·54 हेक्टेयर (1971) और संयुक्त राज्य अमेरिका 127 6 हेक्टेयर (1960) में था।

भूमि का उपविभाजन एवं अपखंडन

अर्थ :—जोतों के उपविभाजन का अभिप्राय जोत के कुल आकार में होने वाली कमी से है। इसके विपरीत जोतों के अपखण्डन का अभिप्राय एक जोत टुकड़ों का दूरस्थ स्थानों या क्षेत्रों में छिटकने व विखरने से है।

भारत में प्रभावपूर्ण कृषिगत नियोजन व उत्पादन बाढ़ने के मार्ग में सबसे गंभीर बाधा भू-जोतों का अत्यधिक छोटे टुकड़ों में बिखरा होना है। राष्ट्रीय सेम्पिल

हिस्सा अलग कर लेता है। प्रो० किन्ले के अनुसार, "जब बँटवारे का निश्चय हो जाता है तो प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि समानाधिकार के कारण सारी सम्पत्ति में उसको समान रूप से भाग मिले—चाहे वह खेत हो या मकान या बाग या पेड़। जहाँ प्रत्यक्ष विभाजन नहीं होता वहाँ अप्रत्यक्ष विभाजन पाया जाता है।"

(iv) **कुटीर उद्योगों का पतन**—हमारे देश में कई प्रकार के कुटीर उद्योग विकसित थे। किन्तु ब्रिटिश सरकार की स्वतन्त्र व्यापार नीति और कुटीर उद्योगों की उपेक्षा के कारण लघु तथा कुटीर उद्योगों का अन्त होता चला गया जिससे इन उद्योगों में लगा हुआ जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा खेती पर आश्रित हो गया। परिणाम-स्वरूप कृषि-भूमि की माँग बढ़ने में कृषि-जोतों के उप-विभाजन और अपखण्डन की समस्या उग्र हो गई।

(v) **कृषकों की ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषक विभिन्न उद्देश्यों से अपनी भूमि को बन्धक रखकर महाजनों से ऋण लेते हैं, किन्तु ऋण को निर्धारित समय पर अदा नहीं करने के कारण, इन्हें बाध्य होकर अपनी भूमि का एक हिस्सा महाजनों के हाथ बेचना पड़ता है जिससे भूमि का उप-विभाजन होता है। भूमि हस्तान्तरण पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाये जाने पर अब यह समस्या इतनी जटिल नहीं रह गई है।

(vi) **भू-सम्पत्ति से विशेष प्रेम**—साधारणतः भारतीयों का भू-सम्पत्ति से विशेष लगाव होता है। वह भूमि को जीविका का साधन ही नहीं समझता, बल्कि प्रतिष्ठा, सम्मान और सम्पन्नता का आधार भी मानता है। फलस्वरूप, प्रत्येक व्यक्ति पैतृक भूमि में हिस्सा पाने के लिये लालायित रहता है, चाहे उसका हिस्सा कितना भी कम क्यों न हो। पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त भू-सम्पत्ति के प्रति किसान की इस अनुरक्ति से भू-सुधार एवं चकबन्दी जैसे कार्यक्रमों में न केवल रुकावट होती है, बल्कि भू-विभाजन बढ़ता ही जाता है।

(vii) **औद्योगीकरण की मंद प्रगति**—भारत में जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में आधुनिक उद्योगों के संगठित विकास की प्रगति मंद है जिससे रोजगार के अवसर मन्द गति से बढ़ रहे हैं। फलतः कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ता ही जाता है और उप-विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या बनी हुई है।

(viii) **अन्य कारण**—भारत में कृषि जोतों के उप-विभाजन और अपखण्डन के कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं :—(अ) कृषकों की अज्ञानता एवं अशिक्षा, (ब) खेतों में चकबन्दी का न होना, (स) कृषि की दोषपूर्ण पद्धति, (द) भू-स्वामी द्वारा अपनी भूमि को कई व्यक्तियों को 'बटाई' पर उठा देना, (य) नवाबों एवं जमींदारों द्वारा प्रसन्न होकर अपने नौकरों को भूमि के टुकड़े इनाम में देने की आदत आदि।

भूमि के उप-विभाजन व अपखंडन के आर्थिक प्रभाव

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के दोष—डा० मान के शब्दों में, "भू-विभाजन और अपखण्डन साहस और परिश्रम को नष्ट करता है, श्रम की अपार बरबादी करता

है। बाड़े बनाने के कारण भूमि की अत्यधिक हानि की ओर प्रवृत्ति होती है।" निम्न हानियाँ उनके मत का प्रबल समर्थन करती हैं—

1. **भूमि का दुरुपयोग**—खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में उप-विभाजित होने से, खेतों के बीच में मेड़ एवं रास्ते बनाने से बहुत-सी जमीन, जिसमें खेती होनी चाहिये, व्यर्थ ही पड़ी रहती है।

2. **श्रम व समय का अपव्यय**—खेतों के एक जगह न होकर अनेक स्थानों पर बिखरे होने के कारण किसानों को कृषि-कार्य के लिए इन सभी टुकड़ों तक स्वयं तथा बैल व औजारों को ले जाना पड़ता है, जिसमें उनके श्रम तथा समय का अपव्यय होता है और प्रति हेक्टेयर लागत बढ़ जाती है। प्रो० बी० पी० मिश्र के मतानुसार 500 मीटर की दूरी पर खेत होने पर लागत में निम्न प्रकार से वृद्धि होती है :—

कार्य	लागत में वृद्धि
1. जुताई हेतु श्रम का आवागमन	5.30 प्रतिशत
2. खाद का परिवहन व्यय	20.35 "
3. फसल का परिवहन व्यय	15.32 "
	40.97 "

इसके अतिरिक्त चौकीदारी व अन्य व्यवस्था सम्बन्धी व्यय बढ़ने के कारण लागत में काफी वृद्धि हो जाती है।

3. **अलाभप्रद व्यवसाय**—सर जान रसल का कथन है कि "खेतों का अपखण्डन सबसे अधिक हानिप्रद समस्या है। इसके परिणामस्वरूप भूमि एक अलाभकारी व्यवसाय अथवा जीवन-यापन का ढङ्ग मात्र बन गया है।" निरन्तर उप-विभाजन के कारण खेत छोटा होते-होते इतना अनार्थिक हो जाता है कि कृषक को परिवार का निर्वाह करना कठिन हो जाता है।

4. **अदालती झगड़ों को प्रोत्साहन**—खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े होने से किसानों के बीच चौहद्दी, रास्ता, मेंड़ आदि के लिए प्रायः झगड़े हुआ करते हैं और गाँवों में मुकदमेबाजी को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है।

5. **स्थायी सुधारों की असम्भाव्यता**—कृषि में स्थायी सुधार नहीं किये जा सकते। क्योंकि पहले से ही खेतों का आकार इतना छोटा है कि कभी-कभी पुराने हल भी भूमि में सरलता से नहीं घुमाये जा सकते। ऐसी स्थिति में आधुनिक ढङ्ग के कृषि यन्त्र, मशीनें, ट्रैक्टर, विनोवर आदि कार्य में नहीं लाये जा सकते।

6. **सिंचाई में असुविधा**—खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने से उनकी सिंचाई के लिए न तो कृषक प्रत्येक टुकड़े में कुआँ खुदवा सकता है और न प्रत्येक टुकड़े के पास से होकर नाली निकलवा सकता है, जिससे खेतों को पर्याप्त सिंचाई की सुविधा उपलब्ध नहीं हो पाती। प्रो० जथार और बेरी के शब्दों में "जब भूमि का अत्यधिक विभाजन हो जाता है तब पर्याप्त जल उपलब्ध होते हुए भी प्रायः सिंचाई

करना असम्भव हो जाता है।" डा० कैप के अनुसार छोटे खेतों में सिंचाई कार्य में कृषक को बहुत घाटा होता है।

7. **अन्य दोष**—(i) खेतों का आकार छोटा होने से किसान उचित ढङ्ग से उनकी देखभाल नहीं कर पाता। (ii) छोटे-छोटे खेतों पर लागत व्यय अधिक होने के कारण लाभ कम मिलता है। (iii) खेतों के अपखण्डन के कारण इन पर गहन कृषि भी मुश्किल से हो पाती है।

उप-विभाजन एवं अपखण्डन के लाभ—यद्यपि भूमि का अत्यधिक उप-विभाजन व अपखण्डन अनेक दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण व अवांछनीय है, किन्तु कुछ विद्वानों ने निम्न लाभों के आधार पर इनका समर्थन किया है—

(i) प्रत्येक व्यक्ति को भूमि का कुछ-न-कुछ भाग मिल जाता है, जो न्याय-सङ्गत है।

(ii) सब के पास भूमि होने से सबकी रुचि कृषि में बनी रहती है।

(iii) अलग-अलग खेतों पर अलग-अलग फसलें बोई जा सकती हैं और यदि एक खेत में एक फसल खराब भी हो जाय तो दूसरे खेत में दूसरी फसल में लाभ उठाया जा सकता है।

(iv) छोटे-छोटे खेतों पर गहन खेती लाभदायक रहती है।

(v) भूमि का कुछ लोगों के पास केन्द्रीयकरण नहीं होने पाता।

(vi) फसलों की अदल-बदल (Crop-rotation) की जा सकती है।

(vii) छोटे-छोटे खेत सभी को कुछ-न-कुछ काम प्रदान करते हैं।

(viii) विभिन्न खेतों से विभिन्न फसलें पैदा करके कृषक स्वावलम्बी बन सकता है।

(ix) विभिन्न उर्वरताओं वाले खेतों में विभिन्न फसलें बोई जा सकती हैं।

(x) यदि परिस्थितिवश किसी समय बाजार में एक फसल का मूल्य घट जाय, तब किसान को बहुत हानि नहीं सहनी पड़ती है, क्योंकि एक फसल की हानि वह अन्य फसलों से पूरी कर लेता है।

(xi) भूमि का समान वितरण होता है और कृषकों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण होता है, जो कि समाज और राज्य को स्थिरता प्रदान करता है।

यद्यपि भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े अनेक दृष्टिकोणों से लाभदायक हैं, परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि कृषि के संगठन की कुशलता की दृष्टि से अनुपयुक्त और हानिप्रद हैं। प्रगतिशील कृषि के लिए खेतों का उप-विभाजन तथा अपखण्डन रोकना अत्यन्त आवश्यक है, तभी भारतीय कृषि एक लाभदायक व्यवसाय बन सकेगी।

कृषि-जोतों के उप-विभाजन एवं अपखण्डन के उपचार

उप-विभाजन तथा अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिए सामान्यतः निम्न सुझाव दिये जाते हैं—

(i) **आर्थिक जोतों का निर्माण (Creation of Economic Holdings)**—

आर्थिक दृष्टि से उचित आकार वाले खेत को आर्थिक जोत कहा जाता है। कीटिंग के अनुसार "आर्थिक जोत वह है जो एक व्यक्ति को आवश्यक व्यय घटाने के बाद उसके और उसके परिवार को उचित सुविधाओं सहित भरण-पोषण के लिए पर्याप्त उत्पादन करने का अवसर दे।" किन्तु डा० मान के अनुसार "आर्थिक जोत उसे कहते हैं जिस पर खेती करके एक औसत परिवार सन्तोषजनक न्यूनतम जीवन-स्तर प्राप्त कर सके।"

इन परिभाषाओं में 'न्यूनतम स्तर' और 'उचित सुविधायें' अस्पष्ट धारणायें हैं। वास्तव में आर्थिक जोत से हमारा अभिप्राय उस जोत से है जो कृषक को अपनी साधन इकाइयों का सबसे कुशल ढङ्ग से प्रयोग करने का उचित अवसर प्रदान करे। अर्थात् आर्थिक दृष्टि से जोत का सर्वोत्तम आकार वह होता है जिस पर खेती करने की लागत कम हो।

भारत में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना आयोग ने आर्थिक जोत के स्थान पर 'पारिवारिक जोत' का विचार प्रस्तुत किया है। इस पारिवारिक जोत की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "पारिवारिक जोत वह क्षेत्रफल है जो स्थानीय दशाओं के अनुसार कृषि की वर्तमान प्रविधि के अन्तर्गत कृषि काल में उपलब्ध सहयोग सहित कार्य करते हुए औसत परिवार के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त हो। यह एक 'हल इकाई' या एक 'कार्य इकाई' के बराबर होती है।" इस प्रकार आर्थिक जोत और पारिवारिक जोत में विशेष अन्तर नहीं है।

परन्तु आर्थिक जोत का आकार क्या हो, इस सम्बन्ध में सभी विद्वानों के मत अलग-अलग हैं। डा० कीटिंग के अनुसार आर्थिक जोत का आकार 40 एकड़ से 50 एकड़ तक होना चाहिये। स्टैनले जेवन्स के अनुसार आर्थिक जोत का आकार लगभग 30 एकड़ होना चाहिए। प्रो० डार्बिंग का मत है कि आर्थिक जोत का आकार केवल 10 एकड़ तक ही होता है। इसी प्रकार डा० स्टैम्प ने आर्थिक जोत का आकार केवल 1 एकड़ अच्छी तरह से जोती हुई भूमि को माना है।

श्री ईस्ट के अनुसार आर्थिक जोत के लिए प्रति व्यक्ति $2\frac{1}{2}$ एकड़ भूमि चाहिए। परन्तु श्री स्टनली जेवन्स का मत है कि "आर्थिक जोत का आकार 30 एकड़ भूमि होना चाहिये।"

भारत के सन्दर्भ में प्रो० डार्लिङ्ग का मत अधिक सही प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि देश के अनेक उपजाऊ भागों में 5 एकड़ भूमि पर एक परिवार का जीवन निर्वाह सरलता से हो सकता है। इसके साथ ही जहाँ पर भूमि कम उपजाऊ है और सघन कृषि पद्धति की जड़ें नहीं जम पाई हैं, वहाँ एक परिवार के निर्वाह के लिए 10 एकड़ जमीन की आवश्यकता होगी। उप-विभाजन व अपखण्डन के दोषों को दूर करने के लिये आवश्यक है कि आर्थिक इकाइयों का निर्माण किया जाय। आर्थिक जोत स्थापित करने के लिये निम्न उपाय अपनाये जा सकते हैं—

(अ) जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारण—इस व्यवस्था के अन्तर्गत जिन व्यक्तियों के पास निर्धारित अधिकतम सीमा से अधिक भूमि होती है वह सरकार के

पास आ जाती है । इस भूमि को सरकार उन कृषकों को दे देती है जिनके खेत अनार्थिक होते हैं । इससे अनार्थिक जोतें आर्थिक बन जाती हैं ।

(ब) **वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था**—जिन कृषकों के पास बहुत ही छोटी जोतें हैं, उन्हें अपनी भूमि छोड़ने के लिये और ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य धन्धे अपनाने के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये । इससे छोटी-छोटी जोतों को मिलाकर आर्थिक जोतें बनाने में सहायता मिलेगी ।

(स) **उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन**—वर्तमान उत्तराधिकार प्रणाली के अनुसार पिता की सम्पत्ति में पुत्र-पुत्रियों को समान हिस्सा मिलता है । इस संबंध में यह व्यवस्था की जानी चाहिये कि भू-सम्पत्ति तो केवल बड़े लड़के को ही मिले, किन्तु वह इस सम्पत्ति की आय में से आनुपातिक हिस्सा अपने भाइयों को भी दे ।

(द) **विभाजन की न्यूनतम सीमा निर्धारण**—सरकार को अधिनियम बना कर भूमि के विभाजन की एक ऐसी उचित सीमा निर्धारित कर देनी चाहिये, जिससे अधिक भूमि का विभाजन न हो सके ।

(य) **चकबन्दी**—चकबन्दी से आशय कई छोटे-छोटे खेतों को, पुनर्व्यवस्था द्वारा एक बड़े चक या खेत में परिणत करना, अर्थात् अलाभकारी जोतों को लाभकारी जोतों में परिणत करना है । इस प्रकार चकबन्दी के द्वारा किसान को कई बिखरे हुए टुकड़ों के स्थान पर, एक ही जगह में सारी भूमि प्राप्त हो जाती है । चकबन्दी के दो तरीके हैं—प्रथम, किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्ण सहयोग की भावना के आधार पर और द्वितीय, कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाकर । सहयोग द्वारा चकबन्दी का कार्य शीघ्रतापूर्वक नहीं हो पाता । इसलिये, कानून द्वारा चकबन्दी को अनिवार्य बनाना ही उत्तम तरीका होता है । परन्तु चकबन्दी एक अस्थायी उपचार है । क्योंकि, यदि भूमि-विभाजन या अपखण्डन को बढ़ावा देने वाले कारण भविष्य में बने रहे तो एक दिन जोतें पुनः अनार्थिक हो जायेंगी । अतः चकबन्दी के साथ-साथ अन्य उपायों को भी काम में लाना चाहिये ।

(ii) **भूमि का राष्ट्रीयकरण**—कुछ विद्वानों का मत है कि जोतों के उपविभाजन और अपखण्डन के दोषों को दूर करने का एक उपाय देश की सम्पूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण करके सहकारी कृषि व्यवस्था प्रचलित की जानी चाहिये । रूस तथा चीन में इसके द्वारा कृषि उपज में बहुत अधिक वृद्धि हुई है । परन्तु भारत के लिये यह सुझाव व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारतीय कृषकों में भूमि के प्रति गहरा प्रेम है, जिससे भूमि को लेने पर विद्रोह भड़कने की सम्भावना है ।

(iii) **सहकारी खेती एवं सहकारी ग्राम व्यवस्था**—सहकारी खेती द्वारा भी उपविभाजन तथा अपखण्डन की समस्या दूर की जा सकती है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत जिन किसानों के पास छोटे या मध्यम आकार के खेत हैं वे सहकारी कृषि समिति बनाकर सहकारी ढंग पर कृषि कर सकते हैं । इससे, इन खेतों के छोटे आकार समाप्त हो जायेंगे और बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सकेंगे । हमारे देश के कुछ भागों में इस प्रकार की व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया गया है । सम्भवतः इसीलिए

पंचवर्षीय योजनाओं में भी सहकारी कृषि व्यवस्था को भारतीय कृषि व्यवस्था का अन्तिम उद्देश्य माना गया है।

योजना आयोग ने उप-विभाजन एवं अपखण्डन से मुक्ति पाने के लिये अन्तिम लक्ष्य 'सहकारी ग्राम प्रबन्ध' रखा है। सहकारो ग्राम-प्रबन्ध की निम्न विशेषतायें होंगी—

(अ) समस्त गाँव को एक इकाई माना जायगा। (ब) भूमि पर स्वामित्व तो व्यक्ति विशेष का ही होगा, किन्तु कृषि-कार्य सामूहिक रूप से किया जायगा। (स) लाभ को भूमि स्वामित्व के अनुपात में बाँट दिया जायेगा। (द) गाँव की समस्त भूमि को बड़े-बड़े हिस्सों या निश्चित ब्लाकों में बाँटा जायेगा, ताकि बड़े पैमाने की कृषि के लाभ प्राप्त हो सकें।

(iv) **अन्य सुझाव**—खेतों के उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या को दूर करने के लिये कुछ अन्य उपाय भी किये जाने चाहिये जैसे (अ) बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास किया जाना चाहिए और कुटीर उद्योगों को पुनर्जीवित किया जाय। (ब) जनसंख्या-वृद्धि-पर रोक लगाने के लिये प्रभावशाली कदम उठाये जाने चाहिये (स) शिक्षा का प्रसार करना चाहिये, जिससे लोग उन्नत खेती के महत्त्व को समझने लगें। (द) बंजर व व्यर्थ भूमियों को कृषि योग्य बनाना चाहिये, जिससे कृषि क्षेत्रों का विस्तार हो सके।

सरकार द्वारा उठाये गये कदम—भारतवर्ष में भूमि के उप-विभाजन व अपखंडन की समस्या को दूर करने के निम्न उपाय किये गये हैं :—

(1) **अधिकतम जोत सीमा निर्धारण**—पञ्जाब को छोड़कर भारत के अन्य सभी राज्यों में, वहाँ की स्थानीय दशाओं को ध्यान में रखते हुए भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने वाले अधिनियम पारित हो चुके हैं। ये अधिनियम निर्धारित करतेहैं कि कितनी अधिकतम भूमि कोई रख सकता है। साथ ही, ये अधिनियम भविष्य में भूमि प्राप्त करने पर भी रोक लगाते हैं। इस व्यवस्था को लागू करने के कारण राज्य सरकारों को बड़ी मात्रा में भूमि प्राप्त हुई।

(2) **भावी उप-विभाजन एवं अपखण्डन पर रोक**—भविष्य में भूमि के और अधिक उप-विभाजन और अपखण्डन न हो सकें, इसके लिए विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा ऐसी न्यूनतम सीमायें निर्धारित कर दी गई हैं, जिसके नीचे भूमि का उप-विभाजन नहीं हो सकता। कुछ राज्यों में निर्धारित न्यूनतम क्षेत्र इस प्रकार हैं—असम—5 बीघा, उत्तर प्रदेश—3 एकड़, मध्य प्रदेश—15 एकड़ सिंचित क्षेत्र, एवं 15 एकड़ असिंचित क्षेत्र।

(3) **सहकारी कृषि एवं सहकारी ग्राम प्रबन्ध**—सरकार ने कृषि के विकास में सहकारी कृषि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सहकारी कृषि के विकास की व्यवस्था की है। पहली योजना की अवधि में प्रायः सभी राज्यों में सहकारी कृषि के लिये आवश्यक नियम बनाये गये। दूसरी योजना में सहकारी कृषि के विकास के लिये एक उचित एवं ठोस नींव रखने की चेष्टा की गई।

तृतीय योजना के अन्त तक 5,500 कृषि समितियाँ बनी हैं। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में 10 हजार और सहकारी कृषि समितियों के बनाये जाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अन्ततोगत्वा एक समय आने वाला है, जबकि सम्पूर्ण भूमि और ग्राम प्रबन्ध सहकारी समितियों में हाथ में आ जायगा।

(4) **भूमि की चकबन्दी**—भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत चकबन्दी की व्यवस्था पर पर्याप्त जोर दिया है। 1960-61 के अन्त तक लगभग 1.50 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र में चकबन्दी की गई थी। अब तक 4.5 करोड़ हेक्टेयर भूमि में चकबन्दी की जा चुकी है जो चकबन्दी के लायक कुल भूमि का लगभग 1/4 भाग है।[1]

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में जोत उप-विभाजन और विखण्डन के परिणामों का विवेचन कीजिए। इस समस्या को हल करने में जोतों की चकबन्दी से क्या मदद मिल सकती है?

[संकेत—इसमें उपविभाजन व विखण्डन के गुण-दोष देकर चकबन्दी के गुण देना है।]

2. भारत में अलाभकारी कृषि जोत की समस्या की विवेचना कीजिए। इसके उपचार के लिये क्या-क्या उपाय किये जा रहे हैं?

[संकेत—इसमें उपविभाजन के दोष देकर चकबन्दी के गुणों का वर्णन करना है।]

3. भारत के खेतों के उपविभाजन एवं अपखण्डन से कृषि प्रगति को कैसे बाधा पहुँचती है? इन कठिनाइयों पर कैसे विजय प्राप्त हो सकती है?

[संकेत—इसमें उपविभाजन एवं अपखण्डन के दोष देना है तथा उसे दूर करने के उपाय बताना है।]

4. भारत में कृषि जोतों के विभाजन और अपखण्डन के क्या कारण हैं? जोतों की चकबन्दी और सहकारी खेती इस समस्या को कहाँ तक हल कर सकती है?

[संकेत—इसमें उपविभाजन व अपखण्डन के कारण दीजिए तथा चकबन्दी व सहकारी खेती का वर्णन कीजिए।]

5. भारत में कृषि जोतों के उपविभाजन एवं विखण्डन के दुष्परिणामों तथा कारणों पर प्रकाश डालिए। इस समस्या को हल करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं?

[संकेत—इसमें उपविभाजन के दोष व चकबन्दी का वर्णन कीजिए।]

---

1. भारत में सहकारी कृषि व भूमि की चकबन्दी का विस्तृत विवरण पृथक् अध्यायों में दिया गया है।

5

कृषि,जोतों की चकबन्दी

(Consolidation of Agricultural Holdings)

चकबन्दी के आशय—खेतों को चकबन्दी से हमारा अभिप्राय खेतों के उस पुन-स्संगठन से है जिससे भूमि के बहुत छोटे-छोटे अथवा बिखरे हुए टुकड़ों को एक स्थान पर एकत्रित किया जा सके। स्क्रिटलैंड के अनुसार, "चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्वामित्वधारी काश्तकारों को इस बात के लिए मनाया अथवा बाध्य किया जाता है कि वे इधर-उधर बिखरे हुए टुकड़ों को त्याग कर उनके बदले में उसी किस्म के उतने ही आकार के एक या दो चक (खेत) ले लें। इस तरह का विनिमय यूरोप के सभी देशों में पिछली तीन शताब्दियों में चालू हुआ है।"

चकबन्दी की प्रणालियाँ

भारत में चकबन्दी के निम्न दो ढङ्ग प्रयोग किये गये हैं :—

1. **ऐच्छिक चकबन्दी**—इस पद्धति के अन्तर्गत गाँव के कुछ अथवा समस्त किसान स्वेच्छापूर्वक अपने छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों का आदान-प्रदान करने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐच्छिक ढंग पर चकबन्दी के लिए भारत में सर्वप्रथम प्रयास सह-कारी समितियों द्वारा सन् 1920 में किया गया था। सहकारी चकबन्दी समितियों का उद्देश्य छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतों के स्थान पर किसान को एक चक में बड़ा खेत प्रदान करना है। परन्तु भारत में (i) कृषकों की अशिक्षा और अज्ञानता, (ii) पैतृक भूमि के प्रति प्रेम, (iii) सिंचाई के साधनों की तुलनात्मक अनुकूलता, (iv) भूमि सम्बन्धी अधिकारों की विभिन्नता और उनके छीने जाने की आशंका व (v) प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी के कारण वह ढंग अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ है। जैसे कि श्री कीटिंग्ज ने कहा है, "भारत जैसे देश के लिये जहाँ किसानों में घोर अज्ञानता है यह आशा करना कि वे उदारता एवम् बुद्धिमत्ता से अपनी जड़ता छोड़कर चकबन्दी के लिये तैयार होंगे, केवल हठ है।"

2. **अनिवार्य चकबन्दी** (Compulsory Consolidation)—अनिवार्य चक-बन्दी दो प्रकार की होती है—

(अ) **आंशिक अनिवार्य चकबन्दी**—ऐच्छिक चकबन्दी की असफलता के कारण लोगों का विचार है कि चकबन्दी को आंशिक रूप से अनिवार्य कर देना चाहिए। आंशिक अनिवार्य चकबन्दी के विषय में सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में 1928 में एक अधिनियम पारित किया गया था। 1937 में पंजाब में भी, पंजाब चकबन्दी अधिनियम पास किया गया था। इन अधिनियमों के अनुसार 2/3 व्यक्तियों को चकबन्दी के लिए बाध्य किया जा सकता है।

आंशिक अनिवार्य चकबन्दी की सफलता भी केवल पंजाब, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रही।

(ब) **पूर्ण अनिवार्य चकबन्दी**—जब कानून की सहायता से अनिवार्य रूप में चकबन्दी की जाती है तो उसे अनिवार्य चकबन्दी कहते हैं। इस प्रकार की चकबन्दी का कार्य सर्वप्रथम बम्बई में 1947 में शुरू किया गया। पंजाब में 1948, उड़ीसा में 1951, उत्तर प्रदेश में 1953 में चकबन्दी अधिनियम पारित किए गए। देश के अधिकतम राज्यों में अनिवार्य चकबन्दी के लिये कानून बनाए गए हैं।

3. **चकबन्दी की प्रक्रिया**—चकबन्दी अधिकारी ग्राम सलाहकार समिति अथवा ग्राम पंचायत से मिलकर चकबन्दी की योजना तैयार करते हैं समिति के बनने के बाद भूमि के रिकार्ड में आवश्यक संशोधन करके सही बनाया जाता है और चकबन्दी की स्कीम का प्रारम्भिक रूप तैयार किया जाता है चकबन्दी अधिकारी योजना तैयार करके और उस पर कृषकों से स्वीकृत प्राप्त करके समझौता, कमिश्नर को देते हैं जिस पर वह अपनी स्वीकृत दे देता है।

4. **चकबन्दी के लिए भूमि का मूल्यांकन करना**—चकबन्दी के भूमि के मूल्यांकन में मिट्टी की किस्म, भूमि की उत्पादकता, भू-खण्ड की गाँव से दूरी, सिंचाई की सुविधाएँ आदि बातों को ध्यान में रखा जाता है मूल्यांकन के लिए भूमि का बाजार मूल्य अथवा लगान भूमि अथवा उत्पादकता को आधार बनाया जाता है यदि किसी को उसकी भूमि के मूल्य से कम मूल्य की भूमि दी जाती है तो क्षतिपूर्ति आवश्यक हो जाती है।

5. **भविष्य में होने वाले अपखण्डन पर रोक**—तमिलनाडु, केरल, जम्मू काश्मीर, व हिमांचल प्रदेश को छोड़कर अन्य राज्यों में भविष्य में होने वाले अपखंडन की रोक के लिए आवश्यक कानून बनाये गये हैं।

6. **चकबन्दी की लागत**—चकबन्दी की लागत विशेष कर्मचारियों पुनर्सर्वेक्षण एवं माप पर किये गये व्यय पर निर्भर करती है। इसमें चकबन्दी के वास्तविक काम पर होने वाला व्यय भी शामिल होता है। महाराष्ट्र व गुजरात में सम्पूर्ण लागत पूर्णतया राज्य सरकारों द्वारा वहन किया जाता है अन्य राज्यों में यह भू-स्वामियों से मालगुजारी के साथ वसूल किया जाता है।

योजनाकाल में चकबन्दी कार्यक्रम

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत चकबन्दी कार्यक्रमों को काफी महत्त्व प्रदान किया गया है जैसा कि आगे विवरण से स्पष्ट हो जाएगा—

1. **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में पंजाब, मध्य प्रदेश, और बम्बई में, चकबन्दी के अनुभवों के आधार पर यह निर्णय लिया गया कि देश में चकबन्दी कार्यक्रमों को व्यापक पैमाने पर लागू किया जाय।

2. **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में चकबन्दी को राष्ट्रीय विस्तार सेवा के कार्यों की सूची में शामिल करने का सुझाव रखा गया।

3. **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में यह विचार व्यक्त किया गया कि प्रशिक्षित लोगों की सेवाओं के अभाव में इस कार्यक्रम को केवल उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखना चाहिए जहाँ या तो सिंचाई की सुविधाएँ विद्यमान हैं या भविष्य में इनके विकसित होने की सम्भावनाएँ हैं।

4. **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना**—इसमें चकबन्दी कार्यक्रम की पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश राज्यों में सफलता को स्वीकार किया गया तथा अन्य राज्यों में इसे तेजी से अपनाने का सुझाव रखा गया।

5. **पंचम पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में कहा गया कि छोटे धारकों की भूमि, अतिरेक भूमि, तथा नये अधिन्यासियों को वितरित करने के लिए सरकार के पास उपलब्ध अधिशेष भूमि की चकबन्दी करके उसे सघन ब्लाकों में परिणित किया जाना चाहिए ताकि सिंचाई परियोजना में सार्वजनिक विनियोग तथा अल्प सुविधा प्राप्त लोगों के लाभ के लिये भूमि का विशेष रूप से विकास हो सके।

6. **षष्ठम पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में इस बात पर जोर दिया गया है कि भविष्य में चकबन्दी को एक प्रमुख कार्यक्रम के रूप में स्वीकार किया जाएगा और सिंचित क्षेत्रों में इसे विशेष प्राथमिकता प्रदान की जाएगी। परन्तु इस योजना में इस बात से सतर्क रहने के लिए कहा गया है कि जोतों की चकबन्दी के नाम पर काश्तकारों तथा बटाईदारों के हितों पर कोई आघात नहीं पहुँचना चाहिए।

चकबन्दी कार्यक्रम की उपलब्धियाँ या प्रगति

चूँकि सभी राज्यों ने चकबन्दी कार्यक्रमों को एक समान तत्परता से नहीं अपनाया है इसलिए इस कार्यक्रम की प्रगति विभिन्न राज्यों में असमान रही है—(अ) पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में चकबन्दी कार्यक्रम पूरा कर लिया गया है; (ब) महाराष्ट्र और हिमालय प्रदेश में इस दिशा में काफी प्रगति हुई है; (स) मध्यप्रदेश, गुजरात और कर्नाटक राज्यों में भी कुछ काम हुआ है, जब कि आन्ध्र प्रदेश, बिहार और जम्मू-काश्मीर में यह परीक्षण के दौर से गुजर रहा है; (द) असम, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी है, यद्यपि इन राज्यों में भी इसे लागू करने के लिए वैधानिक व्यवस्था विद्यमान है।

1960-61 के अन्त तक लगभग 1·20 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र में चकबन्दी की गई थी। अब तक 4·5 करोड़ हेक्टेयर भूमि में चकबन्दी की जा चुकी है जो चकबन्दी के लायक कुल भूमि का लगभग 1/4 भाग है।

चकबन्दी के कार्य की आलोचनात्मक समीक्षा

चकबन्दी कार्यक्रम की जो भी प्रगति हुई हो वह सन्तोषजनक नहीं है । यों तो इसके कारण बहुत से हैं, किन्तु मुख्य कारण यह है कि यह कार्यक्रम सभी राज्यों में अनिवार्य नहीं रहा है । दूसरा, कई क्षेत्रों में चकबन्दी के बाद भी कृषक एक से अधिक खेत के अलग-अलग टुकड़े प्राप्त करते हैं । तीसरा, वितरित की जाने वाली भूमि को विकसित किये जाने की व्यवस्था नहीं की गई । अत: बँटवारे में बड़ी कठिनाई होती है । चौथा, चकबन्दी के साथ या उसके बाद भूमि के विकास के अन्य कार्य नहीं किये गये । केवल चकबन्दी ही कृषकों अथवा कृषि के विकास के लिए पर्याप्त नहीं है । आवश्यकता तो इस बात की है कि व्यवस्था ऐसी की जाय कि चकबंदी के होते ही किसानों को अपने छोटे-छोटे खेतों को विकसित करने एवम् उन पर अपने उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिले ।

चकबन्दी में कठिनाइयाँ

भारत में भूमि की चकबन्दी के कार्य में बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—

1. **भूमि का मूल्यांकन**—चकबन्दी में भूमि के मूल्यांकन का कार्य अत्यन्त आवश्यक है, ताकि क्षतिपूर्ति का अनुमान लगाया जा सके । इसके लिए कई बातों, जैसे भूमि की उर्वरा शक्ति का, सिंचाई आदि की सुविधाओं और गाँव से दूरी आदि की ओर ध्यान देना पड़ता है । साथ ही जिन व्यक्तियों के पास अच्छी भूमि है उसे वे छोड़ना नहीं चाहते ।

2. **भूमि-अधिकार सम्बन्धी दोषयुक्त अभिलेख**—अभी तक देश के कई क्षेत्रों में भूमि-अधिकार सम्बन्धी अभिलेख अपूर्ण हैं तथा कई क्षेत्रों में वे दोषपूर्ण हैं । अतः सही सूचना एकत्रित करने में बहुत समय लगता है, जिससे चकबन्दी के कार्य में बाधा पहुँचती है ।

3. **प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव**—भारत में प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव है, जिससे कारण चकबन्दी ठीक नहीं हो पाती और किसानों में अत्यधिक असंतोष उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप आगे के क्षेत्र में चकबन्दी का विरोध होना आरम्भ हो जाता है ।

4. **किसानों की निरक्षरता व अज्ञानता**—भारत में अधिकांश किसान अभी अशिक्षित एवं रूढ़िवादी हैं, जिसके फलस्वरूप वे चकबन्दी के लाभों को ठीक तरह नहीं समझ पाते । वे प्रत्येक नये सुधार का विरोध करते हैं । उनका अपने बाप-दादों की भूमि में अत्यधिक स्नेह है और वे किसी लाभ के लिए उसे त्यागने को तैयार नहीं होते ।

5. **वित्त का अभाव**—चकबन्दी कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त वित्त का अभाव है जिसके कारण चकबन्दी कार्य में शिथिलता आ जाती है ।

चकबन्दी के गुण

शाही कृषि कमीशन के शब्दों में "भारतीय कृषकों को भूमि के उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या से छुटकारा दिलाने का एकमात्र साधन चकबन्दी ही है।" संक्षेप में चकबन्दी के निम्नलिखित लाभ हैं—

1. **वैज्ञानिक कृषि**—इससे खेती का आकार बढ़ जाने से वैज्ञानिक कृषि की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

2. **भूमि अपव्यय की बचत**—भिन्न-भिन्न स्थानों के खेतों में बाउन्ड्री लगानी पड़ती है जिसमें भूमि का खासा अच्छा हिस्सा निकल जाता है लेकिन जब सभी खेत एक चक होते हैं तो कम भूमि की बाउन्ड्री में निकलती है। इस प्रकार भूमि का अपव्यय होने से बचत होती है।

3. **भूमि की उचित व्यवस्था**—छोटे-छोटे खेतों की रखवाली करना कठिन होता है लेकिन जब सभी खेत एक चक के रूप में हो जाते हैं तो उसकी उचित देखभाल की जा सकती है।

4. **पारस्परिक विवादों में कमी**—चकबन्दी से पारस्परिक झगड़े समाप्त होकर प्रेम और सहयोग की भावना बढ़ती है।

5. **रहन-सहन में सुधार**—चकबन्दी से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है फलतः कृषकों की आय बढ़ती है और उनके जीवन-स्तर में सुधार होता है।

6. **पूंजीगत उपकरणों का पूर्ण उपयोग**—चकबन्दी के कारण कृषकों के द्वारा अपने पूंजीगत उपकरणों हल, बैल, यंत्र आदि का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है।

7. **श्रम एवं अन्य साधनों की बचत**—चकबन्दी के कारण एक खेत से दूसरे खेत पर जाने में नष्ट होने वाला श्रम और धन बच जाता है।

8. गाँव में सडकों, नहरों तथा अन्य सुविधाओं का विकास करना सरल हो जाता है।

पंजाब व उत्तर प्रदेश में चकबन्दी से प्राप्त आर्थिक लाभ

खाद्य व कृषि संगठन (FAO) ने लखनऊ विश्वविद्यालय के ग्रामीण प्रशासन पर अनुसंधान व प्रशिक्षण केन्द्र के साथ पंजाब के तीन जिलों—(होशियारपुर, लुधियाना व फिरोजपुर) तथा उत्तर प्रदेश के तीन जिलों (झाँसी, देवरिया व मुजफ्फर नगर) में चकबन्दी के प्रभावों का विश्लेषण व अध्ययन किया है इस अध्ययन से यह सिद्ध होता है यह कार्यक्रम अत्यधिक उपयोगी है इतके प्रमुख लाभ निम्नलिखित रहे हैं।

(i) कृषि के लिए नयी भूमि प्राप्त हुई है क्योंकि खेतों की मेड़े व सीमाएँ बदलने से काश्त के लायक अतिरिक्त भूमि निकली है।

(ii) फसलों के प्रारूप में परिवर्तन आया है। व्यापारिक फसलों या नकद फसलों का विस्तार किया गया है जिससे किसानों की आमदनी बढ़ी है।

(iii) निजी तौर पर सिंचाई का तेजी से विस्तार किया गया है, कृषिगत इन्पुटों का अधिक उपयोग करने से उत्पादन व उत्पादकता बढ़ी है जिसके लागत में कमी आयी है।

(iv) चकबन्दी से फसलों की बटाईदारी की प्रथा में कमी आई है क्योंकि अब भू-स्वामी स्वयं काश्त में अधिक भाग लेने लगे हैं जबकि पहले बटाई के आधार पर काश्त करवाते थे।

(v) इससे गाँवों में सहयोग का वातावरण उत्पन्न हुआ है और मुकद्मेबाजी में कमी हुई है ?

परीक्षा प्रश्न

1. चकबन्दी से आप क्या समझते हैं ? हमारे देश में कृषि जोतों की चकबन्दी कार्यक्रम कहाँ तक सफल हुए हैं ?

2. चकबन्दी की विभिन्न प्रणालियों को बताइए। भारत के सन्दर्भ में कौन-सी प्रणाली अधिक उपयुक्त होगी ?

3. हमारे देश में चकबन्दी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है ?

4. "भू-विभाजन और अपखण्डन साहस व परिश्रम को नष्ट करता है, श्रम की अपार बरबादी होती है। बाड़े बनाने के कारण भूमि की अत्यधिक हानि की ओर प्रवृत्ति होती है।"—डा० माने।

"अलग-अलग मिट्टी वाले क्षेत्रों में भूमि की जोत आवश्यक है, ताकि मौसमों की अनिश्चितता के विपरीत एक निश्चित मात्रा में सुरक्षा वा बीमा मिल सके।"—डा० मुकर्जी।

इन दो वक्तव्यों का सन्तुलन कीजिए और भारत में भूमि की चकबन्दी के अन्तर्गत सम्पन्न कार्य तथा आवश्यकता बताइये।

[संकेत : उत्तर के प्रथम भाग में भू-विभाजन व अपखण्डन का अर्थ, हानियाँ व लाभ बताइये व दूसरे भाग में चकबन्दी की आवश्यकता, चकबन्दी की विभिन्न प्रणालियों व भारत में चकबन्दी की प्रगति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।]

6

सहकारी कृषि
(Co-operative Farming)

परिभाषा—विभिन्न देशों में सहकारी कृषि के अलग-अलग रूप अपनाये गये हैं, जिनके कारण सहकारी कृषि की कोई स्पष्ट परिभाषा देना कठिन है। जर्मनी के अर्थशास्त्री **डा० ओटो शिलर** ने सहकारी कृषि की परिभाषा देते हुए लिखा है— "आधुनिक साहित्य में सहकारी कृषि का अर्थ, खेतों के ऐसे प्रबन्ध से लगाया जाता है जिसमें भूमि पर किसानों का संयुक्त स्वामित्व होता है। अन्य शब्दों में, भूमि की कृषि में सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रयोग ही सहकारी कृषि कहलाता है।"

सहकारी कृषि की **निर्जलिंगप्पा समिति** के अनुसार "सहकारी कृषि समिति कृषकों का एक ऐच्छिक संगठन है, जिससे मानव शक्ति व भूमि जैसे साधन एकत्रित किये जाते हैं, ताकि उनका अधिकतम प्रयोग हो सके। इस संगठन में अधिकांश सदस्य कृषि कार्यों में हिस्सा बँटाते हैं, ताकि कृषि-उत्पादन, रोजगार एवं आय बढ़ सके।"

भारतीय योजना आयोग के शब्दों में "सहकारी कृषि अनिवार्य रूप से एक ऐसी व्यवस्था है जिससे भूमि को इकट्ठा करके संयुक्त प्रबन्ध द्वारा कृषि कार्य किया जाता है।"

इस प्रकार सहकारी कृषि का सामान्य अर्थ उस व्यवस्था से है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है, किन्तु खेती संयुक्त रूप से की जाती है। समस्त व्यय एक सम्मिलित कोष में से किये जाते हैं और कुल आय में से व्यय घटाने के बाद जो शेष बचता है उसे विभिन्न सदस्यों में उसकी भूमियों के अनुपात में बाँट दिया जाता है।

विशेषताएँ—सहकारी कृषि की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **भूमि का एकत्रीकरण**—सहकारी खेती में सभी सदस्यों की भूमि को मिलाकर जोत की इकाई बना दी जाती है।

2. **स्वामित्व**—सदस्य अपनी भूमि से स्वामी बने रहते हैं अर्थात् इससे व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त नहीं होता है।

3. **प्रबन्ध-संगठन**—सहकारी खेती का प्रबन्ध एवं संगठन संयुक्त रूप से किया जाता है।

4. **पारिश्रमिक**—सदस्यों को उनके कार्य के बदले में पारिश्रमिक दिया जाता है।

5. **पूंजी या भूमि**—जिन व्यक्तियों से पूजी या भूमि ली जाती है उन व्यक्तियों को ब्याज या लगान दिया जाता है।

6. **लाभ-विभाजन**—सदस्यों को पारिश्रमिक देने के बाद कुल लाभ में से सुरक्षित कोष का अंश निकालकर शेष सदस्यों के बीच वितरित कर दिया जाता है।

सहकारी खेती के रूप

सामान्यत: सहकारी खेती के रूप इस प्रकार प्रचलित हैं—

1. **उच्चतर सहकारी कृषि** (Better Co-operative Farming)–इस प्रकार की कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक कृषक अपने खेत पर स्वतन्त्र रूप से खेती करता है परन्तु साथ ही वह सहकारी समिति का सदस्य भी होता है। समिति केवल उसके लिए खेती के तरीकों में सुधार के उद्देश्य से अच्छे बोज, अच्छी खाद और आधुनिक औजार तथा सिंचाई आदि की व्यवस्था करती है और सदस्यों के उत्पादित मालों को एकत्र कर उसके विक्रय की व्यवस्था भी ये समितियाँ स्वयं करती हैं। इस प्रकार की समिति द्वारा व्यक्तिगत कृषि को उन्नत किया जा सकता है। भारत में ऐसी समितियों को सेवा सहकारो समिति का नाम दिया जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सहकारी खेती से, खेती को अच्छा बनाने की दिशा में सहकारिता के आधार पर सहायता दी जाती है।

लाभ—(i) कृषकों की भूमि बनी रहती है, तथा उन्हें अपनी भूमि से लगाव बनाये रखने का अवसर भी मिलता है। इस प्रकार प्रोत्साहन बना रहता है। (ii) यह एक सरल पद्धति है इसमें आपसी संघर्ष होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। इससे कृषकों को सस्ते कृषि साधन मिल जाते हैं। (iii) किसानों को उपज का उचित मूल्य मिल जाता है।

दोष—(i) इस कृषि से उपविभाजन और अपखण्डन के दोष बने रहते हैं; (ii) बड़े पैमाने पर खेती नहीं हो पाती है।

2. **सहकारी संयुक्त कृषि** (Co-operative Joint Farming)—इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न भू-स्वामियों द्वारा कृषि की अपनी भूमि को मिला दिया जाता है और फिर उस पर संयुक्त खेती की जाती है, परन्तु प्रत्येक सदस्य का अपनी भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व ज्यों-का त्यों बना रहता है। संयुक्त खेती व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(i) कृषकों द्वारा सहकारी खेती स्वेच्छा से आरम्भ की जाती है। (ii) प्रत्येक सदस्य का अपनी-अपनी भूमि पर स्वामित्व बना रहता है। (iii) खेतों का प्रबन्ध, एक इकाई के रूप में किया जाता है। (iv) विभिन्न सदस्यों द्वारा प्रबन्ध समिति का चुनाव किया जाता है जिसके निर्देशन में सब सदस्य कार्य करते हैं। (v)

इसके सदस्यों को दो प्रकार से आय प्राप्त होती है—प्रथम तो भूमि के स्वामित्व के अनुपात में उपज में भाग मिलता है और द्वितीय, श्रम के लिये मजदूरी मिलती है, (iv) भूमि से प्राप्त उपज की बिक्री सामूहिक रूप से की जाती है और इस प्रकार की बिक्री से प्राप्त राशि में से सभी प्रकार के व्यय घटाने के बाद जो शेष बचता है उसे विभिन्न सदस्यों द्वारा उपार्जित मजदूरी के अनुपात में बाँट दिया जाता है।

लाभ—(i) बड़े पैमाने पर कृषि की जाती है जिससे उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। (ii) व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है जिससे लाभांश प्राप्त करने का अधिकार बना रहता है। (iii) कृषि उपज को सहकारी समिति उचित मूल्य पर बाजार में बेंच देती हैं। (iv) उपविभाजन और अपखण्डन के दोष दूर हो जाते हैं। (v) रोजगार में वृद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है एवं सभी व्यक्तियों को लगाये गये श्रम के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है।

दोष—(i) सामूहिक श्रम से कृषि कार्य अधिक कुशलता से नहीं हो पाता है। सभी किसान स्वच्छन्द होकर काम करते हैं, फलत: यथेष्ट लाभ नहीं मिल पाता है; (ii) अलग होने की स्वतन्त्रता के कारण जब किसान अपनी भूमि को उपजाऊ बना लेता है तब वह इस पद्धति से अलग हो जाता है। (iii) सहकारिता आन्दोलन की कमियाँ भी इस प्रथा में परिलक्षित होती हैं।

3. **सहकारी काश्तकारी कृषि** (Co-operative Tenant Farming)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि एक समिति की होती है और कृषि के लिए विभिन्न सदस्यों में अलग-अलग टुकड़ों में बाँट दी जाती है। प्रत्येक किसान समिति द्वारा निर्धारित योजना के अनुसार खेती करता है। इस समिति द्वारा सदस्यों को बीज, खाद, साख आदि की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसके अतिरिक्त सदस्य उपज को समिति के माध्यम से बेच सकते हैं। सदस्यों द्वारा भूमि के प्रयोग के बदले में समिति को निश्चित दर के अनुसार लगान दिया जाता है। ये समितियाँ उन्हीं स्थानों के लिए अधिक उपयुक्त होती हैं जहाँ नई भूमि को कृषि योग्य बनाया गया है।

लाभ—(i) व्यक्तिगत कृषि का लाभ स्वयं कार्यकर्ता लेता है। आसामी जो उत्पादन करेगा उसका स्वयं उपयोग कर सकता है; (ii) समिति पूरे जोत की मालिक होती है उसके लिए अपना नियम बनाती है। इस प्रकार कृषि कार्य का संचालन सुचारु रूप से हो जाता है; (iii) कृषकों या असामियों की स्वतन्त्रता बनी रहती है।

दोष—(i) सहकारिता का कोई लाभ नहीं मिल पाता क्योंकि कृषक या आसामी स्वच्छन्द रहते हैं; (ii) बड़े पैमाने की खेती नहीं हो पाती।

4. **सहकारी सामूहिक कृषि** (Co-operative Collective Farming)—इस कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों के साधनों को भूमि सहित इकट्ठा कर लिया जाता है तथा इसमें कृषि का स्वामित्व पूर्णतया सामूहिक रूप से सहकारी समिति के हाथ में रहता है तथा पूरे सामूहिक खेत की भूमि एक इकाई के रूप में जोती जाती है। इस प्रकार सदस्य मजदूरों के रूप में सामूहिक खेत पर कार्य करते हैं तथा उन्हें मजदूरी के अतिरिक्त लाभांश भी मिलता है। सोवियत रूस में इस प्रकार की पद्धति

बहुत प्रचलित है। भारत में इस प्रणाली का प्रयोग नई भूमि पर भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए किया गया, परन्तु इस प्रकार की खेती की सम्भावना भारत में बहुत कम है, क्योंकि यहाँ के कृषक भूमि पर से अपना स्वामित्व नहीं समाप्त करना चाहते।

इस प्रकार सहकारी खेती के चारों रूपों को देखने के बाद यह कह सकते हैं कि भारत की वर्तमान दशाओं को देखते हुए संयुक्त सहकारी कृषि ही उपयुक्त है, क्योंकि यह वर्तमान कृषि समस्याओं को दूर करने में समर्थ है। इसमें गहरी किस्म के बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ, कृषि इकाइयों का एकीकरण, व्यक्तिगत स्वामित्व आदि के लाभ प्राप्त होते हैं। इससे बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार भी मिलेगा।

भारत में सहकारी खेती का महत्त्व

सहकारी कृषि के पक्ष में तर्क—भारत में सहकारी खेती के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

1. **भूमि का सदुपयोग**—सहकारी कृषि में उपलब्ध भूमि का अच्छा उपयोग किया जा सकता है। भारत में अधिकांश जोतें अनार्थिक हैं। सहकारी खेती से इन अनार्थिक जोतों को आर्थिक जोतों में बदला जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सहकारी कृषि के अन्तर्गत प्रत्येक भूखण्ड उस फसल के प्रयोग में आयेगा जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है।

2. **श्रमशक्ति का सदुपयोग**—चूंकि सहकारी कृषि में सभी कृषक संयुक्त रूप से कार्य करते हैं, इसलिए उनमें से प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिल जाता है। सहकारी कृषि में भूमिहीन श्रमिकों को भी कठोर परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि उन्हें अपने श्रम का प्रतिफल मिलने की आशा रहती है।

3. **कृषि भूमि में सुधार**—छोटे किसान साधनों के अभाव में सघन वह उन्नत खेती नहीं कर सकते। सहकारी फार्मों में वैज्ञानिक कृषि करना सम्भव हो जाता है, क्योंकि उत्तम बीज, खाद आदि की सुविधायें बढ़ जाती हैं। साथ ही, आदर्श आकार संयुक्त खेतों में कृषि से सम्बन्धित पूंजी, जैसे बैल, औजार तथा सिंचाई के साधन का भी अच्छे प्रकार से उपयोग किया जा सकता है।

4. **खाद्यान्नों एवं कच्चे मालों के एक विशाल अतिरेक का सृजन**—सहकारी कृषि के पक्ष में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि बड़ी-बड़ी जोतों से खाद्य पदार्थों तथा कृषि से प्राप्त औद्योगिक कच्चे माल का विक्री-योग्य एक विशाल अतिरेक प्राप्त किया जा सकता है। शीघ्र औद्योगीकरण के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक श्रम को भोजन देने के लिये पर्याप्त खाद्यान्न एवं उद्योग के लिये पर्याप्त कच्चा माल मिलता रहे। इस प्रकार, सहकारी कृषि द्वारा औद्योगीकरण के लिए अत्यन्त आवश्यक कृषि अतिरेक को आसानी से बढ़ाया जा सकता है।

5. **सामाजिक लाभ**—सहकारी खेती का एक बहुत बड़ा सामाजिक लाभ यह है कि कृषकों का शोषण बन्द हो जाता है, क्योंकि उन्हें जमींदारों पर आश्रित नहीं

रहना पड़ता, साहूकारों से रुपया उधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा कृषि पदार्थों का पूरा मूल्य प्राप्त हो जाता है ।

6. **भावात्मक एकता**—सहकारी खेती से भावात्मक एकता का भी विकास होता है, क्योंकि सभी धर्मों के व्यक्ति एक साथ बैठकर सामूहिक हित के लिए विचार एवं कार्य करते हैं जिससे अपनी समस्या एवं मान्यताओं को समझने का अवसर मिलता है ।

7. **बहूद्देशीय नदी घाटी योजना का सदुपयोग**—सहकारी खेती से ऐसी योजनाओं का सदुपयोग होता है, क्योंकि ऐसे क्षेत्रों में सहकारी खेती प्रणाली लागू करके हम इन प्रायोजनाओं का विदोहन अच्छी तरह से कर सकते हैं ।

8. **भूमि पुनरुद्धार कार्यक्रम**—इसके लिए सहकारी कृषि बड़ी उपयोगी व आवश्यक है; क्योंकि इस कार्यक्रम के अन्तर्गत व्यर्थ पड़ी हुई भूमि को खेती में सम्मि-लित किया जाता है । अतः व्यय अधिक लगता है । सहकारिता के आधार पर इस कार्यक्रम को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है ।

9. **यांत्रिक कृषि**—सहकारी कृषि विस्तृत रूप में की जाती है । पूंजी की भी सुविधा रहती है । अतः इससे यांत्रिक कृषि का उपयोग किया जा सकता है और इसके लाभों को प्राप्त किया सकता है ।

10. **अन्य लाभ**—(i) सहकारी कृषि द्वारा ही फसलों का आयोजन सम्भव होता है । (ii) सहकारी कृषि द्वारा सरकार और कृषकों के मध्य प्रत्यक्ष व घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, क्योंकि सरकार के लिए बड़ी-बड़ी जोतों के साथ सम्पर्क रखना आसान होता है । (iii) कृषि सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करने में भी सुविधा रहती है । (iv) खाद्यान्न में राजकीय व्यापार की नीति को कार्यान्वित करने में इस पद्धति से सहायता मिल सकती है । (v) सहकारी कृषि में कृषकों की आय बढ़ती, उनकी निर्धनता घटती एवं उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठता है ।

सहकारी कृषि के विरोध में तर्क—सहकारी खेती के विपक्ष में भी कई विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(i) **सहकारी कृषि के लाभ वास्तविक नहीं है**—आलोचकों का कहना है कि सहकारी कृषि के पक्ष में जो लाभ बताये गये वे वास्तविक नहीं हैं । उनका कहना है कि (अ) सहकारी कृषि से रोजगार में वृद्धि की आशा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि सहकारी खेती से कृषि का यंत्रीकरण बढ़ेगा और खेती पर निर्भर मजदूर बड़ी संख्या में बेकार हो जायेंगे और साथ ही पशुधन की उपेक्षा होने लगेगी । (ब) बड़े पैमाने की कृषि ने थोड़े ही वर्षों में एकत्रित मिट्टी की उर्वरता को समाप्त कर दिया है । वास्तव में जोतों का आकार जितना कम होता है, मिट्टी की उर्वरता भी उतनी ही अधिक होती है । अतः इस दृष्टि से भी सहकारी कृषि लाभदायक नहीं है । (स) कृषि से श्रम-विभाजन मितव्ययितायें होती भी हैं तो वे अकुशल प्रबन्ध के कारण समाप्त हो जायेंगी । (द) सहकारी खेती की उपज प्रत्येक सदस्य की भूमि के हिस्से

तथा उसके श्रम के अनुसार बाँटी जाती है अर्थात् उपज के वितरण में असमानता आना स्वाभाविक है। इससे कई सदस्य असंतुष्ट रहेंगे।

(ii) **भारत में सहकारी कृषि के मार्ग में कठिनाइयाँ व बाधाएँ**—आलोचकों का यह भी कहना है कि सहकारी कृषि की सफलता में सबसे बड़ी बाधा भारतीय ग्रामों में व्याप्त आर्थिक एवं सामाजिक विषमतायें हैं। कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं—(i) वर्तमान ग्रामीण समाज में सहकारिता की भावना का अभाव, (ii) किसानों का अपनी जमीन के प्रति प्रगाढ़ स्नेह, (iii) निरीक्षण एवं प्रबन्ध सम्बन्धी कुशलता का अभाव (iv) गाँव में उचित नेतृत्व का अभाव, (v) जमींदारों एवं साहूकारों का विरोध, (vi) जाति प्रथा एवं सामाजिक विशेषतायें, (vii) आर्थिक असमानताएँ, (viii) कृषकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता, (ix) सामूहिक जिम्मेदारी की भावना का अभाव, (x) कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विभागों में समन्वय का अभाव।

(iii) **अन्य देशों में सहकारी कृषि की असफलता**—आलोचकों का यह भी कहना है कि विश्व के अन्य देशों में जहाँ कहीं भी सहकारी कृषि अपनाई गई है सफलता नहीं मिली है। यदि कहीं सहकारी कृषि ने कुछ प्रगति दिखाई है तो इसका कारण सरकार का दबाव या संकटकालीन परिस्थितियों का विद्यमान होना रहा है। उदाहरण के लिये, पोलैण्ड में सहकारी कृषि को प्रायः त्याग दिया गया है और चीन में सहकारी फार्मों का उत्पादन कम होने लगा है। ऐसी परिस्थिति में भारत के लिए यह तर्कसंगत नहीं होगा कि यह सहकारी कृषि को अपनाये। श्री राजगोपालाचारी के शब्दों में, "साम्यवादी देशों को छोड़कर, जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता का अभाव है और लोगों से जबरदस्ती काम कराया जाता है, कहीं भी सहकारी खेती का प्रयोग नहीं किया गया। सहकारी खेती बल प्रयोग के बिना सम्भव नहीं होगी। लोग खुशी से मजदूर बनने के लिये राजी नहीं होंगे और किसान तो और भी कम। हमारे देश में सहकारी खेती भयंकर रूप से विफल होगी।"

(iv) **सहकारी खेती के विरोध में अन्य तर्क**—सहकारी खेती के विरोध में कुछ अन्य तर्क इस प्रकार दिये जाते हैं—

1. सहकारी खेती को सामूहिक खेती की प्रथमावस्था के रूप में देखा जाता है, जिससे अन्त तक समूह की सत्ता सर्वोपरि हो जायेगी और किसानों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उन्मूलन होकर वह एक वैतनिक मजदूर रह जाएगा। इसीलिए कई विद्वान् सहकारी खेती को साम्यवाद की दिशा में पहला कदम समझते हैं।

2. भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन तथा किसानों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की वृद्धि के कारण संयुक्त खेती बहुत कम किसान स्वेच्छा से अपनायेंगे।

3. सहकारी खेती में काम का बँटवारा उचित ढंग से करना बहुत कठिन है। अतः काम के असमान विभाजन से कई सदस्य असन्तुष्ट रहेंगे जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पड़ेगा।

4. सहकारी नेतृत्व का अभाव, किसानों की अशिक्षा व अज्ञानता तथा राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप के कारण सहकारी खेती के वास्तविक संचालन में बहुत-सी कठि-

नाइयों का उदय होगा। और इसके अनुचित प्रयोग के रूप में नकली समितियाँ बड़ी संख्या में संगठित होने का भय है।

5. खेतों के प्रबन्ध कार्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न होने से कई किसान प्रेरणा-हीन होंगे, जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन पर पड़ेगा, जैसा कि आर्थर लुईस ने बताया, "अर्द्धविकसित देशों में तीव्र कृषि प्रगति का रहस्य कृषि विस्तार में, उर्वरकों में, उन्नत बीजों में, कीटनाशक औषधियों में और जलापूर्ति की व्यवस्था में निहित है, फार्म का आकार बदलने में नहीं।"

निष्कर्ष—इस प्रकार कई समर्थकों तथा विरोधियों ने सहकारी खेती के पक्ष व विपक्ष में तर्क दिये हैं, किन्तु भारत में सहकारी खेती पर आर्थिक दृष्टिकोण के कम ही विचार किया गया है। हमारी सम्मति में भारत के लिए सहकारी खेती लाभदायक ही होगी। सहकारी खेती के विरुद्ध जो अनेक तर्क दिये गये हैं उनका उत्तर दिया जा सकता है। जैसे सहकारी खेती अधिक बेरोजगारी उत्पन्न करेगी ऐसा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि देश में औद्योगिक उन्नति से, विशेष कर कृषि से सम्बन्धित लघु उद्योगों के विकास से सहकारी कृषि द्वारा बेकार हुए अधिकांश श्रमिकों को काम मिल जायगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि सहकारी कृषि में अवश्य ही बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण किया जाय। सच तो यह है कि सहकारी कृषि रोजगार के अनेक नये अवसर उत्पन्न करेगी, जैसे भूमि समतल करना, नालियाँ तथा बाँध आदि बनाना, कुओं की खुदाई करना आदि। इनमें बेरोजगार कृषकों को काम मिल सकेगा।

यह भी कहना उचित नहीं है कि कृषकों का अपनी जमीन के प्रति प्रगाढ़ स्नेह होने के कारण सहकारी खेती सफल नहीं होगी। क्योंकि भूमि से प्रेम विश्व के सभी कृषकों में पाया जाता है, फिर सहकारी संयुक्त-कृषि के अधीन कृषक भूमि नहीं खोते, केवल मिल कर कार्य करते हैं। हमारी सरकार एक लोकतंत्रीय सरकार है। अतः सरकार द्वारा किसी प्रकार के दबाव की आशंका नहीं की जानी चाहिये। हम दबाव नहीं, अनुरोध का मार्ग अपना रहे हैं। अतः कोई कारण नहीं है कि भारतीय कृषकों पर सहकारी कृषि में शामिल होने के लिये दबाव डालना पड़े। यह भी कहना ठीक नहीं है कि निर्वाचित प्रबन्ध-व्यवस्था अकुशल ही रहेगी। क्योंकि, यदि समुचित प्रेरणाएँ प्रदान की जायँ तो प्रबन्ध में कुशलता बढ़ायी जा सकती है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि सहकारी कृषि का निर्माण धीरे-धीरे किया जाय न कि एकदम, जिससे दूसरे कृषकों को धीरे-धीरे अनुभव प्राप्त होता जायगा और वे कुशल प्रबन्धक बन जायेंगे। यह आलोचना भी सही नहीं है कि सहकारी फार्म छोटे फार्मों के समान उत्पादक नहीं होते। भारत के सम्बन्ध में इस बात से सभी भली-भाँति परिचित हैं कि छोटे-छोटे अनार्थिक खेतों के कारण ही यहाँ कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई अवस्था में है।

फिर यह भी जरूरी नहीं है कि खेती के प्रबन्ध कार्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न होने से किसान प्रेरणाहीन हो जायेंगे, क्योंकि अभी भी औसत भारतीय कृषक स्वतन्त्र नहीं है। यदि वह काश्तकार है तो जमींदार उसका स्वामी है या वह महाजन अथवा साहूकार के चंगुल में है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में सहकारी खेती के विरोध में दिये गये तर्कों का विशेष महत्त्व नहीं है, बल्कि सहकारी कृषि का पक्ष अधिक प्रबल प्रतीत होता है। वस्तुतः भारत में सहकारी खेती का उद्देश्य बड़े पैमाने पर यांत्रिक खेती करना ही नहीं है, बल्कि असंख्य अनार्थिक इकाइयों को मिलाकर किसानों की अर्थ-व्यवस्था को सुधारना है। भारत में सहकारी कृषि को सफल व लोकप्रिय बनाने के लिये सैद्धान्तिक कट्टरता के स्थान पर, व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की जरूरत है। क्योंकि इसी के द्वारा न केवल भारतीय कृषि को, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय अर्थ-व्यवस्था को उन्नत किया जा सकता है। हमें कृषकों को यह विश्वास दिलाना होगा कि उनके व्यक्तिगत स्वामित्व एवं स्वतन्त्रता को किसी प्रकार का खतरा नहीं है। कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना ही प्रधान लक्ष्य है।

भारत में सहकारी कृषि की प्रगति (Progress of Co-operative Farming in India)—वैसे तो योजनाकाल के पूर्व ही भारत में सहकारी खेती की दिशा में प्रयत्न किये गये थे, किन्तु व्यवस्थित रूप से सहकारी कृषि के प्रचलन के सम्बन्ध में प्रयास पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत ही किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना से सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए सुझाव दिये गए और यह कहा गया कि छोटे-छोटे कृषकों को स्वेच्छा से सहकारी समितियाँ बनाने के लिए प्रेरित किया जाय। इस योजना में सहकारिता के लिए 50 लाख रुपये का प्रावधान किया गया। 1956 तक देश में 1000 सहकारी कृषि समितियाँ कार्य कर रही थीं। इस योजना में पंजाब, उत्तर प्रदेश, तथा बम्बई में सहकारिता का विशेष प्रचलन हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना में उत्पादन बढ़ाने के लिए सहकारी कृषि समिति की स्थापना पर विशेष बल दिया गया। इस योजना में 140 लाख रुपये का प्रावधान किया गया। 1960-61 तक 6325 सहकारी कृषि समितियाँ थीं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इस योजना में 1100 लाख रुपये व्यय करने का प्रावधान था। सहकारी खेती के विकास के लिए सहकारी सलाहकार मण्डल की स्थापना हुई।

चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजनाएँ—चतुर्थ एवं पंचम पंचवर्षीय योजनाओं में भी सहकारी कृषि पर तथा चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सहकारी कृषि के बिकास के लिए 18 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई।

वर्तमान स्थिति—नवीन आँकड़ों के अनुसार देश में 9,772 संयुक्त सहकारी समितियाँ हैं इनके अधीन कृषि भूमि का लगभग 6·3 लाख हेक्टेयर क्षेत्र है तथा इनके सदस्यों की संख्या 2·7 लाख है।

सहकारी खेती की धीमी प्रगति के कारण

भारत में सहकारी खेती की प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही है। इसके लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं—

1. **राज्य सरकारों की उपेक्षापूर्ण नीति**—राज्य सरकारों द्वारा सहकारी खेती को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना आवश्यक था। उदाहरण के लिए आन्ध्र प्रदेश में सन् 1962 तक पथ-प्रदर्शक योजनाओं को शुरू नहीं किया गया था।

2. **समन्वय का अभाव**—अधिकांश दशाओं में सहकारी कृषि समितियों तथा अन्य समितियों जैसे साख समितियों, सिंचाई समितियों इत्यादि में उचित समन्वय का सर्वथा अभाव रहा है।

3. **निकृष्ट भूमि**—देश में सहकारी कृषि की अधिकांश प्रगति मध्यस्थों की समाप्ति से प्राप्त भूमि और भूमिहीन किसानों को दी जाने वाली भूमि के सम्बन्ध में हुई है। ऐसी भूमि का अधिकांश भाग निकृष्ट किस्म का है जिससे समितियों के विकास में कठिनाई रही है।

4. **भूमि-सुधार कानूनों से बचाव**—अनेक सहकारी समितियों का निर्माण एक ही परिवार के सदस्यों द्वारा मिलकर भूमि की उच्चतम सीमा के अधिनियमों से बचने के लिए किया गया है। इस प्रकार वे सहकारिता के उद्देश्यों की ओर कोई विशिष्ट ध्यान नहीं देते।

5. **सदस्यों की अनुपस्थिति**—अधिकांश समितियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य समिति की भूमि पर श्रम नहीं करते जिससे बाहरी श्रमिकों से कार्य कराना पड़ता है। सदस्यों की अनुपस्थिति के कारण सहकारी खेती का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो पाता।

6. **अन्य कारण**—

(1) ग्रामीण जनता एवं दूसरे लोग इस अभियान की महत्ता को ठीक-ठीक समझ नहीं सके।

(2) निर्मित नियम, अधिनियम एवं वित्तीय व्यवस्थायें समन्वित, व्यवस्थित एवं सुसंगठित नहीं रही। प्रशासनिक व्यक्ति भी पूर्ण सहायक नहीं सिद्ध हो सके।

(3) भूमि के प्रति अपनी प्रगाढ़ प्रेम की नींद से कृषक को इस अभियान के दौरान जगाया नहीं जा सका।

(4) हमारे कृषकों को यह विदेशी चीज प्रतीत होती है और इससे उनकी इस अभियान के प्रति व्यक्तिगत उत्प्रेरणा मारी जाती है।

(5) कृषकों के बीच योग्य कर्मचारियों एवं नेतृत्व का अभाव रहा है।

(6) सहकारी समितियों के लिए योग्य प्रबन्ध का अभाव रहा है। सदस्यों में आपसी झगड़े और व्यक्तिगत स्वार्थों की प्रधानता रही है।

भारत में सहकारी कृषि को लोकप्रिय और सफल बनाने का सुझाव

भारत में सहकारी कृषि की प्रगति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। परन्तु सभी विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि सहकारी कृषि व्यवस्था द्वारा ही भारतीय कृषि का समुचित विकास हो सकता है। अतः इसे सफल और लोकप्रिय बनाने के लिए विभिन्न विद्वानों और कार्यकारी दलों, समितियों एवं विशेषज्ञों द्वारा समय-समय पर सुझाव दिये जाते रहे हैं, जिनका सारांश आगे प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. **न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप**—आजकल गाँव में न्यूनतम सहकारी समितियों में सरकारी अधिकारियों का अधिक हस्तक्षेप है जो कार्य की मंदगति व अनुपयुक्तता के लिए उत्तरदायी है। अतः सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम करना चाहिए।

2. **ग्रामीण उद्योगों की स्थापना**—सहकारी कृषि समितियों का आर्थिक आकार विस्तृत करने के लिए ग्रामीण उद्योगों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे कि समिति के सदस्यों को और काम मिल सके। अतः समिति ने इन उद्योगों की स्थापना की सिफारिश की है।

3. **ऋण सुविधाएँ**—गाडगिल समिति ने सुझाव दिया है कि सहकारी बैङ्कों द्वारा इन सहकारी कृषि समितियों को अधिक उदार रूप से ऋण देने चाहिए।

4. **छोटे तथा मध्यमवर्गीय किसानों को प्राथमिकता**—सहकारी समिति की रजिस्ट्री करते समय छोटे तथा मध्यमवर्गीय किसानों की समिति को प्राथमिकता देनी चाहिए।

5. **समिति को सहायता**—सहकारी कृषि समिति को सहायता उसके रूप, कर्म का आकार, सदस्यों के साधन एवं विकास कार्यक्रमों को देखकर दी जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में कोई कठोर रूप नहीं अपनाना चाहिए।

6. **प्रशिक्षण केन्द्र**—किसानों की सहकारी खेती के प्रशिक्षण के लिए देश के विभिन्न भागों में प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिए।

7. **तकनीकी सहायता**—गाडगिल समिति के विचार में तकनीकी सहायता का अभाव भी सहकारी समितियों के विकास में बाधक रहा है अतः उसने सिफारिश की कि इन समितियों को तकनीकी सहायता प्रदान की जाय।

8. **निर्बल सहकारी कृषि समितियों का पुनर्गठन**—उन सहकारी कृषि समितियों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए जो निर्बल या निष्क्रिय हैं।

9. **अन्य सुझाव**—(i) गाँव स्तर पर सहकारी कृषि विकास में कुछ उत्तरदायित्व गाँव पंचायतों पर सौंप जाना चाहिए।

(ii) भूमि सुधार कार्यक्रमों से मिलने वाली आधिक्य भूमि पर सहकारी कृषि के अन्तर्गत ही कृषि की जानी चाहिए।

(iii) सहकारी कृषि को प्रोत्साहन करने में सरकार बफर स्टाक के लिए खाद्यान्न इत्यादि खरीदने में सहकारी कृषि समितियों को प्राथमिकता दे सकती है।

(iv) यदि किसी गाँव में अधिकतक कृषक सहकारी कृषि अपनाना चाहते हों तो थोड़े से किसानों के लिए सहकारी कृषि अपनाना अनिवार्य होना चाहिए।

सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि का तुलनात्मक अध्ययन

यद्यपि सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि व्यवस्था में कई समानताएँ हैं, फिर भी सहकारी कृषि व्यवस्था अनेक दृष्टियों से सामूहिक कृषि व्यवस्था से भिन्न है, जैसे—

(i) **आधार**—सहकारी कृषि व्यवस्था ऐच्छिकता के आधार पर संगठित की

जाती है, जबकि सामूहिक कृषि व्यवस्था में दबाव व अनिवार्यत्ता से काम लिया जाता है।

(ii) **सम्बन्ध-विच्छेद**—चूंकि सहकारी कृषि-व्यवस्था का मूल आधार ऐच्छिक होता है, इसलिए कोई भी सदस्य किसी भी समय समिति से अपना सम्बन्ध कर सकता है। परन्तु सामूहिक कृषि में दबाव का अंश होने के कारण सदस्य को सामान्यतया समिति से सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(iii) **स्वामित्व**—सहकारी कृषि व्यवस्था में भूमि सदस्य कृषकों के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधीन रहती है, परन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वामित्व का अस्तित्व नहीं रहता।

(iv) **खेती का आकार**—सामूहिक कृषि व्यवस्था में सहकारी कृषि-व्यवस्था की अपेक्षा खेतों का आकार बड़ा होता है, क्योंकि वहाँ अनिवार्यता का अंश रहता है।

(v) **सहकारिता की शिक्षा**—सहकारी कृषि व्यवस्था में सदस्यों को सहकारिता की शिक्षा दी जाती है और उनको व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर दिया जाता है। परन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था में इसका प्रायः अभाव पाया जाता है।

(vi) **हस्तक्षेप**—सहकारी कृषि व्यवस्था में सदस्यों को प्रबन्ध-समिति की कार्यवाहियों में हस्तक्षेप का पूर्ण अधिकार होता है, किन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों को निर्वाचित सदस्यों की कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं।

(vii) **सदस्यों की संख्या**—सामूहिक कृषि में सदस्यों की संख्या अधिक होती है जबकि सहकारी कृषि में सदस्यों की संख्या कम होती है।

(viii) **भूमि का समाजीकरण**—सामूहिक कृषि में भूमि का समाजीकरण कर दिया जाता है जबकि सहकारी कृषि में ऐसा नहीं होता।

(ix) **पारिश्रमिक**—सामूहिक कृषि में पारिश्रमिक श्रम के आधार पर मजदूरी के रूप में दिया जाता है जबकि सहकारी कृषि में पारिश्रमिक भूमि के अनुपात में दिया जाता है।

भारत के लिए सामूहिक कृषि और सहकारी कृषि में कौन श्रेष्ठ रहेगा

अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारत के लिए सहकारी कृषि ही श्रेष्ठ है और वे इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(अ) **भूमि से लगाव**—भारतीय किसान किसी भी परिस्थिति में भूमि के स्वामित्व से अलग नहीं होना चाहते क्योंकि अपनी पैतृक भूमि से भारी लगाव है और वे भूमि के स्वामित्व को सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते है। ऐसी स्थिति में भारतीय कृषकों को सहकारी कृषि के लिए ही तैयार किया जा सकता है।

(ब) **प्रोत्साहन**—भारतीय किसान आलसी होता है लेकिन जब उसको सहकारी कृषि में मजदूरी मिलती है और भूमि के अनुपात में उत्पादन में हिस्सा मिलता है तो वह कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होता है। लेकिन जब उसको सामूहिक खेती

में केवल मजदूरी मिलेगी तो वह कार्य करने में आलसी ही रहेगा। फलतः कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं होगी।

(स) **सरकारी हस्तक्षेप**—सामूहिक खेती में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप रहता है जिसमें नौकरशाही, लालफीताशाही, निर्णय में देरी आदि समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(द) **प्रजातंत्रीय-प्रणाली**—भारत में प्रजातंत्रीय पद्धतियों पर अधिक जोर दिया जाता है इस दृष्टि से सहकारी कृषि ही श्रेष्ठ है।

(इ) **राजनैतिक समर्थन**—सामूहिक कृषि साम्यवादी सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु भारत की वर्तमान सरकार उसमें विश्वास नहीं करती है इसके अतिरिक्त अधिकांश राजनीतिक दल भी इसका समर्थन नहीं देते हैं। हाँ, समाजवाद में अधिकांश दलों का विश्वास है ऐसी स्थिति में सहकारी कृषि ही उत्तम है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामूहिक कृषि की तुलना में सहकारी कृषि ही भारत के लिए श्रेष्ठ है लेकिन सहकारी कृषि को भी सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों में सहकारिता की भावना का विकास किया जाय तथा सहकारी विपणन व सहकारी वित्त की उचित व्यवस्था की जाय।

परीक्षा प्रश्न

1. "सहकारी कृषि केवल सामूहिक कृषि की ओर एक अस्थायी मार्ग होगा तथा इसके ग्रामीण जीवन में निश्चय ही संकट की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।" मीमांसा कीजिए।

अथवा

सहकारी कृषि और सामूहिक कृषि—इन दो पद्धतियों में से आप किसका अपने राज्य में समर्थन करेंगे? अपने उत्तर के लिए तर्क प्रस्तुत कीजिए। क्या सहकारी कृषि एक ओर सामूहिक कृषि और दूसरी ओर व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था की अपेक्षा श्रेष्ठ है? सकारण उत्तर दीजिए।

अथवा

'व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था' और 'सहकारी कृषि' का दोनों की सापेक्षित उत्पादन क्षमताओं में उपयुक्त परिवर्तनों को ध्यान में रखकर मूल्यांकन कीजिए। दोनों प्रकार की खेती में प्रत्येक में सामुदायिक योजनाओं का क्या योगदान हो सकेगा?

[संकेत—सहकारी कृषि की परिभाषा दीजिए तथा सामूहिक कृषि से इसका अन्तर बताइए तथा सहकारी कृषि के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।]

2. "भारत में सहकारी खेती सफल नहीं होगी।" इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

[संकेत—सहकारी कृषि के दोष दीजिए।]

3. "भारत में सहकारी खेती को आंशिक सफलता मिली है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं? कारण दीजिए।

[संकेत—सहकारी कृषि के गुण व दोष का वर्णन करते हुए बताइए कि भारत में यह विदेशों की भाँति पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाई है।]

7

कृषि में सहकारिता
(Co-operetion in Agriculture)

सहकारिता की परिभाषा—साधारणतः 'सहकारिता' शब्द का अर्थ होता है 'मिल-जुलकर काम करना'। अर्थशास्त्र में सहकारिता का अर्थ व्यक्तियों के उस समूह से है जिसका उद्देश्य ईमानदारी से सामान्य आर्थिक हितों को प्राप्त करना है। श्री कल्वर्ट (Calvert) के शब्दों में, "सहकारिता एक ऐसा संगठन है, जिससे व्यक्ति स्वेच्छा से और समान-स्तर पर अपने आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठित होते हैं।" अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, "एक सहकारी समिति आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों का एक संगठन है जिसके अन्तर्गत समान अधिकार व समान उत्तरदायित्व के आधार पर सदस्य लोग स्वेच्छा से कार्य करते हैं। प्रो० सैलिगमैन के शब्दों में "सहकारिता का अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थों की आवश्यकता को समाप्त करना है।"

सहकारिता के सिद्धान्त अथवा तत्त्व

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि सहकारिता ऐसे व्यक्तियों का ऐच्छिक संगठन है, जो समानता, आत्म सहायता तथा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के आधार पर निजी तथा सामुदायिक हित के लिये कार्य करता है।

किसी भी संगठन के सहकारी संगठन होने के लिए निम्न तत्त्वों का होना आवश्यक है—

(i) **स्वैच्छिक सङ्घ**—सहकारी संस्था की सदस्यता पूर्णरूपेण ऐच्छिक होती है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को संस्था की सदस्यता स्वीकार करने और छोड़ने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

(ii) **लोकतंत्रीय**—सहकारी समिति का प्रशासन लोकतन्त्रीय ढङ्ग से चलता है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को एक मत प्रदान करने का अधिकार होता है चाहे उसने कितने ही अंश क्यों न खरीदे हों। 'एक व्यक्ति एक मत' वाला सिद्धान्त ही लागू होता है।

(iii) **पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म सहायता**—चूंकि सदस्यों के पास आर्थिक साधनों का अभाव होता है, अतः वे सभी मिलकर अपने साधनों को एकत्रित कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। अर्थात् एक सबके लिए और सब एक के लिए मुख्य सिद्धान्त हैं।

(iv) **सामान्य हित**—सहकारी सङ्घ सभी सदस्यों के कल्याण में वृद्धि का लक्ष्य लेकर बनाये जाते हैं। उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है।

(v) **नैतिक गुणों का विकास**—श्री ताल्मकी के शब्दों में "सहकारिता सदस्यों में स्वामिभक्ति, मित्रता और सहकारिता की भावना का विकास करती है।"

(v) **मध्यस्थों का लोप**—सहकारिता का उद्देश्य मध्यस्थों का लोप करना और स्पर्द्धा की इतिश्री करना है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का उद्भव और विकास

भारत में सहकारिता का प्रारम्भ 1904 से ही माना जाता है तथापि इसका वास्तविक इतिहास बहुत पुराना है। 1895 से पूर्व सर **विलियम वेडरबर्न व जस्टिस रानाडे** ने भारत में ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिए सरकार को कृषि बैङ्कों की स्थापना का सुझाव दिया था। परन्तु इस सुझाव की उपेक्षा कर दी गई। 1895 में मद्रास सरकार ने **श्री फ्रेडरिक निकलसन** को कृषि साख के विषय में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा। उन्होंने सुझाव दिया कि कृषि विकास हेतु 'जनता के बैङ्क' बनाए जायँ। परन्तु मद्रास सरकार ने इस सुझाव पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। इस समय उत्तर प्रदेश में श्री **डूपर्नेक्स** तथा पंजाब में **एडवर्ड मैकलेगन** ग्रामीण ऋण-समितियों की स्थापना कर रहे थे। इधर बंगाल में भी ग्रामीण साख समितियों की स्थापना के विषय में काफी चर्चा थी। इन तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि भारत के लोग सहकारिता से सदैव अपरिचित नहीं थे।

सन् 1901 में द्वितीय अकाल आयोग ने भी कृषि साख समितियों की स्थापना पर बहुत अधिक बल दिया। समिति की रिपोर्ट तथा अन्य सुझावों के परिणामस्वरूप सरकार ने 1904 का **सहकारी साख समिति अधिनियम** पास किया। इस प्रकार भारत में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस अधिनियम की कुछ कमियों को दूर करने की दृष्टि से सन् 1912 में **'सहकारी समिति अधिनियम'** पारित किया गया। इस अधिनियम ने साख समितियों के अतिरिक्त गैर-साख समितियों को भी मान्यता प्रदान की।

1912 के बाद सहकारी आन्दोलन को नवीन चेतना प्राप्त हुई और न केवल साख समितियों अपितु गैर-साख समितियों का भी तेजी से विकास प्रारम्भ हो गया। 1912 के अधिनियम के बाद दो वर्ष में ही सहकारी समितियों की संख्या 15,000 तथा सदस्यों की संख्या 9 लाख 95 हजार हो गई (1911-12 में यह संख्या क्रमशः 8,177 एवं 4 लाख थी) सरकार ने सहकारी आन्दोलन की प्रगति पर विचार करने के लिए 1915 में **मैकलेगन समिति** नियुक्त की। समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—(1)

अनियमित समितियों को शीघ्र समाप्त किया जाय, (2) ऋण के ठीक समय पर भुगतान पर बल दिया जाय, (3) सहकारी समितियों का पुनर्गठन हो तथा (4) सहकारी आन्दोलन को एक प्रान्तीय विषय बनाया जाय।

दुर्भाग्य से इस समय प्रथम महायुद्ध चल रहा था और इसलिए समिति के महत्त्वपूर्ण सुझावों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् 1919 में मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के फलस्वरूप सहकारिता का विषय प्रान्तीय सरकारों को दे दिया गया। सन् 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना से सहकारी साख आन्दोलन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय साख समितियों के अतिरिक्त गैर-साख समितियों का भी अच्छा विकास हुआ।

सन् 1945 में नियुक्त **सरैया समिति एवं रिजर्व बैंक** ने सरकार को एक-उद्देशीय समितियों के स्थान पर बहुत उद्देशीय समितियों की स्थापना का परामर्श दिया जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अब सहकारी आन्दोलन का क्षेत्र और विस्तृत हो गया।

योजनावधि से पूर्व तक भारत में सहकारिता आंदोलन की प्रगति नीचे तालिका में दर्शायी गई है :

भारत में नियोजन पूर्व सहकारिता का विकास

	1906-07	1950-51
सहकारी समितियों की संख्या	843	1,86,000
सदस्य संख्या (प्राथमिक समितियाँ)	90,844	1,37,92,000
कार्यकारी पूंजी	23 लाख रुपये	276 करोड़

स्वतन्त्रता के पूर्व सहकारी आन्दोलन की समीक्षा करने में हमें यह विदित होता है कि सहकारी आन्दोलन में प्रगति के बावजूद भी सहकारी आन्दोलन जन-साधारण को प्रभावित करने में असफल रहा। महाजनों का प्रभुत्व किसी प्रकार कम नहीं था।

योजनाकाल में सहकारिता की प्रगति

भारत में योजनाबद्ध विकास 1951 से आरम्भ हुआ, और सरकार ने अपनी सभी योजनाओं में सहकारिता को प्राथमिकता दी है और इसे आर्थिक तथा सामाजिक विकास का आधार माना है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—इस योजना के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए 7 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी। प्रथम योजना के अंत में (i) सहकारी समितियों की संख्या 1,80,000 से बढ़कर 2,40,000 (ii) सदस्यों की संख्या 138 लाख से बढ़कर 176 लाख तथा (iii) कार्यशील पूंजी 276 करोड़ रुपये से बढ़कर 469 करोड़ रुपये हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना काल में समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में सहकारी संस्थाओं के योगदान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। उस योजना में बृहत् स्तर पर सहकारी कृषि, उपभोक्ता सहकारिता, सहकारी भवन निर्माण तथा औद्योगिक सहकारिता को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया था। इस योजना में सहकारिता के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए गए जिन्हें 1960-61 तक प्राप्त करना था—(अ) सहकारिता समितियों के माध्यम से 225 करोड़ रुपये की कृषि-साख की उपलब्धि, (ब) कृषि साख समितियों की सदस्य-संख्या 150 लाख तथा (स) सहकारी समितियों के माध्यम से अतिरिक्त कृषि उपज के 10% भाग की बिक्री।

इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए द्वितीय योजना में प्राथमिक समितियों, विक्रय समितियों, सहकारी भण्डारागारों आदि के स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किए गए। इस योजनावधि में सहकारी आन्दोलन पर 34 करोड़ रुपये और रिजर्व बैंक ने 20 करोड़ रुपये व्यय किए।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र की सहकारिता के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य रखा गया। वास्तव में 82 प्रतिशत गाँव सहकारिता के प्रभाव क्षेत्र में आ गये। इसी अवधि में श्री आर० एन० सिन्धी समिति व प्रो० एम० दान्तवाला समिति भी बनायी गयी। योजना में प्रस्तावित 80 करोड़ रु० की तुलना में 76 करोड़ रु० वास्तव में खर्च हुए। इस योजना के अन्त में समितियों की संख्या वही बनी रही जो द्वितीय योजना के अन्त में थी लेकिन इन समितियों की सदस्यता बढ़कर 585 लाख, अंश पूंजी 663 करोड़ रुपये व कार्यशील पूंजी 4,473 करोड़ रुपये हो गयी।

तीन वार्षिक योजनाओं (Three Annual Plans) के अन्तर्गत सहकारिता आन्दोलन के विकास पर 63.9 करोड़ रुपये व्यय किया गया। 1968-69 तक 48 प्रतिशत ग्रामीण कृषक परिवारों को सहकारिता के अन्तर्गत लाया गया था तथा चतुर्थ योजना में सहकारी आन्दोलन के लिए 177.28 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी। इस योजना में सहकारी आन्दोलन के विकास को सुदृढ़ करने के साथ ही समन्वित करने तथा सहकारी कृषि समितियों, उपभोक्ता सहकारी समितियों तथा सहकारी साख सेवाओं के विकास पर विशेष जोर दिया गया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ करने, उपभोक्ता सहकारी समितियों, सहकारी कृषि समितियों व सहकारी साख समितियों के विकास पर जोर दिया गया। सहकारी आन्दोलन के लिए योजना में 77·28 करोड़ रु० की व्यवस्था थी। इसी योजना काल में सहकारी शिक्षा तथा प्रशिक्षण के कार्यक्रम का विस्तार किया गया। बैकुण्ठनाथ मेहता राष्ट्रीय सहकारी प्रबंध संस्थान का शीर्ष संस्था के रूप में विकास किया गया। इस योजना के अन्त में समितियों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और वह 3·3 लाख बनी रही लेकिन सदस्यता, अंश पूंजी व कार्यशील पूंजी में कुछ वृद्धि हुई जो क्रमश: 692 लाख, 1226 करोड़ रुपये व 9.648 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में सहकारिता के विकास के चार उद्देश्य रखे गये—(i) सहकारी कृषि समितियों की ऋण, आपूर्ति, विपणन व प्रक्रियन (processing) को सुदृढ़ करना; (ii) उपभोक्ता सहकारी प्रवृत्ति का निर्माण करना; (iii) सहकारी विकास के स्तर में विशेष रूप से कृषि ऋण के क्षेत्र में क्षेत्रीय असन्तुलनों में सुधार करना; व (iv) सहकारी समितियों के पुनर्गठन के प्रयास किए गए हैं। इन उद्देश्यों के लिए इस योजना में 376 करोड़ रुपए की व्यवस्था की गई थी।

छठीं पंचवर्षीय योजना—इस योजना में सहकारिता के सम्बन्ध में चार सूत्रीय कार्यक्रम प्रतिपादित किये गये (i) प्राथमिक ग्राम समितियों को बढ़ावा देना ताकि वे सदस्यों की विभिन्न प्रकार की माँगों को पूरा कर सकें (ii) ग्रामीण निर्धनों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सहकारी समितियों को निर्देश देना (iii) प्रबन्ध पदों के लिए व्यावसायिक जनशक्ति तथा उपयुक्त सेवा संवर्गों का विकास करना (iv) सहकारी महा संघ संगठनों की भूमिका का पुर्ननिर्धारण तथा समेकन करना जिससे वे अपने संगठक संगठनों के माध्यम से कृषि क्षेत्र को झूठा विनियोग, विपणन तथा अंग सेवाओं का प्रभावी रूप से सहायता कर सकें।

सहकारिता सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों पर छठीं योजना में 914 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। 1980-85 की अवधि के लिए महत्वपूर्ण सहकारी क्रियाओं के लिए निम्नलिखित भौतिक लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं :

छठी योजना 1980-85 के दौरान महत्वपूर्ण सहकारी क्रियाओं के लक्ष्य

भौतिक कार्यक्रम	इकाई	1979-80 में प्रत्याशित उपलब्धि	1984-85 में अवधि वर्ष का लक्ष्य
1. अल्पकालीन ऋण	करोड़ रुपये	1,300	2,500
2. मध्यम तथा दीर्घावधि ऋण	करोड़ रुपये	400	800
3. सहकारी समितियों द्वारा विपणन किये जाने वाले कृषि उत्पाद का मूल्य	करोड़ रुपये	1,750	2,500
4. सहकारी समितियों के माध्यम से वितरित किया जाने वाले उर्वरक			
(क) मात्रा	लाख टन (NPK)	24	45
(ख) मूल्य	करोड़ रुपये	900	1,600
5. सहकारी समितियों के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में वितरित की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं का मूल्य	करोड़ रुपये	800	2,000
6. सहकारी समितियों के माध्यम से शहरी क्षेत्र में वितरित की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं का मूल्य	करोड़ रुपये	800	1,600

7. अतिरिक्त गोदाम क्षमता का निर्माण	लाख टन	47	82
8. शीतागार का निर्माण स्थापित	संख्या	125	276
क्षमता	लाख टन	2	8
9. विधायन इकाइयों की स्थापना	संख्या	2,037	2,359

भारत में योजना काल में सहकारिता की प्रगति निम्न प्रकार हुई है :

सहकारी समितियों की प्रगति

क्र०	विवरण वर्ष	1960-67	1970-71	1975-76	1980-81
1.	समितियों की संख्या (लाखों में)	3.3	3.2	3.1	3.0
2.	प्राथमिक सदस्यों की सदस्य संख्या (लाखों में)	342	591	848	1062
3.	हिस्सा पूंजी (करोड़ रु० में)	222	851	1529	2088
4.	कार्य पूंजी (करोड़ रु० में)	1312	6,810	12,432	20,021

भारत में सहकारिता आन्दोलन का ढाँचा
(Structure of-Co-operative movement in India)

भारत में सहकारी आन्दोलन को दो भागों में बांटा गया है—

(1) साख समितियाँ (2) गैर-साख समितियाँ।

साख समितियाँ साख प्रदान करती हैं। साख समिति को भी दो भागों में बांटा गया है—

I. साख समितियाँ
(Credit Societies)

कृषि साख समितियों का ढाँचा (Structure of Agricultural Credit Societies)—भारत के सहकारी आन्दोलन में कृषि साख समितियों का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ पर कृषि सहकारी साख संस्थाएँ दो प्रकार की हैं, जैसा कि नीचे चार्ट में दर्शाया गया है —

कृषि साख समितियाँ

(अ) अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्रदान करने वाली सहकारी संस्थाएँ—

1. प्राथमिक कृषि साख समिति (गाँव स्तर पर)
2. जिला सहकारी बैङ्क (जिला स्तर पर)
3. राज्य सहकारी बैङ्क (राज्य स्तर पर)

(ब) दीर्घकालीन साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ—

1. प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क (खण्ड, तहसील, सब डिवीजन व जिला स्तर पर)
2. राज्य भूमि विकास बैङ्क (राज्य स्तर पर)
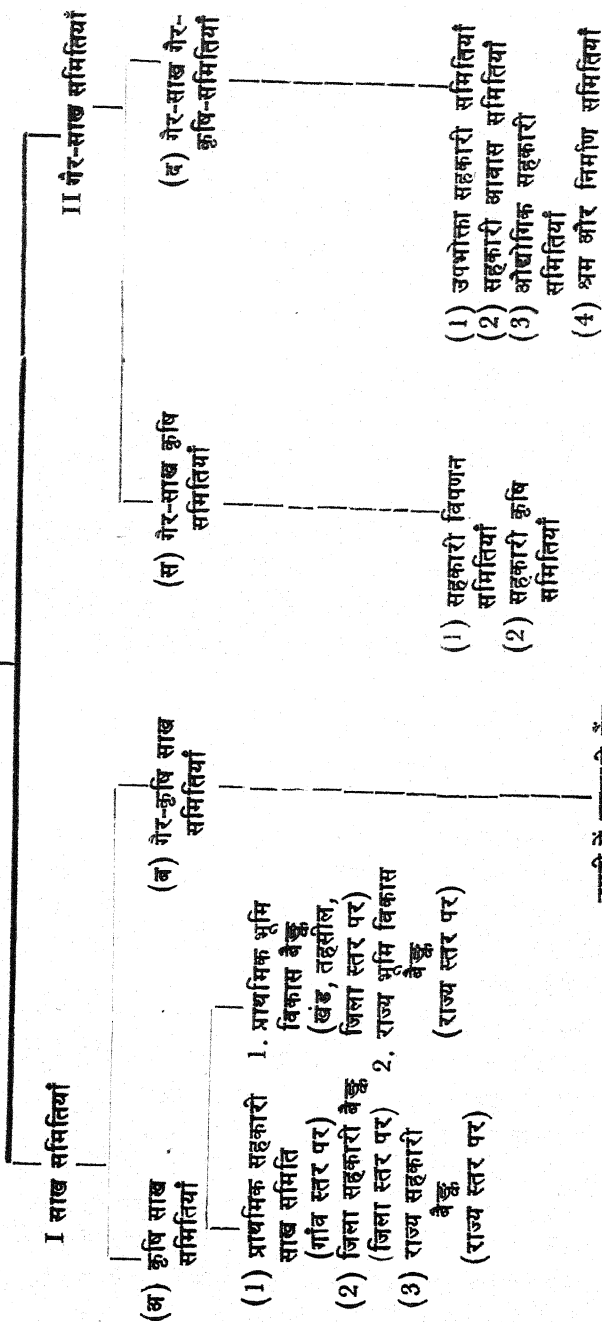
सहकारी आन्दोलन
I साख समितियाँ
II गैर-साख समितियाँ
(अ) कृषि साख समितियाँ
(ब) गैर-कृषि साख समितियाँ
(स) गैर-साख कृषि समितियाँ
(द) गैर-साख गैर-कृषि-समितियाँ
(1) प्राथमिक सहकारी साख समिति (गाँव स्तर पर)
(2) जिला सहकारी बैङ्क (जिला स्तर पर)
(3) राज्य सहकारी बैङ्क (राज्य स्तर पर)
1. प्राथमिक भूमि विकास बैङ्क (खंड, तहसील, जिला स्तर पर)
2. राज्य भूमि विकास बैङ्क (राज्य स्तर पर)
नगरों में सहकारी बैंक और जनता बैंक इसके अन्तर्गत आते हैं।
(1) सहकारी विपणन समितियाँ
(2) सहकारी कृषि समितियाँ
(1) उपभोक्ता सहकारी समितियाँ
(2) सहकारी आवास समितियाँ
(3) औद्योगिक सहकारी समितियाँ
(4) श्रम और निर्माण समितियाँ

उपर्युक्त चार्ट से स्पष्ट है कि अल्पकालीन व मध्यकालीन साख सुविधाएँ प्रदान करने वाली समितियों का ढाँचा त्रिस्तरीय है जिसमें गाँव स्तर पर प्राथमिक कृषि साख समितियाँ, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैङ्क या जिला सहकारी बैङ्क, राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैङ्क हैं। ये सभी संस्थाएँ छोटी व मध्यम अवधि के ऋण देती हैं।

लम्बी अवधि के ऋण देने वाली सहकारी साख संस्थाएँ द्विस्तरीय है। खण्ड तहसील, सब डिवीजन और जिला स्तर पर भूमि विकास बैङ्क तथा राज्य स्तर पर केन्द्रीय भूमि विकास अथवा राज्य भूमि विकास बैङ्क हैं।

(अ) अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्रदान करने वाली सहकारी संस्थाएँ—

1. प्राथमिक कृषि साख समिति (गाँव स्तर पर)—

इन्हें कृषि-साख समितियाँ भी कहते हैं। ये समितियाँ गाँवों में पायी जाती हैं। हमारे देश में कृषि साख समितियों की स्थापना किसानों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए सन् 1904 में **'सहकारी समितियों का संगठन'** के अन्तर्गत की गई है।

प्राथमिक कृषि साख समितियों का संगठन—देश में प्राथमिक कृषि-साख समितियों का संविधान एवं संगठन इस प्रकार है :—

(1) **सदस्यता**—कोई भी दस व्यक्ति जिनकी आयु 18 वर्ष से अधिक हो, मिलकर सहकारी साख समितियाँ खोल सकते हैं। सदस्यों की संख्या सौ से अधिक नहीं हो सकती।

(2) **पंजीयन**—प्रत्येक सहकारी साख समिति का पंजीयन प्रांतीय सहकारिता विधान के अन्तर्गत करना अनिवार्य है। पंजीयन निःशुल्क होता है।

(3) **कार्यक्षेत्र**—प्रायः एक गाँव में एक समिति होती है। इससे सदस्यों में आपसी सहयोग एवं सम्पर्क रहता है।

(4) **प्रजातन्त्रीय प्रबन्ध**—समिति का प्रबन्ध प्रजातंत्रीय प्रणाली के आधार पर सदस्यों द्वारा ही होता है जो अवैतनिक होते हैं। प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है, चाहे उसके पास सहकारी समिति के कितने ही शेयर्स क्यों न हों। प्रबन्ध के लिए दो समितियाँ हैं—

(अ) **साधारण सभा**—इसमें समिति के सभी सदस्य होते हैं। इस सभा के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—प्रबन्ध समिति को चुनना, सेक्रेटरी की नियुक्ति करना, बजट पास करना, रजिस्ट्रार और आय-व्यय निरीक्षक को रिपोर्ट पर विचार करना, ऋण सम्बन्धी नियम बनाना, समिति के नियमों में आवश्यकतानुसार संशोधन करना आदि।

(ब) **प्रबन्ध सभा**—इसमें समिति के सदस्यों द्वारा चुने हुए 5 से लेकर 9 तक सदस्य होते हैं। यह सभा दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करती है।

(5) **पूँजी प्राप्ति के साधन**—ये समितियाँ अग्रलिखित दो साधनों से पूँजी एकत्रित करती हैं—

(क) आंतरिक साधनों से—इनमें अंश पूंजी, नए सदस्यों से प्राप्त प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष सम्मिलित होते हैं।

(ख) बाह्य साधनों से—इनमें सहकारी ऋणों, गैर-सदस्यों के निक्षेपों तथा केन्द्रीय और सहकारी बैङ्कों के प्राप्त ऋणों को सम्मिलित किया जाता है।

(6) **दायित्व**—इन समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक ऋण के लिए उत्तरदायी होता है।

(7) **केवल सदस्यों को ऋण**—ये समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं। ये ऋण मुख्यतः तीन प्रकार के कार्यों के लिए दिए जाते हैं—

(अ) उत्पादन कार्यों के लिए (ब) पुराने ऋणों को चुकाने के लिए, (स) अन्य कार्यों के लिए जैसे विवाह आदि के लिए। ऋण अधिकतर उत्पादन कार्यों के लिए दिए जाते हैं। ऋण देते समय कम-से-कम दो सदस्यों की जमानत भी ली जाती है। कुछ राज्यों में ऋण लेने वाले सदस्यों को अपनी भूमि जमानत के रूप में रखनी पड़ती है।

सहकारी समितियाँ मुख्यतः अल्पकालीन (एक वर्ष तक) ऋण देती हैं परन्तु विशेष परिस्थितियों में उसकी अवधि तीन वर्ष तक के लिए बढ़ाई जा सकती है। सभी प्रकार के ऋणों को किस्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है।

ऋणों पर ब्याज की दर विभिन्न राज्यों में अलग-अलग (5 प्रतिशत से 12 प्रतिशत तक) है।

(8) **हिसाब-किताब की जांच**—सभी समितियों को एक निश्चित रूप में लेखों को रखना पड़ता है और इन लेखों का अंकेक्षण (Auditing) सहकारी विभाग के आडिटर द्वारा किया जाता है।

(9) **लाभ का वितरण**—प्रारम्भिक साख समितियाँ अपने लाभ का एक अंश अनिवार्य रूप से प्रति वर्ष सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में डालती हैं और शेष लाभांश के रूप में अंशधारियों को बाँट देती हैं। समितियों द्वारा दिये जाने वाले लाभांश की अधिकतम सीमा किसी भी राज्य में 10 प्रतिशत से अधिक नहीं है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि सहकारी समितियों को लाभार्जन का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है।

(10) **पंचायत**—समिति व उसके सदस्यों के मध्य झगड़ों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाता है। इस व्यवस्था से मुकदमेबाजी कम हो जाती है और समय, शक्ति तथा व्यय बच जाते हैं।

(11) **रजिस्ट्रार के आदेशों का पालन**—प्रत्येक समिति 'सहकारी समिति अधिनियम' के अन्तर्गत रजिस्टर्ड होती है इसलिए प्रत्येक समिति को रजिस्ट्रार द्वारा भेजे गए आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता है। रजिस्ट्रार ऐसी समितियों को बन्द कर सकता है, जो अकुशल हैं, जिनका प्रबन्धक ईमानदार नहीं है अथवा जिन्हें घाटा होता रहता है।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति —प्रार्थमिक साख समितियों की प्रगति एवं वर्त्तमान स्थिति नीचे तालिका में दर्शायी गई है—

क्र०	विवरण	1950-51	1960-61	1970-71	1978-79	1981 जून
1.	समितियों की सं० (हजार में)	105	212	161	102	94
2.	सदस्य संख्या (लाखों में)	44	170	310	516	573
3.	दिये गये ऋण (करोड़ रु० में)	23	202	578	1395	1441
4.	बकाया ऋण (करोड़ रु० में)	6	44	322	895	N.A.

2. केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंक (जिला स्तर पर)

केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रत्येक जिले में होता है अत· इसे जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक कहते हैं। जिला सहकारी बैंकों की स्थापना 1952 के सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत की गई थी। सामान्यतः प्रत्येक जिले के लिए एक सहकारी बैंक होता है किन्तु कुछ राज्यों में अनेक जिलों के लिए एक ही सहकारी बैंक है।

केन्द्रीय सहकारी बैंकों की विशेषताएँ

इन बैंकों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) **कार्यक्षेत्र**—अलग-अलग प्रान्तों में इन बैंकों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होते हैं। जिस जिले, तहसील में यह बैंक होता है उसका कार्यक्षेत्र वही जिला होता है।

(2) केन्द्रीय सहकारी बैंक के अंशधारी बैंक की साधारण सभा के सदस्य होते हैं। हर एक सदस्य को एक मत देने का अधिकार होता है। साधारण सभा अपने कुछ सदस्यों को संचालक मण्डल के लिए मनोनीत करती है। यही मण्डल बैंक के दैनिक कार्यों का संचालन करता है।

सहकारी बैंक के पदाधिकारी—सहकारी बैंकों का चेयरमैन उत्तर प्रदेश में प्रायः जिलाधिकारी होता है किन्तु दूसरे प्रान्तों में चेयरमैन सरकारी कर्मचारी नहीं होता। साधारण सभा का एक अवैतनिक मंत्री होता है। अन्य पदाधिकारियों में एक संचालक तथा एक प्रबन्धक होता है। ये पदाधिकारी वैज्ञानिक होते हैं तथा बैंकों के दैनिक कार्यों का संचालन करते हैं।

पूंजी—इन बैंकों के पूँजी के निम्नलिखित स्रोत हैं :—

(क) **जमा राशियाँ**—ये बैंक अपनी पूँजी का अधिकांश भाग अपने सदस्य

बैंकों एवं अन्य व्यक्तियों के प्राप्त करते हैं। यह पूंजी अल्पकालीन और दीर्घकालीन, दोनों समयावधियों के लिये प्राप्त की जाती है।

(ख) **अंश पूंजी**—यह पूंजी सदस्य बैंकों से उनके ऋण की मात्रा के अनुसार हिस्सा खरीदने से प्राप्त होती है।

(ग) **सुरक्षित कोष**—प्रत्येक केन्द्रीय सहकारी बैंक का कानून के अंतर्गत एक सुरक्षित कोष रखना पड़ता है जो वार्षिक लाभ का 25% होता है।

(5) **ऋण लेकर**—यह राज्य सहकारी बैंक तथा अन्य बैंकों से आवश्यकता पड़ने पर ऋण ले सकता है।

(5) **ऋण नीति**—केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रारम्भिक बैंकों से 7% ब्याज लेते हैं तथा उनकी जमाओं पर 5% ब्याज देते हैं। परन्तु यह ब्याज की दरें अलग-अलग प्रान्त में अलग-अलग हैं।

(6) **लाभ का वितरण**—वार्षिक लाभ का 25% सुरक्षित कोष में जमा करने के पश्चात् शेष का 6 से 10% भाग सदस्यों में वितरित कर दिया जाता है। शेष धनरशि अन्य खातों में जमा कर दी जाती है।

(6) **निरीक्षण व अंकेक्षण**—केन्द्रीय सहकारी बैंक के हिसाब-किताब का निरीक्षण रजिस्ट्रार तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा होता है। आय-व्यय की जाँच लेखा-परीक्षकों द्वारा की जाती है, जिनकी नियुक्ति रजिस्ट्रार करता है।

सहकारी बैंक के कार्य

सहकारी बैंकों के निम्नलिखित कार्य हैं :—

(1) ये बैंक प्राथमिक समितियों के कार्यों की देखभाल करते हैं।

(2) सहकारी समितियों को ऋण प्रदान करते हैं।

(3) कुछ बैंक बाहरी व्यक्तियों को भी ऋण प्रदान करते हैं।

(4) कुछ समय पूर्व ये बैंक भूमि क्रय करने को ऋण दिया करते थे।

(5) रजिस्ट्रार की अनुमति से ये बैंक दूसरे बैंक को ऋण देते हैं।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंकों की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति निम्न तालिका में दर्शायी गई है—

क्र० विवरण	1950-51	1960-61	1970-71	1978-79
1. बैंकों की संख्या	505	390	341	338
2. अंश पूजी (करोड़ रु० में)	4	39	141	—
3. दिये गये ऋण (करोड़ रु० में)	83	350	894	2407

(3) राज्य सहकारी बैंक (राज्य स्तर पर)
(State Co-operative Banks)

प्रत्येक प्रान्त में, एक राज्य सहकारी बैंक की स्थापना की गई है जो जिला-सहकारी बैंकों की देख-रेख एवं उन्हें नियंत्रित करते हैं। सन् 1925 में मैकलेगन समिति ने इन बैंकों की स्थापना की सिफारिश की थी। उत्तर प्रदेश में सबसे पहले 1945 में इस प्रकार की स्थापना को गई।

(1) **संगठन**—केन्द्रीय सहकारी बैंकों की भाँति ही इन बैंकों का संगठन होता है। इन बैंकों का प्रबन्ध सामान्यतया संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। संचालक मण्डल का पदाधिकारी रजिस्ट्रार होता है। वह कुछ संचालकों की नियुक्ति करता है।

(2) **राज्य सहकारी बैंकों की पूंजी**—इन बैंकों की पूँजी (i) अंश बेचकर, (ii) जनता से जमा प्राप्त करके, (iii) रिजर्व बैंक, अन्य बैंकों या सरकार से ऋण लेकर प्राप्त होती है।

(3) **कार्य क्षेत्र**—इन बैंकों का कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य होता है। इनके सदस्य (i) सहकारी साख समितियाँ, (ii) केन्द्रीय सहकारी बैंक और (iii) अन्य बाहरी व्यक्ति होते हैं।

(4) **राज्य सहकारी बैंकों के कार्य**—इनके निम्नलिखित कार्य हैं :—

(i) केन्द्रीय बैंक सहकारी बैंकों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं।

(ii) यह बैंक सहकारी बैंकों, सहकारी साख समितियों पर नियन्त्रण रखते हैं।

(iii) यह बैंक राज्य के मुद्रा बाजार तथा सहकारिता आन्दोलन में समन्वय स्थापित करता है।

(iv) सभी प्रकार के जमा सदस्य बैंकों, व्यक्तियों एवं संस्थाओं से प्राप्त करते हैं।

(v) **व्यापारिक बैंकों के अन्य कार्य**—जैसे चेकों का भुगतान, रुपये की वसूली, धन का स्थानान्तरण आदि कार्य भी यह बैंक करता है।

प्रगति एवं वर्तमान स्थिति—राज्य सहकारी बैंकों की प्रगति एवं वर्तमान स्थिति निम्न तालिका में दर्शायी गई है—

क्र० विवरण	1950-51	1960-61	1979-71	1978-79
1. बैंकों की संख्या	15	21	25	26
2. निक्षेप (करोड़ रु० में)	22	72	279	1206
3. ऋण (करोड़ रु० में)	42	258	749	2237

(ब) दीर्घकालीन साख प्रदान करने वाली संस्थाएँ—

1. **प्राथमिक भूमि विकास बैंक** (खण्ड, तहसील, सब-डिवीजन, व जिला स्तर पर)—प्राथमिक भूमि बन्धक या विकास बैंकों का कार्यक्षेत्र एक जिला या तह-

(1) **संगठन**—इन समितियों का संगठन सम्मिलित दायित्वों के आधार पर होता है। कोई भी 10 सदस्य मिलकर इस प्रकार की समिति की स्थापना कर सकते हैं, परन्तु कुल सदस्य संख्या 2 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(2) **पूँजी**—ये समितियाँ अपनी पूँजी का अधिकांश भाग अंश बेचकर प्राप्त करती हैं। प्रत्येक अंशधारी को एक वोट देने का अधिकार होता है।

(3) **ऋण नीति**—ये समितियाँ साधारणतया उत्पादन कार्यों के लिए ऋण देती हैं। ऋण सामान्यतया दो वर्षों के लिए अथवा विशेष परिस्थितियों में 3 या 5 वर्षों के लिए दिये जाते हैं। ऋण व्यक्तिगत जमानत तथा सोना-चाँदी की जमानत पर दिये जाते हैं।

(4) **प्रबन्ध**—समिति के प्रबन्धन के लिए एक साधारण सभा, प्रबन्ध सभा व वैतनिक कर्मचारी होते हैं।

(5) **लाभ वितरण**—समिति सभा का कम से कम 25% संचित कोष में रखा जाता है। शेष लाभ में कुछ भाग सदस्यों के सामान्य हितों पर व्यय करके बाकी समस्त लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है।

(6) **रजिस्ट्रार का नियंत्रण**—रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अंकेक्षक इनके हिसाब-किताब की जाँच प्रतिवर्ष करता है।

II. गैर-साख समितियाँ
(Non-Credit Societies)

इसके पूर्व ही हम अध्ययन कर चुके हैं कि भारत में गैर-साख समितियों का संगठन दो प्रकार का है—

(1) कृषि गैर-साख समितियाँ।

(2) गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ।

(1) **कृषि और साख समितियाँ**—कृषि गैर-साख समितियों का कार्य किसानों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को सुधारना है। ये समितियाँ मध्यस्थों को समाप्त करके अपने सदस्यों को लाभ पहुँचाती हैं। कृषि गैर-साख समितियों के प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) **सहकारी कृषि विपणन समितियाँ**—भारत में कृषि-उपज विपणन के बीच अनेक मध्यस्थ पाए जाते हैं जिसके कारण किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य नहीं प्राप्त होता। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न स्तर पर सहकारी विपणन समितियों का गठन किया गया है।

(ब) **कृषि उपज के सहकारी विपणन का ढाँचा**—देश में राष्ट्रीय स्तर पर, एक राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ (National Agricultural Co-operative Federation) है। इस समय इनकी संख्या 20 है। मण्डियों के स्तर पर प्राथमिक विपणन समितियाँ हैं। जून 1975 में इनकी संख्या 2,800 थी। इस सम्बन्ध में एक पृथक् अध्याय 'कृषि-उपज का विपणन' में विस्तृत अध्ययन किया गया है।

(2) **सहकारी कृषि उत्पादन समितियाँ**—कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने वाली सहकारी समितियाँ बड़ी और छोटी दोनों रूपों में स्थापित की गई हैं। उदाहरणार्थ—सहकारिता के आधार पर चीनी मिल व कताई की स्थापना। ये बड़े आकार की समितियाँ हैं। दूसरी श्रेणी में मध्यम व छोटे आकार की समितियां आती हैं। इसके अन्तर्गत चावल मिल, जूट मिल, तेल मिल तैयार करने वाली समितियाँ स्थापित की गई हैं।

(3) **सहकारी उन्नत-कृषि समिति**—ऐसी समितियों को कृषि के तरीके में सुधार करने के लिए गठित किया जाता है। कृषि औजारों का निर्माण और वितरण, कृषि सेवा केन्द्रों की सहकारिता के आधार पर स्थापना की गई है। ये समितियाँ उत्तम खाद, उत्तम बीज, अच्छे औजारों की व्यवस्था करती हैं।

(4) **सहकारी कृषि समितियाँ**—भारत में जोत का आकार बहुत ही छोटा होने के कारण वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि करना असम्भव होता है। अतः जोत के आकार में सुधार करने के लिए तथा कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सहकारी कृषि समितियों की स्थापना की गई है। ये समितियाँ जोत से आकार को बढ़ा करने के लिए चकबंदी जैसी नीतियाँ अपनाती हैं।

(5) **सहकारी सिंचाई समितियाँ**—ये समितियाँ अपने सदस्यों को सिंचाई की व्यवस्था करती हैं। ये समितियाँ सिंचाई के साधनों का विकास करती हैं।

गैर-साख गैर-कृषि सहकारी समितियाँ

1. **सहकारी आवास समितियाँ**—आज के युग में बड़े-बड़े शहरों में आवास की समस्या दिनों-दिन जटिल होती जा रही है। इस समस्या के समाधान के लिए 'सहकारी आवास समितियों' की स्थापना की गई है। वे समितियाँ नागरिकों व श्रमिकों के लिए सस्ते दामों पर भवन निर्माण का कार्य करती हैं, सड़क नालियों की व्यवस्था कराती हैं। इन समितियों को सरकार से भी अनेक प्रकार की सहायता मिलती है जैसे कम ब्याज दर पर ऋण, भवन निर्माण सामग्री की सुगम उपलब्धि आदि।

2. **उपभोक्ता सहकारी समिति**—आवश्यक वस्तुओं के उचित और न्यायपूर्ण वितरण के लिए उपभोक्ता सहकारी समितियां गठित की गई हैं। ये समितियाँ अपने सदस्यों एवं जनता को उचित मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध कराती हैं। इन समितियों का देश भर में एक जाल सा बिछा है।

30 जून, 1980 को 493 केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी भण्डार (3480 शाखाएँ), 16,152 सहकारी समितियाँ, 14 राज्यस्तरीय उपभोक्ता संघ व एक राष्ट्रीय सहकारिता उपभोक्ता संघ कार्य करते थे। इस प्रकार कुल 23,000 सहकारी फुटकर संस्थान उन दिन भारत में कार्य कर रहे थे। इन सहकारी समितियों व संघों ने 1980-81 में 680 करोड़ के मूल्य की बिक्री की जबकि 1960-61 में इन्होंने केवल 60 करोड़ के मूल्य की बिक्री की थी।

3. **श्रम ठेका और निर्माण सहकारी समितियाँ**—ये समितियाँ देश में अपने

सदस्यों को उचित मजदूरी और रोजगार दिलाने का कार्य करती हैं। ये समितियाँ ठेकेदारों द्वारा श्रमिकों के शोषण से भी बचाती हैं। इन समितियों के सदस्य श्रमिक होते हैं।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ

सहकारी साख समितियों की स्थापना किसी एक उद्देश्य को लेकर ही की जाती थी। यद्यपि विभिन्न प्रकार की समितियाँ विभिन्न उद्देश्यों के लिए संगठित की गई थीं किन्तु एक विशिष्ट समिति केवल विशेष उद्देश्यों की पूर्ति ही कर पाती थी। जैसे गृह निर्माण समिति केवल अपने सदस्यों की गृहसमस्या को ही हल करती है। विगत वर्षों में सहकारी समितियों में कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ है। अब सहकारी समितियों को सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के प्रबन्ध का भार सौंपा गया है। गाँव की सहकारी समितियों का कार्यक्षेत्र केवल साख तक ही सीमित न रहकर किसानों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। जैसे बीज, खाद, सिंचाई, चकबन्दी, पशुपालन आदि का भी सहकारी समितियों को करना चाहिए।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की परिभाषा

ऐसी सहकारी समितियाँ जिनके द्वारा अनेक कार्य किए जाते हैं, बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कहलाती हैं। स्वर्गीय कैलाश नाथ काटजू ने इसको निम्नलिखित परिभाषा दी है :—

"बहुउद्देशीय शब्द का अर्थ उन कार्यों से लेना चाहिए जिनमें समिति के सभी सदस्य रुचि ले सकते हैं।" अतः बहुउद्देशीय सहकारी समिति एक ऐसी सहकारी समिति होती है जिसके द्वारा अनेक कार्य संचालित होते हैं।

बहुउद्देशीय सहकारी समिति के कार्य—सहकारी समितियों के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

(1) **कृषि सम्बन्धी कार्य**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कृषि से संबंधित अनेक कार्य करतो हैं। जैसे (i) मशीनों द्वारा भूमि की सफाई करती हैं, (ii) उन्नत बीज की व्यवस्था करती हैं, (iii) ये समितियाँ सिंचाई सुविधाओं का विस्तार करती हैं (iv) अच्छे कृषि यन्त्रों की व्यवस्था करती हैं।

(2) **कृषि उपज का विपणन**—ये समितियाँ कृषि उपज के विपणन का कार्य भी करती हैं। कृषि उपज की भी बिक्री करके अपने सदस्यों को अच्छी कीमतें तय करती हैं।

(3) **कुटीर उद्योगों का विकास**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों की आय को बढ़ाने के लिए तथा रोजगार प्रदान करने के लिए अनेक कुटीर एवं ग्राम उद्योगों को विकसित करती हैं।

(4) **बचत को प्रोसाहन**—ये समितियाँ अपने सदस्यों में बचत की भावना को जाग्रत करती हैं।

(5) **चकबन्दी आदि भूमि सुधार के कार्य**—सहकारी समितियाँ चकबन्दी आदि भूमि सुधार कार्य करती हैं।

(6) **सस्ती दर पर ऋण**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के द्वारा सस्ती दर पर पर्याप्त मात्रा में ऋण प्रदान किये जाते हैं। ये समितियाँ कृषकों को दो प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण प्रदान करती हैं—

(i) **चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए**—इसमें मजदूरी का भुगतान खाद व बीज खरीदने के लिये ऋण प्रदान किये जाते हैं।

(ii) **पुराने ऋणों के भुगतान के लिए**—समितियाँ पुराने ऋणों के भुगतान के लिए भी ऋण प्रदान करती हैं।

(7) **समाज कल्याण के कार्य**—बहुउद्देशीय समिति ग्रामीण अशिक्षा की समस्या को हल कर सकती हैं। इसके साथ ही मनोरंजन और बाल कल्याण के कार्य करती हैं। इसी प्रकार सहकारी समितियाँ स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए चिकित्सा सुविधाओं को भी उपलब्ध करती हैं।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों से लाभ

(i) **ग्रामीण विकास**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी प्रकार के कार्यों में भाग लेती हैं। ग्राम में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं का विकास करती हैं। इस प्रकार ये समितियाँ ग्रामीण-जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में काफी मदद देती हैं।

(ii) **महाजनों से मुक्ति**—बहुउदेशीय सहकारी समितियाँ कृषकों को सस्ते ब्याज की दर पर ऋण प्रदान कर, साहूकारों के पञ्जों से निकालने का प्रयत्न करती हैं।

(iii) **कृषि उत्पादन में वृद्धि**—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ उत्तम प्रकार के बीज, खाद, कृषि यन्त्रों को उपलब्ध कराकर कृषि-उत्पादन को बढ़ाने में सहायक हैं।

(iv) **ऊँचा जीवन स्तर**—ये समितियाँ ग्रामीण जन-जीवन के स्तर को शिक्षा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं के विकास द्वारा ऊपर उठाती हैं।

(v) **कुटीर उद्योगों का विकास**—सहकारी समितियाँ कुटीर उद्योगों का संचालन स्वयं ही कर सकती हैं अथवा सदस्यों को कच्चे माल की पूर्ति, साख, तैयार माल का वितरण आदि सुविधाएँ प्रदान कर उन्हें कुटीर उद्योगों की ओर प्रेरित करती हैं।

(vi) **आपसी प्रेम एवं सहयोग में वृद्धि**—सहकारी समितियों से आपसी प्रेम और सहयोग में वृद्धि होती है।

(vii) **प्रबन्ध की सुविधा**—एक उद्देशीय सहकारी समितियों के प्रबन्ध के लिये भिन्न-भिन्न कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है किन्तु बहुउद्देशीय सहकारी समिति में विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक ही प्रशिक्षित व्यक्ति की नियुक्ति की जाती है। इस प्रकार प्रबन्ध में सरलता और मितव्ययिता होती है।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों के दोष

(1) **कार्य प्रणाली की जटिलता**—बहुउद्देशीय समितियाँ विभिन्न कार्यों को करती हैं, इनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत होता है। इसलिए इन समितियों की कार्यप्रणाली सामान्य आदमी नहीं समझ सकता।

(2) **प्रबन्ध की जटिलता**—इन समितियों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक हो जाता है इसलिए प्रबन्ध करने में कठिनाई होती है।

(3) **किसी कार्य की सफलता, असफलता के ज्ञान का न होना**—समिति के बहुत से कार्य होते हैं, इसलिये उनकी सफलता, असफलता का ज्ञान ठीक तरह से नहीं हो पाता।

(4) **सहकारिता के वास्तविक उद्देश्य की समाप्ति**—सहकारी समितियों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत होता है जिसके कारण समिति के सदस्यों में पारस्परिक सहयोग का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना से सहकारिता के उद्देश्य समाप्त हो जाते हैं।

सहकारिता आन्दोलन के लाभ

सहकारिता आन्दोलन के लाभों का हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं :—

(1) आर्थिक लाभ

(1) **कम ब्याज पर रुपया मिलना**—सेठ, साहूकारों से रुपया बहुत अधिक ब्याज पर मिलता है किन्तु सहकारी समिति के सदस्यों को कम ब्याज पर रुपया मिल जाता है।

(2) **खेती के उन्नत तरीकों का प्रयोग**—सहकारी समितियों ने खेती में उन्नत तरीकों—जैसे उन्नत बीजों व खादों आदि का प्रयोग करना सिखाया है। सहकारिता से मध्यस्थ और दलालों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है अतः सहकारी सदस्यों को बिक्री के क्षेत्र में अधिक लाभ हुआ।

(3) **सदस्यों की आर्थिक स्थिति में सहायता**—उपभोक्ता समितियाँ, आवास समितियाँ आदि गैर-साख सहकारी समितियाँ सदस्यों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

(4) **उत्पादक कार्यों के लिए साख पर जोर**—उत्पादन ऋण का भुगतान, अनुत्पादक ऋणों की अपेक्षा सरल होता है। ग्रामीण साहूकार सभी उद्देश्यों के लिए ऋण प्रदान करते हैं किन्तु साख समितियाँ अधिकतर उत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्रदान करती हैं।

(5) **बचत विनियोग में लाभ**—सहकारी समितियों ने ग्रामीण अपव्ययिता एवं सामाजिक उत्सवों पर व्यय को दूर करने में सहायता दी है। अब ग्रामीण अपने

धन को जमीन में न गाड़ कर उसे बैङ्क या डाकखानों में जमा करते हैं। इस प्रकार बचत विनियोग को प्रोत्साहन मिला है।

(6) **भूमि बन्धक बैंक द्वारा आर्थिक सहायता**—सहकारिता आन्दोलन ने तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, गुजरात आदि राज्यों में भूमि बन्धक बैङ्कों द्वारा दीर्घकालीन ऋण की सुविधा प्रदान की आर्थिक सहायता की है।

(7) **अच्छी भण्डार सुविधाएँ**—सहकारी समितियों ने अच्छे भंडार की सुविधायें प्रदान कर सहायता की है।

(8) **श्रम का उचित पुरस्कार**—सहकारी समितियां कृषकों और मजदूरों को उनके श्रम का उचित पुरस्कार दिलाने में सहायता करती हैं।

(9) **श्रमिकों या कृषकों की कार्य कुशलता में वृद्धि**—सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों की आवास की व्यवस्था करती हैं, तथा उन्हें प्रशिक्षित करती हैं; जिससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(2) सामाजिक लाभ

(1) **ग्राम जीवन की उन्नति में सहायक**—सहकारी समितियों ने ग्रामीण जन-जीवन की विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को दूर करके उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन दिया है। सहकारी समितियाँ ग्रामों में शिक्षा के प्रसार द्वारा सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर फिजूलखर्ची को रोकने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

(2) **मितव्ययिता और आत्मनिर्भरता का विकास**—सहकारी साख समितियाँ अपने सदस्यों में मितव्ययिता तथा आत्मनिर्भरता की प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं। सहकारी समितियों के प्रयास से किसानों ने जन्म, मृत्यु तथा विवाह आदि सामाजिक अवसरों पर होने वाले अपव्ययों पर रोक लगा दी है।

(3) नैतिक लाभ

सहकारी समितियों की सदस्यता के लिए नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का होना अनिवार्य है। चरित्रहीन, जुआरी, शराबी व्यक्ति को समिति का सदस्य नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार सदस्यों का नैतिक स्तर ऊँचा करने में समितियों का योगदान प्राप्त होता है। सर मालकोम डार्लिंग के शब्दों में "एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी और फिजूलखर्ची, शराबखोरी, और जुआबाजी; सब कम हो जाती हैं और उनके स्थान पर परिश्रम, स्वावलम्बन, ईमानदारी, शिक्षा, बचत, स्व-सहायता और परस्पर सहायता पायी जाती हैं।" 'सब एक के लिए और सब के लिए' इस भावना से काम होता है।

(4) राजनैतिक लाभ

सहकारी समितियों ने ग्रामीण जनता को उचित प्रकार से अपने मत का प्रयोग करना भी सिखाया है। सहकारी समितियाँ मानव समाज के कल्याण के लिये

समानता एवं स्वतन्त्रता की भावनाओं का विकास कर जनतंत्रात्मक प्रणाली को सफल बनाती हैं। इस प्रकार राजनैतिक जागरूकता में भी सहकारी समितियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

(5) शैक्षणिक लाभ

एक उपयुक्त सहकारी समिति के द्वारा शैक्षणिक विकास भी किया जा रहा है। समितियों की बैठक में भाग लेने, उसकी कार्यवाहियों और हिसाब-किताब समझने से अक्षर ज्ञान एवं मानसिक और बौद्धिक विकास होते हैं। सहकारी समितियों के लोकतन्त्र की प्रणाली पर चलने के कारण लोकतन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है।

उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी सहकारी आन्दोलन की प्रगति संतोषप्रद नहीं कही जा सकती।

सहकारी आन्दोलन की कमियाँ और मन्द विकास के कारण

1. **सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप**— भारत में सहकारी आन्दोलन का प्रारंभ एवं संगठन सरकारी अफसरों द्वारा किया गया है; इसलिए अधिकांश जनता 'अपनी नहीं' वरन् सरकारी संस्थायें समझती है। परिणामस्वरूप जनता में सहकारी आन्दो-लन के प्रति उत्साह बहुत कम है।

2. **सहकारिता के सिद्धान्तों की अनभिज्ञता**—समितियों के अधिकांश सदस्य सहकारिता के सिद्धांतों से अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि इनमें आपस में झगड़े चलते रहते हैं।

3. **अपर्याप्त विकास**—देश की विशालता को देखते हुए सहकारी बैंकों की संख्या बहुत कम है, इसलिए अभी तक इस आन्दोलन ने ग्रामीणों की ऋण समस्या का आंशिक उपचार किया है।

4. **प्रबन्ध कुशलता**—भारत में सुयोग्य संचालकों और प्रबन्धकों का अभाव होने से सहकारी संस्था का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक नहीं होता।

5. **ब्याज की ऊँची दर**—भारत में सहकारी साख समितियों द्वारा दिये गये ऋणों पर प्रायः 8 से 15 प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता है।

6. **हिसाब-किताब रखने का दोषपूर्ण ढंग**—समितियों के हिसाब-किताब अनियमित ढंग से रखे जाते हैं जिससे उनका ठीक अंकेक्षण व निरीक्षण नहीं हो पाता। इससे बैङ्क के धन का दुरुपयोग होता है और बहुत ऋण डूब जाते हैं।

7. **लम्बी अवधि के लिए ऋण देते हैं**—सहकारी बैङ्क दीर्घकाल के लिए भी ऋण देते हैं, जबकि उसका उद्देश्य केवल अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण देना है और इस प्रकार उन्हें इन दीर्घकालीन ऋणों का भुगतान करने में असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

8. **ऋण की स्वीकृति एवं वसूली**—सहकारी समितियों द्वारा ऋण स्वीकृत करने में प्रायः तीन-चार महीने लग जाते हैं क्योंकि ऋण देने से पूर्व समितियों को भी

बहुत-सी कागजी कार्यवाही करनी पड़ती है। ऋण देने के उपरांत बहुत-सी समितियाँ ऋण की वसूली में अत्यधिक कड़ाई करती हैं जिसके फलस्वरूप ऋणियों को साहूकारों से ऋण लेना पड़ता है।

9. अल्प सहायता—सहकारी बैङ्क का मुख्य उद्देश्य कृषक वर्ग के लिए सस्ते ऋण सुलभ कर उसे शोषण से बचाना था। उसे निर्धन पीड़ित जनता के लिये आशा की एकमात्र किरण माना गया था, परन्तु सहकारी साख की सबसे महत्वपूर्ण कमी यह है कि वह आवश्यकता के एक अल्प भाग की पूर्ति करता है।

10. मितव्ययिता का अभाव—सहकारी आन्दोलन के सदस्यों में बचत की आदत नहीं होती फलतः सहकारिता का पूर्ण लाभ नहीं मिल पाता।

11. बाह्य दिखावा—केवल दिखावे के लिए समितियों के बहुत से कार्य होते हैं। सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिये कई बार केवल घर के सदस्य ही समिति बनाने का बहाना कर लेते हैं और इस प्रकार की समिति कागजों में ही रहती है।

12. भ्रष्टाचार—समितियों का संचालन ठीक प्रकार से नहीं होता। भ्रष्ट और अयोग्य लोगों के हाथ में होने के कारण ऋण देने में पक्षपात, बेईमानी, ऋण के भुगतान में अनियमितता व भ्रष्टाचार चलता है।

13. नैतिकता की ओर कम ध्यान—सहकारिता में नैतिकता की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है।

14. अत्यधिक संचालन व्यय—समितियों का संचालन व्यय अधिक होने के कारण ये टिक नहीं पातीं और न ही व्यापारियों के मुकाबले में टिकती हैं।

15. गैर-साख समितियों की अवहेलना—गैर-साख समितियों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। वास्तव में गैर-साख समितियों का भी साख समितियों के समान ही महत्व है।

सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए सुझाव

1. सहकारी सिद्धांतों की शिक्षा व प्रचार—सहकारी विभाग के कर्मचारियों को सहकारिता की शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिये ताकि वे कर्मचारी सदस्यों को सहकारिता के सिद्धान्त समझा सकें।

2. सरकारी नियन्त्रण में कमी—सरकारी नियन्त्रण को कम कर देना चाहिये जिससे सदस्यों के ऊपर जिम्मेदारी डाली जा सके। इससे सदस्यों का विश्वास संस्था के प्रति बढ़ेगा।

3. ऋणों की अवधि—सरकारी बैङ्कों को अल्पकालीन या अधिक से अधिक मध्यकालीन (3 वर्ष) ऋण ही देने चाहिये।

4. सावधानी—ऋण देने में अधिक सावधानी से काम लेना चाहिये और ऋणों की स्वीकृति में कम-से-कम समय लगाना चाहिये।

5. ऋणों का भुगतान—जब तक पुराने ऋणों का भुगतान न हो जाये, और ऋण नहीं दिया जाना चाहिये।

6. **ब्याज की दर**—समितियों को ब्याज की दर में कमी करनी चाहिये। इसके लिये प्राथमिक समितियों को शहरों तथा गाँवों से धन प्राप्त करना चाहिये। केन्द्रीय सहकारी बैङ्कों को भी इन बैङ्कों को कम ब्याज पर ऋण देना चाहिए।

7. **बहुउद्देशीय समितियाँ**—प्राथमिक समितियों को बहुउद्देशीय समितियों में बदल देना चाहिए अर्थात् प्रत्येक प्रारम्भिक समिति को साख की सुविधा देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी जैसे कृषि औजार देना, फसलों का सहकारी विक्रय करना व कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना आदि शामिल कर लेना चाहिए।

8. **अंकेक्षण व निरीक्षण**—इन संस्थाओं के निरीक्षण व अंकेक्षण के लिये जिला संघ होना चाहिए।

9. **अन्य सुझाव**—(अ) प्रशिक्षण, अनुभवी व सहकारी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों को ही महत्त्वपूर्ण पदों पर रखना चाहिए।

(ब) प्राथमिक समितियों को अपने संचित कोषों में अधिकाधिक वृद्धि करनी चाहिये।

(स) सरकार को आयकर, रजिस्ट्रेशन, फीस, स्टाम्प ड्यूटी तथा अतिरिक्त न्यायालय फीस से इन समितियों को मुक्त कर देना चाहिए।

(द) साख समितियों तथा रिजर्व बैङ्क के कृषि विभाग में पूर्ण समन्वय होना चाहिये।

(य) देशी बैङ्करों को सहकारी समितियों का सदस्य बनने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

(र) बैङ्कों को ठीक समय पर एवं ठीक मात्रा में ऋण देना चाहिये जिससे किसान महाजनों के पास न जा सके।

सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकारी प्रयास

केन्द्रीय सरकार सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ करने एवं इसकी कमियों को दूर करने के लिए निम्नलिखित कार्य करने जा रही है—

1. **सहकारिता प्रशिक्षण विश्वविद्यालय की स्थापना**—भारतीय राष्ट्रीय सहकारिता संघ के इस सुझाव पर केन्द्रीय सरकार सक्रिय रूप से विचार कर रही है कि पूना स्थित बैकुण्ठलाल मेहता राष्ट्रीय सहकारिता संस्थान को विश्वविद्यालय में बदल दिया जाय। यह देश का पहला विश्वविद्यालय है जो सहकारिता की डिगरी प्रदान करेगा।

2. **प्रशिक्षण कार्यक्रम**—अगले तीन वर्षों में 30 हजार स्नातक युवक-युवतियों को सहकारिता में प्रशिक्षण दिया जायेगा तथा उनको प्रशिक्षण काल में 200 रु० माहवार दिया जायेगा। बाद में इन प्रशिक्षितों को सहकारिता सेवा में नियुक्त कर लिया जायेगा।

3. **आयोग की स्थापना**—केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि सरकारिता आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए

एक आयोग का गठन किया जाय। यह आयोग विभिन्न राज्यों में सहकारी संगठनों के असंतुलित विकास एवं राजनीतिक हस्तक्षेप को रोकने के सम्बन्ध में भी विचार करेगा।

4. **राष्ट्रीय प्रस्ताव**—सहकारिता आन्दोलन की उचित प्रगति की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ने सहकारिता नीति पर पहली बार राष्ट्रीय प्रस्ताव तैयार किया है। यह प्रस्ताव 12 सूत्रीय है और उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) छोटे और सीमान्त कृषकों, कृषि श्रमिकों ग्रामीण दस्तकारों और मध्यम तथा निम्न आय वर्ग के सामान्य उपभोक्ताओं को सहकारिता कार्यक्रम में अधिक से अधिक भाग लेने का अवसर प्रदान किया जायेगा।

(2) प्रत्येक स्तर पर सहकारिता आन्दोलन आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के लिए नियोजन की प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहेगा।

(3) सहकारिता के विकास को राष्ट्रीय स्तर पर प्रोत्साहित किया जायेगा तथा इसके विकास में विद्यमान क्षेत्रीय विषमताओं को प्रगतिशील रूप में कम किया जायेगा।

(4) सहकारिता को देश के विकेन्द्रित श्रम प्रधान और ग्रामीण प्रधान आर्थिक विकास के एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में निर्मित किया जायेगा।

(5) निहित स्वार्थों के प्रभुत्व से मुक्त और विस्तृत सदस्यों की समझदारी पूर्ण भागिता पर आधारित सहकारी प्रजातंत्र का निर्माण किया जायेगा।

(6) ग्रामीण क्षेत्रों में एक सुदृढ़ कार्ययोग्य और समन्वित सहकारी व्यवस्था का निर्माण किया जायेगा, जिससे पूर्ण और विस्तृत ग्रामीण विकास को प्रोत्साहित किया जा सके।

(7) उत्पादक और उपभोक्ताओं के मध्य मितव्ययी और लाभप्रद सम्बन्ध बनाने के लिए सहकारी कृषि प्रक्रियन और औद्योगिक इकाइयों का विस्तार किया जायेगा।

(8) सहकारी आन्दोलन को भ्रष्टाचार और कुरीतियों से मुक्त किया जायेगा।

(9) सहकारी समितियों की स्वायत्तता उनके अधिकाधिक आन्तरिक साधनों के सृजन, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में बचतों में एकत्रीकरण तथा सरकार और बाहरी वित्तीय संस्थाओं पर घटती हुई वित्तीय निर्भरता पर आधारित होगी।

(10) सहकारिता आन्दोलन को अनावश्यक बाहरी हस्तक्षेप, अत्यधिक नियंत्रण तथा राजनीति से मुक्त एक स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर आन्दोलन के रूप में विकसित किया जायेगा।

(11) उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन सार्वजनिक वितरण व्यवस्था को सुदृढ़ करने की दृष्टि से विकसित किया जायेगा।

(12) सहकारी समितियों को सरल और विवेकीकृत प्रक्रिया और सुगठित संगठन के साथ कुशल संस्थाओं के रूप में प्रोत्साहित किया जायेगा।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति के क्या कारण हैं ? भारत में सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के सुझाव दीजिए ।

2. विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए क्या उपाय किये गये हैं ।

3. भारतवर्ष में ग्रामीण वित्त-व्यवस्था के लिए कौन-कौन सी एजेन्सियाँ हैं ? सहकारी आन्दोलन ग्रामीण महाजन को कहाँ तक दूर करने में सफल हुआ है ?

4. भारत में सहकारिता आन्दोलन के विकास का संक्षिप्त इतिहास बताइये और इसकी मन्द गति के कारणों पर प्रकाश डालिये ।

5. उपभोक्ता सहकारी समितियों व औद्योगिक सहकारी समितियों पर टिप्पणी लिखिए ।

6. अभी तक सहकारिता की उन्नति की दिशा में एक अकेला और अपूर्ण कदम माना जाता रहा है । अब सहकारिता आन्दोलन को राष्ट्रीय आर्थिक योजना का एक भाग होना चाहिये । भारत में 1949 में सरकार द्वारा अपनी नोति की घोषणा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में कहाँ तक प्रगति हुई है ?

7. "सहकारिता असफल रही है, तथापि इसे सफल बनाना है ।" भारत में सहकारिता आन्दोलन के संदर्भ में इस वक्तव्य को समीक्षा कीजिए ।

[संकेत—सहकारिता के दोष दीजिये, व सफलता हेतु सुझाव दीजिए ।]

8. "भारत में सहकारी आन्दोलन अधिकांशतः साख आन्दोलन है ।' विवेचना कीजिए ।

[संकेत—कृषि सहकारी साख संस्थाओं का विकास दीजिए ।]

8

कृषि में यंत्रीकरण अथवा कृषि में मशीन का उपयोग

(Mechanisation of Agriculture or Introduction of Machinery in Agriculture)

कृषि में यन्त्रीकरण के अभिप्राय—कृषि के यन्त्रीकरण से अभिप्राय, कुछ कार्यों को जो कि प्राय: पशुओं या मनुष्यों दोनों के ही द्वारा किये जाते हैं, उपयुक्त मशीनों की सहायता से करने की विधि से है। प्रो० भट्टाचार्य के अनुसार "कृषि कार्यों में यन्त्रीकरण का आशय भूमि सम्बन्धी कार्यों में जिन्हें प्राय: बैलों, घोड़ों व अन्य पशुओं या मानवीय श्रम द्वारा किया जाता है, यांत्रिक शक्ति के प्रयोग करने से है।"[1]

इन क्रियाओं में भूमि की सफाई से लेकर फसल की बिक्री तक की क्रियाएँ शामिल है। इन क्रियाओं को हम 3 प्रमुख भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं : (i) भूमि की तैयारी (ii) उत्पादन विनियोग (iii) आगतों का प्रयोग। भूमि की तैयारी में इसकी जुताई, बँधाई समतलता, निराई और पलटने की क्रियाएँ शामिल हैं। उत्पादन के विनियोग में फसल की कटाई, गहाई (दाना निकालना) फटकना, सफाई तथा संग्रह एवं बिक्री के लिये परिवहन की व्यवस्था आदि क्रियाएँ शामिल हैं। इसी तरह आगतों के उपयोग में सिंचाई उर्वरण बीजारोपण, बुवाई, दवाई छिड़कना आदि प्रमुख क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

यन्त्रीकरण के प्रकार—कृषि के यन्त्रीकरण के दो स्वरूप हो सकते हैं : (अ) पूर्ण (Compiet) और (ब) आंशिक (Partial)। पूर्ण यन्त्रीकरण में फार्म सम्बन्धी समस्त कार्य प्राय: मशीनों द्वारा ही किये जाते हैं, परन्तु आंशिक यन्त्रीकरण में फार्म

---

1. "Mechanisation of agriculture and farming process connotes application of machine to work on land usually performed bp bullocks, horses and other draught animals or by human labour."—J. P. Bhattacharjee Mechanisation of Agriculture in India.

सम्बन्धी कार्यों का आंशिक भाग ही मशीनों द्वारा किया जाता है। पश्चिमी देशों में फार्म-श्रम के अभाव के कारण और रूस में भूमि का अधिकतम विदोहन तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए पूर्ण यन्त्रीकरण अपनाया गया है। ब्रिटेन में भी द्वितीत महायुद्ध काल में मानव-शक्ति की कमी के कारण आंशिक यन्त्रीकरण हुआ।

प्रमुख कृषि यन्त्र—कुछ प्रमुख कृषि यन्त्र इस प्रकार हैं—(i) **ट्रैक्टर** जिसके द्वारा भूमि की जोताई होती है। (ii) **कम्बाइन्ड ड्रिल** जिसके द्वारा खाद और बीज एक साथ डाले जा सकते हैं। (iii) **कम्बाइन्ड हारवेस्ट** जो फसलों की कटाई में सहायक होते हैं। (iv) **प्लाण्टर** जो भूमि कुरेदता और बीज बोता है।

गाँवों का जैसे-जैसे विद्युतीकरण होता जा रहा है वैसे-वैसे यन्त्रों के उपयोग की सम्भावनायें बढ़ती जा रही हैं। कृषि के यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन टेकनीकल एवं ग्रामीण इंजीनियरिंग स्कूलों में यन्त्रों के प्रयोग की शिक्षा आरम्भ कर देने से भी मिला है।

कृषि में यन्त्रीकरण के लाभ

विश्व के प्रगतिशील देशों में कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य यन्त्रों की सहायता से किये जाने लगे हैं। कृषि के यन्त्रीकरण का समर्थन मुख्यतः मशीन द्वारा सम्भव बनाये गये बड़े पैमानों के लाभों के आधार पर किया जाता है, जो कि निम्नलिखित हैं :—

1. **कार्य की गति में वृद्धि**—कृषि में यन्त्रों के प्रयोग से कार्य की गति में वृद्धि हो जाती है। एक मशीन एक निश्चित समय में बहुत से श्रमिकों का काम अकेले कर देती है। फलतः खेती में श्रम की बहुत बचत होती है और प्रति श्रमिक खेती की उपज बढ़ जाती है।

2. **उत्पादन लागत में कमी**—कृषि में यन्त्रों का उपयोग करने से उत्पादन लागत में कमी आ जाती है। एक अनुमान के अनुसार 40 हार्स पावर के ट्रैक्टर द्वारा कृषि करने की लागत 14,520 रुपये हैं, जबकि 40 हार्स पावर के बराबर बैलों की शक्ति का प्रयोग पर कृषि की लागत व्यय 65,200 रुपये होती है। स्पष्ट है कि यांत्रिक कृषि के अन्तर्गत व्यय कम होता है।

3. **पशु सम्बन्धी व्ययों में कमी**—कृषि में यन्त्रों के प्रयोग के कारण भूमि की जुताई, पानी की सिंचाई, यातायात आदि के लिए पशुओं की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है। जब मशीनों से काम नहीं लिया जाता, तब उन पर अधिक व्यय नहीं किया जाता। किन्तु पशुओं के व्यय में कोई कमी नहीं आती चाहे उनसे काम लिया जाय या नहीं, क्योंकि उन्हें चारा आदि देना ही पड़ता है। अतः मशीनों के प्रयोग से पशु सम्बन्धी व्यय में कमी होती है।

4. **बड़े पैमाने पर खेती संभव**—मशीनों के प्रयोग के कारण बड़े पैमाने पर खेती करना सम्भव हो जाता है। भूमि के बड़े-बड़े खेत जोते जा सकते हैं। भारी मात्रा में फसलें काटी जा सकती हैं। बड़ी मात्रा में उत्पादन मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है। इन सब कार्यों को थोड़े समय में करने के लिये कृषि यन्त्रों का प्रयोग होता है।

5. **विशिष्ट कार्यों के उपयुक्त**—विशिष्ट कार्यों, जैसे ऊसर भूमि को तोड़ कर कृषि के योग्य बनाना, सड़कों, नालियों और सिंचाई के लिये नहरों को बनाना आदि विशिष्ट कार्यों के लिये मशीनों का प्रयोग आवश्यक है।

6. **व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन**—यान्त्रिक कृषि के अन्तर्गत खाद्यान्नों की अपेक्षा औद्योगिक फसलों को महत्त्व दिया जाता है तथा कृषि उपज की बिक्री के हेतु विदेशी बाजार खोजे जाते हैं। किसान न केवल जीवन निर्वाह के लिए कृषि करने लगता है, बल्कि कृषि उपज को बेचकर लाभ कमाने हेतु भी कृषि करने लगता है।

7. **उत्पादकता में वृद्धि**—यन्त्रीकरण से उत्पादकता में वृद्धि होती है। यह पाया गया है कि यन्त्रीकृत तथा गैर यन्त्रीकृत फार्म की उत्पादकता में लगभग 25 से 30% का अन्तर होता है। मशीनों के प्रयोग से कृषि की विभिन्न क्रियाओं जैसे जुताई उर्वरक, बुआई, सिंचाई व कटाई आदि का कार्य अधिक कुशलता के साथ होने के कारण कृषि की उत्पादकता बढ़ जाती है।

8. **बहु-फसलों का सम्भव होना**—मशीनों की सहायता से फसलों की शीघ्र कटाई के कारण खेत जल्दी ही अगली फसल के लिये तैयार किया जा सकता है जिससे बहु फसलों की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं उदाहरण के लिये एक मिश्रित हार्वेस्टर की सहायता से एक हेक्टेयर भूमि पर गेहूँ की फसल को केवल 1·25 घण्टे में काटा जा सकता है और संग्रह के लिये साफ अनाज उपलब्ध हो जाता है और यदि इसी क्रिया को पशु शक्ति की सहायता से किया जाय तो इसके लिये 36 श्रम दिवसों तथा 7 जोड़ी बैल दिनों की आवश्यकता होती है।

9. **रोजगार में वृद्धि**—यन्त्रीकरण से रोजगार में वृद्धि होती है परंतु सामान्य धारणा यह है कि यंत्रीकरण से बेरोजगारी बढ़ती है क्योंकि मशीनें तेजी और कुशलता से कार्य करती हैं और मानव शक्ति को प्रतिस्थापित कर देती हैं। प्रो० राजकृष्ण ने 1968-69 और 1973-74 में गेहूँ के फार्मों पर किये गये अध्ययनों के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि मशीनों के प्रयोगों के कारण उपरोक्त अवधि में श्रम का आयोग प्रति हेक्टेयर 557·7 घंटों से घटकर 464·1 घंटे रह गया है अर्थात् श्रम के इस्तेमाल में लगभग 16·5% की कमी हुई है। इस अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि मशीनों के उपयोग से फार्म की क्रियाओं के लिए श्रम घंटों में कमी होती है। परन्तु इस अध्ययन में यन्त्रीकरण के रोजगार पर पड़ने वाले परोक्ष प्रभावों को ध्यान में नहीं रखा गया है। यन्त्रीकरण के परोक्ष प्रभाव महत्वपूर्ण हैं जो कि निम्नलिखित हैं—

(अ) **उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि**—यन्त्रीकरण से उत्पादन और उत्पादकता दोनों में वृद्धि होती है। उत्पादकता में होनेवाली वृद्धि का प्रभाव यन्त्रीकरण के कारण श्रमिकों की संख्या में कमी के कारण प्रति संतुलित हो जाता है।

(ब) **व्यापक निर्धनता**—कई अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिक इतने अधिक निर्धन हैं कि वे अपने जीवन निर्वाह के लिये किसी भी रोजगार को स्वीकार करने के लिये तत्पर रहते हैं। जिसके-कारण अति रोजगार की अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे ही श्रमिकी के आय के स्तर में वृद्धि

होती है, महिलाएँ और बच्चे कार्य पर आना बन्द कर देते हैं फलतः रोजगार के इच्छुक लोगों की पूर्ति कम हो जाती है। यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि ग्रामीण जनसंख्या का 57% भाग 15 वर्ष से कम अथवा 60 वर्ष से अधिक आयु के लोगों से सम्बन्धित हैं और 15 वर्ष से 60 वर्ष तक के आयु वर्ग में युवक केवल 23% हैं तो भारत में ग्रामीण श्रमिकों का कुल अनुपात 34% होना, एक बड़ी उपलब्धि लगता है। यदि उत्तर काशी की जनसंख्या 64% भाग कार्यशील जनसंख्या कहा जाता है तो इसका अर्थ यह है कि वहाँ गरीबी के कारण लोग किसी भी रोजगार के अवसर को प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार का अति रोजगार सामाजिक रूप से अनुचित है। मशीनों के प्रयोग से इस स्थिति में संतुलन लाने का प्रयत्न किया जाता है।

(स) बाह्य-रोजगार अवसरों में वृद्धि—यंत्रीकरण के कारण कृषि से बाहर भी रोजगार के अवसरों का विस्तार होता है। उदाहरणार्थ—मशीनों का निर्माण, उपकरणों की मरम्मत, अतिरिक्त हिस्सों के वितरण, ईंधन तथा चिकनाई आदि में काफी लोगों को रोजगार मिलता है। इस प्रकार यदि यंत्रीकरण के प्रत्यक्ष प्रभावों के कारण श्रम में बेरोजगारी उत्पन्न होती है तो इसकी क्षतिपूर्ति से कृषि से बाहर अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न होने से हो जाती है ?

(द) मशीनों की श्रेष्ठता—कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें श्रम की पूर्ति को देखते हुए मशीनों का प्रयोग ही अधिक श्रेष्ठकर होता है। हार्वेस्टरों के गुण एवं दोषों का विश्लेषण करते हुए N C A E R (National Council of Applied Economic Research) के एक अध्ययन में कहा गया है कि "कृषि क्रियाओं में फसल काटना सबसे अंतिम क्रिया है। कुशल कटाई के अभाव में उत्पादित फसल का एक बहुत बड़ा भाग उपभोग के लिये उपलब्ध नहीं होगा। प्रत्येक फसल की कटाई के लिये एक आदर्श समय होता है, कटाई कार्य उसी समय पूरा हो जाना चाहिये। यदि कटाई कार्य के लिये पर्याप्त मात्रा में श्रमशक्ति उपलब्ध नहीं है तो मशीन के प्रयोग के अलावा कोई विकल्प नहीं है। फसलों की बुवाई, और कटाई के समय श्रम की घोर कमी एक वास्तविकता है इन कार्यों को मशीन के प्रयोग के द्वारा आसानी से सम्पन्न किया जा सकता है।"

10. सामाजिक और आर्थिक प्रभाव—यंत्रीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक सुधार होने लगता है। कृषक खेती के भारी काम से मुक्त हो जाता है, उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता है और उसका जीवन-स्तर उठने लगता है। जब-जब एक ट्रैक्टर गाँव में जाता है वह तकनीकी क्रान्ति उत्पन्न कर देता है। इससे गाँवों के तकनीकी ज्ञान की मात्रा में अभिवृद्धि होती है और ग्रामीण औद्योगीकरण के लिये आधार तैयार होता है।

11. मूल्यों में स्थायित्व की स्थापना—मशीनीकरण से उत्पादन में वृद्धि होगी और अनिश्चितता की भी समाप्ति हो जायेगी। अतः मूल्यों में स्थायित्व आ जायेगा।

12. अन्य लाभ—

(i) खेती में छिड़कने के यंत्रों के प्रयोग से पौधों का उचित समय पर रोगों से बचाव किया जा सकता है।

(ii) कृषि का यंत्रीकरण होने से ट्रैक्टर पानी के पम्प आदि की मरम्मत के लिए व उनके छोटे-मोटे पुरजे बनाने के लिए सहायक धन्धों का विकास होता है।

(iii) कृषि-यंत्रीकरण के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात की सुविधाओं का भी विस्तार होता है, क्योंकि यंत्रों के प्रयोग से कृषि-उत्पादन काफी बढ़ता है, जिसे शीघ्रता से मण्डी तक पहुँचाना आवश्यक है।

भारतीय कृषि के यंत्रीकरण की समस्या

यह सर्वविदित तथ्य है कि कृषि के यंत्रीकरण द्वारा भारत में कृषि के उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। जैसा कि, पाश्चात्य देशों का अनुभव बतलाता है कि कृषि कार्यों में यंत्रों के प्रयोग द्वारा कृषि की उत्पादन-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। इसी आधार पर कुछ कृषि शास्त्रियों ने सुझाव दिया है कि भारत में कृषि का यंत्रीकरण किया जाय। किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या भारत में पूर्णतया कृषि का यंत्रीकरण किया जा सकता है ? प्राय: यह कहा जा सकता है कि भारत में कृषि का यंत्रीकरण (अ) न तो बहुत वांछनीय है और (ब) न ही सम्भव है। अब हम दोनों बातों पर विचार करेंगे।

(अ) भारत में कृषि के यन्त्रीकरण की अवांछनीयता—भारत में कृषि का यन्त्रीकरण वांछनीय नहीं है क्योंकि—(1) महात्मा गाँधी के अनुसार, "यन्त्रीकरण अच्छा उस समय है जब कि सम्पादित किये जाने वाले कार्य के लिये अत्यन्त कम व्यक्ति हों। यह एक बुराई है, जबकि कार्य के लिये आवश्यकता से अधिक व्यक्ति हों, जैसा कि भारत में है।"

(2) यन्त्रीकरण इसलिये वांछनीय नहीं है कि वह पशुधन को बेकार कर देगा।

(3) यन्त्रीकरण की वांछनीयता के प्रति इसलिये भी सन्देह है कि कृषि यंत्रीकरण की दशा में यन्त्रों को विदेशों से मँगाना पड़ेगा। फलत: विदेशी विनिमय की समस्या खड़ी हो जायेगी और औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक पूंजी कम हो जायेगी।

(ब) भारत में कृषि का यन्त्रीकरण संभव भी नहीं है—इसके निम्न कारण हैं :—

1. खेतों का छोटा व बिखरा होना—भारत में अधिकांश किसानों के खेतों के बहुत ही छोटे होने के कारण यन्त्रीकरण के लिये कोई जगह नहीं है। फिर, ये छोटे खेत भी ग्राम के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हैं। विशाल फार्मों की उपस्थिति यन्त्रीकरण की एक विशेष शर्त है।

2. कृषकों की निर्धनता—यंत्रीकरण के लिये मशीन व खाद की व्यवस्था

करने के लिए पर्याप्त पैसे की आवश्यकता होती है, जो भारतीय कृषकों के पास इस समय नहीं है।

3. **कृषकों की अशिक्षा, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता**—भारत में शिक्षा का निम्न स्तर होने के कारण किसानों द्वारा बड़े पैमानों पर मशीनों का प्रयोग सम्भव नहीं है। औसत भारतीय किसान द्वारा जटिल कृषि मशीनों की कार्यविधि को समझना कठिन है। रूढ़िवादी होने के कारण वे खेती के अपने पुराने औजारों को छोड़कर नई मशीनों को अपनाने के लिए आसानी से तैयार भी नहीं होंगे।

4. **सस्ते इंधन की कमी**—यन्त्रों के संचालन के लिये पेट्रोल, डीजल और मिट्टी के तेल की आवश्यकता होती है, किन्तु इन चीजों का भारत में अभाव है।

5. **यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—भारत में अभी भी गाँव में ऐसी सड़कें नहीं बनी हैं, जिन पर ट्रैक्टर या ट्रक चलाये जा सकें। अतः गाँव के अन्दर गलियों को चौड़ा करने की समस्या उठती है।

6. **सस्ती बिजली और सिंचाई की सुविधाओं का अभाव**—यंत्रीकरण से पहले, विद्युत्-शक्ति का प्रसार होना आवश्यक है। परन्तु भारत में बिजली का अभी पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। इसी तरह देश में सिंचाई की सुविधाओं की बहुत कमी है। जब तक ये सुविधायें उपलब्ध नहीं होंगी, कृषि का यन्त्रीकरण सम्भव नहीं है।

7. **निर्वाह-प्रधान कृषि व्यवस्था**—भारतवर्ष की कृषि अभी निर्वाह-प्रधान कृषि ही है और उसका समुचित वाणिज्यीकरण तथा विशिष्टीकरण नहीं हो पाया है। किन्तु यन्त्रीकरण वहीं पर सफल हो सकता है जहाँ पर कृषि निर्वाह-प्रधान अवस्था से उठकर विशिष्टीकरण और पूँजीवादी हो गई हो।

सुधार व्यवस्था एवं स्पेयर्स का अभाव—भारत में मशीनों के सुधार और मरम्मत के लिये उचित संस्थान नहीं हैं। अलग से पुर्जों की उपलब्धि भी कम है। यदि वे उपलब्ध हो भी जाते हैं तो कीमत बहुत हो जाती है।

9. **ऊँची कीमत**—छोटे किसान अपनी सूक्ष्म बचतों से ऊँची कीमत वाली मशीनें खरीदने की क्षमता नहीं रखते हैं। इसलिये, भारतीय सन्दर्भ में किसानों की दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण मशीनों का उपयोग सम्भव नहीं हो सकेगा।

10. **तकनीकी ज्ञान का अभाव**—यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि भारत में कृषि मशीनरी के निर्माण की पर्याप्त क्षमता विद्यमान नहीं है तथा तकनीकी ज्ञान का भी अभाव है।

यन्त्रीकरण के विरोध में दिये गए तर्कों का मूल्यांकन—हमारे विचार से कृषि के यन्त्रीकरण के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिक प्रभावशाली नहीं हैं तथा उनका उत्तर दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए :—

(i) **जोत का छोटा आकार एक वास्तविक बाधा** नहीं है, क्योंकि सरकार की भावी नीति सहकारी संयुक्त कृषि अपनाने की है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि खेती का आकार बहुत बड़ा ही हो। वर्तमान समय में 20 से 25 एकड़

खेती के लिए भी उचित कृषि-मशीनरी मिल सकती है। अतः छोटे खेतों पर भी यन्त्रीकरण किया जा सकता है।

(ii) **पशु-शक्ति के फालतू होने का तर्क भी ठीक नहीं है,** क्योंकि हम तो स्वयं ही उसमें कमी करना चाहते हैं। क्योंकि इनके भोजन व चारे की समस्या भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बहुत भारस्वरूप है।

(iii) **यह आपत्ति कि यंत्रीकरण के कारण विदेशों से भारी मात्रा में मशीनों** का आयात करना पड़ेगा, ठीक नहीं है, क्योंकि कृषि मशीनरी का उत्पादन देश में ही किया जा सकता है।

(iv) **इसी प्रकार, पेट्रोल, तेल आदि के आयात का** जहाँ तक प्रश्न है, भारत में इन खनिज तेलों के उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है तथा विद्युत-शक्ति का विस्तार किया जा सकता है।

(v) **यदि हम इस तर्क को स्वीकार कर लें कि किसानों की आर्थिक स्थिति** दुर्बल होने के कारण मशीनों का उपयोग सम्भव नहीं है तो इसका अर्थ यह होगा कि हम नई तकनीक के लाभों को प्राप्त करने के लिए इच्छुक नहीं हैं। नई तकनीक की सफलता बहुत बड़ी सीमा तक उन्नत कृषि आगतों के प्रयोग पर निर्भर करती है।

(vi) **तकनीकी ज्ञान के अभाव का भी तर्क ठीक नहीं है** क्योंकि योजना काल में देश ने औद्योगीकरण के क्षेत्र में काफी प्रगति की है और तकनीकी ज्ञान का भी समुचित विकास हुआ है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यन्त्रीकरण एक अच्छी नीति है, क्योंकि इससे कृषि-उत्पादन में वृद्धि होती है। परन्तु हो सकता है कि भारत की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में यह नीति उचित न हो। परन्तु, यदि कृषि का यन्त्रीकरण धीरे-धीरे किया जाय तो निश्चय ही भारत के लिए यह उपयोगी होगा।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि यदि भारत कृषि उत्पादन और उत्पादकता को बढ़ाना चाहता है तो उसे आंशिक यंत्रीकरण की नीति अपनानी चाहिए ताकि भविष्य में पूर्ण यंत्रीकरण के लिए आधारभूत ढाँचे का सृजन हो सके। "भारत के समक्ष यंत्रीकरण का कोई विकल्प नहीं है। सन् 2001 में कृषि के अन्तर्गत अनुमानित 150 मिलियन हेक्टेयर शुद्ध बोये गए क्षेत्र के लिए 100 मिलियन h. p. शक्ति की आवश्यकता होगी। भारत में इस समय 48·3 मिलियन h. p. शक्ति उपलब्ध है। इस शताब्दी के अन्त तक फार्म श्रमिकों की संख्या में 20 मिलियन की वृद्धि से 2 मिलियन h. p. शक्ति में वृद्धि होगी। शक्ति के शेष अन्तर को पशु शक्ति की सहायता से पूरा नहीं किया जा सकता। सन् 2000 में खाद्यान्नों की सम्भावित 198·26 मिलियन टन की माँग को पूरा करने के लिए यंत्रीकरण की नीति पर पुनर्विचार आवश्यक है।"

भारत में कृषि के यंत्रीकरण के लिए वर्तमान क्षेत्र—हमारे दृष्टिकोण से भारत में निम्नलिखित कार्यों के लिए, जिनमें मानवीय या पशु-श्रम महँगा या अपर्याप्त पड़ता है, यन्त्रों का प्रयोग करना उचित है, जैसे—

(अ) ट्रैक्टरों का प्रयोग, जंगलों को साफ करने व व्यर्थ पड़ी भूमियों को कृषि योग्य बनाने हेतु; (ब) पम्पिंग सेट्स, भूमि के अन्दर के पानी को सिंचाई के काम में लाने के हेतु; (स) बिजली के मोटर और डीजल इंजन, गन्ने या तिलहन की पेराई के लिये; (द) बाँध और जल भण्डार बनाने, सड़कों का निर्माण करने, ऊँची-नीची भूमि को समतल करने तथा पौधों की रक्षा करने के लिए कृषि यंत्रों का प्रयोग किया जा सकता है; (य) दलदली या जल-सिंचित भूमि से जल निकास के लिये; (र) कृषि-उपज तथा कृषि आवश्यकताओं के लिए यातायात में; (ल) इसी प्रकार दुग्ध-व्यवसाय तथा दूध से मक्खन आदि के लिए यंत्रों का प्रयोग अत्यधिक लाभप्रद होगा।

भारत में कृषि यन्त्रीकरण की प्रगति—नीचे सारिणी में दिये गये अंकों से विदित होता है कि कृषि यन्त्रीकरण में काफी प्रगति हुई है। उदाहरण के लिए (i) ट्रैक्टरों की संख्या जो 1961 में केवल 0·31 लाख थी वह 1980 में बढ़कर 4·73 लाख हो गयी (ii) तेल इंजनों की संख्या जो 1961 में 20 लाख थी वह बढ़कर 1980 में 270 लाख हो गयी (iii) इसी प्रकार बिजली चालित सिंचाई पम्प सेटों व ट्यूबवेलों की मात्रा 1961 में 2 लाख से बढ़कर 1980 में 40 लाख हो गयी।

इन सभी यन्त्रीकरण के साधनों के परिणामस्वरूप प्रति हज़ार हेक्टर कृषि क्षेत्र के लिए संचालन उपभोग में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है और यह 1961 में 5·5 किलोवाट घण्टे से बढ़कर 1980 में 71 किलोवाट घण्टे हो गया है।

तालिका : भारत में कृषि यन्त्रीकरण की प्रगति

मद	1961	1970	1974	1980
1. कुल कृषि-आधीन क्षेत्रफल (लाख हैक्टर)	1528	1658	1646	1750
2. ट्रैक्टर : (कुल संचयी योग) (लाख)	0·31	1·00	2·25	4·73
: प्रति लाख हैक्टर कृषि क्षेत्र	20	60	137	270
3. तेल इंजन : (कुल संचयी योग) (लाख)	2·30	—	17·50	29·00
: प्रति लाख हैक्टर कृषि क्षेत्र	151	—	1063	1657
4. बिजली चालित सिंचाई पम्प सेट या ट्यूबवेल				
: कुल संचयी योग (लाख)	2·00	13·54	24·30	40·00
: प्रति लाख हैक्टर कृषि क्षेत्र	131	817	1486	2286
5. प्रति हज़ार हैक्टर कृषि क्षेत्र के लिए संचालन शक्ति का उपयोग (किलोवाट घण्टे)	5·5	23·0	38·5	71·0

कृषि यन्त्रीकरण की इस प्रगति की समीक्षा के आधार पर अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1. यद्यपि सापेक्ष रूप में कृषि यन्त्रीकरण का विकास काफी प्रभावो प्रतीत होता है परन्तु सापेक्ष रूप में यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, विशेषकर जब इसकी तुलना विकसित देशों में यन्त्रीकरण के साथ या भारतीय कृषि क्षेत्र के आकार के सम्बन्ध में की जाती है।

2. भारतवर्ष में जो कृषि यन्त्रोकरण में जो प्रगति हुई भी है वह मुख्य रूप से बड़े किसानों तक ही सीमित है। छोटे किसान जिनकी जनसंख्या भारतवर्ष में अत्यधिक है, यन्त्रीकरण से लाभान्वित नहीं हुए हैं, फलतः कृषक जनसंख्या में असमानता में वृद्धि हुई है।

3. यन्त्रीकरण की प्रक्रिया से तात्पर्य उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन है अर्थात् यह श्रम प्रधान रहने की अपेक्षा पूंजी प्रधान बन जाती है भारतीय कृषि की विकास की वर्तमान अवस्था में जबकि अर्थव्यवस्था में बेरोजगार श्रम बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, यन्त्रीकरण में जल्दबाजी करने से अवांछनीय आर्थिक विकृतियाँ और सामाजिक तनाव उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है, सिंचाई का विद्युतीकरण ना कि डिजलीकरण, जो सबसे अधिक अभिनन्दोय माना जाना चाहिए।

छठवीं योजना में चुनींदा यन्त्रीकरण की नीति अपनायी जायेगी जिससे कि ग्रामीण बेरोजगारी न फैले। इसके लिए प्राथमिकता मानवीय श्रम व बैल को दी जायेगी जिसके लिए हाथ से चलने वाले यन्त्रों का विकास किया जायेगा। कम वर्षा वाले या ऐसे स्थान जहाँ भूमि पहली बार कृषि के लिए तैयार की जा रही है ट्रैक्टर का उपयोग उचित माना जायेगा। पम्प सेटों के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जायेगा।

भारत में यन्त्रीकरण लोकप्रिय एवं सफल बनाने के सुझाव—भारत में कृषि के यन्त्रीकरण को लोकप्रिय एवं सफल बनाने के मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(i) देश की परिस्थिति को देखते हुए छोटे-छोटे खेतों में प्रयुक्त करने के हेतु उपयुक्त कृषि-यन्त्रों का निर्माण किया जाना चाहिये।

(ii) चकबन्दी और सहकारी खेती द्वारा कृषि जोतों का आकार बढ़ाया जाना चाहिये, जिससे कि इनमें यन्त्रों का प्रयोग सम्भव हो सके।

(iii) इन यन्त्रों को खरीदने के लिए किसानों को आवश्यक वित्त प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(vi) बेकार होने वाले श्रमिकों के लिए रोजगार के नये साधनों का विकास किया जाना चाहिये।

(v) कृषि-यन्त्रों के संचालन के लिये देश में सस्ती जल-विश्रुत्-शक्ति को शीघ्रता से विकसित करना चाहिये।

(vi) कृषि-यन्त्रों के संचालन के लिए किसानों को उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

(vii) सर्विसिंग आदि के लिए उपयुक्त स्थानों में मशीन ट्रैक्टर-स्टेशन बनाये जाने चाहिये।

(viii) यन्त्रीकरण की नीति में बड़े पैमाने पर एक ही बार नहीं अपनानी चाहिये, बल्कि इसे समय तक फैलाकर अपनाते जाना चाहिये।

श्री बर्गमैन[1] थियोडोर ने भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण के सम्बन्ध में निम्न-लिखित सुझाव दिये हैं :—

(i) शुरू में भारतीय कृषि का आंशिक यन्त्रीकरण करना चाहिए।

(ii) अधिक-से-अधिक ट्रैक्टर भारत में ही निर्माण करने के प्रयत्न को सरकार द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

(iii) अधिक-से-अधिक किसानों को, एक ट्रैक्टर के उपयोग के लिये सहकारी समिति बनानी चाहिये।

(iv) ट्रैक्टर-सेवा के लिये पैसे फसल कटने के बाद कृषि उपज के रूप में लेने चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

1. भारतीय अर्थ-व्यवस्था में यांत्रिक कृषि की आवश्यकता और क्षेत्र का विवेचन कीजिये।

2. भारत में यांत्रिक कृषि की सम्भावनाओं और सीमाओं का उल्लेख कीजिए इस दिशा में योजना काल में क्या कदम उठाये गये हैं ?

3. यांत्रिक कृषि से आप क्या समझते हैं ? भारत में यांत्रिक कृषि पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

4. "भारत में कृषि की एक परमावश्यक कृषि-कार्यकलापों में संलग्न अनगिनत बैलों की संख्या में कमी करना है। बैलों का यांत्रिक, शक्ति द्वारा प्रतिस्थापन, कृषि के लिये उचित अवसर प्रदान करना है।" इस कथन की विवेचना करते हुए भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिये।

5. भारत में यांत्रिक कृषि की तत्कालीन और दूरस्थ सम्भावनाएँ क्या-क्या हैं ? क्या कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए कृषि का यन्त्रीकरण करना आवश्यक है ?

6. भारत में यांत्रिक कृषि क्षेत्र का परीक्षण कीजिए और देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर उसके सम्भावित प्रभावों को बताइए।

7. देश में यांत्रिक कृषि और बड़े परिमाण की खेती की क्या संभावनाएँ हैं ? कृषि में इस प्रकार की प्राविधिक व्यवस्था को अपनाने के लिए कौन से संगठनात्मक परिवर्तन आवश्यक है ?

संकत—[प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम यन्त्रीकरण का आशय, भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण की समस्या व वर्तमान क्षेत्र पर प्रकाश डालिए तत्पश्चात् लिखिए कि

---

1. Bergman, Theodor : 'Problem of Mechanisation in Indian Agriculture' in Indian Journal of Agricultural Economics, 1963.

यांत्रिक कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए कृषि संगठन की व्यवस्था में निम्न परिवर्तन आवश्यक हैं—(अ) उपयुक्त कृषि यन्त्रों का निर्माण, (ब) इन यन्त्रों को खरीदने के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था (स) यन्त्रों की मरम्मत की व्यवस्था आदि।]

9

कृषि उत्पादन की बिक्री-व्यवस्था

(Marketing of Agricultural Produce)

कृषि विपणन का आशय एवं कार्य—'विपणन' वह सम्पूर्ण क्रिया है जिसके द्वारा क्रेता व विक्रेता को निकट लाया जा सके, इसके अन्तर्गत उन सभी क्रियाओं का समावेश किया जाता है जो वस्तुओं को उचित समय पर तथा उचित मात्रा में उपभोक्ताओं के आवश्यकतानुसार उनके पास पहुँचा कर वस्तुओं की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति को बढ़ाती हैं।

कृषि विपणन में कृषि उपज को किसानों से लेकर अन्तिम उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में मध्यस्थों द्वारा की गई सेवाएँ सम्मिलित की जाती हैं। संक्षेप में, कृषि विपणन से आशय कृषकों द्वारा उत्पादित उपज की बिक्री व्यवस्था से है।

कृषि विपणन कार्य के अन्तर्गत सामान्यतः निम्न कार्य सम्मिलित किये जाते हैं (i) कृषि उपज का एकत्रीकरण (Assembling), (ii) कृषि वस्तुओं का विभाजन (Grading), (iii) कृषि वस्तुओं का विधायन (Processing), (iv) कृषि वस्तुओं का संग्रहण (Storing), (v) कृषि उपज का परिवहन (Transportation), (vi) कृषि वस्तुओं को अन्तिम उपभोक्ताओं तक पहुँचाना (Retailing), (vii) कृषि वस्तुओं की बिक्री के लिए वित्त प्रदान करना (Financing), (viii) कृषि विपणन में होने वाली जोखिम उठाना (Risk-bearing), आदि।

विपणन योग्य अतिरेक
(Marketable Surplus)

विपणन योग्य अतिरेक से आशय कृषि उत्पादन की उस अतिरिक्त मात्रा से है जो किसानों के पारिवारिक उपभोग की आवश्यकता को पूरा करने, वस्तु रूप में मजदूरी का भुगतान करने, बीज एवं पशुओं के खाद के रूप में उपयोग होने तथा नष्ट होने से बची हुई कृषि वस्तुओं को विपणन हेतु बाजार में प्रस्तुत की जाती है। दूसरे शब्दों में यह उपज की वह मात्रा है जो बाजार में विक्रय के लिये ले जायी जाती है।

विपणन योग्य अतिरेक का महत्त्व
(Importance of Marketable Surplus)

भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि उपज के विपणन योग्य अतिरेक का विशेष महत्त्व है क्योंकि इसके ऊपर कृषि एवं औद्योगिक विकास निर्भर करते हैं। यदि कृषि क्षेत्र उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध नहीं करता तथा औद्योगिक क्षेत्र की वस्तुओं की माँग कृषि क्षेत्र में नहीं होती तो देश की औद्योगिक प्रगति रुक जायेगी। कृषि क्षेत्र का भी विकास तब तक संभव नहीं है जब तक कि किसान के पास पर्याप्त मात्रा में विपणन योग्य अतिरेक न हो। कारण यह है कि विपणन योग्य अतिरेक की मात्रा पर कृषि विनियोग की मात्रा निर्भर करती है। अतः स्पष्ट है कि देश के आर्थिक विकास के लिए कृषि उपज के विपणन अतिरेक का पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। **प्रो० लेविस** का भी मत है कि आर्थिक विकास के लिए एवं औद्योगिक विकास के लिए कृषि वस्तुओं के विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है। देश के आर्थिक विकास हेतु कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है। देश के आर्थिक विकास से स्पष्ट है—

1. **उद्योगों के लिए कच्चा माल**—अर्द्धविकसित देश में उपभोक्ता उद्योगों, जैसे—सूती वस्त्र, जूट, शक्कर आदि का आधिक्य होता है। यदि किसान के पास इन वस्तुओं का विपणन योग्य अतिरेक नहीं है तो इन उद्योगों की कच्चे माल सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी न हो सकेंगी तथा औद्योगिक विकास रुक जायेगा। अतः औद्योगिक विकास के लिए कृषि में विपणन योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है।

2. **पूँजी निर्माण का आधार**—अर्द्धविकसित देश में पूँजी निर्माण की समस्या व्यापक रूप से होती है। ये देश कृषि-प्रधान होने के कारण इस समस्या का समाधान भी पहले कृषि उत्पादकता और विपणन योग्य अतिरेक में वृद्धि करने पर निर्भर करता है।

3. **गैर-कृषि जनसंख्या के लिए खाद्यान्न पूर्ति**—यदि कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक की कमी रही तो गैर-कृषि क्षेत्र की जनसंख्या के लिए खाद्य सामग्री का अभाव रहेगा। देश की खाद्य समस्या को दूर करने के लिए इन वस्तुओं का विदेशों से आयात करना पड़ेगा। फलस्वरूप जिस विदेशी मुद्रा का प्रयोग देश के आर्थिक विकास के लिए हो सकता था अब उसका प्रयोग उपभोग के लिए होगा। अतः कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक के अभाव का देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. **विदेशी मुद्रा के अर्जन में सहायक**—भारत जैसे राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता होती है, कारण यह है कि इन्हें विदेशों से पूंजीगत वस्तुओं (Capital Goods) का आयात करना होता है, परन्तु पूंजीगत वस्तुओं का आयात तब ही हो सकता है जब देश ने निर्यात के द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित की हो। विकासशील देशों में निर्यात मुख्यतः कृषि वस्तुओं का होता है। अतः

निर्यात को बढ़ाने के लिए तथा पूँजीगत वस्तुओं के आयात हेतु कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक का होना अनिवार्य है।

5. कृषकों की आय व जीवन-स्तर में वृद्धि तथा आंतरिक बाजार का विस्तार—कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य अतिरेक अधिक होने पर कृषकों की आय बढ़ेगी जिससे किसान गैर-कृषि क्षेत्र की वस्तुओं को अधिकाधिक मात्रा में खरीदेंगे। इसका प्रथम प्रभाव यह है कि किसानों का जीवन-स्तर उच्च होगा तथा द्वितीय औद्योगिक क्षेत्र का विकास होता है। फलतः सम्पूर्ण देश में कृषि तथा गैर-कृषि वस्तुओं के बाजार का विस्तार है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश के आर्थिक विकास में विपणन योग्य आधिक्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आदर्श कृषि विपणन के तत्त्व

आदर्श कृषि विपणन के तत्त्वों पर किसानों का अधिकतम लाभ निर्भर होता है। एक आदर्श कृषि विपणन में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश होना चाहिए—

1. गोदामों की सुविधा—कृषि उपज के उचित विपणन के लिए यह अनिवार्य है कि बाजार में भण्डार गृहों की समुचित व्यवस्था हो। फलतः किसान अपनी उपज को सुरक्षित ढंग से इन गोदामों में एकत्र कर सकें और अपने उपज का उचित समय पर विक्रय कर सकें।

2. उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों के हितों की सुरक्षा—कृषि उपज की आदर्श विपणन व्यवस्था में मात्र यह अनिवार्य नहीं है कि किसानों को उनके उपज की यथोचित कीमत प्राप्त हो वरन् उपभोक्ताओं को भी अनिवार्य कृषि वस्तुएँ उचित कीमत पर मिलनी चाहिए तथा वस्तु गुणात्मक दृष्टि से भी श्रेष्ठ होनी चाहिए। उत्पादन के बाद भी कृषि वस्तुओं के गुणों में श्रेष्ठता लाने का प्रयास करना चाहिए।

3. मध्यस्थों का अभाव—कृषि उपज के विपणन हेतु यह अनिवार्य है कि मध्यस्थों की संख्या कृषकों और उपभोक्ताओं के मध्य कम-से-कम हो। फलतः कृषक और उपभोक्ता दोनों को लाभ होगा। इसके बीच के मध्यस्थों को जो लाभ होता है वह किसानों और उपभोक्ताओं को प्राप्त होने लगेगा।

4. यातायात व परिवहन सुविधाओं का पर्याप्त विकास—कृषक को पर्याप्त एवं मितव्ययी परिवहन सुविधाओं की उपलब्धि होनी चाहिये जिससे कृषक उपज को गाँव में ही साहूकारों को न बेचकर बाजारों में विक्रय हेतु ले जायँ।

5. पूर्णतः संगठित बाजार—कृषि उपज की उचित विक्रय व्यवस्था हेतु यह भी अनिवार्य है कि बाजार पूर्ण रूप से संगठित हों जिससे वस्तुओं के कीमत में गिरावट अथवा तेजी का संकेत किसानों को समय-समय पर मिलता रहे।

6. पूर्ण-नियन्त्रित बाजार की उपस्थिति—कृषि उपज की समुचित विपणन व्यवस्था हेतु यह भी अनिवार्य है कि कृषि उपज के विपणन होने वाले बाजार पूर्णरूपेण नियन्त्रित हों, जिससे किसानों की पैदावार बाजार में उचित कीमत पर बेची

जा सके और दलालों तथा अढ़तियों अथवा अन्य प्रकार की सेवाओं से सम्बन्धित कटौतियों को रोका जा सके। इसके अलावा बाजारों का नियंत्रित होना इस कारण से भी आवश्यक है कि जिससे बाजारों में कृषक की उपज को ठीक प्रकार से मापा जा सके।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि "उपर्युक्त विपणन हेतु आवश्यक तत्त्व, गुण, कीमत, भुगतान, खराब वस्तु की मात्रा, बँधाई और सुपुर्दगी है।" इसीलिए कृषि वस्तुओं के उपयुक्त विपणन हेतु यह आवश्यक है कि इन तत्त्वों पर अधिकाधिक जोर दिया जाय। उचित विपणन व्यवस्था की स्थापना हेतु कुछ क्रियाओं एवं सेवाओं का समावेश होना चाहिए जैसे (i) कृषि उपज का संग्रह, (ii) अनुकूलतम लागत पर यातायात व्यवस्था, (iii) जोखिम उठाना, (iv) श्रेणीकरण और प्रमाणीकरण द्वारा विक्रय को सरल बनाना, (v) विक्रत वस्तुओं को उचित प्रकार से बाँधना, (vi) बिक्री बढ़ाने के लिए बिक्री लागत लगाना, (vii) बाजार में अथवा उपभोक्ताओं को विपणन समाचार देना।

भारत में कृषि उपज की बिक्री की व्यवस्था—भारत में कृषि वस्तुओं के विपणन की वर्तमान व्यवस्था निम्न प्रकार है :—

1. ग्रामों में बिक्री—भारतवर्ष में किसान अपनी उपज का अधिकांश भाग ग्रामों में ही बेच देता है। एक अनुमान के अनुसार पंजाब में 60% गेहूँ, 25% कपास और 70% तिलहन तथा उत्तर प्रदेश में 80% गेहूँ, 40% कपास और 75% तिलहन ग्राम में ही बेच दिये जाते हैं। गाँवों में बेची जाने वाली उपज को गाँवों के साहूकार या महाजन, गाँव के बनिये या शहर के व्यापारी अथवा उनके आढ़तिये खरीद लेते हैं। किसान प्रायः ग्रामों में ही उपज बेचने के लिए विवश हो जाता है, क्योंकि वह साहूकारों से ऋण लिये रहता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि उधार देते समय महाजन किसान से यह तय कर लेता है कि फसल उसे ही बेची जायगी। **डा० राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार भारत के जिन क्षेत्रों में किसान बहुत अधिक ऋणग्रस्त हैं वहाँ कृषि उपज का अधिकांश भाग गाँवों में ही महाजनों को बेच दिया जाता है। किसान द्वारा अपनी उपज को ग्राम में ही बेच देने का एक अन्य कारण परिवहन साधनों का अभाव तथा उनके अच्छे ढङ्ग का न होना भी है। किसान अपनी उपज बाजार में न ले जाकर गांव में ही बेचता है तो उसे बहुत ही कम मूल्य मिल पाता है।

2. मण्डियों में बिक्री—कुछ उपज की बिक्री पास की मण्डियों में भी होती है। ये मण्डियाँ दो प्रकार की होती हैं : (क) अनियमित मण्डियाँ (Unregulated Markets), (ख) नियमित मण्डियाँ (Regulated Markets)।

(क) अनियमित मण्डियाँ—इन मण्डियों में क्रय-विक्रय प्रायः प्राचीन व्यवस्था के अनुसार होता है। इन मण्डियों में कोई निश्चित व्यापारिक नियम नहीं होते हैं। इसमें बहुत बड़ी संख्या में मध्यस्थ पाये जाते हैं, जैसे, दलाल, कच्चे आढ़तिये व पक्के आढ़तिये आदि। इन मण्डियों में कमीशन, दलाली, तौलाई, धर्मादा आदि के रूप में

बहुत कटौती होती है। वस्तुओं के मूल्य प्रायः दलाल और आढ़तिये अपने हाथों पर कपड़ा डालकर, एक दूसरे की अँगुली छूकर गुप्त रूप से तय करते हैं जिसका अनपढ़ किसान को कुछ पता नहीं चलता।

(ख) **नियमित मंडियाँ**—इन मण्डियों में नियमानुसार क्रय-विक्रय होता है। इसका नियमन राज्य कृषि उपज (बाजार) अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है। इनमें कार्य करने वालों को लाइसेन्स लेना पड़ता है। इन मण्डियों में, कमीशन तथा अन्य कटौतियाँ आदि निर्धारित कर दी गई हैं और सौदा खुली बोली के अनुसार होता है। भारतवर्ष में गेहूँ, कपास, गन्ना, जूट आदि की नियमित मण्डियाँ पाई जाती हैं। इन मण्डियों में किसान के साथ कोई धोखा नहीं होता और उन्हें अपनी उपज का उचित मूल्य उपलब्ध हो जाता है।

3. **सहकारी विपणन समितियाँ**—सहकारी समितियों ने कृषि वस्तुओं के विपणन में भाग लेना आरम्भ कर दिया है। ये समितियाँ अपने सदस्यों की उपज को इकट्ठे बेचकर पर्याप्त मूल्य प्राप्त करती हैं।

4. **राज्य व्यापार**—भारत में राज्य द्वारा कृषि पदार्थों का विपणन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है। राज्य की एजेन्सियाँ जैसे-भारतीय खाद्य निगम फसल तैयार होने के समय ग्रामीण क्षेत्रों या मण्डियों के निकट अपने विशेष केन्द्र स्थापित करता है, जहाँ सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों पर उपज को खरीदा जाता है।

भारत में कृषि विपणन की समस्याएँ

भारत में कृषि विपणन की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **कीमतों में अत्यधिक अन्तर**—जिस कीमत पर किसान अपनी उपज का विक्रय करता है, और जो कीमत वह अन्तिम उपभोक्ता से लेता है उसके अन्तर पर दी एक सुदृढ़ विपणन प्रणाली निर्भर करती है। कीमत के इस अन्तर को **'विपणन मार्जिन'** कहते हैं। यदि कीमत में बहुत अधिक अन्तर है तो उत्पादक को उपभोक्ता के द्वारा खर्च की गई मुद्रा का बहुत थोड़ा भाग ही प्राप्त हो पाता है। **श्री० एम० सी० मुंशी** ने विभिन्न कृषि पदार्थों के सम्बन्ध में कीमत अन्तर के सर्वेक्षण किए। श्री मुंशी ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपभोक्ता जो रुपया व्यय करता है उसमें से लगभग 40 पैसे थोक विक्रेता और फुटकर विक्रेता के पास चले जाते हैं। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि विपणन की लागत कितनी अधिक है, लाभों का मार्जिन कितना है तथा बिचौलिये कितना लाभ प्राप्त करते हैं। विपणन की ऊँची लागत भारत में अकुशल विपणन प्रणाली के स्वरूप को व्यक्त करती है।

(2) **अपर्याप्त विक्रय अतिरेक**—कृषि विपणन की एक जटिल समस्या कृषि पदार्थों के अतिरेक में वृद्धि करना है। विक्रय अतिरेक की मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है—जैसे यह उत्पादन की मात्रा गुण, तथा उपज की कीमतों पर निर्भर करती

है। बाजार के नियमों, नियन्त्रणों, विपणन पर कर आदि का प्रभाव भी विक्रय अतिरेक पर पड़ता है।

(3) प्रतियोगिता की प्रकृति—विपणन के क्षेत्र में कृषक को मुद्रा, साख, बाजार, यातायात, तकनीकी ज्ञान आदि के लिए किसी न किसी मध्यस्थ पर निर्भर रहना पड़ता है। इस मध्यस्थ को प्राप्त करने के लिए किसानों को प्रतियोगिता करनी पड़ती है और इस प्रतियोगिता का लाभ मध्यस्थ को प्राप्त होता है। विगत वर्षों में भारतवर्ष में तेजी की स्थिति रही है, क्योंकि इसका लाभ बड़े व्यापारियों तथा मध्यस्थों को ही प्राप्त हुआ है।

संक्षेप में भारत में विद्यमान कृषि विपणन की पद्धति में अन्तर्निहित कई समस्याएँ हैं और इसमें सुधार के लिए बहुत क्षेत्र है।

कृषि विपणन के दोष

भारत में विद्यमान कृषि विपणन प्रणाली में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं—

1. **विक्रय की बाध्यता**—प्रायः भारतीय कृषक स्वेच्छा से अपनी उपज को नहीं बेचता, वल्कि दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण उसे अपनी उपज फसल काटने के तुरन्त बाद गाँव में ही बेचनी पड़ती है। उसे फसल तुरन्त इसलिए बेचना पड़ता है क्योंकि उसने विभिन्न कार्यों के लिए ऋण लिए होते हैं, ओर उनका भुगतान करना आवश्यक होता है। श्री एस० एस० शिवकुमार ने मद्रास के दो गाँवों में ऋणों का अध्ययन करके इसके निम्न कारणों पर प्रकाश डाला है : (i) उपभोग के लिए ऋण (ii) किराये के श्रमिकों की मजदूरी के भुगतान के लिए प्राप्त किए गए ऋण (iii) रासायनिक उर्वरकों के वाधितक्रम के लिए (iv) पहले वर्षों में शादी ब्याह उपभोग तथा पशु खरीदने के लिए ऋण आदि। कृषक इन ऋणों के बोझ से इतने अधिक दबे होते हैं कि विक्रय अतिरेक न होने पर भी उनको अपनी फसल का एक बड़ा भाग तत्काल किसी भी कीमत पर बेचना पड़ता है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि सामान्यतया उत्पादक अपनी उपज को प्रतिकूल स्थानों, और प्रतिकूल समय पर बेचतें हैं और सामान्यतया उनको प्रतिकूल शर्तों पर सौदे करने पड़ते हैं।

3. **परिवहन के साधनों का अभाव**—देश में परिवहन के साधन अपर्याप्त, अविकसित एवं दोषपूर्ण हैं। हमारे अधिकांश ग्राम रेलों व सड़कों द्वारा मण्डियों के साथ सम्बन्धित नहीं हैं, इसलिये किसान अपनी उपज ग्राम में ही बेच देने के लिये बाध्य हो जाता है। शाही कृषि आयोग के शब्दों में "यातायात के दोषपूर्ण साधनों के कारण ही बहुत से मध्यस्थों का प्रवेश हो गया है, जो किसानों को अपनी उपज का ठीक मूल्य नहीं मिलने देते।

यद्यपि योजनाकाल में यातायात के यंत्रीकरण साधनों का पर्याप्त मात्रा में विकास हुआ है लेकिन ये इतने अधिक महँगे हैं कि छोटे किसान इनकी सेवाओं का लाभ प्राप्त

करने में असमर्थ है। कृषि उपज के मूल्य में माल—मोड़ की मात्रा पहले से ही बहुत अधिक है। इस सम्बन्ध में "poticy Committee on Agriculture Forestry Fisheries" की विपणन उप समिति का यह अनुमान है कि कृषि उपज के मूल्य पर माल-मोड़ का भार गेहूँ की उपज पर 2·1 से 21·7 प्रतिशत, चावल पर 0·7 से 13·2 प्रतिशत, अलसी पर 1·2 से 15·4 प्रतिशत तथा आलू पर लगभग 6·2 प्रतिशत है। ऊँची माल-ढुलाई लागत के कारण किसान अपनी उपज को बाजार तक ले जाने में असमर्थ रहते हैं।

3. **कृषि उपज की घटिया किस्म**—भारत में कृषि उपज की किस्म प्रायः घटिया होती है, जिसके कारण कृषकों को कम मूल्य मिलता है। कृषि उपज घटिया किस्म के होने के कई कारण हैं—जैसे, खराब बीजों का प्रयोग, फसलों के रोग, कीड़े-मकोड़े के आक्रमण, अनावृष्टि, या अतिवृष्टि, फसलों की कटाई का दोषपूर्ण ढङ्ग आदि। भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन, अशिक्षित और अपनी उपज की ही बिक्री-व्यवस्था से अपरिचित है, इसीलिये वह अपनी उपज की किस्म की ओर ध्यान नहीं दे पाता।

4. **संगठन का अभाव**—कृषकों का स्वयं का कोई सुसंगठित बिक्री संगठन न होने से उन्हें कृषि उपज के संगठित क्रेताओं से प्रतियोगिता में सदैव हानि उठानी पड़ती है। शाही कृषि आयोग ने ठीक ही कहा है, "जब तक किसान व्यक्तिगत रूप से अथवा दूसरे उत्पादकों के साथ मिलकर बिक्री का ढंग नहीं सीखेगा • तब तक वे अपनी उपज के क्रेताओं से, जिनको बहुत विशिष्ट ज्ञान प्राप्त है तथा जिनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन हैं, कभी नहीं जीत सकता।"

5. **अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक संग्रहण व्यवस्था**—कृषि उपज का वैज्ञानिक ढंग से संग्रहण करने के लिये गाँव में सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। प्रायः कृषि-उपज को खत्तियों, कुड्डूरस, कल्ली, ढेक्कास, कोठी, कोठिला, कुण्डा आदि विभिन्न प्रकार की मिट्टी के बनाये गये बर्तनों में रखा जाता है, जिससे उसके सड़ने, गलने और चूहों एवं चींटियों द्वारा नष्ट होने की आशंका रहती है। इन हानियों के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाए गये हैं। खाद्यान्न निरीक्षण समिति के अनुसार ये हानियाँ कुल उपज का 1·5 प्रतिशत कीमत उपसमिति के अनुसार 2 से 2·5 प्रतिशत तथा डा० बलजीत सिंह के अनुसार यह 5 प्रतिशत तक होती है। यदि इस हानि को 5 प्रतिशत मान लिया जाए तो प्रतिवर्ष होने वाली हानि लगभग 400 करोड़ रुपए होगी। स्पष्ट है कि इस क्षति से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को हानि होती है और किसानों के लिए तो यह संकट का कारण बन जाती है।

6. **श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण का अभाव**—हमारे देश में अधिकांश किसान अपनी उपज का श्रेणीकरण व प्रमाणीकरण नहीं कर पाते। वे ऊँची व नीची दोनों किस्मों की उपज को मिलाकर बाजार में बेचते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें घटिया उपज के दाम ही मिल पाते हैं।

7. **मूल्य सम्बन्धी ज्ञान का अभाव**—वर्तमान विपणन व्यवस्था का एक गम्भीर दोष यह है कि हमारे कृषकों को मण्डियों में प्रचलित एवं सम्भावित कीमतों का ज्ञान

नहीं रहता, इसलिये किसान को जो भी कीमत बताई जाती है, उसे वही स्वीकार करना पड़ता है। प्राय: गाँव का बनिया मूल्य के बारे में झूठी सूचनाएँ देकर उन्हें ठग लेता है। इसका मुख्य कारण हमारे गाँवों में संचार की सुविधाओं का अभाव है।

8. **मध्यस्थों का बाहुल्य**—भारतवर्ष में किसान तथा उनकी उपज के अन्तिम उपभोक्ताओं के बीच अनेक मध्यवर्ती लोग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, थोक व्यापारी, खुदरा व्यापारी इत्यादि। इन लोगों की एक लम्बी कतार रहती है। इनमें से सभी अपनी-अपनी सेवाओं के लिये कुछ न कुछ लेते हैं। अनुमान लगाया गया है कि मूल्य में से उत्पादकों को 50% से 80% भाग ही प्राप्त होता है और शेष मध्यस्थों द्वारा ही हड़प लिया जाता है।

9. **मण्डियों में प्रचलित कपटपूर्ण पद्धतियाँ**—शाही कृषि आयोग के अनुसार "मण्डियों में प्रचलित ये कपटपूर्ण पद्धतियाँ किसी भी प्रकार चोरी से कम नहीं हैं।" भारतवर्ष में जब कभी किसान अपना माल मण्डियों (विशेषकर जो अनियमित हैं) में ले जाता है तो वहाँ प्रचलित बहुत-सी बुराइयों व धोखेबाजी के कारण कृषक विक्रेता को बहुत-सी हानियाँ सहनी पड़ती हैं। **राष्ट्रीय नियोजन समिति** (National Planning Committee) ने मण्डियों में प्रचलित निम्न धोखेबाजियों का संकेत किया है— (अ) **हमारे देश में विभिन्न प्रकार के वजन तथा तौल प्रचलित हैं**—आढ़तिया व व्यापारी दोषपूर्ण तराजू और बाट रखते हैं और वे बड़े बाट से खरीदकर छोटे बाट से माल बेचते हैं। (ब) **अनुचित कटौतियाँ**—मण्डियों में किसानों से माल की चुङ्गी, तौलाई, दलाली, आढ़ती आदि शुल्कों के अतिरिक्त, प्याऊ, गौशाला, मन्दिर, अनाथालय आदि के लिये चन्दा लिया जाता है और मुनीम, चौकीदार आदि कर्मचारियों के लिये भी कुछ-न-कुछ देना पड़ता है, जिससे किसान की शुद्ध आय में बहुत कमी आ जाती है। (स) **बाजार में दलाल आढ़तियों से मिले रहते हैं**—बाजार के दलाल बहुधा आढ़तियों से मिले रहते हैं परन्तु किसानों को ऐसा प्रतीत होता है कि दलाल उनके लिये काम कर रहा है। इससे किसान नाहक धोखेबाजी में फँस जाते हैं। (द) **गुप्त रीति से वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाना**—भारतीय मण्डियों में गुप्त रीति से वस्तुओं का मूल्य तय किया जाता है जिससे किसान मूल्य के सम्बन्ध में प्राय: अनभिज्ञ रहता है और उसे अन्धकार में रखकर आढ़तिया अनुचित लाभ उठाने में सफल हो जाता है।

10. **बाजार भाव के ज्ञान का अभाव**—किसानों को प्रचलित बाजार भाव के ज्ञान के अभाव में अत्यधिक घाटा होता है। मूल्यों में अत्यधिक भिन्नता आ जाती है।

11. **विपणन योग्य अतिरेक कम**—भारत में ज्यादातर कृषकों की जोत का आकार काफी कम है। यहाँ 66% जोत 5 एकड़ से कम है तथा उत्तर प्रदेश में 81·2% जोत का आकार 5 एकड़ से कम है। इस जोत पर किसान सिर्फ अपने उपभोग के लिए ही अनाज उत्पन्न कर पाते हैं जिससे इनके पास विपणन योग्य अतिरेक की मात्रा अति न्यून होती है। फलतः किसान गाँव में ही कम मूल्य पर उसे बेच देता है।

12. **वित्तीय सुविधाओं का अभाव**—भारत में आज भी वित्तीय सुविधाओं

का अभाव है। कृषि के लिए अल्पकालीन व दीर्घकालीन साख के लिए एवं दैनिक खर्च के लिए धन का अभाव रहता है। छोटे किसानों को ऋण सुविधाएँ प्रदान करने में राष्ट्रीयकृत बैंक व सहकारी समितियाँ असफल रही हैं जिससे कृषक अपनी उपज को साहूकार के इच्छानुसार बेचता है। देश के लगभग 80% कृषक इस श्रेणी में आते हैं।

13. **नियंत्रित बाजारों की धीमी प्रगति**—मंडियों में व्याप्त व्यापारियों के कार्यों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से तथा कृषक विक्रेताओं को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करने के उद्देश्य से देश में नियंत्रित बाजारों की प्रगति काफी कम है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मद्रास, पंजाब एवं गुजरात आदि राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में ऐसी व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है।

कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार के लिए सुझाव और सरकार द्वारा किये गये उपाय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था महँगी, अन्याय पूर्ण व अपव्ययी है, जिसमें सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न समयों पर विभिन्न समितियों व सम्मेलनों, जैसे शाही कृषि आयोग (सन् 1928), केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (1931), भारत सरकार द्वारा आयोजित प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन (1934), राष्ट्रीय नियोजन समिति (1946), कांग्रेस-भूमि सुधार समिति (1949) विपणन, उपभोक्ता कृषि-वित्त-समिति, सहकारी योजना समिति, ग्रामीण बैङ्किंग जाँच समिति, एवं अखिल भारतीय विपणन अधिकारी सम्मेलन आदि ने प्रचलित कृषि विपणन की व्यवस्था के दोषों को सुधारने के लिये जो उपयोगी सुझाव दिये हैं, उनका सारांश तथा उन पर की गई कार्यवाही संक्षेप में नीचे दी जा रही है।

1. **नियमित मंडियों की स्थापना**—सरकार ने कृषि बिक्री-व्यवस्था के सुधार के लिये जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है वह है नियमित मंडियों की स्थापना—भारत में केरल, नागालैण्ड, असम, मेघालय और जम्मू-कश्मीर को छोड़कर शेष राज्यों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों में मण्डियों का नियमन करने के लिये अधिनियम पारित किये जा चुके हैं। सन् 1974 के अन्त में नियन्त्रित मण्डियों की संख्या 3,016 थी। Central Directorate of Marketing and Inspection' द्वारा इन मण्डियों में विविध प्रकार की सुविधाओं को विकसित करने के लिए आर्थिक सहायता भी दी जाती है।

नियन्त्रित बाजारों में आने वाली कृषि-उपज में स्वयं किसानों द्वारा लायी गयी उपज का हिस्सा काफी बढ़ गया है। फलस्वरूप गाँवों में जो बिक्री होती थी उसकी मात्रा घट गई है। नियन्त्रित बाजारों का एक लाभ और यह हुआ है कि किसानों को जो विभिन्न विपणन खर्च देने पड़ते थे काफी कम हो गये हैं।

1980 के अन्त देश में 4446 नियमित बाजार थे।

छठी योजना में नियमित बाजारों की स्थापना की ओर बहुत ध्यान दिया गया है और यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि नियमित बाजारों को सम्पूर्ण ग्रामीण

ढाँचे के पुर्ननिर्माण का महत्त्वपूर्ण उपकरण बनाया जा सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छठी योजना में निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं—(i) नियमित बाजारों का तीव्र एवं व्यापक विकास तथा इनका प्राथमिक बाजारों के साथ समन्वय करना (ii) नियमित बाजारों में अधिकारों को लगाकर संसाधनों का सृजन करना तथा इस कार्य में पंचायतों का सहयोग लेना (iii) सम्पन्न क्षेत्रों और अन्तिम बाजारों में नियमित बाजारों का विकास (iv) प्रमुख उपभोक्ता केन्द्रों के साथ समन्वय करना (v) श्रेणीकरण तथा कीमतों के निर्धारण की सुविधाओं को सम्मिलित करना।

2. **श्रेणी विभाजन एवं प्रमाणीकरण**—बहुत से कृषि पदार्थों का वर्गीकरण किया जा चुका है। कृषि उपज वर्गीकरण व विक्री अधिनियम सन् 1973 के अन्तर्गत सरकार ने घी, आटा तथा अंडों आदि का वर्गीकरण करने के लिए केन्द्र स्थापित किये हैं। इस नियम के अन्तर्गत विपणन अधिकारियों के निरीक्षण में कृषि पदार्थों का श्रेणीकरण करने के बाद उन पर 'एगमार्क' (Agmark) की मोहर लगा दी जाती है। इससे कृषि वस्तुओं के बाजार में विस्तार हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओं में तेल के बीज, तम्बाकू, काजू तथा ऊन आदि का वर्गीकरण करने के लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था की गई है, ताकि इनका निर्यात बढ़ाया जा सके। नई वस्तुओं के ग्रेड निश्चित करने तथा पुरानी वस्तुओं के ग्रेड सुधारने के लिए नागपुर में भारत सरकार ने केन्द्रीय कृषि नियंत्रण प्रयोगशाला (Central Quality Control Laboratory) खोली है, तथा देश के विभिन्न भागों में इसी प्रकार की अन्य 8 प्रयोगशालायें खोली जा चुकी हैं। अब तक लगभग 1600 वस्तुओं का श्रेणीकरण किया जा चुका है और नवीन वस्तुओं के वर्ग निर्धारण करने तथा पुरानी वस्तुओं के स्तर को सुधारने के लिए नागपुर के केन्द्रीय एगमार्क (AGMARK) प्रयोगशाला और गुण्टूर, जामनगर, बंगलौर, पटना, मद्रास, कोचीन, कानपुर, कलकत्ता, राजकोट, बम्बई तथा साहिबाबाद इत्यादि स्थानों में 17 प्रादेशिक एगमार्क प्रयोगशालायें कार्य कर रही हैं। मार्च 1974 के अन्त में देश में 572 वर्गीकरण इकाइयाँ (Grading Units) कार्य कर रही थीं।

3. **प्रमाणित बाट एवं नाप-तौल का प्रचार**—1 अप्रैल सन् 1962 से देश में नापतौल की मैट्रिक प्रणाली चालू की गई है। इससे एक ओर तो गणना करने में सुविधा हो गई है और दूसरी ओर बेईमानी व धोखेबाजी के अवसर भी कम हो गये हैं। किन्तु अब भी बहुत से व्यापारी पुराने सेर एवं मन काम में लाते हैं। अतः यह अधिनियम सक्रियता से कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

4. **संग्रह एवं गोदाम की सुविधाओं का प्रावधान**—सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों में ही व्यापारिक दृष्टि से कृषि उपज के लिए संग्रह और गोदामों की सुविधाएँ उपलब्ध है। अर्थ-व्यवस्था में संग्रह और गोदामों की सुविधाएँ उपलब्ध करने वाली प्रमुख संस्थाएँ इस प्रकार हैं—केन्द्रीय एवं राज्य गोदाम निगम (C. W. C.), भारतीय खाद्य निगम तथा सहकारिताएँ। केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना 1962 में निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए की गई : (i) उपयुक्त स्थानों पर गोदामों एवं भंडार

गृहों को प्राप्त करना तथा निर्माण करना (ii) कृषि उपज एवं आगतों के लिए यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध कराना (iii) राज्य गोदाम निगमों की अंश-पूंजी में हिस्सा लेना (iv) कृषि फसलों और उपज को खरीदने, बेचने संग्रह एवं वितरण के लिए सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करना।

राज्य गोदाम निगमों की स्थापना राज्य एवं जिला स्तर के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर की गई है। इन निगमों को राज्य स्तर पर वही कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं जो कि राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीय गोदाम निगम करते हैं।

भारतीय खाद्य निगम की स्थापना सन् 1965 संग्रह के उचित सुविधाओं के विकास के लिए की गई। ये सुविधाएँ सहकारी समितियाँ और कृषकों को उपलब्ध हो सकती हैं। सहकारी क्षेत्र में जिन गोदामों का निर्माण किया है उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है। (i) मण्डी के स्तर पर गोदाम (ii) ग्रामीण गोदाम। पहले प्रकार के गोदामों का निर्माण उच्च-स्तर की विपणन समितियों के द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार जिला क्षेत्र तथा सर्वोपरि विपणन संघ। ग्रामीण गोदाम पर ग्राम सेवा समितियों का स्वामित्व होता है। सहकारी क्षेत्र में जो दो प्रमुख संस्थाएँ कार्यशील हैं वे राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम (N. C. D. C.) तथा राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन संग (NAFED) है।

छठी योजना के प्रारम्भ में सार्वजनिक क्षेत्र की सभी एजेन्सियों की कुल संग्रह क्षमता 148·4 लाख टन थी छठी योजना में संग्रह एवं गोदाम की सुविधाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित किया गया है—(i) निजी क्षेत्र में संग्रह क्षमता के विकास को प्रोत्साहन देना (ii) प्राथमिक स्तर पर बहुउद्देशीय सहकारी समितियों को उनकी संग्रह क्षमता में विस्तार के लिए प्रोत्साहित करना (iii) कृषि आगतों के लिए उपयुक्त संग्रह सुविधाओं का विकास करना (iv) संग्रह वैज्ञानिक विधियों का विकास करना ताकि कुन्तकों के विनाश तथा संग्रहित अनाज में नाशक जीव से होने वाली क्षति को कम किया जा सके।

5. विपणन समाचार—सरकार आकाशवाणी द्वारा देश की विभिन्न मण्डियों की कृषि-उपज के मूल्यों के बारे में समाचार प्रतिदिन प्रसारित करती है। दैनिक समाचार पत्र भी प्रतिदिन प्रमुख मण्डियों के भाव प्रकाशित करते हैं। एक अखिल भारतीय बाजार समाचार सेवा का संगठन भी किया गया है। केन्द्र सरकार का निदेशालय भी कृषि उपज के विभिन्न क्षेत्रों के कटाई मूल्य, थोक-मूल्य व फुटकर मूल्य के बारे में आँकड़े समय-समय पर इकट्ठा करके प्रकाशित करता है।

6. विपणन सर्वेक्षण की व्यवस्था—सरकार ने कई महत्त्वपूर्ण कृषि वस्तुओं के उत्पादन, यातायात, संग्रह, प्रक्रिया, श्रेणीकरण, वितरण व विपणन-खर्च इत्यादि के सम्बन्ध में देश के विभिन्न भागों की मण्डियों के सर्वेक्षण किये हैं। अब तक लगभग 75 ऐसी वस्तुओं का सर्वेक्षण किया गया है और कई विपणन प्रतिवेदन प्रकाशित किये गये हैं।

7. **विपणन व निरीक्षण निदेशालय**—भारत सरकार ने सन् 1963 में विपणन व निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की कृषि विपणन सलाहकार के निर्देशन में इस विभाग का कार्य आरम्भ हुआ। इस निदेशालय ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लखनऊ, जयपुर, शिलांग व भोपाल में क्षेत्रीय कार्यालय खोले हैं जहाँ से उन क्षेत्रों की विपणन समाचार व्यवस्था की उचित देखभाल की जाती है।

8. **विपणन कर्मचारियों का प्रशिक्षण**—कृषि विपणन व्यवस्था से सम्बद्ध कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिये 3 पाठ्यक्रमों की व्यवस्था है। पहला पाठ्यक्रम राजकीय क्रय-विक्रय विभागों के उच्चाधिकारियों के लिए है। इसकी व्यवस्था नागपुर में है। यह पाठ्यक्रम एक वर्ष का है। दूसरा पाठ्यक्रम क्रय-विक्रय सचिवों तथा अधीक्षकों के लिए 5 माह की अवधि का है। तीसरा वर्गीकरण निरीक्षकों के लिये त्रैमासिक पाठ्यक्रम है। इन पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत 1,100 से अधिक कर्मचारी प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं।

9. **फलोत्पादन तथा प्रशीतन व्यवस्था आदेश**—फलोत्पादन आदेश 1955 के अन्तर्गत फलों तथा सब्जियों की किस्म, नियंत्रण व्यवस्था के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं। कोल्डस्टोरेज आदेश, 1964 के अनुसार आकार 8·5 घन मीटर था। उससे अधिक की प्रशीतन क्षमता वाले शीतागारों को भारत सरकार के कृषि विपणन सलाहकार से सलाह लेना आवश्यक है।

10. **मूल्य स्थिरीकरण**—कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिये कृषि तथा कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने की दृष्टि से सन् 1966 से सरकार प्रतिवर्ष खाद्यान्नों के न्यूनतम मूल्यों की घोषणा करती है।

11. **सहकारी विपणन**—सरकार ने सहकारी विपणन समितियों की स्थापना द्वारा कृषि विपणन के दोषों को दूर करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना आगे की गई है।

12. **वित्त की व्यवस्था**—ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सुविधाओं का पर्याप्त मात्रा में विकास एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। बहुत-सी सार्वजनिक एजेन्सियाँ कृषकों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

13. **खाद्यान्नों का राजकीय व्यापार**—खाद्यान्नों का राज्य व्यापार सबसे पहले केन्द्र एवं राज्य सरकारों के खाद्य विभागों ने आरम्भ किया। सन् 1965 में भारतीय खाद्य निगम की स्थापना की गई। इस निगम को खाद्यान्नों की खरीद, संग्रह, यातायात, वितरण और विक्रय का कार्य सौंपा गया। यह आशा व्यक्त की गई है कि खाद्यान्नों के विपणन में (FCI) एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। खाद्य निगमों द्वारा सम्पन्न किए गए कुछ कार्य भी FCI को सौंप दिए गए हैं।

सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों पर टिप्पणी एवं सुझाव

कृषि विपणन के लिए सरकार द्वारा जो भी प्रयत्न किये गये हैं, वे निश्चय ही प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु आवश्यकता की तुलना में वे नितान्त ही

अपर्याप्त हैं। अतः सरकार को ओर अधिक प्रयत्न में शीघ्रता करने की आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात के साधनों में अभी भी बहुत कमी है। अतः विपणन में विकास हेतु इस क्षेत्र में पर्याप्त विकास की आवश्यकता है। सहकारी विपणन ने जाँच पड़ताल के क्षेत्र में तो प्रगति पर पर्याप्त ध्यान दिया है, किन्तु विकास की ओर कम ध्यान दिया। इस संदर्भ में किये गये सर्वेक्षण में दिये गये सुझावों को कार्यान्वित किया जाना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि शासन कृषि विपणन के संदर्भ में क्षेत्रीय अध्ययन कराये। वर्गीकरण के अधिनियम को दृढ़तापूर्वक लागू करने की व्यवस्था की जाय। कृषि द्वारा कुल उत्पादित वस्तुओं के बिक्री किये गये माल के 10% वस्तुओं का ही वर्गीकरण हो पाता है। अतः इस क्षेत्र में पर्याप्त विकास एवं विस्तार की आवश्यकता है। विपणन तकनीक में भी अभी हम बहुत ही पीछे हैं। अतः इसमें अनुसंधान एवं विकास की आवश्यकता है। हमारे यहाँ के विपणन रूप-रेखा में भी सुधार की आवश्यकता है। शासन को चाहिए कि भविष्य के कार्यक्रम इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हाथ में ले।

भारत में सरकारी विपणन
(Co-operative Marketing in India)

सहकारी विपणन का अर्थ—जब कुछ उत्पादक अपने उत्पादन को व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग बेचने के स्थान पर सहकारी विपणन समितियाँ बना कर उनके माध्यम से बेचते हैं तो उसे सहकारी विपणन कहा जाता है। **के० आर० कुलकरनी का** कहना है कि "उत्पादकों का सहकारी संगठन उत्पादन के छोटे आकार होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए स्वयं सहायता का एक प्रयास है।[1] साधारणतः सहकारी विपणन शब्द का प्रयोग सहकारी विक्रय संगठनों या उत्पादकों के संगठनों को जो कि विक्रय कार्यों को सम्पादित करते हैं, निर्देश करने के लिए किया जाता है।[2]

सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभ

सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभों को हम निम्नलिखित तीन शीर्षकों में अध्ययन कर सकते हैं—(अ) कृषकों का लाभ (ब) उपभोक्ताओं को लाभ और (स) सामाजिक लाभ।

---

1. "A Co-operative association of producers is an attempt to selfhelp, in overcome the difficulties arising out of the smallness of operations." —K. R. Kulkarni Agricultural Marketing in India.

2. "The term Co-operative Marketing has been used generaly to denote Co-operative sale association or those associations of producers which perform the functions of sale."
—Beckken Schaars, Economics of Co-operative Marketing, p, 205

(1) (अ) कृषकों को लाभ **भण्डारगृहों और गोदामों का प्रबन्ध**—सहकारी समिति अपने भण्डारगृहों और गोदामों का प्रबन्ध करती है और इस प्रकार फसल को चूहों, चींटियों एवं सीलन इत्यादि से कोई क्षति नहीं पहुँचती है।

(2) **उचित कीमत**—विपणन समितियाँ कृषक को वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करके उसे साहूकार के चंगुल से मुक्ति दिला देती हैं। वह उपज को रोककर उचित समय पर बिक्री कर सकता है। साथ ही समय-समय पर इन साख समितियों द्वारा इनको बाजार भाव का ज्ञान प्राप्त होता रहता है।

(3) **उत्पादित माल का श्रेणीकरण और मानकीकरण**—समिति किसानों को श्रेणीकृत और मानकीकृत माल के उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देती है और उन्हें उपज में मिलावट करने से प्रतिबन्धित रखती है।

(4) **कृषक की सौदा क्षमता में सुधार**—ये समितियाँ भावना पैदा करके उनकी सौदा करने की क्षमता बढ़ाने में सहायक होती हैं।

(5) **मूल्यों को प्रभावित करना**—सहकारी समितियाँ उपज की पूर्ति की मात्रा का नियन्त्रण करती हैं और इस प्रकार कीमतों को प्रभावित करती हैं।

(6) **विज्ञापन एवं प्रचार**—सहकारी विपणन समितियाँ विज्ञापन और प्रचार के माध्यम से अपने सदस्यों के उपाय में वृद्धि कर सकती हैं तथा मण्डियों का विस्तार कर सकती हैं।

(7) **मध्यस्थों का उन्मूलन**—सहकारी समितियों द्वारा माल सीधे माण्डियों में बेचा जाता है जिससे मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मध्यस्थों के अभाव के कारण समितियों को लाभ अधिक होता है जो कृषकों में विभक्त हो जाता है।

(8) **विपणन की शिक्षा**—आत्म सहायता सहकारिता का एक उद्देश्य होता है। सहकारी विपणन से सम्बधित सभी कार्य स्वयं सदस्यों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। इस प्रकार वे विपणन व्यवस्था से पूर्णतः परिचित हो जाते हैं।

(9) **वित्त की सुविधा**—सहकारी समितियों के द्वारा कृषकों को वित्त सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं। कृषकों को उनकी उपज बिकने के पूर्व ही अग्रिम धनराशि प्राप्त हो जाती है।

(10) **अनियमित मण्डियों के धोखे से बचाव**—सहकारी समितियाँ कृषकों को उचित मार्ग प्रशस्त करके अनियमित मण्डियों की अव्यवस्था व परेशानियों से मुक्त करती है।

(ब) उपभोक्ताओं को लाभ--सहकारी विपणन से एक लाभ यह है कि उपभोक्ता वर्ग को वर्ष भर कृषि माल उचित कीमत पर प्राप्त होता रहता है क्योंकि सहकारी समितियाँ पूँजीपति व्यापारियों की भाँति माल रोककर कृत्रिम दुर्बलता की स्थिति उत्पन्न नहीं करतीं। यह माल की पूर्ति निरन्तर बनाये रखती हैं, जिससे बाजार की कीमतों की स्थिति डाँवाडोल नहीं होने पाती।

(स) सामाजिक लाभ—मध्यस्थों के उन्मूलन द्वारा उत्पादक तथा उपभोक्ता

दोनों को ही लाभान्वित करके ये समितियाँ राष्ट्रीय आय बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती हैं। सहकारी विपणन समितियों के सदस्य अपनी आर्थिक एवं विपणन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हैं एवं एक दूसरे के निकट आते हैं। एक दूसरे के हितों की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। स्पष्ट है कि सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

भारत में सहकारी विपणन की रचना
(Structure of Co-operative Marketing in India)

इस समय देश में सहकारी विपणन की संरचना इस प्रकार है—

(अ) प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ—ये समितियाँ ग्राम स्तर पर कार्य करती हैं। ये दो तरह की होती हैं—प्रथम सामान्य सहकारी विपणन समितियाँ जिनकी कार्यक्षेत्र सामान्यतः पूरी तहसील होता है और वे सभी प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करती हैं। द्वितीय, विशिष्ट वस्तु सहकारी समितियाँ, जो किसी विशिष्ट वस्तु का व्यापार करती हैं जैसे उत्तर प्रदेश या बिहार की गन्ना समितियाँ, उत्तर प्रदेश की घी समितियाँ इनके अच्छे उदाहरण हैं।

(ब) केन्द्रीय विपणन संघ—प्राथमिक समितियों के ऊपर जिला-स्तर पर केन्द्रीय जिला विपणन संघ है। इन संघों के सदस्य—व्यक्ति और प्राथमिक समितियाँ—दोनों ही हो सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से कृषि वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं और प्राथमिक समितियों का ऋण तथा अन्य प्रकार की सहायता भी देते हैं।

(स) राज्य विपणन संघ—इसका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य होता है। इसका कार्य क्रय-विक्रय करना तथा केन्द्रीय विपणन संघों और प्राथमिक विपणन समितियों को ऋण प्रदान करना है। रज्य विपणन संघों के सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों हो सकते हैं।

(द) राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन महासंघ—यह राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी विपणन की शीर्ष संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि एवं अन्य वस्तुओं में अपने सदस्यों को बिपणन एवं व्यापारिक कार्य-कलापों में समन्वय लाना और प्रोत्साहित करना अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्राज्यीय कृषि व्यापार को बढ़ावा देना तथा सदस्यों को कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना है।

सहकारी विपणन की प्रगति

भारत में पहली सहकारी विपणन समिति की स्थापना 1913 में हुई थी। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में इनके विकास की गति में काफी तीव्रता आई और सहकारी विपणन समितियों ने कण्ट्रोल की वस्तुओं, बीज, उर्वरक व औजारों आदि के वितरण कार्य में विशेष भूमिका अदा की। परन्तु विश्वयुद्ध के बाद में अधिक सफल नहीं हो सकीं।

3. **विपणन लागत की अधिकता**—समिति के कर्मचारी चूंकि वेतन के आधार पर कार्य करते हैं इसलिए वे समिति के कार्य को अपना कार्य नहीं समझते हैं साथ ही इनके पास यातायात के साधन भी उपलब्ध नहीं होते हैं जिससे कृषि के यातायात पर इन्हें अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है। फलतः विपणन लागत अधिक आती है जिससे व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा नहीं हो पाती है।

4. **वित्त की अपर्याप्तता**—सहकारी समितियों की धीमी प्रगति का एक कारण यह है कि इन समितियों के पास वित्तीय-साधनों का अभाव है और इन्हें कम ब्याज की दर पर पर्याप्त नहीं मिल पाता है।

5. **व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा**—व्यापारी वर्ग सहकारी समितियों को अपना प्रतिस्पर्धी मानता है और सहकारी विपणन समितियों को असफल करने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करता है।

6. **वर्ष भर विपणन कार्य का अभाव**—सहकारी समितियाँ कृषि वस्तुओं को वर्ष भर खरीद नहीं सकतीं क्योंकि इनके पास प्रायः भण्डार-गृहों का अभाव रहता है और वित्तीय साधन भी पर्याप्त नहीं होते। स्पष्टतः ये समितियाँ व्यापारियों का स्थान लेने में असमर्थ रही हैं।

7. **अन्य कारण**—सहकारी विपणन समितियों की धीमी प्रगति के लिए उत्तरदायी कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं—जैसे (अ) कृषक वर्ग की उदासीनता (ब) गोदामों का अभाव (स) विपणन समितियों एवं उपभोक्ता समितियों में सम्पर्क का अभाव (द) बाजार सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव आदि।

सुझाव—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सहकारी विपणन समितियों से किसानों को बहुत लाभ हो रहा है। परन्तु सम्पूर्ण देश के आकार तथा कृषि की आवश्यकताओं को देखते हुए इनकी प्रगति बहुत धीमी गति से हुई है। सहकारी विपणन के विकास के लिए कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं :—

1. सहकारिता के विभिन्न पहलुओं—जैसे, साख-विपणन एवं उन्नत कृषि में समन्वय स्थापित करना चाहिये और यह प्रयत्न किया जाना चाहिये कि एक ही समिति इन तीनों प्रकार की सेवाएँ प्रदान करे।

2. सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के क्षेत्रों में सहकारी-विक्रय पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये।

3. सहकारी विपणन समितियों को चाहिये कि जहाँ सम्भव हो कृषि वस्तुएँ उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप से बेचें, ताकि मध्यस्थों का व्यय बच सके।

4. सहकारी-विक्रय समितियों का प्रबन्ध व संचालन शिक्षित व कुशल व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिये। इसके लिए कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिये।

5. सरकार की ओर से इन संस्थाओं की कृषि-वस्तुओं के वर्गीकरण की सुविधा प्राप्त होना चाहिये।

6. ग्रामीण क्षेत्रों में निजी संग्रह एवं गोदाम सुविधाएँ विकसित करने के लिए सहकारी समितियों की आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

7. सरकार को चाहिये कि वह ग्रामों और बाजारों के बीच यातायात और सम्वाद-वाहन के साधनों का विकास करे। प्रारम्भ में सहकारी विपणन-समितियों को मूल्य में वृद्धि की आशा में लम्बी अवधि तक सदस्यों की उपज को नहीं रोके रखना चाहिये, क्योंकि उसमें हानि का खतरा रहता है।

8. सरकार को चाहिये कि यथासम्भव विपणन समितियों को अपने सहायता कार्यों, जैसे उन्नत बीजों या उर्वरकों के वितरण आदि का माध्यम बनावे।

9. बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके विपणन के पूर्व विधायन कर देने से, अच्छे मूल्य पर और अधिक मात्रा में बेची जा सकती हैं। सहकारी समितियों को चाहिए कि इन वस्तुओं, जैसे रुई आदि में यह भी कार्य करें।

10. स्टेट बैङ्क ऑफ इंडिया एवं सहकारी बैङ्क को चाहिए कि विपणन सहकारी समितियों की कार्यशील पूँजी में वृद्धि करने के लिए आर्थिक सहायता दें, ताकि वे विभिन्न कामों को सुविधापूर्वक कर सकें।

11. इन सहकारी संस्थाओं द्वारा विधायन एवं व्यापार कार्य के लिए वित्तीय सहायता स्टेट बैङ्क द्वारा दी जानी चाहिए।

12. विपणन सहकारी समितियों को निजी क्षेत्र से प्रतियोगिता एवं वैमनस्य का खतरा बना रहता है। इसे दूर किये जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

13. सहकारी विपणन संस्थाओं को प्रयत्न करना चाहिये कि उत्पादित अतिरिक्त खाद्य सामग्री का क्रय कर सके।

14. सहकारी विपणन समितियों को चाहिये कि सहकारी संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋण से उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विपणन को सम्बन्धित किया जाय। इससे ऋण की सुरक्षा में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही कृषकों को अच्छी कीमत भी मिल सकेगी।

15. विपणन सहकारी समितियों के विकास के लिए नियोजित ढङ्ग से प्रयत्न किया जाना चाहिए और उसमें उत्पादन, विधायन विपणन एव संग्रह आदि पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न

1. ग्रामीण क्षेत्र में कृषि विपणन की प्रगति के लिए कार्यात्मक एवं वित्तीय दोनों सुझाव दीजिये।

अथवा

कृषि विपणन के प्रमुख दोष कौन से हैं? आप किस प्रकार विपणन प्रणाली एवं वित्त की उन्नति करें?

अथवा

भारत में कृषि विपणन की समस्याओं का परीक्षण कीजिये। वर्तमान समय

में स्थिति के सुधार के लिये कौन से कदम उठाये गये हैं और उनका क्या परिणाम निकलता है ।

अथवा

संक्षेप में, भारतीय कृषक को अपनी उपज बेचने में होने वाली कठिनाइयों को बतलाइये । उनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिये कौन-कौन से उपाय अपनाये गये हैं ?

अथवा

उन बाधाओं का विवेचन कीजिये जिनके अन्तर्गत भारत में कृषक अपनी उपज को बेचने में सामना करता है । उन बाधाओं को दूर करने के लिये उपाय बतलाइये ।

अथवा

उन अलाभप्रद स्थितियों को स्पष्ट रूप से बतलाइये जिनके अन्तर्गत भारतीय कृषक अपनी उपज बेचता है । कृषि विपणन को संगठित करने व प्रगति के लिए सुझाव दीजिये ।

2. क्या कृषि विपणन के दोषों को सहकारी समितियों द्वारा कार्य का संगठन कर दूर किया जा सकता है ? भारत में सहकारी विपणन के विकास के लिए सुझाव दीजिये ।

अथवा

कृषि उपज के सहकारी विपणन की सफलता के लिये शर्तें निर्धारित कीजिये । गन्ना, कपास, दूध, गेहूँ और घी के सहकारी विपणन के संगठन द्वारा प्राप्त लाभ के अनुभवों के बारे में बताइये ।

10

भारत में खाद्य समस्या एवं खाद्य नीति
(Food Problem and Food Policy in India)

भारत में विगत आठ वर्षों में निरन्तर खाद्यान्नों के 125 मिलियन के औसत वार्षिक उत्पादन से हमारी खाद्य अर्थव्यवस्था को नई दिशा प्राप्त हुई है। यद्यपि स्वतन्त्रता के उपरान्त से ही भारत में खाद्यान्नों का अभाव रहा है लेकिन अब खाद्य स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। अब देश में घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्नों का उत्पादन होता है। वस्तुत: भारत में खाद्य समस्या 1975-76 तक विद्यमान रही है।

भारत की खाद्य समस्या के विभिन्न रूप
अथवा
खाद्य अर्थव्यवस्था की प्रकृति

भारत की खाद्य अर्थव्यवस्था के प्रमुख 4 पहलू हैं।

(1) परिमाणात्मक पहलू अर्थात् मांग की तुलना में खाद्यान्नों की पूर्ति में कमी।

(2) गुणात्मक पहलू अर्थात् खाद्यों में पोषक तत्वों की कमी।

(3) प्रशासनिक पहलू अर्थात् दोषपूर्ण वितरण प्रणाली।

(4) आर्थिक पहलू अर्थात् लोगों की निम्न आय और खाद्यान्नों की ऊँची कीमतें।

(1) खाद्य समस्या का परिमाणात्मक पहलू
अथवा
खाद्य समस्या के कारण

खाद्य समस्या के परिमाणात्मक पहलू का सम्बन्ध खाद्यान्नों की कुल माँग और कुल पूर्ति से है। भारत में विभाजन के बाद से निरन्तर खाद्यान्नों का अभाव रहा है जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों से प्रतिवर्ष इनका आयात करना पड़ा है। 1966 में

खाद्यान्नों का आयात 1 करोड़ 3 लाख टन के लगभग हुआ था लेकिन बाद में आयातों की मात्रा घटी है परन्तु 1972 में हमने प्रथम बार खाद्यान्नों का निर्यात किया अर्थात इस वर्ष हमारे आयात गुणात्मक रहे 1973 से 1976 तक खाद्यान्नों के आयात प्रति-वर्ष 36 लाख टन से 75 लाख टन के बीच में रहे। 1977 में ये घटकर 5 लाख टन पर आ गये तथा 1978 से 1980 की अवधि में पुन: गुणात्मक रहे, अर्थात् आपातों की तुलना में निर्यात अधिक हुए जिससे पता चलता है कि देश की खाद्य स्थिति पहले से बेहतर हुई। 1981 से खाद्यान्नों का पुन: आयात किया जाने लगा है ताकि आवश्यक मात्रा में अनाज का बफर स्टाक बनाया जा सके। 1981 में आयात की मात्रा 4·5 लाख टन रही जो बढ़कर 1982 से 20 लाख टन हो गई। अत: सूखे व अकाल की स्थिति का सामना करने के लिए खाद्यान्नों का आयात करना आवश्यक हो जाता है। नीचे सारिणी में विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में खाद्यान्नों का उत्पादन की स्थिति दर्शायी गई है—

भारत में खाद्यान्नों का उत्पादन (मिलियन टनों में)

वर्ष	उत्पादन	वर्ष	उत्पादन
1950-51	55·1	1975-76	121·0
1955-56	69·3	1976-77	111·2
1960-61	82·3	1977-78	126·4
1965-66	72·4	1978-79	131·9
1970-71	108·4	1979-80	109·7
1971-72	105·2	1980-81	129·6
1972-73	97·0	1981-82	133·1
1973-74	104·7	1982-83	125-128
1974-75	99·8	1984-85 लक्ष्य	149-154

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि खाद्यान्नों के उत्पादन में पिछले 30 वर्षों में पर्याप्त वृद्धि हुई है, लेकिन खाद्यान्नों का उत्पादन काफी अस्थिर रहा है और यह माँग की तुलना में कम रहा है अर्थात खाद्यान्नों का अभाव रहा है।

खाद्यान्नों की माँग एवं पूर्ति के इस अन्तर के लिए दो प्रकार के कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है (यही खाद्य समस्या के कारण भी है) जैसा कि आगे चार्ट में दर्शाया गया है—

(i) खाद्यान्नों की माँग में वृद्धि
- (अ) जनसंख्या में वृद्धि
- (ब) प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि
- (स) शहरीकरण

(ii) खाद्यान्नों की पूर्ति में धीमी वृद्धि
- (अ) उत्पादकता में धीमी वृद्धि
- (ब) प्रकृति पर कृषि की निर्भरता
- (स) खाद्यान्न का अपव्यय
- (द) उपभोग सम्बन्धी आदत
- (य) खाद्य साधनों का अल्प उपयोग
- (र) दोषपूर्ण सरकारी नीति

(i) खाद्यान्नों की माँग में तीव्र वृद्धि—खाद्यान्नों की माँग में तेजी से वृद्धि के लिए कई कारक जिम्मेदार हैं जिनमें से प्रमुख कारक निम्नलिखित है :—

(अ) जनसंख्या में वृद्धि—खाद्यान्नों की माँग में तीव्र वृद्धि का प्रमुख कारण हमारी तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ही देश में खाद्यान्न के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के बावजूद खाद्यान्नों के माँग व पूर्ति के बीच की खाईं बढ़ती गई है, फलतः खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में कमी आई हैं।

(ब) प्रति-व्यक्ति आय में वृद्धि—भारत में आर्थिक विकास की योजनाओं के परिणामस्वरूप लोगों की आय में वृद्धि हुई है, तथा साथ ही कृषि वस्तुओं की माँग में भी वृद्धि हुई। भारत जैसे निर्धन देशों में आय बढ़ने पर खाद्यान्नों के उपभोग में तीव्रता में वृद्धि होती है, क्योंकि ऐसे देशों में अधिकांश लोग निर्धन होते हैं तथा निर्धन लोगों की खाद्यान्नों के लिए माँग की आय लोच 0·7 से 0·8 के समीप होती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि निर्धन व्यक्तियों की आय में 1 रुपये की वृद्धि होती है तो इसमें से 70 पैसे से लेकर 80 पैसे तक खाद्यान्नों में व्यय किये जाते हैं। स्पष्टतः भारत जैसे निर्धन देशों में लोगों की आय बढ़ने पर खाद्यान्नों की माँग में तीव्रता से वृद्धि होती है। स्पष्ट है कि देश में खाद्य समस्या को हल करने के लिए उत्पादन में तीव्रता से वृद्धि होना आवश्यक है।

(स) शहरीकरण—जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के साथ शहरीकरण भी तीव्र गति से हो रहा है। भारत में पहले कभी भी शहरी जनसंख्या इतनी तेजी से नहीं बढ़ी थी, जितनी की अब बढ़ रही है। शहरी जनसंख्या की मात्रा में वृद्धि से खाद्यान्नों की माँग भी बढ़ रही है।

(ii) खाद्यान्नों की पूर्ति में धीमी वृद्धि—जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में खाद्यान्नों के घरेलू उत्पादन में वृद्धि की दर कम रही। यह तथ्य दो बातों से स्पष्ट होता है। प्रथम खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति शुद्ध उपलब्धता में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है, यह एक लम्बी अवधि तक न्यूनतम पोषक आहार के स्तर 440 ग्राम

प्रति व्यक्ति प्रतिदिन से भी कम रही है। द्वितीय 1951-76 की अवधि में खाद्यान्नों के उत्पादन के निर्देशांक में बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई है।

खाद्यान्नों की पूर्ति में कमी के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित घटक उत्तर-दायी हैं—

(अ) उत्पादकता में धीमी वृद्धि—भारत में अन्य देशों की तुलना में प्रति हेक्टेयर उत्पादन काफी कम है, जिसके कारण देश में खाद्यान्नों का प्रायः अभाव रहता है। यद्यपि योजना काल में प्रति हेक्टेयर उत्पादकता में सुधार हुआ है परन्तु खाद्यान्नों की उत्पादकता के निर्देशांक में बहुत धीमी गति से वृद्धि हुई है, यह 1968-69 में 100 था जो कि 1976-77 में बढ़कर 109·1 हो सका है। अन्य शब्दों में लगभग एक दशक के दौरान खाद्यान्नों की उत्पादकता में केवल 9 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। यद्यपि उसके बाद उत्पादकता का निर्देशांक बढ़ा है और 1980-81 में बढ़कर 125·0 हो गया है।

(ब) प्रकृति पर कृषि की अत्यधिक निर्भरता—भारतीय कृषि मानसून पर अत्यधिक निर्भर है जिसके कारण प्रतिकूल वर्षा व जलवायु, फसल के रोग व कीटाणु से कृषि उत्पादन अचानक घट जाता है जिससे खाद्य समस्या कठिन हो जाती है।

(स) खाद्यान्न का अपव्यय—भारत में खाद्यान्न का अपव्यय बड़ी मात्रा में होता है। निम्न तालिका से स्पष्ट पता चलता है कि हम जो उत्पादन करते हैं उसके लगभग 10 प्रतिशत का हम उपभोग नहीं कर पाते। भारत में जहाँ अनाज की कमी है, वहाँ इस बर्बादी का काफी महत्त्व है। 'खाद्य निगम' के डा० पिंगले बर्बादी का प्रतिशत 8 से 40 तक मानते हैं। यद्यपि यह एक विवाद का विषय हो सकता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई भी वैज्ञानिक ढंग से बनाये गये निर्देशांक उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी बर्बादी काफी होती है और बर्बादी से हमारी खाद्यान्न समस्या सम्बन्धित है।

(द) उपभोग सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन—जैसा कि डा० राधाकमल मुकर्जी ने बताया कि उपभोग सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन भी खाद्य के अभाव के लिए उत्तर-दायी है। एक ओर तो किसानों में पौष्टिक खाद्यान्नों के स्थान पर घटिया खाद्यान्नों के उत्पादन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है और दूसरी ओर ज्वार, बाजरा, कोदों आदि घटिया खाद्यान्नों की अपेक्षा गेहूँ, चावल आदि बढ़िया खाद्यान्नों का उपभोग बढ़ रहा है, जिससे बढ़िया खाद्यान्नों की समस्या अधिक कठिन है।

(य) खाद्य साधनों का अल्प उपभोग—भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग शाकाहारी है अतः किसी वर्ष खाद्यान्न का अभाव हो तो उसकी पूर्ति मांस मछली आदि वस्तुओं से नहीं की जा सकती। भारत की जनसंख्या के लिए मांसाहारी बनने की बड़ी आवश्यकता है।

(र) दोषपूर्ण सरकारी नीति—खाद्यान्न की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी रहा है कि देश में खाद्यान्नों के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं अपनाई गई। पर्याप्त उत्पादन होने पर भी व्यापारी एवं सटोरिये खाद्यान्न का संचय कर लेते

हैं जिससे बाजार में उपलब्ध पैदावार कम हो जाती है और कीमतें बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार अनेक बार देखा गया है कि सरकार यह तो निश्चित कर लेती है कि अमुक मात्रा में विदेशों से खाद्यान्न मँगवाना है किन्तु प्रबन्ध व्यवस्था की शिथिलता के कारण उसके मँगाने में अवांछनीय देर हो जाती है।

(2) खाद्य समस्या का गुणात्मक पहलू

हमारी जनता को केवल पर्याप्त भोजन ही नहीं मिलता बल्कि उसका आहार असंतुलित व पौष्टिक तत्त्वों से हीन है। वैज्ञानिकों के अनुसार संतुलित भोजन में प्रति व्यक्ति प्रति दिन 3000 कैलोरी होनी चाहिये, परन्तु भारत में प्रति दिन प्रति व्यक्ति लगभग 2000 कैलोरी ही मिल पाती है। भारत की स्थिति विभिन्न अल्पविकसित देशों की तुलना में कितनी शोचनीय है, यह सारणी द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

कुछ अल्पविकसित देशों में खाद्य उपलब्धि के स्तर

देश	वर्ष	कैलोरीज	प्रोटीन
अर्जेण्टाइना	1960	3160	105
ब्राजील	1970	2820	67
मैक्सिको	1964-66	2620	66
संयुक्त अरब गणराज्य	1968-69	2770	80
सीरिया	1964-66	2450	68
भारत	1969-70	1990	49

भारत में खाद्यान्नों में पोषक तत्त्वों की कमी के लिए उत्तरदायी कारण इस प्रकार हैं :—

(अ) देश में रक्षात्मक खाद्यों का कम उत्पादन।

(ब) धार्मिक भावना के कारण मांस, मछली, अण्डे आदि का प्रयोग न होना।

(स) जनता की निरक्षता एवं अज्ञान के कारण भोजन में पोषक तत्त्वों की उपयोगिता पर ध्यान न देना।

(द) निर्धनता के कारण पोषक पदार्थ न खरीद पाना। इस असंतुलित आहार का ही परिणाम है कि भारत के नागरिकों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है वे शीघ्र ही बीमारी तथा मृत्यु के शिकार हो जाते हैं तथा जनता की कार्य-क्षमता बहुत कम है।

(3) खाद्य समस्या का प्रशासनिक पहलू

खाद्यान्नों के प्रशासनिक तथा वितरणात्मक पहलू से आशय यह है कि देश में जितने भी खाद्यान्न उपलब्ध हैं उन्हें जनता में उचित मूल्य और उपयुक्त समय पर

वितरित कर दिया जाय। संक्षेप में प्रशासनिक पहलू में निम्न कार्य सम्मिलित किये जाते हैं—

(अ) देश में खाद्यान्नों की पूर्ति और माँग का सही अनुमान लगाना।

(ब) खाद्यान्नों के भण्डार को गोदामों में सुरक्षित रखना व संकट कालीन परिस्थितियों के लिए खाद्यान्नों के यथोचित भण्डार बनाना।

(स) कमी वाले स्थानों पर उपयुक्त समय में यथेष्ट खाद्यान्न भेजने का प्रबन्ध करना।

(द) खाद्यान्न के उचित मूल्य निर्धारित करना और उचित मूल्य पर जनता को ठीक समय पर खाद्यान्न देने की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त व्यवस्था न करने से अनेक बार देश में खाद्यान्न की कमी न होने पर भी उसकी कमी दिखाई पड़ती है। भारत में खाद्यान्नों के वितरण की व्यवस्था भी असंतोषजनक है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० राज का मत है कि देश में खाद्यान्न की कमी नहीं है वरन् सरकार की अदूरदर्शिता और प्रशासन व्यवस्था का अभाव प्रतीत होता है। श्री पी० के० कृष्ण मेनन के शब्दों में "खाद्यान्न समस्या का मूल कारण वस्तु का अभाव नहीं है, बल्कि दोषपूर्ण, असफल और निर्जीव सरकारी वितरण है जिसके कारण उपभोक्ता तक अनाज नहीं पहुँच पाता है। सन् 1943 के बंगाल के अकाल का मुख्य कारण दोषपूर्ण खाद्य वितरण था।"

(4) खाद्य समस्या का आर्थिक पहलू

भारत में जनता के पास क्रयशक्ति बहुत कम है जिससे हमारे नागरिक देश में जो अन्न उपलब्ध है उसे खरीदने में कठिनाई अनुभव करते हैं। अतः धनाभाव के कारण भी भारत की अधिकांश जनता अनाज नहीं खरीद पाती व विदेशों से भी पर्याप्त आयात नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हमारी खाद्य समस्या का एक कारण सामान्य जनता में क्रयशक्ति का अभाव भी है। इधर कई वर्षों से देश में खाद्य की कीमतों में प्रायः लगातार व तेजी से वृद्धि हो रही है। स्थिर आय-स्तर एवं कमजोर वर्ग में बढ़ती हुई बेरोजगारी के सन्दर्भ में खाद्य पदार्थों की कीमत में थोड़ी वृद्धि क्रय-शक्ति को बहुत कम कर देती है और जब कीमतों में बहुत अधिक वृद्धि होती है जैसा कि आजकल देश में हो रहा है, तब ऐसे वर्ग के लोगों को दिन में एक समय भोजन मिलना भी कठिन हो जाता है। इस प्रकार भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग भारी भुखमरी के स्तर पर निर्वाह करता है।

खाद्य समस्या को हल करने के सुझाव (उचित खाद्य की नीति की दिशा में आवश्यक सुझाव)

भारतीय खाद्य समस्या को हल करने के लिए कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं; जैसे :—

1. खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि—खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि के उपायों को हम अग्रलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

(अ) **तकनीकी उपाय**—उत्पादन बढ़ाने के लिए उन्नत बीज, अधिक उर्वरक और सिंचाई सुविधाओं का महत्त्व सभी को स्वीकार है। अतः इन उपायों द्वारा सघन खेती की जानी चाहिये और भूमि सुधार, भूमि पुनरुद्धार और सघन खेती को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। उत्पादन के प्रति निश्चिन्त तभी हुआ जा सकता है, जब सिंचाई की वर्तमान सुविधाओं को काफी सीमा तक बढ़ाया जाये।

(ब) **संरचनात्मक परिवर्तन**—कृषि उत्पादन बढ़ाने का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपाय भूमि सुधार है। भारत के वर्तमान कृषि ढाँचे में जहाँ जोत का आकार छोटा है और जहाँ कास्तकारी विधान लागू है, उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन नहीं है। अतः चकबन्दी द्वारा जोतों की सीमा निर्धारण, पट्टे का नियंत्रण एवं नियमन तथा सहकारी खेती पर जोर दिया जाना चाहिये। हर्ष की बात है कि भारत सरकार इन दिशाओं में विशेष ध्यान दे रही है।

(स) **संगठनात्मक परिवर्तन**—कृषि संगठन के अन्तर्गत न केवल सहकारी प्रशासन व्यवस्था सम्मिलित है वरन् अर्द्ध सरकारी संस्थाएँ, सरकारी समितियाँ, पंचायतें और सामुदायिक विकास का भी समावेश किया जाता है। उन्नत बीजों, सिंचाई सुविधाओं, कीटनाशकों के उपयोग से कृषि उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्नों में सफलता उस समय मिल सकती है जब कि उचित संगठन द्वारा उसे कृषकों को ठीक समय पर उपलब्ध कराया जाय। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कृषकों को बीज, उर्वरक, कीटनाशक आदि कृषि उत्पादनों को उपलब्ध कराने के लिए संगठनात्मक ढाँचे को उन्नत किया जाय।

2. **वितरण की सुव्यवस्था**—खाद्य संकट तथा ऊँची मूल्य प्रगति तथा संग्रह प्रवृत्ति को दूर करने के लिए खाद्यान्न वितरण की सुव्यवस्थित योजना को अपनाया जाना चाहिए। इसके लिए खाद्यान्नों का थोक व्यापार आवश्यकता पड़ने पर सरकार को अपने हाथों में ले लेना चाहिए। सरकारी समितियों को उचित मूल्य वाली दूकानों द्वारा खाद्यान्न वितरण का उचित प्रबन्ध करना चाहिये।

3. **जनसंख्या का नियोजन**—खाद्य समस्या को स्थाई रूप से दूर करने के लिए जनसंख्या का नियंत्रण अति आवश्यक है। जन्म दर को हजार पीछे 40 से 25 तक शीघ्रातिशीघ्र लाने के लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम का अधिकाधिक प्रचार अनिवार्य है। 'कम बच्चे पैदा करो आन्दोलन' के अभाव में हमारे देश में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' सफल नहीं हो सकता।

4. **आहार प्रणाली में परिवर्तन**—अभी तक हमारे देश में भोजन पदार्थों में अन्न की ही प्रधानता रही है। वह कम होनी चाहिए तथा फल, तरकारियों, दूध, अंडे, मछलियों आदि पदार्थों पर अधिक बल देना चाहिए।

5. **उचित खाद्यान्न मूल्य नीति**—किसानों को प्रेरणा देने के लिये कृषि उपज का उचित मूल्य निश्चित किया जाना चाहिये और बाजार मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिए खाद्यान्नों के सुव्यस्थित भण्डार बनाये रखना चाहिये।

6. **छोटे किसानों और काश्तकारों के सम्बन्ध में दृष्टिकोण परिवर्तन**—हमें

छोटे किसानों और काश्तकारों के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदलना होगा जिससे इन्हें साख की अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें और ये उत्पादन बढ़ाने में अपना अधिक सहयोग दे सकें इसके लिए छठी पंचवर्षीय योजना में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम को सफल बनाया जाना चाहिए।

7. **खाद्यान्नों के लिए आर्थिक सहायता में कमी**—विगत वर्षों में खाद्यान्नों की बिक्री पर आर्थिक सहायता काफी बढ़ गया है जिससे जनता पर कर का भार बढ़ता जा रहा है। खाद्यान्नों के संग्रह में वितरण व्यय में कमी करके और खाद्य प्रशासन को अधिक कार्यकुशल बनाकर आर्थिक सहायता में कमी की जा सकती है।

8. **स्थिर खाद्य नीति की आवश्यकता**—भारत जैसे विशाल देश के लिए जहाँ खाद्यान्नों के उत्पादन में काफी अस्थिरता है एक सुदृढ़ व स्थिर खाद्य नीति की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रो० डी० एस० मिन्हास का मत है कि "एक स्थिर खाद्य-नीति के अभाव में खाद्यान्नों के उत्पादन के क्षेत्र में हमारी कमियाँ और भी तीव्र हो जाती है। हमारी खाद्य-नीति काफी अस्थिर भी रही है : एक वर्ष खुले बाजार में खरीद, दूसरे वर्ष एकाधिकारी खरीद, तीसरे वर्ष व्यापारियों व मिलर्स पर लेवी और चौथे वर्ष में इनमें से कुछ का मिश्रण तथा पाँचवें वर्ष में पुनः इनमें से किसी भी एक पर वापस चले जाने की स्थिति आदि। इस प्रकार पिछली दशाब्दी में एक स्थायी व स्थिर खाद्य नीति की कमी ने हमें बहुत हानि पहुँचायी है। इसी के फलस्वरूप हमें खाद्यान्नों के आयात की शरण लेनी पड़ती है, जिसमें दीर्घकाल तक रियायती शर्तों पर पी० एल० 480 के आयातों के अलावा आजकल के व्यावसायिक आयात भी शामिल हैं।"

9. **खाद्य प्रशासन में सुधार**—भारत की खाद्य समस्या का एक प्रमुख कारण खाद्य प्रशासन के कर्मचारियों की अकुशलता और बेईमानी भी है। अतः इसमें सुधार लाना अनिवार्य है।

10. **खाद्यान्न अपव्यय पर रोक**—दोषपूर्ण यातायात, संग्रह व आहार पद्धति से खाद्यान्नों का जो व्यय होता है उसे न्यूनतम करना चाहिये। साथ ही गोदाम निगम तथा सहकारी समितियों के गोदामों की क्षमता बढ़ानी चाहिये और उनकी वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिए कदम उठना चाहिये।

भारत सरकार की खाद्य नीति

खाद्य समस्या को हल करने के लिये भारत सरकार ने जो प्रयत्न किये हैं उनका हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

(अ) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व, और

(ब) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद किये गये प्रयत्न अर्थात् खाद्य नीति।

(अ) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व खाद्य नीति—(i) 1942 में खाद्य विभाग की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य सैनिक एवं नागरिकों के लिए खाद्यान्न की बढ़ती हुई कीमतों को नियन्त्रित करना था।

(ii) 1943 में खाद्यान्न नीति समिति की स्थापना की गई। इस समिति ने

खाद्यान्न की राशनिंग एवं नियंत्रण व्यवस्था को अपनाया एवं खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए आन्दोलन चलाने की सिफारिश की। भारत सरकार ने इस सिफारिश के आधार पर 1943 में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत उत्पादन बढ़ाने के लिए 4 लक्ष्य निर्धारित किये। (क) खाद्य उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि, (ख) सिंचाई के साधनों का पर्याप्त विस्तार, (ग) खेतों की उर्वरा शक्ति में वृद्धि, (घ) अच्छे बीजों के प्रयोग का प्रचार।

(ब) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद खाद्य नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने देश की खाद्य समस्या के समाधान पर विशेष ध्यान दिया और देश की खाद्य स्थिति की जाँच के लिए 1947 में द्वितीय खाद्य नीति समिति की स्थापना की। इस समिति ने खाद्यान्न समस्या के समाधान के लिए निम्न परामर्श दिये—

(क) खाद्यान्न के आयात पर सरकार का एकाधिकार हो।

(ख) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार की खाद्य नीतियों में सन्तुलन की स्थापना हो।

(ग) कृषि योग्य भूमि का पुनरुत्थान किया जाय।

(घ) खाद्यान्न उत्पादन की एक पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की जाय।

योजनावधि में खाद्य समस्या के समाधान के लिए सरकार ने जो प्रयत्न किये हैं उन्हें हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं जैसा कि प्रदत्त चार्ट में दर्शाया गया है :—

खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि की दिशा में उपाय	खाद्यान्नों के वितरण सम्बन्धी उपाय	खाद्यान्नों के उपभोग सम्बन्धी नीति
1. तकनीकी उपाय	1. खाद्य नियंत्रण व खाद्य क्षेत्रीय व्यवस्था	1. जनसंख्या नीति
2. भूमि सुधार	2. विशाल अन्न भण्डारों का निर्माण	2. पोषण नीति
3. प्रेरक मूल्य नीति	3. उचित मूल्यों की दूकान पर खाद्यान्न वितरण	
4. विशिष्ट संस्थानों की स्थापना	4. सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली	
5. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा व्यवस्था	5. आयात की व्यवस्था	
	6. खाद्यान्नों की जमाखोरी व मुनाफाखोरी पर नियंत्रण	
	7. साख नियंत्रण के उपाय	
	8. भारतीय खाद्य निगम की स्थापना	
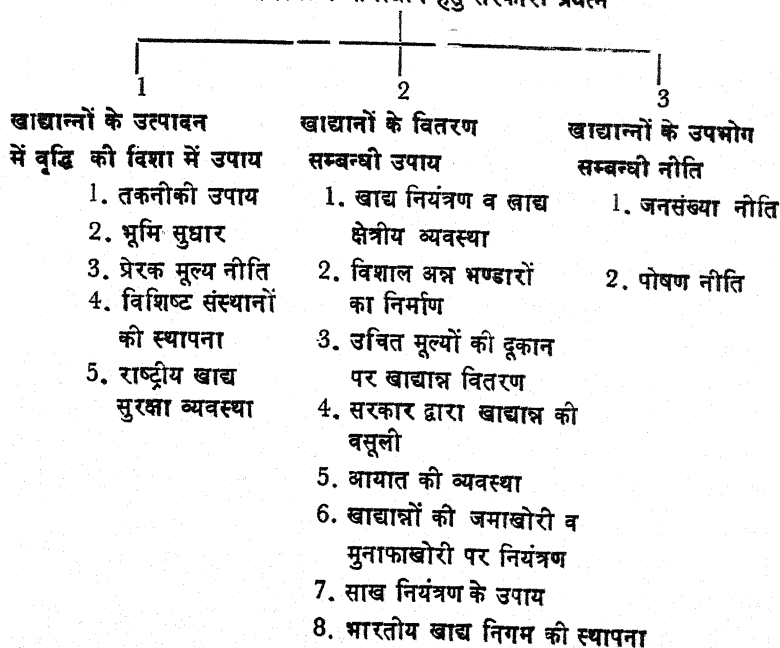
1. खाद्यान्नों के उत्पादनों में वृद्धि की दिशा में प्रयास

खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए निम्नलिखित उपाय किये गये हैं :—

1. **तकनीकी उपाय**[1]—खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकी उपायों का महत्त्व 1966 के बाद से काफी बढ़ गया है। तकनीकी उपायों के अन्तर्गत सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार, सघन कृषि कार्यक्रम, बहुफसली कार्यक्रम अधिक उपज देने वाली किस्मों का उगाना, उर्वरकों का अधिकाधिक प्रयोग तथा कृषि के यन्त्रीकरण पर जोर दिया जा रहा है। इन तकनीकी उपायों से न केवल उत्पादकता में वृद्धि हुई है बल्कि खेती के अन्तर्गत क्षेत्र का विस्तार भी हुआ है।

2. **भूमि-सुधार**[2]—नियोजन के प्रारम्भ से ही देश में भूमि-सुधार कार्यक्रमों को महत्त्व दिया गया है। प्रथम योजना में यह स्वीकार किया गया है कि भूमि स्वामित्व और खेती प्रारूप की संरचना राष्ट्रीय विकास के लिए आधारभूत प्रश्न है। अतः मध्यस्थों को समाप्त करने के लिए सभी राज्यों में कानून बनाये गये। विभिन्न राज्यों में जोतों की उच्चतम सीमाबन्दी की गई। लगान का नियमन हुआ। जमींदारों द्वारा काश्तकारों से ली जाने वाली बेकार आदि अवैध करार दी गई। इस प्रकार निश्चय ही भूमि सम्बन्धों में परिवर्तन हुए। उपविभाजित एवं अपखंडित जोतों के कारण कृषि कार्य में दोषों को दूर करने के लिए अनेक राज्यों में चकबन्दी की गई। सरकारी खेती की उपयोगिता की चर्चा यद्यपि बहुत हुई, तथापि व्यवहार में इसे थोड़े लोगों ने ही अपनाया।

3. **प्रेरक मूल्य नीति**—1 जनवरी 1965 को भारत सरकार ने खाद्यान्नों की कीमतों पर विचार करने के लिए झा समिति की सिफारिश पर कृषि मूल्य आयोग की स्थापना की। पिछले 12 वर्षों में आयोग ने प्रायः कृषकों को खाद्यान्नों के प्रेरक मूल्य देने के लिए सुझाव दिये हैं। परन्तु आयोग द्वारा निर्धारित खाद्यान्न वसूली की कीमतें बहुत आकर्षक नहीं रही हैं।

4. **विशिष्ट संस्थानों की स्थापना**—खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने तथा कृषि का विकास करने के लिए सरकार ने अनेक संस्थानों की स्थापना की है, जिनमें National seeds Corporation, Agro-Industries Corporation Agricultural Prices Commission तथा Food Corporation of India विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

5. **राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा व्यवस्था**—सरकार अब एक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा प्रणाली निर्माण करने की ओर अग्रसर हो रही है। इस समयोचित और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य के चार मुख्य आधार होंगे। सिंचित तथा असिंचित क्षेत्रों में भी मुख्य फसलों के उत्पादन और उत्पादकता में सुधार प्राकृतिक आपदाओं तथा कीड़े-

---

1. विस्तृत अध्ययन के लिये, 'योजनाओं में कृषि विकास एवं हरी क्रान्ति' नामक अध्याय देखें।

2. विस्तृत अध्ययन हेतु 'भूमि व्यवस्था एवं भूमि-सुधार' नामक अध्याय देखें।

मकोड़ों से फसल का संरक्षण, एक स्थायी अनाज भंडार का निर्माण ताकि अनाज की कीमतों में भारी घटा-बढ़ी को रोका जा सके और एक और भी व्यापक और प्रभावी वितरण व्यवस्था का निर्माण।

इसमें कोई शक नहीं है कि इन चार मुख्य बातों पर आधारित खाद्य सुरक्षा प्रणाली देश के अनाज उत्पादन में स्थायित्व लायेगी और किसी साल कम और किसी साल अधिक उत्पादन के कारण होने वाली अनाज की कीमतों की घटा-बढ़ी पर काबू पाया जा सकेगा और उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों को अनिश्चितता तथा हानि से बचाया जा सकेगा।

2. खाद्यान्नों के वितरण सम्बन्धी उपाय

(1) **खाद्य नियंत्रण तथा खाद्य क्षेत्रीय व्यवस्था**—एक राज्य से दूसरे राज्य को खाद्यान्नों के संचालन पर समय-समय पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इन प्रतिबन्धों को लागू करने के लिए देश को कई क्षेत्र में बाँटा गया है। इन नीति का उद्देश्य प्रत्येक क्षेत्र को आत्म-निर्भर बनाना है। इसके अलावा खाद्यान्नों के घाटे वाले क्षेत्रों में खाद्यान्नों की कमी को अतिरेक उत्पादन वाले क्षेत्रों की सहायता से दूर किया जाता है। खाद्यान्नों के संचालन पर प्रतिबन्ध की नीति को सर्वप्रथम 1957 में अपनाया गया था। सन् 1972-75 में पुनः क्षेत्रीय नियन्त्रणों को लागू किया गया। ये नियन्त्रण 1977 तक लागू रहे। लेकिन 1977 के अन्त में गेहूँ तथा गेहूँ के पदार्थों, चावल एवं अन्य खाद्यान्नों के संचालन पर से सभी नियंत्रण हटा लिए गये। वर्तमान समय में देश के विभिन्न क्षेत्रों में खाद्यान्नों का मुक्त रूप से संचालन किया जा सकता है।

(2) **विशाल अन्न भण्डार (बफर स्टॉक) का निर्माण**—सरकार की खाद्यान्नों के बाजार में प्रभावशीलता बहुत बड़ी सीमा तक स्टॉकों की मात्रा पर निर्भर करती है। स्टॉकों की मात्रा दो बातों पर निर्भर करती है। (अ) वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थात् वर्ष भर खाद्यान्नों की नियमित पूर्ति बनाए रखने के लिए तथा (ब) फसलों की कमी वाले वर्षों में खाद्यान्नों की पूर्ति को बनाए रखने के लिए। प्रथम विचार की सहायता से खाद्यान्नों की पूर्ति में होने वाली मौसमी उतार-चढ़ावों को दूर किया जा सकता है जबकि दूसरे विचार की सहायता से वार्षिक उतार-चढ़ाव को कम किया जा सकता है। पहले स्टॉक को समान स्टॉक तथा दूसरे को बफर स्टॉक कहते हैं बफर स्टाक स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य कीमतों को स्थिर करना और कृषकों की आय में स्थिरता लाना है। भारत में बफर स्टॉक की वर्तमान मात्रा 18 मिलियन टन है।

(3) **सार्वजनिक वितरण प्रणाली**—अर्थव्यवस्था के कमजोर वर्ग को खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए ही विशेष रूप से सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकास किया गया है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली देश भर में फैली हुई सस्ते दर की दुकानों के माध्यम से काम कर रही है। सन् 1966 में जबकि

देश में खाद्यान्नों का घरेलू उत्पादन का स्तर बहुत कम था, सर्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से देश में खाद्यान्नों का योगदान कुल शुद्ध उपलब्धता का 20 प्रतिशत भाग था। लेकिन गत दशक में इस प्रणाली की सहायता से देश में खाद्यान्नों की कुल शुद्ध उपलब्धता का केवल 10 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो सका है।

(4) **सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली**—सरकार की खाद्य नीति में सरकार द्वारा खाद्यान्न की वसूली एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। देश के विभिन्न राज्यों में सरकार द्वारा अनाज की वसूली की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित की गयी हैं। (i) एकाधिकार वसूली प्रणाली, (Monopoly Procurement) (ii) उत्पादकों पर वसूली लागू करने की प्रणाली, (Graded levy on Producers (iii) मिल मालिकों व व्यापारियों पर वसूली लागू करने की प्रणाली (Levy on Mills and Traders), (vi) खुले बाजार में क्रय की प्रणाली (Open Market Purchases)।

निम्न तालिका में सरकार के द्वारा की गई खाद्यान्नों की खरीद व सार्वजनिक वितरण की प्रगति का उल्लेख किया गया है।

वर्ष	खाद्यान्नों की शुद्ध उपलब्धि (मिलियन टनों में)	खरीद (Procurement) (मिलियन टनों में)	सार्वजनिक वितरण (मिलियन टनों में)	सार्वजनिक वितरण की मात्रा (कालम4) खाद्यान्नों की शुद्ध उपलब्धि (कालम 2) के प्रतिशत के रूप में
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1966	73·5	4·0	14·1	19·2
1981	114·1	12·9	13·0	11·4
1982	116·7	15·4	14·8	12·7
1683 (फरवरी)	125	6·3	2·8	2·24

(5) **आयात की व्यवस्था**—देश में खाद्यान्न के अभाव को दूर करने के लिए सरकार ने खाद्यान्नों के आयात की व्यवस्था की है पिछले कुछ वर्षों में आयात की स्थिति नीचे तालिका से स्पष्ट है—

वर्ष	खाद्यान्नों का विशुद्ध आयात (लाख टन में)
1972	(—) 5
1973 से 1976 तक	36 से 75 तक
1982	20
1981	4·5
1980	(—) 3·5
1979	(—) 8·6
1978	(—) 6·3
1977	4·9

(6) **खाद्यान्नों की जमाखोरी मुनाफाखोरी के विरुद्ध किये गये प्रयत्न**—सरकार ने उन व्यापारियों और उत्पादकों को जो लाभ कमाने की दृष्टि से खाद्यान्नों को बड़े पैमाने पर संग्रह करते हैं सजा देने के लिए (आवश्यक पदार्थ अधिनियम) और 'भारतीय प्रतिरक्षा नियम' के अन्तर्गत सजा की व्यवस्था की है ?

(7) साख नियन्त्रण के उपाय—व्यापारी अनावश्यक सट्टेबाजी-जमाखोरी करने के लिए बैङ्कों से उधार लेते हैं। भारत सरकार ने रिजर्व बैङ्क के द्वारा खाद्यान्न के समूह के लिए वाणिज्य बैङ्कों द्वारा व्यापारियों को दिये जाने वाले ऋण पर प्रतिबन्ध लगा दिया है।

(8) भारतीय खाद्य निगम की स्थापना—कीमतों को स्थिर रखने के लिए और खाद्यान्नों का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए भारत सरकार ने जनवरी 1965 की खाद्य निगम (Food Corporation) की स्थापना की। खाद्य निगम सरकार के एजेण्ट के रूप में काम करता है और खुले बाजार में खाद्यान्नों को खरीद व बेच सकता है।

3. खाद्यान्नों के उपभोग सम्बन्धी नीति

भारत में खाद्यान्नों के उपभोग के दो पहलू हैं—प्रथम खाने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो रही है और द्वितीय अधिकांश लोगों का उपभोग का स्वरूप अनाजों एवं चावल के पक्ष में है।

(1) जनसंख्या नीति—(Population Policy) जनसंख्या नीति के सम्बन्ध में सरकार की नीति का उद्देश्य लोगों को उनके परिवारों के आकार को नियन्त्रित करने के लिए सुविधाएँ प्रदान करना है। परिवार कल्याण कार्यक्रम जो कि राष्ट्रीय जनसंख्या नीति का ही अंग है, जन्म दर को कम करने का एक कारगर उपाय है।

(2) पोषण नीति—(Nutrition Policy) सरकार की पोषण नीति का उद्देश्य लोगों के अनाज के उपभोग को गैर अनाज खुराक से प्रतिस्थापित करना है। लेकिन इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि भोजन में पोषक तत्त्वों की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए।

खाद्य एवं पोषण बोर्ड ने पोषक आहारों के क्रमिक विकास, संरक्षण और प्रभावकारी इस्तेमाल के लिए अनेक कार्यक्रम हाथ में लिए हैं। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य पोषक आहारों की आपूर्ति बढ़ाना, खासतौर से आहार कार्यक्रमों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए आहारों की पौष्टिकताएँ बढ़ाना पोषण कर्मचारियों और उपभोक्ताओं का शिक्षण-प्रशिक्षण और समेकित खाद्य एवं पोषण प्रणाली के विकास का आयोजन करना है ताकि इन उपायों के द्वारा लोगों के पोषण में सुधार लाया जा सके। बोर्ड ने चावल, दाल और मक्के की पिसाई के आधुनिकीकरण तथा अन्य खाद्यान्नों के परिष्करण एवं फल और शाक सब्जी संरक्षण उद्योग, प्रोटीन आहार उद्योग और बेकरी उद्योग के संवर्धन की दिशा में भी कदम उठाये हैं।

खाद्य नीति की असफलताएँ व दोष

(1) उत्पादन में वांछित वृद्धि नहीं—सरकार ने विभिन्न पञ्चवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बहुत से कार्यक्रम अपनाए परन्तु हम बहुत बार उत्पादन के लिए निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहे हैं। इसका मुख्य

कारण यह है कि न तो उत्पादन-कार्यक्रमों को भली प्रकार सोच-समझकर बनाया गया है और न उन्हें प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित ही किया गया है।

(2) **राजनीतिक दबाव**—राजनीतिक परिस्थितियों का भी खाद्य-नीति पर बहुत प्रभाव रहा है। उदाहरणार्थ 1967 में केन्द्रीय सरकार ने राज्यों के मुख्य-मंत्रियों के दबाव में आकर अन्न की वसूली के लिए मूल्यों को बढ़ाना स्वीकार किया परन्तु यह कृषि मूल्य कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध था। इस प्रकार राज्य सरकारों ने अन्न वसूली कार्यक्रमों को भली प्रकार कार्यान्वित नहीं किया क्योंकि वे अपनी पार्टी के लोगों व मतदाताओं को नाराज करने का जोखिम नहीं लेना चाहते थे।

(3) **जनसंख्या नियन्त्रण में असफलता**—भारत सरकार के परिवार नियोजन कार्यक्रम बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करने में असफल रहे हैं। इस दशा में जितना प्रयत्न होना चाहिये था, वह नहीं किया गया है।

(4) **पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय का प्रभाव**—अतिरेक राज्य (Surplus States) केन्द्रीय सरकार के साथ खाद्य-नीति लागू करने में उचित सहयोग नहीं देते और जान-बूझकर अपनी आवश्यकताओं का अनुमान अधिक तथा उत्पादन का अनुमान कम बताते हैं।

(5) **सुव्यवस्थित व दोषरहित प्रशासन का अभाव**—भारतवर्ष में कुशल, योग्य तथा ईमानदार प्रशासनिक सेवाओं का अभाव है जिसके कारण खाद्य-नीति का कुशल संचालन नहीं हो पाता है।

(6) **सरकार की नीतियों में व्यग्रता तथा इसका शीघ्र ही सन्तुष्ट हो जाना**—उदाहरण के लिए प्रथम योजना की सफलता ने सरकार को कृषि की ओर से सन्तुष्ट बना दिया। फलतः द्वितीय योजना में कृषि-विकास के लिये अधिक ध्यान नहीं दिया गया।

भारतीय खाद्य निगम

1957 में अशोक मेहता समिति ने यह सुझाव दिया था कि 100 करोड़ रुपये की पूंजी से भारत सरकार द्वारा एक खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन स्थापित किया जाय। सन् 1964 में दिल्ली में जो मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन हुआ था उसमें अशोक मेहता समिति द्वारा दी गई रूपरेखा के आधार पर एक भारतीय खाद्यान्न निगम स्थापित करने का निश्चय किया गया। 17 नवम्बर 1964 को भारतीय संसद में एक बिल प्रस्तुत किया गया जो तुरन्त पास कर दिया गया। फलतः जनवरी 1965 में खाद्यान्न निगम की स्थापना 100 करोड़ रुपये की पूंजी लगाकर की गई।

निगम के कार्य—निगम का उद्देश्य सबके लिये भोजन रक्खा गया है। इस निगम के मुख्य कार्य हैं—

1. **अन्न भंडार**—निगम द्वारा अन्न के यथेष्ट भंडार निर्मित किये जायेंगे, जिससे उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिल सकेंगे।

2. **उचित प्रोत्साहन**—खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के लिए निगम किसानों

को दिये जाने वाले ऋणों को गारन्टी देगा तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिये खाद्य तथा कीटाणु नाशक पदार्थों का प्रबन्ध करेंगे।

3. गोदाम व्यवस्था—निगम द्वारा खाद्यान्नों को सुरक्षित गोदामों में रखने कि दिशा में कार्य किया जायेगा।

4. कृषि प्रबन्ध—निगम कृषि प्रबन्ध सम्बन्धी नई प्रविधियों का विकास कर किसानों को उनमें प्रशिक्षण देगा ताकि किसानों की कुशलता में वृद्धि हो सके।

5. शोध—कृषि फसलों का प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने और फसलों को कीटाणुओं और रोगों से बचाने के लिये निगम द्वारा कृषि फसलों तथा प्रविधियों में शोध किया जाएगा।

6. वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग—खेती में नवीनतम वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग हो और कृषि का यंत्रीकरण हो सके इस दिशा में भी निगम द्वारा प्रयास किया जायेगा।

7. सहायक खाद्य पदार्थों का विकास—मुर्गी, मछली, मांस तथा फल, साग, सब्जी आदि सहायक खाद्य पदार्थों से उत्पादन का विकास और उनके उपयोग को प्रोत्साहन भी निगम द्वारा दिया जायेगा।

8. थोक तथा फुटकर मण्डियों की व्यवस्था—उपभोक्ता को उचित मूल्य पर खाद्यान्न मिल सके इसलिये निगम द्वारा खाद्यानों की थोक बिक्री तथा फुटकर वितरण की व्यवस्था की जायेगी

9. अन्य कार्य—(अ) निगम द्वारा बिस्कुट, मिठाई, आदि खाद्यान्नों से सम्बन्धित उद्योगों को प्रोत्साहित किया जायेगा।

(ब) निगम द्वारा खाद्यान्नों का उपभोग संतुलित करने की चेष्टा की जायेगी।

(स) निगम आवश्यकता पड़ने पर अपनी परिवहन व्यवस्था भी करेगा।

संक्षेप में खाद्यान्नों की खरीद, संग्रह, परिवहन, वितरण व विक्री का कार्य मुख्यत: यह निगम करेगा देश के खाद्यान्न व्यापार में अग्र-स्थान प्राप्त करने की दिशा में कदम उठायेगा।

निगम की गतिविधियाँ—निगम वर्ष में लगभग 6300 करोड़ रुपये का कारोबार करता है। निगम प्रतिवर्ष एक करोड़ टन अनाज की खरीद करने के अलावा आयातित गैरपोटाशिक उर्वरकों और राशन की चीनी का काम भी संभालता है।

निगम के पास 2·20 करोड़ टन अनाज का भंडारण करने के लिए वैज्ञानिक ढंग के भंडार हैं। विश्व बैंक की सहायता से तथा निगम के अपने जोरदार कार्यक्रमों के अन्तर्गत यह भंडारण क्षमता बढ़ाई जा रही है। छठी पंचवर्षीय योजना में 20 लाख टन भण्डारण क्षमता की और व्यवस्था करने का प्रस्ताव है। उचित दर की दुकानों से विक्री के लिए निगम राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों को प्रतिवर्ष लगभग 1 करोड़ 30 लाख टन अनाज सप्लाई करता है।

विभिन्न राज्यों में निगम की 25 आधुनिक चावल मिलें हैं। निगम बच्चों के प्रोटीन युक्त भोजन बालाहार का भी उत्पादन करता है। समाबनार कोइल (तमिलनाडु)

में निगम का एक कारखाना है जहाँ चावल की भूसी से तेल निकाला जाता है जो खाने तथा उद्योगों के काम में आता है। सेना क्रय संगठन की जरूरत पूरी करने के लिए लखनऊ में एक दाल मिल भी लगाई है।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में विद्यमान खाद्य समस्या की व्याख्या कीजिये। इसको सुलझाने के लिये सरकार क्या कर रही है ?

2. भारत में खाद्य समस्या के स्वरूप और कारणों की विवेचना कीजिये और समस्या को सुलझाने के लिए उपयुक्त सुझाव दीजिये।

3. "अधिक खाद्यान्न उपजाओ आन्दोलन" बिना "कम बच्चे पैदा करो आन्दोलन" के प्रभावहीन रहेगा।" विवेचना कीजिये।

4. भारत सरकार की वर्तमान खाद्य नीति पर एक निबन्ध लिखिये।

5. भारत में जनसंख्या और खाद्यान्न सन्तुलन समस्या का वर्तमान और सुदूर भविष्य दोनों में विवेचन कीजिये।

6. जनसंख्या की नवीनतम प्रवृत्तियों और कृषि उत्पादन की वृद्धि के संदर्भ में भारत के आगामी 10 वर्षों में आत्मनिर्भर होने की संभावना की विवेचना कीजिये।

7. भारतीय खाद्य निगम पर एक निबन्ध लिखिये।

8. सन् 1951 के बाद भारत में होने वाली जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न खाद्य-पूर्ति की समस्या का विवेचन कीजिये।

अथवा

क्या आप समझते हैं कि जनसंख्या-वृद्धि ही वर्तमान खाद्य-समस्या का एक-मात्र कारण है ?

[संकेत : सर्वप्रथम जनसंख्या व खाद्य-पूर्ति के बीच 'सैद्धान्तिक सह-सम्बन्ध' के सम्बन्ध में लिखिए फिर खाद्य-समस्या के परिमाणात्मक पहलू की विवेचना कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण (अ) खाद्यान्नों की माँग में वृद्धि, (ब) कृषि के लिए भूमि की कमी, (स) जनता की क्रयशक्ति में कमी हुई है व (द) संग्रह प्रवृत्ति बढ़ी है। फिर खाद्य-समस्या के विभिन्न कारणों को दीजिये। निष्कर्ष के रूप में दीजिए कि जहाँ खाद्यान्न की कमी के अन्य कारण हैं, वहाँ अकेले जनसंख्या की वृद्धि ने इस समस्या को और भी विकट कर दिया है। अतः जनसंख्या नियन्त्रण की सुनियोजित नीति द्वारा ही खाद्यान्न की समस्या को हल किया जा सकता है।]

9. भारत में खाद्य समस्या का स्थायी समाधान एक ओर वैज्ञानिक गहन कृषि व दूसरी ओर जनसंख्या के नियोजन पर निर्भर करता है। व्याख्या कीजिए।

10. आप भारत में कृषि की तीव्रगामी विकास से क्या समझते हैं ? उन प्रयत्नों का जिनसे भारत में खाद्य संकट के निवारण में सफलता मिली है, विवेचन कीजिए।

11

भारत में कुटीर एवं लघु उद्योग
(Cottage and Small Scale Industries in India)

---

1. **कुटीर उद्योग की परिभाषा**—कुटीर उद्योग की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

1. **राजकोषीय आयोग**—सन् 1949-50 ने कुटीर उद्योग उस उद्योग को कहा जो पूर्णतः अथवा अंशतः कारीगर के परिवार की सहायता से पूर्णकालीन अथवा अल्पकालीन व्यवसाय के रूप में चलाया जाता हो।

2. **बम्बई आर्थिक एवं औद्योगिक सर्वेक्षण समिति** ने कुटीर उद्योग उन उद्योग को कहा है जहाँ पर शक्ति का प्रयोग नहीं होता तथा उत्पादन साधारणतया कारीगर के घर पर ही होता हो।

3. **भारतीय औद्योगिक समिति** के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो कि श्रमिकों के घर पर चलाये जाते हैं, जहाँ कि उत्पादन का स्तर छोटा होता है और जहाँ न्यूनतम संगठन होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से कुटीर उद्योग का अर्थ ठीक से स्पष्ट नहीं होता है। कुटीर उद्योग की एक उपयुक्त परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं :

"कुटीर उद्योग वे हैं जो पूर्णरूप से या मुख्य रूप से परिवार के सदस्यों की सहायता से या तो पूर्णकालिक व्यवसाय के रूप में या अंशकालिक व्यवसाय के रूप में चलाए जाते हैं, जिसमें परंपरागत विधियों तथा स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग होता हे और जिनमें प्रायः स्थानीय बाजारों में बिक्री के लिए माल तैयार रहता है।

उपर्युक्त परिभाषा से कुटीर उद्योग की निम्नलिखित विशेषताओं का आभास होता है।

(1) ये उद्योग पूर्णतः या मुख्यतः परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाये जाते हैं।

(2) ये पूर्णकालिक अथवा अंशकालिक व्यवसाय के रूप में चलाये जाते हैं।

(3) इन उद्योगों में प्रायः परम्परागत विधियों से परम्परागत वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

(4) इनमें स्थानीय कच्चे माल व कुशलता का प्रयोग होता है।

(5) इनसे प्राय: स्थानीय बाजार की माँग की पूर्ति की जाती है।

कुटीर उद्योगों में सूत कातना, गुड़ बनाना, बीड़ी बाँधना, रस्सी और चटाई बुनना, रंग और छपाई, हस्तशिल्प आदि को शामिल किया जाता है।

2. **लघु उद्योग की परिभाषा**—1980 में घोषित औद्योगिक नीति में लघु उद्योग, अति लघु उद्योग तथा सहायक उद्योगों की परिभाषा में परिवर्तन किया गया है। अब इनकी परिभाषा निम्नवत है—

(अ) **लघु उद्योग**—लघु उद्योग से हमारा आशय "उन उद्योगों से है जिनमें 20 लाख रुपये तक की स्थायी पूँजी का विनियोग होता है"

ये उद्योग कस्बों तथा शहरों में स्थित होते हैं इनमें शक्ति का प्रयोग होता है, तथा वेतनधारी श्रमिकों की सहायता से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

लघु उद्योगों में कल-पुर्जों का निर्माण, छापाखाना मोजे-बनियान बनाने आदि को शामिल किया जाता है।

(ब) अति लघु उद्योग—"संयन्त्र एवं मशीनों के रूप में जिन इकाइयों में दो लाख रुपये या उससे कम पूंजी नियोजित है तथा 50,000 से कम जनसंख्या वाले स्थानों (कस्बों या ग्रामों) में स्थापित है उन्हें अति लघु उद्योग कहते हैं।

(स) सहायक उद्योग—संयन्त्र और मशीन के रूप में विनियोजित 36 लाख तक की अचल सम्पत्तियों और उत्पादन में लगे उपक्रम को सहायक उद्योग कहते हैं।"

कृषि उद्योग
(Agro-Industry)

इसमें वे समस्त उद्योग आते हैं जो मुख्यत: कृषि पर आधारित हैं या कृषि से प्राप्त कच्चे माल का पक्के माल में रूपांतर करते हैं, जैसे कि पशुपालन व दुग्ध व्यवसाय, मुर्गीपालन, मधुमक्खी पालन, दालें, फल, तरकारियाँ, गन्ना, धान, तिलहन आदि की प्रक्रिया करने वाले विभिन्न उद्योग आदि।

कृषि उद्योग के अन्तर्गत ऐसे उद्योग भी आ सकते हैं जो कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करते हैं जैसे कि उर्वरक, कृषि के आधुनिक यन्त्र व यन्त्रों के पुर्जे, कीटाणुनाशक दवा आदि का निर्माण करने वाले उद्योग।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व

भारत की अर्थव्यवस्था में कुटीर व लघु उद्योगों का विशेष महत्त्व है। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के शब्दों में, "भारत गाँवों का देश है। अत: सरकार को संतुलित अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योग के विकास को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करना चाहिए। योजना आयोग के अनुसार "ग्रामीण उद्योगों को विकसित करने का प्राथमिक उद्देश्य कार्य के अवसरों में वृद्धि करना, आय एवं रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना तथा एक अधिक संतुलित एवं समन्वित अर्थ-व्यवस्था

का निर्माण करना है।" महात्मा गाँधी के शब्दों में "भारत का मोक्ष उसके कुटीर उद्योग में निहित है।"

वास्तव में गाँव के विकास की बात सबकी जबान पर है, वह एक नारा बन चुका है। आगामी 10 वर्षों में भारत से गरीबी और बेकारी को दूर करने के जनता सरकार के संकल्प ने योजनाकारों और अर्थशास्त्रियों को कृषि और छोटे तथा कुटीर उद्योगों को समान महत्व देकर ग्रामीण विकास पर चिंतन करने के लिए बाध्य किया है। इसके आधार पर भारतीय योजना को ग्रामीण आधार प्रदान किया जा रहा है।

संक्षेप में कुटीर व लघु उद्योगों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(1) **रोजगार सम्बन्धी तर्क**—लघु उद्योगों में उत्पादन की श्रम प्रधान विधि अपनाई जाती है, अर्थात् पूँजी का कम उपयोग किया जाता है। भारत जैसे अर्द्ध विकसित देश में जहाँ श्रमिक बहुत अधिक मात्रा में हैं और पूँजी की कमी है, कुटीर तथा लघु उद्योग ही अधिक उपयुक्त हैं। अतः वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत देश में बेकारी की समस्या के समाधान के लिए कुटीर और लघु उद्योगों का विकास होना चाहिये, क्योंकि (अ) इनके लिए अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यकता पड़ती है; (ब) इनकी स्थापना के द्वारा अल्पकाल में ही लोगों को रोजगार मिल जाता है तथा (स) ग्रामीण क्षेत्रों की अर्द्ध बेकारी दूर हो जायेगी।

योजना आयोग के उपाध्यक्ष डा० लकड़ावाला ने महसूस किया कि आधुनिक संगठित उद्योग प्रतिवर्ष रोजगार के 5 लाख अवसर प्रदान कर पाता है। जब कि देश की बढ़ती हुई जनसंख्या, प्रतिवर्ष 50 लाख रोजगार अवसरों की आवश्यकता की माँग करती है। इतने बृहद् रूप में बड़े उद्योग रोजगार देने में सक्षम ही नहीं हैं, क्योंकि सरकारी आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि बड़े उद्योगों की तुलना में कम पूँजी वाले उद्योग रोजगार के अधिक अवसर प्रदान कर सकते हैं। विदित है कि देश में लगभग 7,17,000 कारखाने हैं। इनमें से 5 प्रतिशत कारखाने सरकारी क्षेत्र में हैं, जिसमें कुल रोजगार का 20 प्रतिशत रोजगार उपलब्ध है। कुल उत्पादन में उनका हिस्सा 20 प्रतिशत है और उनमें कुल नियत पूंजी लगी हुई है। इसके विपरीत कुल कारखानों में 70 प्रतिशत ऐसे हैं जो कम पूंजी वाले या यों समझिये 5 लाख से कम पूंजीवाले हैं। लेकिन उनमें 27 प्रतिशत रोजगार प्राप्त होता है। कुल पूंजी में उनका शेयर 5 प्रतिशत तथा कुल उत्पादन में उनका हिस्सा 17 प्रतिशत है।

(2) **आर्थिक समानता का तर्क**—लघु तथा कुटीर उद्योग धन के समान वितरण में भी सहायक होते हैं, क्योंकि घरेलू उद्योग छोटे-छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं और इनसे लाभ भी अपेक्षाकृत कम होता है, जिससे आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं हो पाता है। यही नहीं, कुटीर उद्योगों में आर्थिक शोषण भी सम्भव नहीं हो पाता है। अतः कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण या शोषण जैसी सामाजिक समस्याएं लघु उद्योगों में उत्पन्न नहीं होते। साथ ही, यह उद्योग साधारण श्रेणी की आर्थिक स्थिति वाले लोग भी संचालित कर सकते हैं। अतः उनकी आय में वृद्धि का अवसर प्राप्त हो सकता है।

(3) **विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी तर्क**—लघु एवं कुटीर उद्योग विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करते हैं, क्योंकि ये देश के कोने-कोने में फैले हुए होते हैं। इससे देश के सभी भाग औद्योगिक वस्तुओं में आत्मनिर्भर हो सकते हैं। अतः एक विकेन्द्रित आर्थिक समाज की स्थापना होती है। ऐसी विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में अनेक लाभ होते हैं, जैसे (अ) कच्चा माल, निष्क्रिय बचत, स्थानीय प्रतिभा आदि स्थानीय साधनों को गति मिलती है; (ब) रोजगार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जिससे थोड़े से औद्योगिक नगरों में पाई जाने वाली भीड़ या जन-संकुलता (congestion) की समस्या के हल में सहायता मिलती है; (स) सैनिक एवं सामाजिक सुरक्षा तथा सुविधा में वृद्धि होती है तथा (द) विकेन्द्रित उत्पादन के परिणामस्वरूप जनता की क्रयशक्ति देश भर में बिखरी हुई होती है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य आयोजन दल (The international Perspective Planning Team) ने उचित ही कहा है, "बहुत अधिक पिछड़े क्षेत्र में या सीधे गाँवों में बड़ी संख्या में उद्योगों की स्थापना की नीति का विफल होना सर्वथा निश्चित है। आर्थिक दृष्टि से ऐसी नीति का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। विकेन्द्रीयकरण की नीति के अधीन औद्योगिक विकास के केन्द्र न तो महानगर होने चाहिए और न ही गाँव। इन दो सीमाओं के मध्य शहरों और कस्बों का ऐसा सुविस्तृत क्षेत्र, जो क्षमतावान हो, औद्योगिक विकास का केन्द्र होना चाहिए।"

(4) **छिपे हुए संसाधन तथा योग्यता का तर्क**—यह कहा जाता है कि लघु उद्योग अपसंचित धन एवं कौशल आदि छिपे हुए साधनों के उपयोग करने में सहायक होते हैं। यदि व्यक्तियों की बचत एवं कौशल को उत्पादक क्रियाओं में नहीं लगाया गया तो उनका दुरुपयोग हो सकता है। भारत में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास क्षमता व कौशल आदि है। परन्तु, वे बिना किसी उपयोग के पड़े हुए हैं और उससे देश किसी प्रकार से लाभान्वित नहीं हो रहा है। यदि देश में लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया जाय और सहायता दी जाय तो उन निष्क्रिय संसाधनों का देश के विकास के लिए उपयोग किया जा सकता है।

(5) **कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन तर्क**—यह भी कहा जाता है कि कलात्मक, सुन्दर व कीमती वस्तुओं का उत्पादन लघु एवं कुटीर उद्योग में ही हो सकता है। क्योंकि ऐसी वस्तुओं का उपभोग तथा बाजार सीमित होने के कारण आवश्यकता कम रहती है। अतः इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर नहीं हो सकता। फलस्वरूप बड़े पैमाने की उद्योगशालाओं में उत्पादन व्यय अधिक पड़ेगा और उत्पादन अत्यधिक होगा। वृहत् पैमाने के उद्योग केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो एक प्रकार की होती हैं और जिनकी माँग अधिक होती है।

(6) **नैतिक एवं सामाजिक तर्क**—नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से भी कुटीर व लघु उद्योगों का काफी महत्त्व है। वृहत पैमाने के उद्योग में कार्य करने से श्रमिकों का स्वाथ्य एवं नैतिक स्तर गिर जाता है व वातावरण गन्दा हो जाता है इस प्रकार श्रमिकों की गरिमा और कार्यकुशलता दोनों गिरती हैं। लघु एवं कुटीर उद्योगों में ऐसी बात नहीं होती।

(7) **शीघ्र उत्पादन उद्योग**—लघु एवं कुटीर उद्योग शीघ्र उत्पादक उद्योग माने जाते हैं। इनमें धन विनियोग करने पर शीघ्र ही उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है।

(8) **वर्ग संघर्ष से बचाव**—कुटीर व लघु उद्योगों में प्रायः छोटे-छोटे कारीगर स्वयं मालिक व श्रमिक भी होते हैं व मजदूरी पर जो श्रमिक लगाते हैं वे कम संख्या में होने से मालिक मजदूरी में व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है तथा उनके परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे रहते हैं। अतः वर्ग संघर्ष की संभावना कम रहती है।

(9) **तकनीकी ज्ञान की कम आवश्यकता**—बड़े उद्योगों में से पूँजी की बड़ी मात्रा व आधुनिक तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है किन्तु भारत जैसे विकास-शील देशों में इन दोनों का ही अभाव है। अतः इस दृष्टि से भी लघु उद्योग भारतीय अर्थ-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(10) **शहरीकरण व औद्योगीकरण के पूरे प्रभाव से सुरक्षा**—कुटीर एवं लघु उद्योगों के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि इनसे बड़े उद्योगों की समस्याओं जैसे—आवास की समस्या, यातायात की समस्या, पानी व जल निकास की समस्या, दूषित वातावरण की समस्या आदि से मुक्ति मिल जाती है। अपराध विज्ञान के विशे-षज्ञ प्रो० किलनार्ड का मत है कि धन, संस्कृति या निर्धनता से अपराधों का सम्बन्ध नहीं है। शहरीकरण से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। बडे नगरों में अपराध अधिक होते हैं अतः कुटीर एवं लघु उद्योगों की छोटे-छोटे कस्बों एवं गाँवों में स्थापना करके इन दोषों से मुक्ति मिल सकती है।

(11) **आयात पर कम निर्भरता**—भारत में भुगतान असन्तुलन की समस्या बनी रहने से आयातों पर कम निर्भर रहने के लिए लघु उद्योग निश्चय ही उपयोगी होंगे।

(12) **देश के निर्यात में महत्त्वपूर्ण स्थान**—रेशमी कला पूर्ण वस्त्र, चन्दन की वस्तुएँ, हथकरघे के वस्त्र, हाथी दाँत, चमड़े के जूते, बिजली के पंखे, दरियाँ व कालीन, साइकिल व सिलाई यन्त्र, ताँबे पीतल के कलापूर्ण बर्तन आदि कुटीर व लघु उद्योग में उत्पादित वस्तुएँ बड़ी मात्रा में निर्यात होने लगी हैं जिससे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

निष्कर्ष—अतः निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि लघु एवं कुटीर उद्योग हमारी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण इकाई है जिस पर हम अपने सुखी जीवन का ढाँचा तैयार कर सकते हैं। सैकड़ों निर्धन ग्रामीणों को एक स्वच्छ वातावरण मिल सकता है। पूँजीपतियों एवं निर्धन वर्ग के बीच की खाई को पाटा जा सकता है। हमारी नई सरकार ने अपने नये वक्तव्य में महात्मा गाँधी के उस आवाहन का आभास दिया है 'गाँवों की ओर प्रयाण' जिसे हमारी पूर्व नीतियों ने एकदम भुला दिया था, शहरी चमक दमक बढ़ती ही चली जा रही थी।

भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगों की अवनति के कारण

हमारे प्राचीन सामाजिक जीवन में कुटीर व लघु उद्योग प्रधान तत्व थे। रानाडे के अनुसार "ईसा के 200 वर्ष पूर्व की मिस्र देश की ममियाँ बढ़िया किस्म की

भारतीय मलमल में लिपटी हुई पायी गयी हैं।'' भारतीय औद्योगिक आयोग (1918) के अनुसार, "एक ऐसे समय पर जबकि पश्चिमी यूरोप में, जो कि हमारी आधुनिक औद्योगिक पद्धति का जन्मस्थान है, असभ्य जातियाँ निवास करती थीं, भारत अपने शासकों के वैभव और अपने शिल्पियों को उच्च कलात्मक योग्यता के लिए विख्यात था।" अमरीकी विद्वान् कैल्वर्टन ने 1939 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "The Awakening of America" में लिखा है—"भारत के कुटीर उद्योग बुद्धिमान मस्तिष्क, विलक्षण योग्यता तथा अद्भुत प्रतिभा की उपज थे और 10वीं शताब्दी तक विश्व में इनका उदाहरण अद्वितीय रहा है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में भारतीय उद्योगों का पतन प्रारम्भ हो गया और भारत अपनी पुरानी ख्याति खोने लगा। भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगों की अवनति के कारण संक्षेप में इस प्रकार हैं

(1) राजा और नवाब कलात्मक वस्तुओं के प्रेमी थे, परन्तु पुराने राजाओं और नवाबों के पतन से देश की कला को प्रोत्साहन देने वाला कोई न रह गया।

(2) मशीन द्वारा निर्मित वस्तुओं के सस्ता होने के कारण हमारे कुटीर उद्योगों द्वारा बनाई गई वस्तुएँ प्रतियोगिता में न टिक सकीं और उद्योग समाप्त होने लगे।

(3) विदेशी सरकार की असहायक नीति ने भी कुटीर उद्योग को काफी धक्का पहुँचाया।

(4) विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव के कारण भी व्यक्ति देश की बनी हुई वस्तुओं की अपेक्षा इंगलैण्ड और यूरोप की बनी वस्तुओं को अधिक पसन्द करने लगे। परिणामतः कुटीर उद्योगों को बहुत हानि पहुँची

(5) इंगलैण्ड की सरकार के द्वारा भारतीय मालों पर कड़ा वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के कारण, भारतीय मालों का विदेशी व्यापार धीरे-धीरे छिन्न गया, उसकी माँग कम होती गई और यहाँ के विख्यात कुटीर उद्योग नष्ट हो गये।

(6) 19वीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष में यातायात के आधुनिक साधनों का विकास हो जाने के कारण देश के कोने-कोने में इंगलैण्ड के माल जाने लगे और उनकी खपत होने लगी, फलतः घरेलू मालों की माँग भी घटने लगी और कुटीर उद्योगों का पतन होने लगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न कारणों से भारतीय कुटीर उद्योगों का पतन हो गया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये बिलकुल नष्ट हो गये हैं। आज भी भारतवर्ष में 2 करोड़ से अधिक व्यक्ति कुटीर उद्योगों में लगे हैं। महात्मा गांधी के स्वदेशी आन्दोलन ने इनमें एक नये जीवन का संचार किया है और देश की स्वतन्त्रता के बाद कुटीर व लघु उद्योगों के विकास के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं, ताकि वे भारत की नवीन अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सकें।

कुटीर तथा लघु उद्योगों की समस्याएँ

भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों की कुछ समस्यायें इस प्रकार हैं :—

1. पूँजी का अभाव—भारतीय कारीगर निर्धन हैं, उनके पास इतनी पूंजी नहीं है कि वे उसके द्वारा अपने कार्यों को सुचारु रूप से चला सकें। चूंकि उनके पास उपयुक्त प्रकार की प्रतिभूति नहीं होती, इसलिये वे उपयुक्त वित्तीय सहायता राज्य वित्त निगम जैसी संस्थाओं से प्राप्त नहीं कर पाते। अतः अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साहूकारों, व्यापारियों व मध्यस्थों के पास जाते हैं, जो कि बहुत अधिक ब्याज लेते हैं और अन्य प्रकार से शोषण करते हैं।

उत्पादन की अविकसित प्रणाली—भारतीय कारीगरों के यन्त्र एवं कार्य करने के ढंग अति प्राचीन हैं, जिससे एक तो अधिक वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं हो पाता और दूसरे इन वस्तुओं की उत्पादन-लागत अक्सर अधिक होती है। उत्पादन की अविकसित प्रणाली को अपनाये रहने का कारण यह है कि भारतीय कारीगरों में शिक्षा का अभाव है और उनके पास इतनी पूंजी और साधन नहीं हैं कि वे नयी मशीनें और उपक्रम का उपयोग कर सकें।

3. कच्चे माल की समस्या—इस सम्बन्ध में भारतीय कारीगरों को तीन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(अ) उन्हें सस्ते मूल्य पर आसानी से कच्चे माल नहीं मिलते। (ब) अच्छी श्रेणी के कच्चे माल बड़े उद्योगपतियों के द्वारा खरीद लिये जाने के कारण कुटीर उद्योग को अच्छे कच्चे माल नहीं मिल पाते और (स) उन गरीब कारीगरों की साख इतनी फैली हुई नहीं रहती कि उन्हें कच्चे माल उधार मिलते।

4. संगठित बाजार का अभाव—कुटीर तथा छोटे पैमाने की वस्तुओं की बिक्री के लिए सुसंगठित बाजार का अभाव है, जिसके कारण कारीगरों को अपनी बनाई वस्तुओं की बिक्री के लिये—(i) इधर-उधर जाना पड़ता है, जिससे समय और शक्ति की बर्बादी होती है और अपनी वस्तुओं के लिये अच्छे मूल्य नहीं मिल पाते। (ii) अनेक चालबाज मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो पूरी तरह उनका शोषण करते हैं।

5. बड़े उद्योगों में प्रतियोगिता—भारतीय कुटीर उद्योगों के सामने बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रतियोगिता की समस्या भी है। चूंकि बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुयें अपेक्षाकृत सस्ती होती हैं, इसलिए कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की बिक्री बाजार में मुश्किल से हो पाती है।

शिक्षा का अभाव—अधिकांश कारीगर अनपढ़ होते हैं अतः वे अपनी वस्तु निर्मित्त करने में पुराने तरीकों का ही प्रयोग करते हैं। वे अपनी वस्तु की किस्म डिजाइन आदि में शिक्षा के अभाव के कारण कोई सुधार या आविष्कार नहीं कर पाते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी वस्तु की मांग में वृद्धि नहीं हो पाती।

प्रामाणिकता का अभाव—जिन वस्तुओं का निर्माण कुटीर उद्योगों के द्वारा होता है उनमें एकरूपता का अभाव रहता है अतः प्रामाणिकता के अभाव में

वस्तुओं की उचित कीमत निश्चित न होने से उनकी संगठित रूप से बिक्री नहीं की जा पाती। एकरूपता की कमी के कारण उपभोक्ताओं को भी कठिनाई होती है और कारीगर की वस्तुओं के गुण में सुधार नहीं कर पाते।

8. **निर्यात की उपेक्षा**—कुटीर उद्योग धन्धों से सम्बन्धित कुछ वस्तुओं की विदेशी माँग भी होती है परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। चूँकि वस्तुओं में भिन्नता पाई जाती है इसलिए उनका ग्रेड व नमूना देना भी सम्भव नहीं होता।

9. **उपभोक्ताओं की अरुचि**—कुटीर और लघु उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को उपभोक्ता पसन्द नहीं करते इसलिए उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री नहीं हो पाती।

10. **अन्य समस्यायें**—भारतीय कुटीर तथा लघु उद्योगों की कुछ अन्य समस्यायें इस प्रकार हैं—(अ) कुटीर उद्योगों पर करों का अधिक भार, कारीगरों के बीच आपसी सहयोग एवं संगठन का अभाव, (ब) उपभोक्ताओं द्वारा कुटीर उद्योगों की वस्तुओं की अपेक्षा मिल की बनी वस्तुओं को ही प्राथमिकता दिया जाना, (स) सस्ती मशीनों और बिजली की शक्ति का अभाव।

कुटीर व लघु उद्योगों की उपरिलिखित समस्याओं का समाधान करके ही भारतीय कुटीर व लघु उद्योगों का विकास किया जा सकता है।

पंचवर्षीय योजनाएँ तथा ग्रामीण एवं लघु उद्योग

योजना काल के विभिन्न कार्यक्रमों में लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के बिकास को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

प्रथम योजना में औद्योगिक विकास को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया, इसीलिए इस योजना में लघु उद्योगों के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका।

द्वितीय योजना में औद्योगीकरण की गति को तीव्र बनाने के लिए भारी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास को महत्त्व प्रदान किया गया। लेकिन इस योजना में भी कुटीर एवं लघु उद्योगों की उपेक्षा नहीं की गयी। कुल औद्योगिक व्यय का 16·7 प्रतिशत भाग लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर खर्च किया गया।

तृतीय योजना में भी इन उद्योगों के विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया गया था। इन उद्योगों के द्वारा रोजगार की अधिकाधिक मात्रा में व्यवस्था होगी तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि होगी, ऐसा योजना कर्ताओं का विचार था।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लघु उद्योगों के लिए नवीन भूमिका तय की गयी। इनके माध्यम से कृषि में प्रयोग होने वाली वस्तुओं के निर्माण का कार्यक्रम तय किया गया।

पाँचवीं योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में ग्रामीण व लघु उद्योगों के विकास पर 593 करोड़ रुपये की राशि व्यय की गई है। 1979-80 में लगभग 256 करोड़ रु० व्यय किये गये हैं। पाँचवीं योजना में ग्रामीण व लघु उद्योगों में रोजगार की मात्रा

1973-74 में 1·76 करोड़ व्यक्तियों से बढ़कर 1979-80 में 2·33 करोड़ व्यक्ति हो गई थी तथा निर्यातों से अर्जित आय 840 करोड़ रु० से बढ़कर 2225 करोड़ रु० हो गई थी।

विभिन्न योजनाओं में लघु कुटीर तथा उद्योगों के विकास पर किए जाने वाले व्यय में भी वृद्धि होती रही है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

योजनाओं में लघु तथा कुटीर उद्योगों पर व्यय

योजना	लघु उद्योगों पर व्यय (करोड़ रुपये)	योजना के कुल व्यय का प्रतिशत
प्रथम योजमा	48·0	2·1
द्वितोय योजना	187·0	4·0
तृतीय योजना	240·8	2·8
वार्षिक योजना	132·6	1·9
चतुर्थ योजना	251·1	1·5
पंचम योजना	387·8	0 9
1978-79	73·63	—
1979-83	86·15	—
षष्टम योजना	1780·5	1·85

उपर्युक्त तालिका के अंकों से स्पष्ट है कि यद्यपि लघु तथा कुटीर उद्योगों के विकास पर किए जाने वाले व्यय में वृद्धि हुई है परन्तु द्वितीय योजना के बाद इन उद्योगों पर किए जाने वाले सापेक्ष व्यय की मात्रा में कमी आई है। द्वितीय योजना में इन उद्योगों के विकास के लिए योजना में व्यय की गई कुल राशि का 4 प्रतिशत व्यय किया गया था, जबकि पंचम योजना में यह कम होकर केवल 0·9 प्रतिशत रह गया था। छठी योजना में पुनः इन उद्योगों के विकास की ओर ध्यान दिया गया है। इस योजना में कुल व्यय का 1·83 प्रतिशत भाग लघु एवं ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए व्यय किया जायेगा।

छठी योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास

छठी पंचवर्षीय योजना में कुटीर तथा लघु उद्योगों को राष्ट्रीय विकास नीति के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। साथ ही व्यवस्था की गई है कि छठी योजना काल में कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास उच्च प्राथमिकता के आधार पर इस प्रकार किया जायेगा कि निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

(i) उत्पादन के स्तर में वृद्धि तथा उद्यमियों को आय में वृद्धि (ii) विकेन्द्रित विकास द्वारा अतिरिक्त रोजगार अवसरों की सृजन (iii) कुटीर तथा लघु उद्योगों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग हो, जिससे कुल उत्पादन में इसका योगदान बढ़े।

(iv) अनुकूल प्रशिक्षण की व्यवस्था द्वारा उद्यमियों की कार्य कुशलता में वृद्धि (v) कुटीर तथा लघु उद्योगों की लाभदायक संरचना का निर्माण तथा (vi) कुटीर व लघु उद्योग के उत्पादन के निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय।

छठी योजना के अंतर्गत कुटीर तथा लघु उद्योगों के उत्पादन, रोजगार तथा नियात के निर्धारित लक्ष्यों को निम्नलिखित सारणी में प्रदर्शित किया गया है—

कुटीर एवं लघु उद्योगों के उत्पादन रोजगार तथा निर्यात के लक्ष्य
(वर्ष 1984-85)

उद्योग	उत्पादन (करोड़ रुपयों में)	रोजगार (लाख व्यक्तियों में)	निर्यात (करोड़ रुपयों में)
1. खादी	200	15·4	—
2. ग्रामोद्योग	1000	35·1	—
3. हथकरघा	2460	87·0	370
4. रेशम	245	21·5	100
5. हस्तकला	3200	28·0	1315
6. Cois	122	8·0	50
7. आधुनिक लघु उद्योग	32873	89·0	1850
8. पावरलूम	4100	14·0	—
9. अन्य	5035	28·0	—
योग	49,235	326·0	3,685

छठी योजना में लघु उद्योगों के लिए 8.7% की विकास दर का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से 834 वस्तुओं का उत्पादन केवल इस क्षेत्र के लिए सुरक्षित कर दिया गया है।

छठी योजना में ग्रामीण व लघु उद्योगों के विकास की मुख्य दिशाएँ निम्नांकित रखी गयी हैं—

(i) विकास कार्यक्रम को क्षेत्रीय विकास कार्यक्रमों से मिलाना और परम्परागत उद्योगों के लिये समूह-दृष्टिकोण (Cluster approach) अपनाना।

(ii) सहायक उद्योगों को प्रभाव पूर्ण रूप से प्रोत्साहित करना।

(iii) कुटीर व बहुत छोटी इकाइयों के लिए सहकारी संगठन को सुदृढ़ करना तथा उसका विस्तार करना।

(iv) कुटीर व लघु उद्योगों से चुनी हुई मदों के उत्पादन व खरीद के लिए रिजर्वेशन की नीति जारी रखना।

(v) देश के अन्दर व बाहर उत्पादकों को लाभ पहुँचाने के लिए बिक्री के संगठन स्थपित करना।

(vi) संस्थागत कोषों के द्वारा ग्रामीण कारीगरों, ग्रामीण उद्योगों व बहुत छोटी इकाइयों के लिए कोषों का प्रवाह बढ़ाना तथा ब्याज की दरों के ढाँचे को अधिक युक्ति संगत बनाना।

(vii) कच्चे माल व बफर स्टाक बनाकर उसकी उपलब्धि बढ़ाना।

(viii) नीति निर्धारण व मूल्यांकन के लिए आँकड़ों का आधार सुदृढ़ करना।

(ix) उचित टेकनालोजी व दक्षताओं का विकास, विस्तार व प्रसार करना।

(x) जिला स्तर पर संगठनात्मक आधार की पुन: रचना करना तथा इसे अधिक प्रभावपूर्ण व परिणामोन्मुख बनाना।

वर्तमान स्थिति—आर्थिक नियोजन के तीस वर्षों में लघु उद्योगों का आशातीत विकास हुआ है। एच्छिक आधार पर पंजीकृत इकाइयों की संख्या 8 लाख से भी अधिक हो गई है। नीचे सारिणी में लघु एवं कुटीर उद्योगों की प्रगति दर्शायी गई है।

लघु उद्योगों की प्रगति

	1972	1978	1980	1982-83
1. पंजीकृत इकाइयाँ (लाख में)	2·6	6·6	8·8	10·5
2. विनियोग (करोड़ में)	2,233	4,431		
3. उत्पादन (करोड़ में)	5,510	4000	20930	35000
4. रोजगार (लाख व्यक्तियों में)	35	59	70	79
5. निर्यात (करोड़ में)	150	845	1050	2100

कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी नीति

सरकार ने लघु उद्योगों के विकास के लिए निम्नलिखित उपाय किये हैं

(1) **अखिल भारतीय परिषदें (All India Board)**—विशिष्ट प्रकार के लघु उद्योगों को सहायता पहुँचाने के लिए भारत सरकार ने विभिन्न प्रकार की संस्थाओं एवं समितियों की स्थापना की है, जैसे—(i) केन्द्रीय सिल्क परिषद्, सन् 1945, (ii) अखिल भारतीय हस्तशिल्प परिषद् सन् 1952 (iii) अखिल भारतीय हस्तकरघा परिषद्, (iv) अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग, सन् 1955, (v) अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग मंडल, सन् 1954, (vi) लघु उद्योग प्रमंडल, सन् 1954, (vii) नारियल जटा बोर्ड 1954।

(2) **तकनीकी सहायता**—तकनीकी सहायता की उपलब्धि के लिए केन्द्रीय सरकार ने लघु उद्योग सेवा संस्थान स्थापित किया है, जिसका उद्देश्य छोटे उद्योग-पतियों की उत्पादन इकाइयों की स्थापना, कार्यान्वयन तथा अन्य समस्याओं सम्बन्धी सलाह देना है। लघु तथा कुटीर उद्योगों सम्बन्धी अनुसंधान को प्रोत्साहन करने के लिए लघु आविष्कार विकास बोर्ड स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक

डिजाइन संस्थान की भी स्थापना की गई । लघु उद्योगों को प्राविधिक सहायता देने के लिए एक कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विस्तार सेवा के नाम से आरम्भ किया है । अब तक 16 लघु उद्योग सेवा संस्थाएँ, 6 शाखा संस्थाएँ तथा 65 विस्तार, उत्पादन, प्रशिक्षण केन्द्र खोले जा चुके हैं जो विभिन्न व्यवसायों को सुविधाएँ प्रदान करते हैं ।

(3) **औद्योगिक बस्तियाँ**—परिवहन, बिजली, पानी, गैस, अच्छे स्थान आदि की सामान्य सामूहिक सेवाओं एवं अन्य सुविधाओं से लाभ उठाने में इन उद्योगों को समर्थ बनाने के लिए सरकार औद्योगिक बस्तियों की स्थापना कर रही है । इन बस्तियों का प्रमुख उद्देश्य लघु औद्योगिक संस्थानों को शहरी क्षेत्रों से हटाकर उपयुक्त स्थानों में लाना है ।

(4) **बाजार क्रिया में सहायता**—लघु एवं कुटीर उद्योगों की निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए सरकार ने राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम स्थापित किया है । इसने बड़े नगरों में विक्रय डिपो स्थापित किये हैं । इसके अतिरिक्त, खादी तथा ग्रामोद्योग द्वारा फुटकर दुकानें स्थापित की गई हैं । औद्योगिक सहकारी संस्थाओं द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री या निर्यात के विकास के लिए मार्च सन् 1966 में राष्ट्रीय सहकारी संस्था संघ पंजीकृत किया गया है । यह संघ सदस्यों को कच्चा माल खरीदने और तैयार माल की बिक्री में सहायता देता है ।

(5) **ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाएँ**—वर्ष 1962-63 में ग्रामीण उद्योग परियोजनाओं के लिए एक केन्द्रीय योजना आरम्भ की गई । इसका प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र के अविकसित वातावरण में व्यवहार्य औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिए तकनीकों का विकास करना है । इसका एक अन्य उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों के विकास में विद्यमान असमानताओं को कम करना तथा लाभप्रद रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना है ।

(6) **खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग**—इस आयोग को खादी अनाज एवं दालों के विधायन, तेल पेरना, साबुन बनाना, गुड़ बनाना मधुमक्खी पालन, हस्त निर्मित कागज, गोबर गैस, मिट्टी व चीनी के बर्तन बनाना तथा बढ़ई और लुहार के कार्य से सम्बन्धित उद्योग, आदि के विकास का उत्तरदायित्व सौंपा गया है । यह आयोग पंजीकृत संस्थाओं एवं सहकारी समितियों को वित्तीय तथा अन्य सहायताएँ प्रदान करता है । राज्य खादी ग्राम उद्योग बोर्डों का संगठन भी इसी आयोग के कार्य क्षेत्र में शामिल है ।

(7) **कच्चे माल एवं शक्ति की व्यवस्था**—भारत सरकार द्वारा इन उद्योगों के लिए अच्छे यन्त्रों एवं उचित मूल्य पर उचित परिमाण में उचित गुण के कच्चे माल की उपलब्धि करने के लिए लघु उद्योग निगम तथा राज्य व्यापार निगम की स्थापना की गई है ।

(8) **प्रशिक्षण की व्यवस्था**—श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिए बहुत से उत्पादन

एवं प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं, तथा लघु उद्योग सेवा संस्थान द्वारा भी विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कोर्ष चलाये गये हैं।

(9) **लघु उद्योगों का आधुनिकीकरण**—अगले पाँच वर्षों में 50 हजार लघु उद्योग यूनिटों के आधुनिकीकरण के उपाय करने की घोषणा बहुत सामयिक है। लघु उद्योग क्षेत्र के यूनिटों में आधुनिकीकरण की आवश्यकता बहुत समय से महसूस की जा रही थी। आधुनिकीकरण का यह कार्यक्रम 'नेवालकर समिति' की सिफारिशों पर आधारित हैं। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में लघु उद्योग सम्बन्धी और भी बड़े-बड़े प्रस्ताव हैं।

(10) **विदेशी सहयोग**—लघु उद्योगों के विकास के लिये विदेशी सहयोग प्राप्ति हेतु सरकार शुरू से ही प्रयत्नशील रही है। बस्ती स्थापित करने के लिए सरकार ने यू॰ एस॰ टेकनिकल कोलाबोरेशन मिशन (U. S. Technical Collaboration) की सहायता से राजकोट में एक औद्योगिक बस्ती स्थापित की है। इसी प्रकार पश्चिमी जर्मनी की सहायता से ओखला (Okhla) नामक स्थार पर Indo-German mechine Tool Prototype centre की स्थापना की गई। अन्य दूसरे उत्पादनों के लिए विभिन्न देशों का सहयोग लिया गया है।

(11) **वित्तीय सहायता**—लघु उद्योगों को विभिन्न प्रकार की वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए निम्नलिखित सरकारी व संस्थागत एजेन्सियाँ हैं—

(अ) जोखिम पूंजी (Risk capital)

राज्य वित्त निगम

लघु उद्योग निगम

(आ) दीर्घकालीन व मध्यकालीन कर्ज

उद्योगों के राज्य-निदेशालय (उद्योगों को राजकीय सहायता अधिनियम के अन्तर्गत)

राज्य वित्त निगम

व्यापरिक बैंक

(इ) अल्पकालीन कार्यशील पूंजी—व्यापारिक बैंक।

(ई) किस्तों की स्कीम (Hire-Purchase scheme)

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम

लघु उद्योग विकास निगम

(12) व्यापक सहायता कार्यक्रम—भारत सरकार लघु उद्यमकर्ताओं को सहायता देने के लिए व्यापक सहायता कार्यक्रम अपनाया है। लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) के अन्तर्गत लघु उद्योग सेवा-संस्थान (SISI) शाखा-संस्थान व विस्तार केन्द्र स्थापित किये गये हैं। SIDO आर्थिक, प्राविधिक व प्रबन्धकीय सेवाएँ उपलब्ध करता है। राज्यों में उद्योग-निदेशालय भूमि या फैक्ट्री सेड आंवटित करते हैं तथा इसके लिए कच्चे माल व पूंजी की उपलब्धि में सहायता करते हैं।

(13) **पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए विशेष रियायतें**—1 मार्च 1973 से

सरकार ने पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित किये जाने वाले उद्योगों के लिए अनुदान की राशि स्थिर पूंजी-निवेश का 15% या 15 लाख रुपये, जो भी कम हो, निर्धारित की थी। 1971 से परिवहन अनुदान (Transport subsidy) की स्कीम लागू की गई थी जिससे पिछड़े क्षेत्रों में कच्चे माल व निर्मित माल की ढुलाई पर परिवहन लागत का 50% अनुदान के रूप में देने की व्यवस्था की गई थी जिसे सितम्बर 1983 में बढ़ाकर 75% कर दिया है। इस प्रकार पिछड़े जिलों में लघु व मध्यम इकाइयों के विकास के लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई है।

(14) **लघु उद्योगों के लिए क्षेत्र सुरक्षित करने की नीति**—बड़े पैमाने की इकाइयों की प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए कुछ वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने के लिए रिजर्व या नियत कर दिया गया है। इस समय 834 मदों का उत्पादन लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित है। 12 मदों का उत्पादन हथकरघा क्षेत्र के लिए सुरक्षित किया गया है। रिजर्वेशन की नीति अन्य रचनात्मक सहायता के अभाव में नकरात्मक ही प्रमाणित हुई हैं।

(15) **सरकार ने लघु उद्योगों के विकास के लिए जिला उद्योग केन्द्र की पुन-सँगठित किया है।** 1981-82 के अन्त तक 384 DICS स्थापित किये जा चुके थे। इसी अवधि में 3 लाख से अधिक नई इकाइयाँ स्थापित की गईं जिससे काफी लोगों को रोजगार दिया जा सका। DICS के माध्यम से साख की सहायता प्रदान की गई है।

(16) **लघु उद्यमियों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार योजना**—भारत सरकार ने पहली बार उत्कृष्ट लघु उद्यमियों को वार्षिक पुरस्कार प्रदान करने की योजना की शुरुआत की है। इस योजना के अन्तर्गत प्रथम, द्वितीय और तृतीय राष्ट्रीय पुरस्कार विजेताओं को एक ट्राफी, एक प्रशंसापत्र, और क्रमश: 25,000 रुपये, 20,000 रुपये और 15,000 रुपये के नकद पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं।

लघु क्षेत्र के उद्यमियों ने देश की आर्थिक प्रगति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा इनके प्रयासों को उत्तरोत्तर मान्यता प्रदान की जा रही है। इन राष्ट्रीय पुरस्कारों से इस क्षेत्र में कार्यरत लोगों में आत्म गौरव तथा विश्वास की भावना बढ़ेगी।

(17) **बीस-सूत्री कार्यक्रम एवं कुटीर व लघु उद्योग**—इस क्षेत्र को बीस-सूत्री कार्यक्रम में शामिल कर बहुत महत्व दिया गया है। बीस-सूत्री कार्यक्रम में हस्तशिल्प हथकरघा, लघु और ग्रामोद्योग को बढ़ावा देने के लिए सभी सुविधाएँ देने तथा उनकी प्रौद्योगिकी को अद्यतन बनाने पर अधिक जोर दिया गया है। तदनुसार इन उद्योगों को उपयुक्त नीति विषयक ढाँचा प्रदान करके सम्पूर्ण देश में संस्थागत व्यवस्था व विस्तार सेवाओं का प्रावधान करके एक नया बल और दिशा दी गई है।

(18) **निर्यात में सहयोग**—यदि कोई छोटा उत्पादक अपनी वस्तुओं को निर्यात करना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी वस्तुयें मान्य अन्तर्राष्ट्रीय कोटि की बनाये और उनका मूल्य भी प्रतिस्पर्धात्मक हो। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये केन्द्रीय सरकार लघु व कुटीर उद्योगों को पर्याप्त कच्चा माल,

डिजाइन बनाने की सुविधाएँ, उपयुक्त मशीनें व तकनीकी ज्ञान, उत्पादन के लिये ऋण माल भेजने से पहले उसका समुचित निरीक्षण इत्यादि बातों की सुविधाएँ उपलब्ध करती है।

(19) **औद्योगिक सहकारितायें** (Industrial Co-operatives)—सरकार लघु उद्योग क्षेत्र में सहकारी संगठन को भी प्रोत्साहन दे रही है। सन् 1966 में **औद्योगिक सहकारिता के राष्ट्रीय संघ** (National Federation of Industrial Co-operatives) की स्थापना भी हुई है। इस संघ का उद्देश्य औद्योगिक सहकारी समितियों द्वारा उत्पादित माल के थोक व्यापार और निर्यात में सहायता देना है।

(20) **माल का परीक्षण**—लघु उद्योगों को अपने माल की जाँच कराने की सुविधा उपलब्ध करने के लिए क्षेत्रीय जाँच केन्द्र नयी दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में खोले जा रहे हैं। साथ ही कलकत्ता और लुधियाना में दो नये टूल रूम खोले जाने वाले हैं।

कुटीर एवं लघु उद्योगों की समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

यद्यपि देश की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्याओं की ओर उचित ध्यान दे रही हैं, लेकिन फिर भी भावी विकास की दृष्टि से निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. **उत्पादन तकनीक में सुधार**—कुटीर एवं लघु उद्योगों की उत्पादन तकनीक में सुधार किया जाना चाहिए, तभी ये उद्योग बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना करते हुए उपभोक्ताओं को अच्छी सेवायें उपलब्ध कर सकेंगे।

2. **सरकार को यह प्रावधान बना देना चाहिए** कि प्रत्येक लघु उद्योग इकाई अपनी वार्षिक आय का 10% एक विशेष कोष में स्थानान्तरित करे जिसका उपयोग आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिये किया जाय और यह कोष कर से मुक्त होना चाहिये।

3. **अनुसंधान कार्यक्रमों पर विशेष ध्यान**—लघु उद्योगों की उत्पादकता बढ़ाने और वस्तुओं की किस्म में सुधार करने की दृष्टि से अनुसंधान कार्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल (1954) ने यह सिफारिश की थी कि देश में 4 बहुउद्देशीय तकनीकी संस्थान स्थापित किये जाने चाहिये जो उत्पादन की श्रेष्ठ किस्मों को खोजने का कार्य करें।

4. **सलाहकार फर्मों की व्यवस्था**—पर्याप्त सलाहकार सेवाओं की व्यवस्था की जानी चाहिये जो लघु उद्योगों की स्थापना करने, विकास करने और मशीनों इत्यादि के सम्बन्ध में अपने परामर्श दें।

5. **उत्पादन किस्म पर नियंत्रण**—लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का निर्यात करने और उपभोक्ताओं में विश्वास बनाये रखने के लिए इन उद्योगों की उत्पादन किस्म पर उचित नियन्त्रण रखा जाना चाहिये।

6. **लघु उद्योग सहकारी समितियों का विकास**—लघु उद्योग सहकारी समितियों का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिये और इन सहकारी समितियों को अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर अच्छे उपकरण और कच्चा माल उपलब्ध करना चाहिए।

7. **उचित समन्वय**—जहाँ तक सम्भव हो सके विशाल एवं लघु उद्योगों में उचित समन्वय स्थापित किया जाना चाहिये।

लघु उद्योगों की समस्याओं के बारे में समिति की रिपोर्ट

लघु उद्योगों की समस्याओं के बारे में केन्द्रीय सरकार ने 11 सदस्यों की समिति श्री **चक्रधारी अग्रवाल** के संयोजन में नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट अप्रैल 1979 में सरकार को प्रस्तुत कर दी है। इस समिति की मुख्य सिफारिशें निम्न हैं—

(1) लघु उद्योगों के लिए एक स्थाई एवं समन्वित नीति बनाई जानी चाहिए जिससे अति लघु एवं कारीगरों के द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों का भी समावेश हो। (2) लघु उद्योग विकास बैङ्क स्थापित किया जाय। (3) लघु उद्योगों के लिए आँकड़े एकत्रित करने का कार्य अनिवार्य रूप से लघु उद्योग विकास सङ्गठन को सौंप दिया जाय या अलग से एक 'डाटा ब्यूरो' स्थापित किया जाय। (4) सभी लघु उद्योगों का पंजीकरण अनिवार्य किया जाय तथा सभी लघु उद्योगों को निर्धारित अधिकरण को अपनी-अपनी वार्षिक आय-व्यय रिपोर्ट भेजना अनिवार्य किया जाय। (5) पिछड़े क्षेत्रों में स्थापित उद्योगों को पूंजीगत अर्थानुदान के स्थान पर रोजगार अर्थानुदान दिया जाय। (6) 10 लाख रुपये तक निवेश करने वाले सहायक उद्योगों को भी लघु उद्योग माना जाय। (7) इन उद्योगों की विद्युत आवश्यकता पूरी की जाय। (8) लघु उद्योगों के क्षेत्र में बड़े उद्योगों की घुसपैठ को रोका जाय। (9) पिछड़े क्षेत्रों में स्थित लघु उद्योगों को प्रथम 5 वर्ष तक बिक्री कर से मुक्त रखा जाय। (10) सिफारिशों को मूर्तरूप देने के लिए उद्योग मन्त्रालय में एक अलग से विभाग स्थापित किया जाय जो सीधे एक सचिव की देख-रेख में हो। (11) उत्पादन कर की अभी 30 लाख रुपये तक राहत है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय। (12) लघु उद्योगों की कच्चे माल को माँग को पूरा किया जाय।

बड़े पैमाने के उद्योग बनाम छोटे पैमाने के उद्योग
अथवा
पूंजी प्रधान तकनीक बनाम श्रम प्रधान तकनीक

एक बहुचर्चित विवाद (A Popular Controversy)—आज हमारे समक्ष एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों को प्राथमिकता दी जाय अथवा छोटे पैमाने के उद्योगों को। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि तीव्र औद्योगिक विकास की दृष्टि से बड़े उद्योगों का निरन्तर विकास एक अनिवार्य आवश्यकता है, परन्तु इस सत्य को भी

उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ दरिद्रता और बेरोजगारी का साम्राज्य है, धन के वितरण में बहुत असमानता है, वहाँ लघु एवं कुटीर उद्योग का विकास अपरिहार्य है।

दो विपरीत विचारधाराएँ—वास्तव में इस समस्या से सम्बन्धित दो सर्वथा विपरीत विचारधाराएँ हैं—एक विचार तो यह है कि भारत आर्थिक विकास वृहद् स्तरीय उद्योगों के विकास पर ही निर्भर करता है। इस विचारधारा के समर्थक प्रो० गलेनसन, लीवेन्स्टीन, मॉरिस डॉब आदि अर्थशास्त्री हैं जिनके मतानुसार वृहद् उद्योगों को तीव्र औद्योगीकरण का आधार बनाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में जो तर्क दिये जाते हैं वे इस प्रकार हैं—तीव्र आर्थिक विकास, जीवन-स्तर में वृद्धि, उत्पादन में वृद्धि, रोजगार में वृद्धि, अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता, विकास का उपयुक्त वातावरण एवं समन्वित क्रम तथा मितव्ययिता इत्यादि। इसके विपरीत ऐसे विचारकों की अधिकता है, जो श्रमप्रधान तकनीक के आधार पर कुटीर एवं लघु उद्योगों को भारत के औद्योगीकरण में प्राथमिकता देते हैं। **प्रो० रैगनर, नर्क्से कुज्नेट्स किनले, बर्गर तथा बौर एवं यामी** जैसे अर्थशास्त्री अधिक श्रम-शक्ति चाहने वाली तकनीक अर्थात् कुटीर व लघु उद्योगों का समर्थन करते हैं। इस सम्बन्ध में जो तर्क दिये जाते हैं वे इस प्रकार हैं—बढ़ता हुआ रोजगार, पूँजी का उचित उपयोग, विकेन्द्रित समाज की स्थापना, मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण, विदेशी विनिमय की बचत, औद्योगीकरण के दोषों से छुटकारा इत्यादि।

समस्या का वास्तविक समाधान—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है यह विवाद सही अर्थों में अधिकतम लोगों को रोजगार दिलाने के मानवीय उद्देश्यों और तीव्र आर्थिक विकास के बीच निहित है। कुटीर व लघु उद्योगों को प्राथमिकता देने का मुख्य उद्देश्य रोजगार के सुअवसरों में वृद्धि करना है और वृहद् पैमाने के उद्योगों के विकास करने के पीछे मूल लक्ष्य देने का तीव्र औद्योगीकरण होता है। यह सत्य है कि बड़े पैमाने के उद्योगों को प्राथमिकता देने से औद्योगिक विकास की गति तीव्र होती है पूँजी निर्माण की गति बढ़ती है, अशोषित साधनों का उपयोग और बाजारों का विस्तार होता है, बढ़ते हुए उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत विकास की गति तेज होती है, परन्तु व्यापक आर्थिक विषमताएँ दरिद्रता बेरोजगारी निम्न जीवन-स्तर मानवी मूल्यों का ह्रास, बढ़ती हुई सामाजिक लागत, शोषण और भुखमरी इत्यादि इस तस्वीर का दूसरा पहलू होता है जिसको हम उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि आर्थिक विकास का सारा उत्तरदायित्व लघु एवं कुटोर उद्योगों पर छोड़ा जाता है तो देश का तीव्र औद्योगीकरण नहीं हो सकेगा और न ही निर्धनता के कुचक्र से हमें मुक्ति मिलेगी, यद्यपि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को जीवित रहने के अवसर और रोजगार की उपयुक्त दशाएँ उपलब्ध हो जायेंगी। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि दोनों विकल्पों में से चुनाव के पहलू को स्थगित करते हुए किसी ऐसे विकल्प की खोज की जाय जिससे कि समस्या का वास्तविक हल प्राप्त किया जा सके। अन्य शब्दों में, ये दोनों पहलू अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं और इनमें किसी एक

का परित्याग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः समस्या चुनाव की नहीं बल्कि समन्वय की है। छोटे एवं भारी उद्योगों की समन्वित विकास की रूपरेखा निम्न प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

(i) **आर्थिक सहायता**—लघु एवं कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर व कच्चे माल एवं सस्ती दर पर चालक शक्ति उपलब्ध कर, प्रशिक्षण और तकनीकी सुधार कर और करों में छूट देकर अपने पैरों पर खड़े होने की स्थिति में लाना होगा जिसमें वह बृहद् स्तरीय यन्त्रीकृत उद्योगों की प्रतिस्पर्धा का सामना कर सके।

(ii) **क्षेत्र सुरक्षित करना**—उन उद्योगों के सम्बन्ध में, जो बृहद् एवं लघु दोनों ही स्तरों पर चढ़ाए जा सकते हैं, कुछ इस प्रकार की व्यवस्था करनी होगी कि दोनों प्रकार के उद्योगों के मध्य अनावश्यक प्रतियोगिता समाप्त की जा सके। इस हेतु कुछ उद्योगों को कुटीर एवं लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित किया जा सकता है, जैसे कपास की धुनाई, ओटाई, चमड़ा रँगाई, डेरी, चावल कुटाई, तेल पिरायी, रेशमी कपड़े बुनाई, होजरी, दरियाँ, कालीन, गलीचे, शाल, दुशाले एवं चद्दरें तैयार करना, भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तन तैयार करना आदि।

(iii) **सुरक्षित प्रक्रियाएँ**—एक ही उद्योग से सम्बन्धित कुछ प्रतिक्रियाएँ लघु एवं कुटीर उद्योगों के लिए सुरक्षित रखी का सकती हैं और कुछ बड़े पैमाने के उद्योगों के लिये जैसे वस्त्र उद्योग में कताई का काम बड़े उद्योगों को सौंपा जा सकता है। कागज उद्योगों के सम्बन्ध में यह निर्णय लिया जा सकता है कि पैकिंग कागज, बदामी रंग का कागज, सोख्ता इत्यादि केवल लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा तैयार किया जाय और शेष कागज बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए छोड़ दिया जाय।

(iv) **उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन**—उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन का उत्तरदायित्व लघु एवं कुटीर उद्योगों पर डाला जा सकता है जिससे उपभोग वस्तुओं की माँग को पूरा किया जा सके, माँग और पूर्ति में सन्तुलन बना रहे और मुद्रा प्रसारिक स्थितियाँ पैदा न होने पायें।

(v) **निश्चित सीमा तक उत्पादन सुरक्षित**—यह भी हो सकता है कि एक निश्चित सीमा तक उत्पादन बड़े उद्योगों के लिए सुरक्षित रखा जाय और उससे अधिक जो उत्पादन हो वह लघु एवं कुटीर उद्योग द्वारा किया जाय। इसके विपरीत पग भी उठाया जा सकता है अर्थात् एक निश्चित मात्रा तक उत्पादन केवल लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा किया जाय और उसके बाद जो उत्पादन हो वह बड़े उद्योगों द्वारा किया जाय।

(vi) **संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम का विकास**—संयुक्त उत्पादन कार्यक्रम (Common product Programme) का भी विकास किया जा सकता है जिसके अनुसार किसी वस्तु के पुर्जों अथवा हिस्सों का निर्माण लघु उद्योगों द्वारा किया जा सकता है और उन्हें मिलाकर अन्तिम वस्तु निर्माण करने का कार्य बड़े उद्योग कर सकते हैं। इस पद्धति को जापान में अपनाया गया है। भारत में साइकिल उद्योग, घड़ी उद्योग आदि में यह पद्धति अपनाई जा सकती है।

12

भारत में बेरोजगारी व अदृश्य (कृषि) बेरोजगारी की समस्या

(Unemployment and Disguised Unemployment Problems in India)

बेरोजगारी एक ऐसी स्थिति है जहाँ श्रम शक्ति (श्रम की पूर्ति) व रोजगार के अवसरों (श्रम की माँग) में अन्तर होता है। बेरोजगारी श्रमिकों की माँग की अपेक्षा उनकी पूर्ति के अधिक होने का परिणाम है। **बेरोजगारी का वास्तविक अर्थ उस श्रम शक्ति से है, जो शारीरिक रूप से समर्थ है व श्रम करने की इच्छुक है, किन्तु जिसे कोई आर्थिक कार्य नहीं मिल पाता।**

बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ समाज की श्रम शक्ति में वृद्धि होती है। श्रम की अधिकता के कारण भारत में बेरोजगारी तथा अल्प रोजगारी की समस्या बहुत उग्र होती जा रही है। श्री जगजीवन राम के शब्दों में, "पिछले 15 वर्षों में रोजगार के जो अवसर प्राप्त हुए थे, वे बहुत सामा तक बढ़ती हुई जनसंख्या में समा गये।"

भारत में बेरोजगारी की स्थिति

विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में, बेरोजगारो के सम्बन्ध में पूर्णतया सही स्थिति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। लेकिन जो भी आँकड़े प्राप्त हैं उनके आधार पर देश में बेरोजगारी की स्थिति निम्न प्रकार है—

पंचवर्षीय योजनाओं में रोजगार तथा बेरोजगारी (लाखों में)

मद	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	तीन वार्षिक योजना	चतुर्थ योजना	पञ्चम योजना 1974-78
1. योजना के आरम्भ में बेरोजगारों की संख्या	33	53	71	96	126	140
2. योजनावधि में श्रमिक संख्या में वृद्धि	90	118	170	140	273	220
3. जोड़ (112)	123	171	241	236	399	360
4. योजनावधि में अति-रिक्त रोजगार व्यवस्था	70	100	145	4-14	180	150
5. योजना के अन्त में बेरोजगार (3-4)	53	71	96	222-233	219	210
6. कुल श्रम शक्ति में बेरोज-गारों का प्रतिशत	(2-9)	(5-6)	(4-5)	—	—	—

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि प्रत्येक योजना के साथ-साथ बेरोजगारी भी बढ़ती गयी है।

छठीं पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी सम्बन्धी अनुमान—छठी पञ्चवर्षीय योजना के मसौदे में दिये गये बेरोजगारी सम्बन्धी अनुमान नेशनल सेंपिल सर्वे के 32वें दौर पर आधारित है। योजना आयोग के बेरोजगारी सम्बन्धी नवीनतम अनुमान अवधाराणात्मक दृष्टि से पुराने सभी अनुमानों से भिन्न हैं। इन अनुमानों को देने के लिए बेरोजगारी की निम्नलिखित अवधारणाएँ स्वीकार की गयी हैं—

1. **सामान्य स्थिति बेरोजगारी** (Usual Status Unemployment)—इसका अर्थ लम्बे समय तक रहने वाली या स्थायी बेरोजगारी से है। इसकी माप बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या के रूप में की जाती है। बेरोजगारी के माप के लिए यह अवधारणा उन व्यक्तियों के लिए अधिक महत्व रखती है जो कि नियमित रोजगार के तलाश में रहते हैं जैसे शिक्षित एवं कुशल व्यक्ति। ये लोग आकस्मिक या अनियमित रोजगार स्वीकार नहीं करते। इसी कारण इसे खुली बेरोजगारी कहा जाता है।

2. **साप्ताहिक स्थिति बेरोजगारी** (Weekly Status Unemployment) इसे भी व्यक्तियों की संख्या के रूप में मापा जाता है। जिन व्यक्तियों के पास सर्वेक्षण सप्ताह के दौरान एक घन्टे का भी कार्य नहीं था और जो रोजगार की तलाश में थे उन्हें बेरोजगार मान लिया गया है।

3. **दैनिक स्थिति बेरोजगारी** (Daily Status Unemployment)—जिन व्यक्तियों के पास एक घण्टे का भी कार्य नहीं था उन्हें बेरोजगार, जिन पर 1 घण्टे से 4 घण्टे तक काम था उनके पास आधे दिन का रोजगार और जिन पर इससे ज्यादा काम था उनके पास पूरे दिन का रोजगार माना गया। बेरोजगारी के माप के लिए दैनिक स्थिति बेरोजगारी की अवधारणा सबसे ठीक और महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की बेरोजगारी आ जाती है।

योजना आयोग ने मार्च 1980 के लिए तीन अवधारणाओं के आधार पर बेरोजगारी के जो अनुमान दिये हैं वे नीचे सारिणी में दर्शाये गये हैं।

करोड़ में

अवधारणा	5+	प्रतिशत 1977-78	प्रतिशत 1980	आय समूह वर्षों में (15+)	(15-59)
सामान्य स्थिति (U)	1·2	4·48	4·23	1·14	1·13
साप्ताहिक स्थिति (W)	1·21	4·54	4·48	1·16	1·14
दैनिक स्थिति (D)	2·07	7·74	8·18	1·98	1·92
कुल श्रम शक्ति	2680·5				

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि 1980 में (i) लगभग 1.2 करोड़ व्यक्ति सामान्य स्थिति या खुली बेरोजगारी की श्रेणी में थे (ii) दैनिक स्थिति के आधार पर 2·07 करोड़ व्यक्ति बेरोजगार थे। (iii) दैनिक स्थिति वाली बेरोजगारी की दर (बेरोजगार व्यक्तियों का कुल श्रम शक्ति से प्रतिशत) समस्त भारत के लिए 1977-78 में 8.18% था जो 1980 में घटकर 7.74% हो गया। (iv) इसके विपरीत सामान्य स्थिति बेरोजगारी जो 1977-78 में 4.23% थी, बढ़कर 1980 में 4.48% हो।

भारत में बेरोजगारी की प्रकृति

भारत में बेरोजगारी का अध्ययन हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी : कृषि बेरोजगारी

(ब) नगरीय क्षेत्रों में बेरोजगारी

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी : कृषि बेरोजगारी—भारतवर्ष के ग्रामीण क्षेत्र में दो प्रकार की बेरोजगारी पाई जाती है—मौसमी तथा स्थायी या छिपी हुई बेरोजगारी।

भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है और कृषि अधिकतर एक मौसमी उद्योग है। मौसमी बेरोजगारी के अन्तर्गत ग्रामवासी फसल कट जाने के बाद बेकार हो जाते हैं तथा जब तक दूसरी फसल का कार्यक्रम प्रारम्भ नहीं हो जाता तब तक बेकार ही रहते हैं। भारतवर्ष में सिंचाई व पूंजी का अभाव होने से तथा कृषि सहायक व अन्य कुटीर उद्योगों का पर्याप्त विकास न होने से लोगों को वर्ष भर कार्य नहीं मिल पाता है। मौसमी बेरोजगारों के सम्बन्ध में अलग-अलग अनुमान लगाये गये हैं। रॉयल कमीशन (शाही आयोग) के अनुसार कृषक वर्ष भर में कम से कम 4-5 माह तक अवश्य ही बेरोजगार रहते हैं। **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** के अनुसार उत्तर प्रदेश में सघन कृषि क्षेत्रों में किसानों को साल भर में केवल 200 दिन ही काम मिलता है। श्री जैक के अनुसार बंगाल में पटसन की खेती करने वाले लगभग 9 माह, चावल की खेती करने वाले $7\frac{1}{2}$ माह खाली बैठे रहते हैं। **डॉ० स्लेटर** के अनुसार दक्षिण भारत में किसानों को साल भर में केवल 200 दिन ही काम मिलता है।

विभिन्न राज्यों के कृषि श्रमिकों की बेकारी की स्थिति में काफी अन्तर पाया जाता है। सन् 1971 की जनगणना के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति 1000 पुरुष श्रमिकों के पीछे बेरोजगार श्रमिकों की संख्या असम में 7·94, बिहार में 3·28, बम्बई में 3·88, मध्य प्रदेश में 0·69, उड़ीसा में 2·61, पंजाब में 7·10 राजस्थान में 0·94, आन्ध्र प्रदेश में 1·97, केरल में 28·80, मद्रास में 7·80, मैसूर में 1·78, उत्तर प्रदेश में 1·77, पश्चिम बंगाल में 18·12 तथा समस्त भारत के लिए 4·78 थी।

भारत में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में छिपी हुई बेरोजगारी ही अत्यन्त व्यापक है।

छिपी हुई बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उस स्थिति से है जिसमें श्रमिक काम पर लगा हुआ मालूम तो होता है, किन्तु उत्पादन में उसका अंशदान नहीं के बराबर होता है। भारत में भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक दबाव होने के कारण कृषि में आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं। उनकी सीमान्त उत्पादकता बहुत ही कम होती है या शून्य होती है। कृषि में संलग्न इन अतिरिक्त व्यक्तियों को यदि कृषि से हटा लिया जाय और अन्य व्यवसायों में लगा दिया जाय तो भी कृषि उत्पादन में कोई कमी नहीं होगी। अर्थात् उनका उत्पादन में अंशदान नहीं के बराबर होता है, जिसके फलस्वरूप छिपी बेरोजगारी की समस्या पाई जाती है। उदाहरण के लिए, यदि कृषि पर निर्भर जनसंख्या का अनुपात 70 प्रतिशत से कम करके 60 प्रतिशत कर दिया जाय और देश में कृषि उत्पादन पर कोई प्रभाव न पड़े तो हम कह सकते हैं कि 10 प्रतिशत लोग छिपी बेरोजगारी से प्रभावित हैं। कृषि में ऐसे अतिरिक्त श्रमिकों की संख्या का अनुमान कई विद्वानों ने लगाया है।

अदृश्य बेरोजगारी की इस अवस्था को नीचे चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चित्र से स्पष्ट है कि OP जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन (AP) अधिकतम है, परन्तु इसके बाद जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ औसत उत्पादन घटने
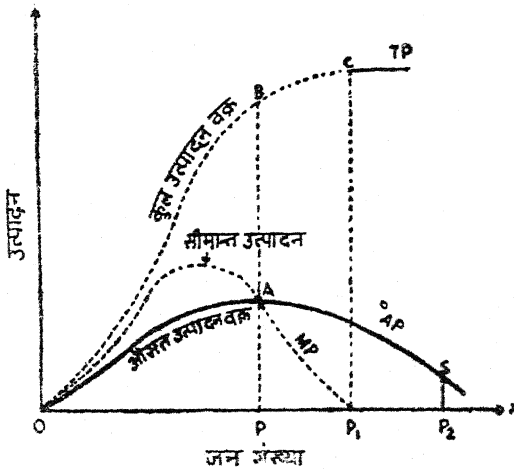
लगता है। अतः OP जनसंख्या को आदर्श जनसंख्या कहा जा सकता है। जब जन-संख्या बढ़ कर OP_1 हो जाती है तो सीमान्त उत्पादन शून्य हो जाता है। P_1 के बाद कुल उत्पादन वक्र (TP) एक सीधी रेखा के रूप में प्रदर्शित है अर्थात् C बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन शून्य है। स्पष्ट है कि ऊपर से देखने में तो OP_1 के बाद के व्यक्ति भी कार्यरत हैं, परन्तु उनका कुल उत्पादन में योगदान शून्य है। उत्पादन में योगदान की कसौटी पर केवल OP_1 व्यक्ति ही रोजगार में कहे जायेंगे। शेष P_1 P_2 या इसके बाद जो भी व्यक्ति रोजगार में लगे होंगे वे सभी अदृश्य रूप से बेरोजगार

होंगे, क्योंकि इन्हें उत्पादन में न भी लगाया जाय तो उत्पादन में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होगी।

कृषि में ऐसे अतिरिक्त श्रमिकों की संख्या का अनुमान भारत में कई विद्वानों ने लगाया है। **श्री नव गोपाल दास** के अनुसार सन् 1929 में भारत में अतिरिक्त कृषि श्रमिकों (पुरुष) की संख्या लगभग 1·55 करोड़ थी। **श्री दत्ता** ने यह संख्या सन् 1951 में 1·94 करोड़ अनुमानित की थी। **श्री एम० एल० गुप्ता** का अनुमान था कि भारत में ऐसे अतिरिक्त कृषि श्रमिकों की संख्या 1954 में 4·23 करोड़ थी जिनमें से 2·67 करोड़ मोसमी बेरोजगारी से प्रभावित थे तथा 1·56 करोड़ अदृश्य बेरोजगारी से प्रभावित थे। **श्री अशोक मित्रा** ने प्रति हेक्टेयर पंजाब में अनावश्यक रूप से अधिक श्रमिकों के सम्बन्ध में इस प्रकार अनुमान लगाये हैं—2-4 हेक्टेयर के खेतों पर 49·77%, 4-6 हेक्टेयर के खेतों पर 42·11% 6-8 हेक्टेयर के खेतों पर 34·76%, 8-12 हेक्टेयर के खेतों पर 35·96%, 12-20 हेक्टेयर के खेतों पर 7·70% तथा 20 व उससे अधिक हेक्टेयर के खेतों पर 2·6%। विश्व भारती के कृषि अर्थशास्त्र अनुसंधान केन्द्र द्वारा बिहार में लिये गये जाँच के समंजकों पर **डॉ० जे० पी० भट्टाचार्य** ने कृषि श्रमिकों में अदृश्य बेरोजगारी का अनुमान लगाया है। उनके अनुमान के अनुसार यह संख्या उत्तर बिहार में 29·7% तथा मध्य बिहार क्षेत्र में 32·6% है।

ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या ने दिन-प्रतिदिन भयंकर रूप धारण कर लिया है। 1956 में जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में 53 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे वहीं 1980 में यह संख्या बढ़कर 4 गुनी अर्थात 2 करोड 7 लाख 40 हजार हो गयी। छठी पंचवर्षीय योजनावधि (1980-85) के बीच ग्रमीण श्रमिकों की संख्या 21 करोड़ 60 लाख से बढ़कर 24 करोड़ 60 लाख हो जायेगी। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी उन्मूलन एक महत्वपूर्ण कार्य समझा गया और इसके अमल में तेजी लाने के उद्देश्य से प्रधानमन्त्री के 20 सूत्री कार्यक्रम का इसे प्रमुख अंग बनाया गया है।

नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी

नगरीय क्षेत्र में लगभग सभी बेरोजगारी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार की बेरोजगारी से सामाजिक स्तर पर अनेक प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं जिनसे सामाजिक व्यवस्था खतरे में पड़ सकती है। परन्तु फिर भी योजनावधि में शहरों में न केवल बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि हुई है, बल्कि शहरों में कुल श्रम-शक्ति के साथ बेरोजगारों का अनुपात भी बढ़ा है, जैसा कि उपरोक्त सारिणी के अंकों से पता चलता है। बी० एन० दातार, आर० सी० भारद्वाज, राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण योजना आयोग, विलफ्रेड मैलेनबाम आदि अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न समयों पर नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारों की संख्या के अनुमान लगाये हैं।

नगरीय क्षेत्रों में मुख्य रूप से दो प्रकार की बेरोजगारी देखने को मिलती है—

भारत में नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी

स्रोत	समयावधि	नगरीय क्षेत्र में बेरोजगारी (लाखों में)	नगरीय क्षेत्र में श्रम-शक्ति के साथ बेरोजगारी का अनुपात
बी० एन० दातार	मार्च 1951	25-30	12·00
आर० सी० भारद्वाज	मार्च 1951	25	11·4
नेशनल सेंपिल सर्वे और एंप्लायमेंट एक्सचेंज के आँकड़े	सितम्बर 1953	24	11·0
दूसरी पंचवर्षीय योजना	मार्च 1956	25	10·0
विलफ्रेड मैलेनबाम	मार्च 1965	25	10·0
आर० सी० भारद्वाज	मार्च 1956	34	13·5
नेशनल सेंपिल सर्वे और एंप्लायमेंट एक्सचेंज के आँकड़े	मई 1956	34	13·1
आर० सी० भारद्वाज	मई 1961	45	15·5
पंचवर्षीय योजना 1978-83	मार्च 1978	41	9·0

(अ) औद्योगिक बेरोजगारी।

(ब) शिक्षित वर्ग व मध्यम श्रेणी के लोगों में पाई जाने वाली बेरोजगारी ।

(अ) औद्योगिक बेरोजगारी—देश में जनसंख्या की तेजी से वृद्धि के कारण श्रमिकों की संख्या भी बढ़ रही है। ज्यों-ज्यों नगरों का विस्तार होता जा रहा है, त्यों-त्यों ग्रामीण क्षेत्रों से जनसंख्या शहरी क्षेत्रों को स्थानान्तरित होती जा रही है। इसके अतिरिक्त कम कामकाज वाले मौसम में अनेक कृषि श्रमिक रोजगार की तलाश में औद्योगिक केन्द्रों में आते हैं। इस तरह उद्योगों में काम माँगने वाले व्यक्तियों की संख्या तो बढ़ती जाती है। किन्तु औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण रोज-गार के इच्छुक श्रमिकों को उद्योगों में पूरी तरह खपाया नहीं जा रहा है। इस प्रकार औद्योगिक श्रमिकों में बेरोजगारी निरन्तर बढ़ रही है।

(ब) शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी—भारतवर्ष में शिक्षित बेकारी की समस्या मुख्यतः शहरी क्षेत्रों में है। शिक्षित लोगों में बेरोजगारी का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें मैट्रिक या उससे ऊँची शिक्षा प्राप्त लोग बेकार रहते हैं। शिक्षित वर्ग में पाई जाने वाली बेरोजगारी एक भीषण समस्या है। शिक्षा-क्षेत्र में 'संख्या-विस्फोट' अर्थात् बड़ी संख्या में विद्यार्थियों का शिक्षा प्राप्त कर निकलने के कारण, शिक्षित बेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है। शिक्षित व्यक्तियों की बेकारी का सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार के बेकार व्यक्तियों की संख्या रोजगार के अवसरों की उपलब्धि तथा पूर्ति और माँग में असंतुलन पैदा हो जाने के कारण अधिक हो रही है। प्रतिवर्ष कितने ही नये कालेज तथा स्कूल खुलते हैं और प्रत्येक वर्ष शिक्षा प्राप्त करके युवक ज्यादा से ज्यादा संख्या में निकल रहे हैं और इस प्रकार

रोजगार या काम की तलाश करने वाले व्यक्तियों की संख्या रोज के अवसरों की तुलना में बढ़ती जा रही है। दोष-युक्त शिक्षा प्रणाली से भी यह बेकारी बढ़ती है। हमारी शिक्षा प्रणाली पुस्तकीय है। उसमें व्यावसायिक या प्राविधिक स्वरूप बहुत कम है। वह किसी विशेष कार्य के लिए छात्रों को प्रशिक्षित नहीं करती। यही कारण है कि बहुत से शिक्षित लोग बेरोजगार रहते हैं।

शिक्षित बेकारी का अर्थ विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा अलग-अलग लगाया जाता है। सामान्य शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षित कार्य व्यक्ति का कार्य तो करना चाहता है, परन्तु उसे कार्य ही नहीं मिलता है अर्थात् वह बेकार रहता है एवं अपनी शिक्षा या योग्यता का मूल्यांकन करने का अवसर उसे प्राप्त नहीं होता है।

समस्या की गम्भीरता—छठी योजना के अनुसार 1980 के प्रारम्भ में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 34·72% लाख थी जो कुल शिक्षित आय श्रम शक्ति का 15·32% थी। इसमें मैट्रिक/हायर सैकण्ड्री पास व्यक्तियों की संख्या 24·62 लाख तथा स्नातक व प्राविधिक डिप्लोमा होल्डरों की संख्या 10·10 लाख थी। बेरोजगारी की सर्वाधिक दर डिप्लोमा प्राप्त इन्जीनियरों में 19·9 प्रतिशत तथा शिक्षा स्नातकों (B.Ed.) में 15·7% थी। दन्त चिकित्सकों व पशुओं के स्नातकों में यह 2 से 3·6% थी। कला व विज्ञान के स्नातकों में यह 21-22% थी।

रोजगार विनिमयालयों के रजिस्टर आँकड़ों से पता चलता है कि 50% काम चाहने वाले व्यक्ति शिक्षित वर्ग के हैं।

अनुमान लगाया गया है कि 1985 के आरम्भ में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 46·56 लाख हो जायेगी। इस प्रकार हमारे देश में शिक्षित बेरोजगारी की समस्या भी काफी गम्भीर है।

भारत में शिक्षित व्यक्तियों में बढ़ती हुई बेरोजगारी के खतरे के साथ-साथ कई व्यवसायों में जनशक्ति की कमी का विरोधाभास पाया गया है। एक तरफ तो तकनीकी योग्यता प्राप्त व्यक्ति बेकार पाये जाते हैं और दूसरी तरफ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक क्षमता वाले व्यक्तियों की कमी बनी रहती है जैसे अनुभवी इलेक्ट्रीकल इन्जीनियर, केमिस्ट, टर्नर, फार्मेसिस्ट, ड्राफ्ट्समैन व एकाउन्टेन्ट आदि की कमी बनी हुई है।

भारत में प्रायः यह देखने में आता है कि न केवल शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार है बल्कि बेरोजगार पाने के लायक भी नहीं हैं क्योंकि उनमें कार्य करने की योग्यता, व दक्षता बहुत नीचे स्तर की है। ऐसी स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई है कि तथा कथित शिक्षित व्यक्ति अध्ययन काल में जैसे-तैसे डिग्री तो प्राप्त कर लेता है लेकिन अपने पाठ्यक्रमों का भली प्रकार से अध्ययन नहीं करते जिससे उसमें विषय के नाम का सर्वथा अभाव रहता है।

बेरोजगारी के कारण

भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार की बेरोजगारी के कारण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि हम कतिपय सामान्य कारणों का उल्लेख कर सकते हैं जो निम्न हैं :

जनसंख्या में तीव्र वृद्धि—हमरी जनसंख्या में प्रतिवर्ष लगभग 2·5% से वृद्धि हो रही है। जनसंख्या की इस तीव्र वृद्धि के कारण हमारी श्रम-शक्ति भी तेजी से बढ़ रही है, परन्तु रोजगार के अवसर उसी गति से नहीं बढ़ सके हैं। फलतः देश में बेरोजगारी की समस्या उग्र है।

2. कृषि का पिछड़ापन—भारतीय कृषि करने का ढंग अब भी बहुत पुराना है। कृषि उद्योग अविकसित है और वर्षा पर अधिक निर्भर है जिससे उसका स्वरूप अधिक मौसमी है। कृषि की इस पिछड़ी हुई अवस्था के कारण इसमें अधिक लोगों को रोजगार प्रदान नहीं किया जा सकता।

3. दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली—हमारी शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है, क्योंकि वह अधिकतर साहित्यिक है व्यावसायिक नहीं। जिसके फलस्वरूप शिक्षित बेकारी देश में अधिक है। प्रत्येक वर्ष हमारे विश्वविद्यालयों से हजारों विद्यार्थी बी० ए०, एम• ए० पास करते हैं। फलतः प्रतिवर्ष शिक्षित वर्ग में कार्य ढूंढ़ने वाले तथा कार्य के अवसरों में अन्तर बढ़ता जाता।

4. प्रतिकूल उत्पादन तकनीकी की चुनाव—भारत में विभिन्न योजनाओं में उत्पादन के क्षेत्र में विकसित पाश्चात्य तकनीकी का प्रयोग किया गया। फलत: उपभोग वस्तु उद्योगों व भारी उद्योगों में क्षेत्रीकरण इतना अधिक हो गया कि वर्तमान समय में उपभोग वस्तुओं व मशीन बनाने वाले उद्योगों में विनियोग के प्रति इकाई रोजगार प्रदान करने की क्षमता बहुत कम है। योजनाओं की अवधि में राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी में एक साथ वृद्धि होने का एक कारण यह है कि योजनाओं के अंतर्गत चुने गये तकनीक उत्पादन की मात्रा में तो वृद्धि करते हैं, परन्तु इनसे श्रम की आवश्यकता कम हो जाती है।

5. विकास की धीमी गति—भारत में योजना काल में यद्यपि आर्थिक विकास हुआ है और उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई है लेकिन आर्थिक विकास की दर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत लक्ष्य से नीची रही है। इस स्थिति में रोजगार के अवसरों में ज्यादा वृद्धि न होना स्वाभाविक ही है।

यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक विकास द्वारा बेरोजगारी की समस्या स्वत: हल नहीं हो जाती। वह देखा जाता है कि यदि रोजगार आयोजन की ओर ध्यान न दिया जाय तो आर्थिक विकास की गति तेज होते हुए भी बेरोजगारी की समस्या बनी रह सकती है। भारत की स्थिति ऐसी ही है। यहाँ आयोजन काल के 35 वर्षों में यद्यपि बेरोजगारी कम करने को आर्थिक आयोजन का उद्देश्य तो माना गया लेकिन सम्पूर्ण ध्यान आर्थिक विकास की ओर ही था। ऐसी स्थिति में यदि देश में बेरोजगारी बढ़ी है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

6. विनियोग का निम्न स्तर—भारत की बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण विनियोग के निम्न स्तर को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। देश में सार्वजनिक विनियोग की वास्तविक मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकी थी। आन्तरिक मुद्रा स्फीति, विदेशी सहायता की अनिश्चितता व युद्ध की आशंका के कारण पूंजी विनियोग विशेष

रूप से 1965-75 के दशक में आशानुकूल नहीं रहा। ऐसी स्थिति में गतिहीनता की स्थिति अर्थव्यवस्था में उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार विनियोग के अभाव के कारण भारतवर्ष में रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं की जा सकी है।

7. **निजी क्षेत्र के समक्ष अनिश्चितता व अत्यधिक सरकारी नियंत्रण**—निजी क्षेत्र के समर्थकों का मत है कि सरकारी नीतियां निजी क्षेत्र को उत्साहित करती है जिससे यह रोजगार के अवसर बढ़ाने में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाते। भूत-काल में सरकार की कर नीति, विनियोग को प्रोत्साहन देने वाली नहीं रही है।

8. **मानवीय शक्ति के उचित नियोजन का अभाव**—देश में मानवीय शक्ति के उचित नियोजन के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है जिसके कारण देश में रोजगार बढ़ने के बावजूद भी बेरोगारी बढ़ी है और रोजगार के सम्बन्ध में विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हुई है।

9. **अन्य कारण**—उपर्युक्त आधारभूत कारणों के अतिरिक्त देश में व्याप्त बेरोजगारी समस्या के लिये निम्न कारण उत्तरदायी हैं —

(क) ब्रिटिश काल में जो नीति अपनाई गई उससे हमारे देश में कुटीर व लघु उद्योगों का ह्रास हुआ है, वे अभी तक पर्याप्त मात्रा में उचित ढंग से विकसित नहीं हो सके हैं।

(ख) देश के प्राकृतिक साधनों की क्षमता का पूर्णतया उपयोग नहीं किया गया है।

(ग) कृषि तथा अल्य उद्योगों में पूँजी का अभाव है।

(घ) भारत में श्रमिकों की गतिशीलता का अभाव है।

(ङ) देश में अशिक्षित व अकुशल श्रमिकों का आधिक्य है।

(च) बहुत से उद्योगों में लागत कम करने के उद्देश्य से नवीनीकरण व आधुनिकीकरण के कार्यक्रम अपनाये गये जिससे थोड़े-बहुत श्रमिकों की छँटनी हो गई है।

(छ) पिछले कई वर्षों में कई विभाग जो युद्धकाल में स्थापित किये गये थे, जैसे नागरिक सम्भरण विभाग आदि अब बन्द कर दिये गये हैं।

(ज) देश का औद्योगीकरण भी धीमी गति से हो रहा है। हाल ही में विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण आयात पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिससे कि औद्योगीकरण की गति में शिथिलता आ गई है।

(झ) इसके अतिरिक्त ऊँची लागत अर्थ-व्यवस्था, सूखा, मन्दी व अवमूल्यन की दशाएँ तथा समाज की बदलती परिस्थितियों में मध्यम श्रेणी की स्त्रियों को श्रम-बाजार में प्रवेश आदि की बेरोजगारी के अन्य कारणों के अन्तर्गत उल्लेख किया जा सकता है।

सुझाव—बेरोजगारी की समस्या देश में अत्यन्त गम्भीर है और इसको शीघ्र से शीघ्र दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि 'साठ' का दशक भारत में खाद्य समस्या हल करने का दशक रहा है, तो अस्सी का दशक हमारे लिए बेरोजगारी दूर करने का

दशक रहना चाहिए। विकास कार्यक्रम इस आधार पर बनाये जाने चाहिए कि 'सब लोगों को रोजगार मिले।' श्री वी० वी० गिरि के अनुसार बेरोजगारी दूर करने के लिये हमें शीघ्र ही सबके लिए रोजगार की भावना से युद्ध-स्तर पर सक्रिय उपाय करने होंगे।

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए और सुझावों का अध्ययन हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे :

(1) सैद्धांतिक विवेचना
(2) व्यावहारिक उपाय

(1) सैद्धान्तिक विवेचना

आर्थिक विकास की दृष्टि में मानवीय संसाधनों के उपयोग हेतु विभिन्न विकासवादी अर्थ-व्यवस्थाओं द्वारा भिन्न-भिन्न उपाय बताये गये हैं। इन सभी उपायों का अन्तिम लक्ष्य जनशक्ति के सर्वोत्तम उपयोग द्वारा वांछित आर्थिक विकास को प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण विचारधाराएँ इस प्रकार हैं--

1. रेगनर नर्क्स (Regnar Nurkse) की विचारधारा

प्रो० नर्क्स का मत है कि अर्द्धविकसित देशों में औसत रूप से कुल जनसंख्या का लगभग 25% अदृश्य-बेरोजगारी से ग्रस्त है। नर्क्स का कथन है कि 'घनीभूत श्रम' (Congealed labour) ही पूँजी होती है। अतः अदृश्य बेरोजगारी में निहित श्रम के अपव्यय का पूँजी निर्माण में उपयोग किया जा सकता है। अतः यह उचित है कि अदृश्य बेरोजगार श्रमिकों को कृषि से हटाकर, सिंचाई, रेल, सड़क, मकान आदि विशेष सामाजिक सेवाओं के निर्माण में लगाया जाये। नर्क्स के शब्दों में "अतिरिक्त श्रमिकों को भूमि से हटाया जाना सम्भव है। ऐसे लोग जिस वस्तु का निर्माण करेंगे उससे वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, किन्तु पूँजी के बिना वे क्या उत्पादन करेंगे ? सम्भवतः बहुत कम। अतः उन्हें वास्तविक पूँजी के उत्पादन में ही क्यों न लगाया जाये ?

अतिरिक्त श्रम-शक्ति को भूमि से हटाकर पूँजीगत परियोजनाओं में लगाने में दो समस्याएँ हैं—(अ) उपकरणों की उपलब्धि और (ब) योजनाओं का वित्त प्रबंध।

जहाँ तक अतिरिक्त कृषि-श्रम को पूँजीगत योजनाओं में कार्य करने के लिए उपकरणों तथा अन्य सामान उपलब्ध कराने की समस्या है, उसको हल करना अत्यन्त सरल है। इस सम्बन्ध में नर्क्स का सुझाव है कि—(अ) जहाँ तक संभव हो उत्पादन कार्य में श्रम-प्रधान तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिए जैसे, जंगल साफ करने में, पेड़ को गिराने का कार्य श्रमिकों द्वारा होना चाहिए न कि बुलडोजरों द्वारा, (ब) कृषि क्षेत्र से अतिरिक्त श्रमिकों के स्थानांतरण से कृषि में प्रयोग किए जा रहे उपकरणों — जैसे, टोकरियों, बेलचों व हथौड़ियों आदि में भी बचत होगी। अतिरिक्त श्रमिक इन फालतू उपकरणों को पूँजीगत योजनाओं में प्रयोग के लिए ले जा सकते

हैं (स) विकास की प्रारम्भिक अवस्था में बहुत ही साधारण किस्म के औजार तथा उपकरणों का प्रयोग किया जा सकता है।

इस सिद्धांत की सफलता के लिये आवश्यक है कि (i) कृषि क्षेत्र में बची हुई जनसंख्या के उपभोग-स्तर में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, (ii) कृषि क्षेत्र में जिन श्रमिकों को स्थानान्तरित किया जाये, उनके लिये तुरन्त वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिये।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रो० नर्क्स का सिद्धान्त काफी महत्त्वपूर्ण है। अर्द्ध-विकसित देशों में पाये जाने वाले श्रम अतिरेक का उपयोग उत्पादन कार्यों में किया जा सकता है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में अर्द्धविकसित देशों को बाह्य सहायता पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस सिद्धांत के अनुसार देश में अन्तर्निहित सम्भाव्य बचत का प्रभावशाली ढंग से उपयोग करके आर्थिक विकास को संभव बनाया जा सकता है। लेकिन जहाँ तक सिद्धान्त की व्यावहारिकता का प्रश्न है, अदृश्य बेरोजगारी की सही माप अतिरिक्त श्रम को पूँजीगत परियोजनाओं में स्थानान्तरित करना पर्याप्त मात्रा में मशीन; औजारों और उपकरणों की व्यवस्था करना, करना, साधनों को सही दिशा में गतिशीलता आदि अनेक समस्यायें पूँजी निर्माण में संभाव्य बचत योगदान को सीमित कर देती है।

2. आर्थर लुईस की विचारधारा

प्रो० विलियम आर्थर लुईस अपने लेख "श्रम की असीमित पूर्ति से आर्थिक विकास (Economic Development with the limited supply of labour) में एक मॉडल के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, कि श्रम की असीमित पूर्ति के बावजूद भी तीव्र आर्थिक विकास सम्भव है। लुईस का यह विश्वास है कि अर्द्धविकसित देशों में असीमित मात्रा में श्रमिकों की पूर्ति जीवन-निर्वाह-मजदूरी-स्तर पर उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में—"आर्थिक विकास उस समय होता है, जबकि जीवन-निर्वाह क्षेत्र से अतिरिक्त श्रमिक को निकाल कर पूँजीवादी क्षेत्र में लगाने के कारण पूँजी का सञ्चय या निर्माण होता है।" लुईस का मत है कि अर्द्धविकसित देशों में मानवीय-श्रम सस्ता होता है और उसकी पूर्ति आसानी से हो जाती है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्वाह क्षेत्र से अधिकाधिक मात्रा में मानवीय श्रम प्राप्त किया जाये और उन्हें ऊंची मजदूरी का प्रलोभन देकर औद्योगिक क्षेत्र की ओर स्थानांतरित किया जाये।

लुईस के मॉडल की तीन प्रमुख बातें :

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरी की दर, चाहे थोड़ी अधिक हो, पर निश्चित हो।

(ब) औद्योगिक श्रम में विनियोग अधिक किया जाय, भले ही वह जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में न हो, तथा

(स) श्रमिकों को प्रशिक्षित करने की लागत पूरे समय तक समान बनी रहनी चाहिए।

प्रो० लुईस के मॉडल का प्रधान गुण यह है कि यह बहुत स्पष्ट ढङ्ग से विकास प्रक्रिया की व्याख्या करता है और यह स्पष्ट करता है कि उन अर्द्धविकसित देशों में पूँजी-निर्माण किस प्रकार होता है, जहाँ श्रम का बाहुल्य और पूंजी की दुर्बलता होती है।

3. प्रो० लेबेनस्टीन के विचार

प्रो० हारेव लेबेनस्टीन ने अपनी पुस्तक 'Economic Backwardness and Economic Growth' में अर्द्धविकसित देशों के सम्बन्ध में एक वाद या थीसिस को जन्म दिया है। जिसे 'न्यूनतम आवश्यक प्रयत्नवाद' कहते हैं। अपने इस ग्रन्थ में लेबेनस्टीन ने भारत, इन्डोनेशिया आदि, उन अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं का अध्ययन किया है, जिनमें जनसंख्या का घनत्व अधिक है।

लेबेनस्टीन का मत है कि अर्द्धविकसित देशों में केवल प्रति व्यक्ति आय बढ़ने पर ही जन्म-दर कम होगी अर्थात् पहले आर्थिक विकास होगा, फिर जन्म दर घटेगी। लेबेनस्टीन के शब्दों में—"बिना आर्थिक विकास के कोई भी प्रत्यक्ष तरीके जन्म-दर नियन्त्रण में सफल 'नहीं' हो सकते।" वास्तव में उनके यह विचार माल्थस के विचारों के ठीक विपरीत हैं।

लेबेनस्टीन का मत है कि अधिक जनसंख्या वाले अर्द्धविकसित देशों में तीव्र गति से आर्थिक विकास तभी सम्भव हो सकता है, जबकि शुरू में अधिक आय उत्पन्न करने वाले विनियोग कार्यक्रमों को शुरू किया जाय। वैसे भी अर्द्धविकसित देशों के प्रारम्भिक विकास काल में बड़ी मात्रा में विनियोग करने की आवश्यकता होती है, ताकि राष्ट्रीय आय से तीव्र गति से विकास हो सके। अतः इस दृष्टि से किये गये प्रयासों के दो लाभ होंगे —(अ) जनसंख्या वृद्धि की दर गिरेगी, और (ब) फलस्वरूप इस प्रथम अवस्था के बाद आर्थिक विकास का यह विचार आर्थिक जगत में 'न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न सिद्धान्त' से जाना जाता है।

स्पष्टतः लेबेनस्टीन के मतानुसार जनसंख्या की इस ऊँची दर को नियन्त्रित करने और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करके जनसंख्या वृद्धि की दर को घटाने के लिए न्यूनतम आवश्यक प्रयत्नों की आवश्यकता है।

प्रो० लेबेन्टीन का न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न के सिद्धान्त ने अर्थशास्त्रियों एवं अर्द्धविकसित देशों में योजना बनाने वालों का ध्यान आकर्षित किया है। यह सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक है, क्योंकि अर्द्धविकसित देशों में औद्योगीकरण के लिए पूँजी की कमी के कारण एक बार ही बड़ा धक्का देना कठिन होता है, जबकि अर्थ-व्यवस्था को सतत विकास के मार्ग पर लाने के लिये न्यूनतम आवश्यक प्रयत्न सिद्धांत उचित ढङ्ग से समय-समय पर थोड़ा-थोड़ा विकास करने का समर्थन करता है। यह सिद्धान्त प्रजातन्त्रात्मक योजना से भी कम मेल रखता है, जिससे अधिकांश अर्द्ध-

विकसित देश सम्बद्ध हैं। परन्तु यह सिद्धान्त भी बहुत व्यावहारिक नहीं है। अर्द्ध विकसित देशों में न्यूनतम-स्तर के आवश्यक प्रयत्नों हेतु वांछित मात्रा में विदेशी सहायता, प्रशिक्षित श्रम व विकसित तकनीक आदि उपलब्ध न होने के कारण ये देश आवश्यक औद्योगिक विनियोग करने में भी असमर्थ रहते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी अर्द्ध-विकसित देश जन्म दर को घटाने के लिए प्रति व्यक्ति आय में न्यूनतम आवश्यक स्तर से अधिक वृद्धि होने तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि हो सकता है कि तब तक देश में जनसंख्या विस्फोट की स्थिति उत्पन्न हो जाये। इतना ही नहीं लेबेनस्टीन ने जनसंख्या को एक विशुद्ध आर्थिक घटक माना है, जो कि त्रुटिपूर्ण है कारण यह है कि अर्द्ध विकसित देशों में जनसंख्या एक सामाजिक व धार्मिक समस्या है, जिस पर रीति-रिवाज धर्म व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों आदि का प्रभाव पड़ता है। जिस देश में "पुत्र पैदा होने पर पिता को सब कष्टों से छुटकारा मिल जाता हो, (grand son) के जन्म से वह अमर हो जाता हो, और पड़-पोते के अवतार लेते ही वह स्वर्ग का अधिकारी बन जाता हो," भला ऐसे देशों में आय वृद्धि किस प्रकार जनसंख्या वृद्धि को सीमित कर सकती है।

(2) व्यावहारिक उपाय

बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए निम्नलिखित व्यावहारिक उपाय किये जा सकते हैं :

(1) **दीर्घकालीन उपाय**—बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए अपनाई गई दीर्घकालीन नीति में निम्नलिखित बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(i) **जनसंख्या नियन्त्रण**—जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण नियन्त्रण लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इनके लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम को प्रभावशाली ढंग से तेजी के साथ चलाया जाना चाहिये और जन्म दर शीघ्रातिशीघ्र 40 से 52 तक घटाने के प्रयत्न होने चाहिए। चीन में भी पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने के लिए जनसंख्या नियन्त्रण नीति अपनाई गई हैं।

(ii) **तीव्र आर्थिक विकास**—देश में आधारभूत उद्योगों का विकास शीघ्रता से होना चाहिये जिससे रोजगार के नये अवसर उत्पन्न होंगे। विशेष कर शिक्षित तथा कुशल व्यक्तियों के लिए तथा कृषि से अतिरिक्त जनशक्ति हटाकर उद्योगों में लगाई जा सकेगी, लेकिन औद्योगीकरण के ये लाभ तभी मिल सकेंगे, जबकि वह विकेन्द्रित हो, छोटे सहायक उद्योगों व वृहद् उद्योगों के बीच उचित समन्वय रखा जाय और पूंजी प्रधान उद्योगों की अपेक्षा श्रम प्रधान उद्योगों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

(iii) **शिक्षा-प्रणाली में सुधार**—वर्तमान पुस्तकीय शिक्षा-प्रणाली को तकनीकीय और व्यावसायिक रूप दिया जाना चाहिये। शिक्षा-प्रणाली को इस तरह व्यवस्थित किया जाना चाहिये कि कर्मचारियों की आवश्यकताओं के बदलते हुए ढाँचे से उसका सामंजस्य हो सके।

रोजगार के अवसर जुटा देने से ही बेरोजगारी दूर नहीं हो सकती। मुख्य समस्या है लोगों को रोजगार के योग्य बनाना। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन सम्बद्ध प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाने चाहिये। कारण यह है कि भारतवर्ष में 90% व्यक्ति ऐसे हैं जो कि अकार्यकुशल हैं, इनमें शिक्षित व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। भारत में शिक्षित बेरोजगारी का कारण यह नहीं है कि रोजगार के अवसर उपलब्ध नहीं है बल्कि यह भी है कि उपलब्ध रोजगार के लिए उपयुक्त व्यक्ति नहीं हैं प्रशिक्षण युक्त शिक्षण हमारी शिक्षा नीति होनी चाहिये ताकि व्यक्ति स्वयं अपना रोजगार प्रारम्भ कर सके। ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योग एवं तकनीकी प्रशिक्षण हेतु वर्ष में कम से कम दो बार शिविर लगाये जाने चाहिये जिनमें ग्रामीण उद्योगों से सम्बन्धित ज्ञान ग्रामीणों को दिया जाना चाहिए।

(iv) **निर्माण कार्यों में वृद्धि**—देश में यातायात सेवाओं तथा जनकल्याण सेवाओं के विकास की आवश्यकता है। यातायात के क्षेत्र में रोजगार की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं। अतः इस क्षेत्र का तेजी से विकास किया जाना चाहिये, क्योंकि इसके द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ेगी तथा साथ ही साथ रोजगार भी बढ़ेगा। इसी प्रकार हमारे देश में सामाजिक तथा लोकहितकारी सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का अत्यधिक अभाव है, अतः इन सामाजिक सेवाओं के विस्तार से जनकल्याण में वृद्धि होने के साथ-साथ बेरोजगारी के निवारण में सहायता मिलेगी।

(v) **अनुकूल उत्पादन तकनीक का चुनाव**—भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में जहाँ बहुत अधिक मात्रा में श्रम शक्ति पायी जाती है और जिससे जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ श्रम में वृद्धि होती जा रही है, पूँजी प्रधान तकनीकों का अन्धाधुन्ध उपयोग रोजगार की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हुआ है। वस्तुतः हमें श्रम प्रधान तकनीकों का उपयोग करना चाहिये जिससे उत्पादिता तथा रोजगार में एक साथ वृद्धि प्राप्त की जा सके।

(vi) **रोजगार कार्यालय का विस्तार**—सारे देश में रोजगार कार्यालयों का जाल-सा बिछा देना चाहिये, ताकि श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हो और जो बेरोजगारी केवल कार्य खोजने के कारण है वह दूर हो। विभिन्न विश्वविद्यालयों में रोजगार विभाग खोलकर शिक्षितों को उचित काम के बारे में मार्ग दर्शन करना आवश्यक है।

(vii) **मनुष्य शक्ति का नियोजन**—भारत में मनुष्य शक्ति के नियोजन में काफी दोष है, इसलिए आवश्यक है कि देश में वैज्ञानिक ढंग से मनुष्य शक्ति का नियोजन किया जाय। कार्यकुशल जनशक्ति की कमी समझते हुए प्रशिक्षण प्राप्त और अनुभवहीन जनशक्ति का सही अनुमान लगाते हुए सही रोजगार के अवसर अधिकाधिक उपलब्ध कराकर जनशक्ति योजना को उचित ढंग से क्रियान्वित किया जाय। यह सन्तोष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में इस दिशा में प्रयत्न किये गये हैं। इसके लिये सन् 1962 में केन्द्रीय मनुष्य शक्ति अनुसंधान संस्था दिल्ली में स्थापित की गई है।

(viii) **सामाजिक सुधार**—भारत के सामाजिक ढाँचे से उपयुक्त परिवर्तन किया जाय, ताकि जाति प्रथा, पर्दा प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली आदि के दोष दूर हो सकें और श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि होकर रोजगार के अवसर बढ़ सकें।

(ix) **योजनाओं में विनियोग के स्वरूप में परिवर्तन**—अभी तक हमने विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आधारभूत व भारी उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान दिया है जिससे अर्थव्यवस्था के भावी विकास का आधार तो सुदृढ़ हो गया है लेकिन रोजगार के अवसर पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़ सके हैं। अब हम इस स्थिति में आ गये हैं कि रोजगार बढ़ाने वाले उद्योगों पर अधिक ध्यान दे सकें इसके लिए आम जरूरत की उपभोग वस्तुओं के उद्योगों में विशेष रूप से विनियोग करना होगा। इससे एक तरफ रोजगार के अवसर बढ़ेंगे और दूसरी ओर मुद्रा स्फीति पर भी नियंत्रण किया जा सकेगा।

(x) **कृषि में संस्थागत परिवर्तन**—कृषिगत विकास से रोजगार के अवसर अवश्य बढ़ेंगे लेकिन इस विकास के लिए संस्थागत व तकनीकी परिवर्तन एक साथ होना चाहिए। इसके लिए एक तरफ भूल सुधार कार्यक्रम लागू किये जाने चाहिए और दूसरी ओर सिंचाई, उर्वरक, बीज आदि का तेजी से विस्तार करके कृषिगत उत्पादकता में वृद्धि की जानी चाहिए।

(xi) **गाँव में रोजगारोन्मुख नियोजन**—गाँव में सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अनेक अवसर उत्पन्न किये जा सकते हैं लेकिन आवश्यकता है गाँव को ठीक से बसाने की एवं उनका समुचित विकास करने की। गाँव में इन्जीनियरों, ओवरसियरों, अध्यापकों, डाक-बाबुओं व डाकियों, मोटरचालकों, डाक्टरों, छोटे उद्यमकर्ताओं व मिस्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के लिए रोजगार की विशाल सम्भावनाएँ निहित हैं। ग्रामीण विद्युतीकरण से गाँवों में आधुनिक जीवन की सभी सुविधाएँ पहुँचायी जा सकती हैं और धीरे-धीरे वहाँ की जनशक्ति को उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि हमारा लक्ष्य केवल 'मजदूरी पर रोजगार' उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि हम साथ में 'स्वरोजगार' के अनेक अवसर भी विकसित करना चाहते हैं।

2. **अल्पकालीन उपाय**—अल्पकाल में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए निम्न उपाय किये जाने चाहिये :—

(i) **सघन कृषि**—सिंचाई की सुविधा बढ़ाकर उन्नत बीज, खाद, दवा आदि कृषि की आवश्यक वस्तुएँ किसानों को उपलब्ध कराकर हमें अधिक से अधिक क्षेत्र सघन कृषि के अन्तर्गत लाना चाहिये जिससे प्रति हेक्टेयर उत्पादन बढ़ेगा और साथ ही क्षेत्र में रोजगारी भी बढ़ेगी।

(ii) **सघन फसल कार्यक्रम**—अधिक से अधिक क्षेत्र में प्रतिवर्ष एक से अधिक फसलें बोने के लिए सघन फसल कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिये जिससे वर्ष भर में एक से अधिक फसलें उगाने से मौसमी बेरोजगारी की समस्या हल होगी।

(iii) **कृषि सहायक उद्योगों को प्रोत्साहन**—पशु पालन, दुग्ध व्यवसाय, मुर्गी

पालन, मछली पालन, मधुमक्खी पालन, सुअर पालन आदि कृषि सहायक उद्योगों को अपनाकर रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

(iv) **ग्रामीण क्षेत्रों व छोटे नगरों में नये विकास केन्द्रों को प्रोत्साहन**—अभी तक हमारे नियोजन में विनियोग का बड़ा भाग अधिक भीड़ वाले महानगरों को प्राप्त होता रहा है फलतः विनियोग का दायरा अत्यन्त सीमित था अतः यह सुझाव महत्त्व-पूर्ण है कि ऐसे नगरों को नये विकास केन्द्रों के रूप में विकसित किया जाय जिनकी जनसंख्या दस हजार से पचास हजार के बीच में है। इन विकास केन्द्रों की स्थापना से जहाँ एक ओर उद्योगों के फैलाव के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था सुदृढ़ बन जायेगी वहाँ दूसरी ओर रोजगार के अवसरों का कहीं अधिक विस्तार होगा।

(v) **रोजगार के आधार पर आर्थिक सहायता**—अभी तक छोटे एवं बड़े उद्योगों को आर्थिक सहायता दिये जाने का आधार उत्पादन अधिकतम करना रहा है अतः यह सुझाव दिया जाता है कि इस पद्धति को बदलना चाहिए और अतिरिक्त रोजगार निर्माण को आर्थिक सहायता एवं प्रोत्साहनों का उपयुक्त आधार बनाना चाहिए। इस सुझाव के क्रियान्वयन से सरकारी सहायता का सम्पूर्ण ढाँचा बड़े उप-क्रमियों की तुलना में छोटे उपक्रमियों की ओर परिवर्तित हो जायेगा। ऐसा करना न्यायसंगत है क्योंकि यह रोजगार उद्देश्य के अनुकूल है और समानता की भी पुष्टि करता है। हर्ष की बात है कि सरकार ने हाल ही में रोजगार को आर्थिक सहायता का आधार बनाने का निर्णय लिया है।

(vi) **ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों का विस्तार**—भारत में गम्भीर मौसमी बेरोजगारी वाले प्रदेशों में खेतिहर श्रमिकों अनुसूचित व आदिम जातियों आदि के लोगों को रोजगार देने तथा साथ में उत्पादक परिसम्पत्तियों का निर्माण करने के लिए ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों को पृथक से भी चलाने की आवश्यकता है। गाँवों में विभिन्न प्रकार के ऐसे कार्य किये जा सकते हैं जिनसे पूँजी का निर्माण होता है। ग्रामीण निर्माण कार्यों के माध्यम से लोगों को कार्य की गारन्टी दी जा सकती है।

(vii) **कृषि उद्योगों का विकास**—कृषि में वैज्ञानिक ढङ्ग अपनाकर इसकी रोजगार प्रदान करने की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। रासायनिक खादों, उर्वरक, मिश्रण तथा कीटनाशक दवाइयों आदि की सुविधा उपलब्ध होने से न केवल भूमि के प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि होगी, बल्कि इनके निर्माण से सम्बन्धित उद्योगों का विकास होगा। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगारी बढ़ेगी।

(viii) **कुटीर व लघु उद्योगों का विकास**—कताई-बुनाई, मिट्टी का काम, चर्म उद्योग आदि कुटीर व लघु उद्योगों का विकास किया जाय ताकि एक ओर कृषक वर्ग की आय बढ़े और दूसरी ओर भूमि पर जनसंख्या का दबाव घटे। श्री वी० वी० गिरि के अनुसार 'हर घर में एक कुटीर उद्योग तथा हर एकड़ भूमि पर चारागाह' हमारा ध्येय होना चाहिये।

(ix) **स्त्रियों के रोजगार अवसरों में वृद्धि**—स्त्रियों के लिए रोजगार के अवसर बढ़ाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं।

(य) स्त्रियों की अभिरुचि के व्यवसायों में विशेष रूप से विनियोग बढ़ाया जाना चाहिए जैसे वस्त्र व रसायन व इलेक्ट्रानिक उद्योग आदि में योग्यता प्राप्त महिलाएँ कार्यरत हो सके। (ब) लघु उद्योगों में स्वरोजगार के कार्यक्रमों में स्त्रियों का अंश भी निश्चित किया जाना चाहिए ताकि उन्हें भी सहकारी संस्थाओं व बैंक से कर्ज आदि मिल सके और वे भी लघु उद्योग चला सके। (स) स्त्रियों के लिए शिक्षा व प्रशिक्षण के अवसरों में वृद्धि की जानी चाहिए। ताकि वे खिलौने बनाने, हल्की हस्तकारी के कार्य करने व पोशाक बनाने के अतिरिक्त अन्य नयी दिशाओं में भी कार्य कर सकें।

(x) **महाराष्ट्र रोजगार गारन्टी स्कीम के नमूने पर अन्य राज्यों में कार्यक्रम बनायें जायें**—महाराष्ट्र में 1972-73 से रोजगार गारन्टी योजना लागू की गई है इसके अन्तर्गत गाँवों में रोजगार चाहने वाले अदक्ष श्रमिकों को रोजगार की गारन्टी दी जाती है इससे ग्रामीण रोजगार व विकास में सहायता मिली है। इस योजना को काम के बदले अनाज कार्यक्रम के साथ जोड़कर अन्य राज्यों में चलाया जाना चाहिए।

3. अन्य सुझाव--(1) रोजगार सदैव लाभकारी होना चाहिए अर्थात् रोजगार की उत्पादकता रोजगार की लागत से कम नहीं होनी चाहिए।

(2) रोजगार की प्रकृति स्थायी होनी चाहिए। कारण यह है कि अल्पकाल के पश्चात् एक भीड़ फिर से रोजगार की तलाश में भटकेगी।

(3) रोजगार में वृद्धि होने के साथ बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि की सम्भावना रहती है, अतः लोगों की आय में अतिरिक्त वृद्धि होनी चाहिए ताकि अतिरिक्त उत्पादन की बिक्री हो सके।

(4) रोजगार पर्याप्त आय प्रदान करने वाला होना चाहिए अन्यथा लोगों की अरुचि रोजगार के प्रति हो जायेगी। गरीबी का मुख्य कारण अनार्थिक रोजगार भी है।

(5) रोजगार के अवसरों का उचित वितरण होना चाहिए। इस तथ्य पर हमारे देश में अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। कुछ परिवार ऊँचे पदों पर अपने सभी सदस्यों को आसीन करा लेने में सफल हो जाते हैं और समाज में असंख्य राज-परिवार विकसित हो जाते हैं।

(6) रोजगार के अवसर जुटाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रोजगार गुणक में वृद्धि हो। प्रायः एक रोजगार एक तक ही समित रहता है क्योंकि अधिकांश रोजगार सरकारी प्रतिष्ठानों या कार्यालयों में ही उपलब्ध कराये जाते हैं उन रोजगारों की उत्पादकता भी कम होती है। इसके विपरीत निर्माण सम्बन्धी रोजगार के अवसरों का गुणक अधिक होता है, जैसे विद्युतीकरण, सड़क निर्माण कार्य, भूमि संरक्षण का कार्य आदि लघु सिंचाई योजनाओं पर प्राथमिकता देनी चाहिए ताकि उत्पादन वृद्धि हो।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत बेरोजगारी को दूर करने के प्रयत्न

1. **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—प्रथम योजना में खाद्य समस्या, कच्चे माल का अभाव आदि अन्य समस्याओं के कारण बेरोजगारी की समस्याओं व इनके उपचारों पर गहराई से विचार नहीं किया गया। यह ठीक है कि बाद में 1953 में इस समस्या का स्वरूप कुछ स्पष्ट होता गया। 1953 के अन्त में योजना आयोग ने रोजगार अवसर की उन्नति के लिये सुझाव दिये। योजना में 75 लाख व्यक्तियों को काम दिलाने का लक्ष्य रखा गया। परन्तु इस अवधि में अनुमानतः 54 लाख बेरोजगारों के लिए काम-धन्धों की व्यवस्था की जा सकी।

2. **द्वितीय योजना**—द्वितीय योजना के आरम्भ में बेकारी की समस्या भीषण रूप में थी। इस योजना के आरम्भ के समय 53 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। इन पाँच वर्षों में कार्य ढूंढ़ने वालों की संख्या में 1 करोड़ की वृद्धि हो जाने की सम्भावना थी। दूसरी योजना में 96 लाख व्यक्तियों को रोजगार दिलाने का लक्ष्य था जिसमें 16 लाख कृषि क्षेत्र में और 80 लाख गैर कृषि क्षेत्र में थे। किन्तु साधनों की कमी के कारण दूसरी योजना का आकार घटा दिया गया तथा गैर कृषि क्षेत्र में 65 लाख व्यक्तियों को ही रोजगार दिया गया। इस योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या 71 लाख हो गई। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजना के अन्त तक बेरोजगारी की समस्या सुधरने के बजाय और भी अधिक गम्भीर हो गई।

3. **तृतीय योजना**—तृतीय योजना में कहा गया है कि रोजगार देना भारत में नियोजन का एक प्रमुख लक्ष्य है। अनुमान किया गया है कि तृतीय योजना में श्रम शक्ति में लगभग 1 करोड़ 70 लाख व्यक्तियों का प्रवेश दिया जायगा। परन्तु इस योजना में केवल 149 लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की व्यवस्था की गई। तीसरी योजना में रोजगार सम्बन्धी प्रयत्न मुख्यतः तीन दिशाओं में किये गये :—

(अ) यह प्रयत्न किया गया है कि पहले की अपेक्षा इस बार रोजगार का लाभ लोगों को समान रूप में मिले।

(ब) गाँव के औद्योगीकरण का व्यापक कार्यक्रम चलाया जाय जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में चेतना जागृत हो।

(स) गाँवों में निर्माण कार्य चलाया गया।

4. **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** (1969-74) **में रोजगार नीति**—चतुर्थ योजना में श्रम गहन कार्यक्रमों पर काफी बल दिया गया जैसे—भू-संरक्षण, सहकारिता, सड़क, सिचाई, लघुसिचाई, आवास व नगर विकास, क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम, बाढ़ नियंत्रण, ग्रामीण विद्युतीकरण तथा लघु उद्योग आदि। इन कार्यक्रमों पर व्यय की राशि में पूर्ण की तुलना में वृद्धि की गई। योजना में कृषि गत क्षेत्र के लिए विभिन्न वित्तीय संस्थाओं की क्रियाओं के लिए साधन रखे गये। इन संस्थाओं में भूमि विकास बैंक, कृषि साख निगम, राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम, ग्रामीण विद्युतीकरण निगम, ग्रामीण उद्योग निगम, सहकारी बैंक, कृषि पुर्नवित्त निगम आदि शामिल हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में बहु-फसल कार्यक्रम, सुधरी हुई विधियों के प्रचार, मशीनरी के आवश्यक उपयोग के प्रसार आदि से श्रम की माँग में विस्तार होने के अनुमान लगाये गये।

(5) **पाँचवीं योजना, 1974-78 में रोजगार बढ़ाने का अत्यधिक बल**—देश में फैली हुई गरीबी व बेकारी की समस्या का समाधान करने के लिए पाँचवीं योजना में रोजगार बढ़ाने के लिए निम्न क्षेत्रों के विकास को आवश्यक बताया गया—भू-संरक्षण, वन, मछली पालन, क्षेत्रीय विकास, लघु सिंचाई, पशु पालन व दुग्ध व्यवसाय, सड़कें व लघु कृषक विकास एजेन्सी, वेयरहाउसिंग व बिक्री कार्य लघु उद्योग, सीमान्त कृषक व खेतिहर श्रमिक एजेन्सी व सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम। इसके अतिरिक्त न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्यक्रम में निम्न कार्य सुझाए गये—सार्वजनिक स्वास्थ्य, भूमिहीनों के लिए मकान, प्राथमिक शिक्षा, ग्रामीण जल सप्लाई, ग्रामीण विद्युतीकरण व शहरों में गन्दी बस्तियों का सुधार आदि।

छठी पंचवर्षीय योजना, 1980-85 में रोजगार नीति व कार्यक्रम—छठी पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत रोजगार नीति के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण पहलू हैं :—

1. योजना आयोग ने स्वीकार किया है कि विगत वर्षों में विकास की दर धीमी रही है और इसलिए रोजगार के अवसरों का पर्याप्त विस्तार नहीं हुआ है। 3.5% वार्षिक विकास दर पर बेरोजगारी की समस्या का समाधान संभव नहीं है।

2. तकनीकी परिवर्तनों को नियन्त्रित करने की नीति अपनाई जायेगी जिससे कि रोजगार के विस्तार की दर को सन्तोषजनक स्तर पर बनाये रखना सम्भव है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ऐसी तकनीकों की खोज की जायेगी जिनसे उत्पादन में वृद्धि कर पाना तो संभव हो लेकिन श्रमिकों की अधिक छटनी न हो।

3. बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए विकास की यथासंभव ऊँची दर को प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है। विकास के स्वरूप को बदलना भी बहुत जरूरी है। जब तक जनसाधारण द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि से राष्ट्रीय आय में अधिकांश वृद्धि प्राप्त नहीं होती तब तक रोजगार के अवसरों में समुचित वृद्धि नहीं होगी।

छठी योजना में रोजगार कार्यक्रम

(i) **समग्र ग्रामीण विकास कार्यक्रम** (IRDP)—यह देश के सभी खंडों में फैला दिया जायेगा। प्रत्येक खंड में 3000 निर्धन परिवारों को कृषि व गैर-कृषि व्यवसायों में काम दिया जायेगा। प्रतिवर्ष 600 परिवारों को काम देने की व्यवस्था रखी गयी है जिसमें प्रत्येक खंड पर 5 वर्ष की अवधि में 35 लाख रुपये की राशि व्यय की जायेगी।

गाँवों में गरीबों को पशु, कृषिगत उपकरण व अन्य इन्पुट दिये जायेंगे तथा खेतिहर मजदूरों को सीमा-निर्धारण लागू करने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि आवंटित की जायेगी।

(ii) **राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम** (NREP) के माध्यम से सुस्त मौसम में मजदूरी पर रोजगार प्रदान किया जायेगा। यह (काम के बदले अनाज कार्यक्रम) का संशोधित रूप होगा। इसके माध्यम से 30 से 40 करोड़ श्रम-दिवस का रोजगार प्रतिवर्ष बढ़ने का अनुमान लगाया गया है।

(iii) **न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम** (MNP) के अन्तर्गत गाँवों में पेय जल, सड़क स्वास्थ्य सुधार, प्रारम्भिक शिक्षा, खेतिहर मजदूरों के लिए रिहायशी भूखंड आदि की व्यवस्था करने से रोजगार के अवसर बढ़ेंगे।

(iv) **ग्रामीण युवा वर्ग को स्वरोजगार में प्रशिक्षण की राष्ट्रीय स्कीम** (TRYSEM) के अन्तर्गत प्रशिक्षण दिया जायेगा। प्रतिवर्ष 2 लाख ग्रामीण युवा वर्ग को प्रशिक्षण दिया जायेगा ताकि वे अपना काम चालू कर सकें। उनके लिए बैङ्कों से कर्ज की व्यवस्था की जायेगी।

(v) **अनुसूचित जाति व जनजाति** के लिए आय सृजन करने वाले व्यवसाय बढ़ाये जायेंगे।

(vi) **ग्रामीण व लघु उद्योग** में 90 लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को काम देने के कार्यक्रम रखे गये हैं।

(vii) **मछली परियोजना** में 2.4 लाख व्यक्तियों को काम दिया जा सकेगा जिनमें से काफी लोग शिक्षित होंगे।

(viii) **शहरी निर्धन** लोगों को पर्यावरण सुधार, गन्दी बस्तियों की सफाई, वृक्षारोपण, गरीबों के लिए रिहायशी मकानों के निर्माण, आदि में काम दिया जायेगा।

(ix) **महाराष्ट्र, तमिलनाडु**, मध्य प्रदेश, व कर्नाटक में विशिष्ट रोजगार कार्यक्रम चलाये गये हैं। इनका लाभ अदक्ष श्रमिकों को मिलेगा। कई राज्य सरकारें शिक्षित बेरोजगारों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ वित्तीय सहायता व अन्य प्रेरणाएँ प्रदान कर रही है। उन कार्यक्रमों को सुदृढ़ किया जायेगा।

(x) **ओपरेशन फ्लड II** कार्यक्रम में दुग्ध विकास के अन्तर्गत 1984-85 तक 1·67 लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार के अवसर खुलेंगे। ये लोग आधारभूत ढाँचे, तकनीकी इन्पुट सप्लाई व दूध प्रोसेसिंग कार्यों में लगाये जा सकते हैं।

(xi) **छठी योजना में बेरोजगारी की समस्या**—छठी पंचवर्षीय योजना में बेरोजगारी की समस्या से निपटने के लिए बेरोजगारी को बढ़ने से रोकना इसका मुख्य लक्ष्य रखा गया। इसके लिए छठी पञ्चवर्षीय योजना में 3 करोड़ 40 लाख रोजगार के नये अवसर पैदा करने की व्यवस्था है। पिछले दो वर्षों में काम कुछ धीमी गति से हुआ जिससे शंका हुई कि शायद लक्ष्य प्राप्त न किया जा सके परन्तु बाद में कार्यक्रम में तेजी पकड़ने से अब लक्ष्य की प्राप्ति संभव नजर आने लगी है।

बेरोजगारी कम करने के लिए सरकार द्वारा प्रयत्न

सरकार ने बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए जो उपाय किये हैं उनका अध्ययन मोटे तौर पर चार शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

1. रोजगार सेवा 2. सामान्य रोजगार के लिए उपाय 3. प्रशिक्षित एवं कुशल श्रमिकों के लिए विशिष्ट रोजगार के उपाय 4. अन्य उपाय ।

1. रोजगार सेवा—रोजगार दिलाने के लिए एवं बेरोजगारों के मार्ग दर्शन के लिए सरकार ने रोजगार दफ्तर स्थापित किये हैं । 1982 में देश में रोजगार के दफ्तरों की संख्या 619 थी जबकि 1971 में 437 थी जिसके 73 विश्वविद्यालय रोजगार सूचना तथा मार्गदर्शन ब्यूरो शामिल है ।

इसके अतिरिक्त शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों के लिए 20 विशेष रोजगार कार्यालय हैं । साथ ही अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के बेरोजगार व्यक्तियों में आत्म विश्वास बढ़ाने के लिए ग्यारह प्रशिक्षण व मार्गदर्शन केन्द्र कार्य कर रहे:हैं ।

2. सामान्य रोजगार के लिए उपाय—इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के कार्यक्रम सम्मिलित किये जा सकते हैं—

(i) मजदूरी रोजगार बढ़ाने के दिशा में किये गये कार्य जिसके लिए राज्य की ओर से विनियोग की मात्रा और विनियोग आय अनुपात बढ़ाने के लिए बराबर प्रयत्न किये जा रहे हैं । इसके साथ-साथ श्रम प्रधान तकनीकों में विशेष जोर दिया जा रहा है ।

(ii) स्वरोजगार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनायी जा रही है इस दृष्टि से लोगों को ऐसे व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जा रहा है कि लोग स्वयं का व्यवसाय शुरू कर सकें । अपने निजी व्यवसाय शुरू करने के लिए बैंकों द्वारा ऋण देने की नीति को प्रोत्साहन दिया गया है । कच्चे माल तथा विपणन सम्बन्धी सुविधाओं की व्यवस्था भी इसी श्रेणी में आती है ।

यह दोनों कार्यक्रम विशेष रूप शहरी बेरोजगारों की सहायता करते हैं ।

(iii) ग्रामीण बेरोजगारी को दूर करने के लिए कई विशिष्ट कार्यक्रम अपनाये गये हैं । छोटे किसानों के विकास की एजेन्सी (Small Farmers Development Agency) सीमान्त किसान और खेतिहर मजदूर एजेन्सी (Small Farmers And Agricultural Labourers Agency) ग्रामीण रोजगार को पुरजोर स्कीम (Crash Programme For Employment), न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programme) और, काम के बदले अनाज कार्यक्रम (Food For Work Programme), एकोकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम व राष्ट्रीय ग्राम रोजगार कार्यक्रम । वर्तमान में अन्तिम 2 कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण है ।

अक्टूबर 1980 से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम शुरू किया गया है । यह कार्यक्रम काम के बदले अनाज कार्यक्रम की जगह लागू किया गया है । इस कार्य के निम्नलिखित तीन उद्देश्य हैं ।

(अ) ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले बेरोजगार तथा न्यून रोजगार वाले पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए अतिरिक्त लाभप्रद रोजगार पैदा करना ।

(ब) गाँव के बुनियादी ढाँचे को अधिक मजबूत करने के लिए स्थायी सामु-

दायिक परिसम्पत्तियों का निर्माण करना जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का द्रुतगति से विकास होगा और गरीब ग्रामीणों की आय स्तर में स्थायी सुधार होगा, और

(स) गरीब ग्रामीणों के आहार पोषण की अवस्था और जीवन स्तर में सुधार करना।

3. प्रशिक्षित एवं कुशल श्रमिकों के लिए विशिष्ट रोजगार के लिए उपाय—प्रशिक्षित एवं कुशल श्रमिकों की परिभाषा में मोटे तोर पर तीन प्रकार के लोग आते हैं।

(i) तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति (ii) सामान्य शिक्षा प्राप्त व्यक्ति और (iii) अन्य प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति।

सामान्यतया तकनीकी शिक्षा प्राप्त लोगों के समक्ष रोजगार की कोई समस्या नहीं है। इसका कारण यह है कि इनकी पूर्ति काफी नियंत्रित है।

दूसरी श्रेणी में आने वाले सामान्थ शिक्षा प्राप्त लोगों को स्वरोजगार के लिए प्रोत्साहन दे के उद्देश्य से कुछ स्कीम हैं साथ ही कुछ विशिष्ट रोजगार कार्यक्रम भी अपनाये गये हैं जैसे स्कूलों की संख्या बढ़ाकर नवीन अध्यापकों को नियुक्ति किया गया है, लेकिन समस्या की गम्भीरता को देखते हुए ज्यादा कुछ कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है।

अन्य प्रशिक्षण प्राप्त लोगों की कोटि में मैनेजमेंट, एकाउन्टेन्सी, डाक्टरी आदि में प्रशिक्षण प्राप्त लोग आते हैं अभी भारत में इनके समक्ष रोजगार की विशेष समस्या नहीं है और यही कारण है कि इनके लिए कोई विशिष्ट उपाय नहीं किये गये हैं।

4. अन्य उपाय—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम आते हैं—

(अ) लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास—बेरोजगारी दूर करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया। औद्योगिक नीति 1983 में कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास पर काफी ज़ोर दिया गया और प्रत्येक जिले में जिला उद्योग केन्द्र खोला जा रहा है। इससे भी बेरोजगारी को कम करने में सहायता मिलेगी।

(ब) बेरोजगारी भत्ता—पश्चिमी बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, केरल और मध्य प्रदेश सरकार ने बेरोजगारी भत्ता देने की घोषणा की है।

(स) रोजगार के लिए शीर्ष संस्था का गठन—स्कूली शिक्षा के बाद व्यावसायिक प्रशिक्षण पूरा करने वाले छात्रों को रोजगार उपलब्ध करने या उन्हें प्रशिक्षु योजनाएँ लगाने के लिए केन्द्रीय सरकार एक शीर्ष संस्था का गठन करने जा रही है।

(द) टाइसेम कार्यक्रम—यह खुशी की बात है कि भारत सरकार के पुनर्निर्माण मंत्रालय ने टाइसेम कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँवों के बेरोजगार युवकों को अपने व्यवसाय स्थापित करने के लिए विभिन्न व्यवसायों में 'व्यावहारिक ट्रेनिंग' दी जाती है।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में बेरोजगारी की समस्या पर निबन्ध लिखिए ।

2. भारत में शिक्षित बेरोजगारी के क्या कारण हैं ? इसे दूर करने के उपाय बताइए ।

3. भारत में बेरोजगारी की समस्या के स्वभाव की परीक्षा कीजिए । इसे हल करने के हेतु क्या उपाय किये जा रहे हैं ?

4. भारत में बेरोजगारी को समस्या का समाधान करने में हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता का विवेचन कीजिए ।

5. अदृश्य बेरोजगारी अथवा दृश्य बेरोजगारी से आप क्या समझते हैं ? इसके कारण और उपचार बताइए ।

6. भारत में बेरोजगारी और अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या पर प्रकाश डालिए और बताइए कि वह कैसे हल की जा सकती है ।

7. "पाँचों योजनाओं के क्रियान्वित होने के बाद भी देश में बेकारी की समस्या को समाप्त नहीं किया जा सका है ।" इस कथन को स्पष्ट करें और समस्या को दूर करने के उपाय बताएँ ।

8. "मानव शक्ति के समुचित उपयोग की समस्या जितनी भारत के समक्ष आज उग्र है उतनी सम्भवतः अन्य किसी देश के समक्ष नहीं है ।" क्या इस कथन से आप सहमत हैं ?

13

ग्रामीण ऋणग्रस्तता
(Rural Indebtedness)

ऋणग्रस्तता से आशय उस ऋण राशि से है जिसका कृषकों को ऋण देने वालों को भुगतान करना है, अर्थात् यह कृषकों पर ऋण देने वालों की बकाया राशि का संकेतक है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता भारतीय कृषि की प्रमुख समस्या है, जिसके बोझे से लदे भारतीय कृषक आज कृषि में सुधार लाने में असमर्थ हैं। शाही कृषि आयोग के अनुसार —"भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में जीवन व्यतीत करता है, ऋण में मर जाता है और ऋण छोड़ जाता है।" इस ऋणग्रस्तता का सम्बन्ध किसानों की आर्थिक स्थिति, कृषि में विनियोग की क्षमता और देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था से है। अतः हम ग्रामीण ऋणग्रस्तता के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन सविस्तार करेंगे।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की सीमा

भारतीय कृषकों की ऋणग्रस्तता के अनुमान समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों और विशेषज्ञों द्वारा लगाए गये हैं। सर्वप्रथम अकाल आयोग ने 1901 में अपने प्रति-वेदन में बताया कि भारत के 80% किसान ऋणग्रस्त हैं। इसके उपरान्त सर एडवर्ड मेकलेगन (1911) डार्लिंग (1925) केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (1930) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, कृषि ऋण विभाग (1939) आदि ने भी अपने आकलन दिए हैं। पर ये आकलन पुराने हो चुके हैं इसलिए इनका विस्तृत वर्णन उपादेय नहीं होगा।

स्वतन्त्रता के बाद के आँकड़े हमारे लिए विशेष महत्त्व के हैं, अतः 1951 से से 1981 तक के आँकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन आगे सारणी में दिया जा रहा है।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता का तुलनात्मक अध्ययन : 1951-1981

विवरण	50-51	60-61	70-71	80-81	51-81 परिवर्तन
ऋणग्रस्त परिवारों का प्रतिशत					
(क) कृषक परिवार	58·6	52·2	51·5	49·8	(—) 8·8
(ख) गैर-कृषक परिवार	38·6	40·4	42·6	42·3	(+) 3·7
(ग) सभी ग्राम्य परिवार	51·7	48·8	54·1	48·9	(—) 2·8
प्रति परिवार ऋण का बोझ (रुपये)					
(क) कृषक परिवार	209·5	205·4	232·0	244·9	(+) 35·5
(ख) गैर-कृषक परिवार	66·1	111·8	214·6	205·8	(+) 139·7
(ग) सभी ग्राम्य परिवार	159·9	169·6	192·8	201·3	(+) 41·9
प्राप्त ऋण की कुल राशि (करोड़ रुपये)	750	1034	1085	1520	(+) 770
ऋणी कृषकों का प्रतिशत	69·2	66·7	62·3	58·6	(—) 10·6
प्रति ऋणी कृषक पर कर्ज का बोझ (रुपये)	526	708	890	1020	(+) 494

उपर्युक्त सारणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि—(i) 1951 से 1981 के तीन दशकों में कुल ऋण की राशि में 51% की वृद्धि हुई है। (ii) इसी अवधि मे यद्यपि ऋणी कृषकों का प्रतिशत 69·2 से 58·8 हो गया है परन्तु प्रति ऋणी कृषक पर कर्ज का बोझ 506 रुपये से बढ़कर 1020 रुपये हो गया है।

उद्देश्य के अनुसार प्राप्त ऋण—भारतीय कृषकगण विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ऋण लेते हैं एवं उस बोझ से लद जाते हैं। नीचे दी गई सारणी में कृषकों द्वारा प्राप्त ऋण में विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार प्रतिशत प्रदर्शित करती है।

कृषकों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों के अनुसार प्राप्त कुल ऋण

ऋण का उद्देश्य	प्राप्त कुल ऋण का प्रतिशत			
	1959-51	1960-61	1970-71	1980-81
फार्म व्यवसाय में पूंजी निवेश	31·5	22·1	20·0	18·6
फार्म व्यवसाय में चालू व्यय	10·5	13·5	14·7	16·4
फार्म व्यवसाय के अतिरिक्त कार्यों में व्यय	4·5	6·7	8.9	9·3
घरेलू उपभोग व्यय	4·60	46·6	4·62	44·5
अन्य	16·5	11·1	10·2	11·2
कुल	100	100	100	100

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि प्राप्त ऋण का लगभग आधा भाग (1981 = 44.5%) कृषकों द्वारा घरेलू उपभोग आवश्यकताओं में व्यय किया जाता है। इन तीन दशकों में घरेलू व्यय के प्रतिशत में खास परिवर्तन नहीं आया है।

प्रतिभूति के अनुसार प्राप्त ऋण—भारतीय कृषक विभिन्न प्रतिभूतियों के बल पर ऋण प्राप्त करते हैं—जैसे व्यक्तिगत प्रतिभूति, स्थायी सम्पत्तियों की प्रतिभूति गहनों की प्रतिभूति इत्यादि। नीचे सारणी में प्रतिभूति के अनुसार कृषकों द्वारा प्राप्त ऋण दर्शाये गए हैं—

प्रतिभूति के अनुसार कृषकों द्वारा प्राप्त ऋण

प्रतिभूति	कुल ऋण का %	प्राप्तकर्ता परिवार का %
व्यक्तिगत प्रतिभूति	75·8	45·9
अन्य व्यक्ति की प्रतिभूति	6·8	5·6
फसल की प्रतिभूति	0·9	0·6
स्थायी सम्पत्ति की प्रतिभूति	5·0	2·3
स्थायी सम्पत्ति को बंधक रखकर	9·3	3·6
गहनों की प्रतिभूति	1·7	1·8
कम्पनियों के शेयर, बीमा पालसी आदि की प्रतिभूति	0·1	—
कृषि वस्तुओं की प्रतिभूति	0·2	—
अन्य	0·2	0·3
	100	60·1

उपर्युक्त सारणी के अंकों से स्पष्ट है कि कृषक प्राप्त ऋण का लगभग तीन चौथाई अंश (75%) व्यक्तिगत प्रतिभूति के आधार पर प्राप्त करते हैं। प्रतिभूति का दूसरा प्रमुख आधार है—स्थायी सम्पत्ति को बंधक रखना।

भारतीय ऋणग्रस्तता के कारण

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. **भूमि पर जनसंख्या का बहुत अधिक दबाव**—भारत में लगभग सम्पूर्ण जनसंख्या 70% भाग कृषि पर निर्भर है। देश में प्रतिवर्ष जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के साथ जनसंख्या पर भूमि पर भार बढ़ता जा रहा है। फलतः प्रति ग्रामीण परिवार की आय कम होती जा रही है, क्योंकि जमीन का साधन तो पहले ही जितना या पहले से कम ही है, किन्तु खाने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। ग्रामीणों को अपने उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण लेना पड़ता है।

2. **भूमि का उप-विभाजन एवं अपखंडन**—भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में

विभाजित हो जाने के कारण जोत का आकार अनार्थिक हो गया है। कृषकों के उस पर उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न सफल नहीं होते। अत: उत्पादन कम मात्रा में होता है। अत: किसानों को अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए ऋण लेना पड़ता है।

3. **कृषि की अनिश्चितता**—भारतीय कृषि पूर्ण से प्रकृति पर निर्भर है, जिससे कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि और कहीं ओले, पाले तथा अन्य कीड़ों आदि से कृषि सदैव अनिश्चित रहती है। इसलिए कहा जाता है—'भारतीय कृषि कोई लाभदायक व्यवसाय न होकर जीवनयापन का एक ढङ्ग मात्र रह गई है।'' इसका प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति पर बुरा पड़ता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि और असामयिक वृष्टि के कारण फसल मारी जाती है, अतः ऋण की शरण लेकर उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है।

4. **कृषकों का बुरा स्वास्थ्य**—भारतीय कृषक की आय बहुत कम होती है, जिससे उनका उपभोग कम होता है और वे अत्यन्त ही कमजोर हो जाते हैं। अत्यन्त दुर्बल होने से उनकी कार्यक्षमता बहुत कम होती है जिससे उत्पादन भी कम होता है। इसका परिणाम यह होता है कि अवशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें ऋण लेना पड़ता है।

5. **कृषकों में अज्ञान व अशिक्षा**—भारतीय कृषकों में अज्ञानता और अशिक्षा बहुतायत से पाई जाती है। अशिक्षा एवं अज्ञानता के ही कारण भारतीय किसान सामाजिक तथा धार्मिक अवसरों, जैसे—विवाह, मुण्डन आदि पर कर्ज लेकर भी पैसे को पानी की तरह बहाते हैं। वे अपने साधन की सीमा पर ध्यान नहीं देते अत: ऋण-ग्रस्तता बढ़ जाती है।

6. **कृषकों की निर्धनता**—भारतीय कृषक की वार्षिक आय बहुत ही कम होती है, जिसके कारण किसान अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साहूकारों तथा महाजनों से ऋण लेता है।

7. **ग्रामीण साख की दोषपूर्ण व्यवस्था**—ग्रामीण साख की व्यवस्था दोषपूर्ण है। भारत में कृषकों ऋण अधिकांशत: साहूकारों तथा महाजनों से लेना पड़ता है। सरकार के विभिन्न व्यवस्थाओं के बावजूद आज भी एक तिहाई कृषि साख महाजन तथा साहूकार देते हैं। महाजन और साहूकार किसानों की अज्ञानता और विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं। वे ऊँची दरों पर ऋण देते हैं। हिसाब-किसाब में गड़बड़ी करते हैं व राशि को बढ़ाकर लिखते हैं। इस वर्ग की अनुचित कार्यवाहियाँ भी किसानों की ऋण-ग्रस्तता के लिए उत्तरदायी हैं।

8. **फिजूलखर्जी व मुकदमेबाजी**—ग्रामीण ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में एक आम धारणा प्रचलित है कि किसान सामयिक व धार्मिक कृत्यों पर फिजूल खर्च करता है। इसके अतिरिक्त मुकदमेबाजी पर अपव्यय को भी ऋणग्रस्तता का महत्त्वपूर्ण कारण समझा जाता है। परन्तु बी० के० सिन्हा के अध्ययन में इसकी पुष्टि नहीं होती। उनके अध्ययन के अनुसार पश्चिमी बङ्गाल में जिन उद्देश्यों से ग्रामीण ऋण लिये गये थे वह आगे सारणी में दर्शाया गया है—

ग्रामीण ऋण जिन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु लिए गये

खाद्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति	48.86%
घरों की मरम्मत	2.81%
सामाजिक तथा धार्मिक कृत्य	10.71%
मुकदमेबाजी	0.45%
लगान का बकाया देने के लिए	7.99%
कृषि	8.02%
पुराने ऋणों का भुगतान	0.39%
अन्य	20.47%

स्रोत—बी० सिन्हा, टू रीसेन्ट, इन्डीकेशन्स आफ वेस्ट बङ्गाल इकनोमिक डि के, पृष्ठ 35।

उपर्युक्त सारणी के अङ्कों से स्पष्ट है कि लगभग 10% ऋण ही पश्चिमी बंगाल में सामाजिक कृत्यों के लिये लिए गये हैं परन्तु ये व्यय भी जो विवाह, मृत्यु भोज आदि पर किये जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक हैं। भारत के अन्य राज्यों में भी लगभग यही स्थिति है, वस्तुतः सामन्ती का शिकार छोटा किसान व कृषक मजदूर फिजूलखर्ची के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता है।

9. दोषपूर्ण भू-धारण व्यवस्था—जैसा कि हम पूर्व में अध्ययन कर चुके हैं। भारत में भू-धारण व्यवस्था शुरू से ही दोषपूर्ण रही है। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत सरकार ने मध्यस्थों के उन्मूलन की दिशा में जो प्रयास किये हैं वे इतने दोषपूर्ण हैं कि छोटे किसान और कृषि मजदूर की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है इस प्रकार अर्ध सामन्ती व्यवस्था में जमीन जोतने वाले वर्ग की आर्थिक स्थिति बहुत बुरी है और यही उसकी ऋणग्रस्तता का प्रमुख कारण है।

10. तकनीकी का पिछड़ा होना और उर्वरकों तथा अधिक उपज दे सकने वाले बीजों का सीमित प्रयोग—भारत में कृषि उपकरण व तकनीक अभी भी पिछड़ी हुई अवस्था में है। साधारण किसान उर्वरक और अधिक उपज दे सकने वाले बीजों का प्रयोग नहीं करता। इन सबका सम्बन्ध एक ओर तो भू-सम्बन्धों से है और दूसरी ओर उत्पादकता से है। वर्तमान भू-सम्बन्धों के रहते हुए नयी तकनीक, उर्वरक व अच्छे बीजों का उपयोग वही किसान कर सकते हैं जिसके पास बड़ी जोते हैं सामान्यतया ऐसे बड़े किसान ऋणग्रस्त नहीं हैं। इसके विपरीत साधनहीन छोटे किसान के लिए यह सब सुलभ नहीं है। फलतः उनकी उत्पादकता कम है और वे ऋणग्रस्तता के कुचक्र में फँसे हुए हैं।

11. दोषपूर्ण विपणन—भारत में कृषि उपज का विपणन दोषपूर्ण है अतः साधारणतया छोटे किसानों को अपनी उपज का ठीक मूल्य नहीं मिल पाता फलतः उनकी आय कम होने के कारण वे ऋणग्रस्त बने रहते हैं।

12. **आय के दूसरे साधनों का अभाव**—ब्रिटिश शासन काल में भारतीय उद्योगों का नियमित ढंग से पतन हुआ और कुटीर एवं लघु उद्योगों के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप आय का एकमात्र साधन कृषि ही रह गया है। परन्तु कृषि भी मानसून पर आश्रित है और अधिक उन्नत अवस्था में न होने के कारण उससे प्रतिवर्ष नियमित व पर्याप्त आय नहीं हो पाती इस स्थिति ने किसान वर्ग की ऋणों की निर्भरता को बढ़ा दिया है।

13. **ऊँची ब्याज दर**—कृषकों की ऋणग्रस्तता का एक यह भी मुख्य कारण है कि महाजनों व साहूकारों द्वारा जो ब्याज दर ली जाती है वह बहुत ही ऊँची होती है। बम्बई बैंकिंग जाँच समिति के शब्दों में "ऊँची ब्याज की दर तथा महाजनों की शोषण-प्रवृत्ति किसान की ऋणग्रस्तता में किसी तरह की कमी नहीं होने देती है।"

14. **पैतृक ऋण**—वर्तमान ऋणग्रस्तता का एक मुख्य कारण यह भी है कि ऋण पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। पैतृक ऋणों को चुकाना किसान अपना परम कर्तव्य समझता है। इस प्रकार एक बार लिया हुआ ऋण कई पीढ़ियों तक चलता रहता है।

15. **भूमि और सिंचाई पर कर की अधिकता**—भारत में ऋणग्रस्तता का यह भी कारण है कि यहाँ भूमि एवं सिंचाई करों की मात्रा बहुत अधिक है। इसके साथ-ही-साथ ये कर किसानों से कठोरतापूर्वक ऐसे समय में वसूल किये जाते हैं, जबकि उनके पास मुद्रा का अभाव होता है। अतः इन करों का भुगतान करने के लिये उन्हें ऋण लेना पड़ता है जो कि ऋणग्रस्तता को बढ़ा देता है।

16. **कृषि में उत्पत्ति-ह्रास नियम का लागू होना**—कृषि में सभी साधनों का उपयोग करने पर भी कृषि का उत्पादन इच्छित अनुपात में नहीं होता और क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होता है। किसान को इस कारण भूमि की उत्पादन-क्षमता को बनाये रखने के लिए महाजनों से ऋण लेकर अधिक साधन जुटाने पड़ते हैं।

ऋणग्रस्तता के परिणाम

ग्रामीण ऋणग्रस्तता के प्रमुख दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं :—

(अ) **आर्थिक दुष्परिणाम**—आर्थिक दृष्टि से ऋणग्रस्तता के दुष्परिणाम निम्न लिखित हो सकते हैं :—

1. **भूमि का हस्तान्तरण**—किसानों की भूमि का अधिकांश भाग ऋणग्रसित होने के कारण ऐसे लोगों के पास चला जाता है जो स्वयं कृषि नहीं करते, बल्कि ऋण देने और किसानों की भूमि लिखवा लेने का कार्य करते हैं। इसका प्रभाव कृषि पर सभी दृष्टिकोणों से बहुत बुरा पड़ता है।

2. **निम्न जीवन-स्तर**—न्यूनतम आवश्यकताओं को भी पूरा न कर सकने से कृषकों का स्वास्थ्य कमजोर हो जाता है। वे ऋण से कभी उऋण नहीं होते। अतः वे उपार्जन का बड़ा भाग ऋण पटाने में ही व्यय कर देते हैं और अपने रहन-सहन खाने-पीने पर व्यय नहीं कर पाते। अतः उनका जीवन-स्तर धीरे-धीरे नीचा हो जाता है।

3. **कृषि विकास में बाधा**—कृषक ऋणग्रस्त होने के कारण मशीनों, अच्छे बीज, रासायनिक खाद आदि का प्रयोग करने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है, क्योंकि ऋण और उसका ब्याज पटाने से ही उसको फुर्सत नहीं मिलती। अतः उसका परिणाम यह होता है कि कृषि में वे विनियोग नहीं कर पाते। अतः कृषि में कोई उन्नति नहीं हो पाती।

4. **कृषि उत्पादन के विक्रय में बाधा**—महाजनों द्वारा कृषकों की उत्पादित फसल को मनमाने भाव पर खरीद लिया जाता है, क्योंकि वे ऋण प्रायः इसी शर्त पर लिये रहते हैं कि फसल तैयार होने पर अनाज उन्हें बेच दिया जायेगा। अतः महाजन मनमाने भाव पर अनाज खरीद लेते हैं और किसानों को अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है।

(ब) **सामाजिक दुष्परिणाम**—ऋणदाता और ऋणी के बीच परस्पर संघर्ष होने से भूमिरहित वर्ग बढ़ जाता है और उसके पास आजीविका का कोई साधन नहीं रह जाता, जिससे उसे अपना जीवनयापन करने के लिए बड़े-बड़े भूस्वामियों पर निर्भर होना पड़ता है। ये लोग कृषक से तरह-तरह की राशियाँ आदि लेते रहते हैं। इन कारणों से सामाजिक असंतोष बढ़ जाता है, जो कि सामाजिक आन्दोलनों को जन्म देते हैं।

डा० थॉमस के शब्दों में "एक ऋणग्रस्त समुदाय निश्चयात्मक रूप में एक सामाजिक ज्वालामुखी है। विभिन्न वर्गों के बीच असंतोष का उत्पादन होना स्वाभाविक है, तथा शनैः-शनैः बढ़ता हुआ असंतोष एक दिन भयानक सिद्ध होता है।"

(स) **नैतिक दुष्परिणाम**—कृषकों को ऋण के बोझ से दबे होने के कारण दासता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है जिससे उनका जीवन निराशापूर्ण एवं असंतोषमय हो जाता है तथा वे अनैतिक कार्यों को करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। झूठ बेईमानी, धोखेबाजी व अनेक दूसरी बुराइयाँ बढ़ जाती हैं। परिणामतः ग्रामीण जनता का चरित्र गिरता जाता है।

ऋणग्रस्तता दूर करने के उपाय

1. **ऋण देने वाली संस्थाओं की स्थापना**—देश में ऐसी संस्थाओं की बहुतायत से स्थापना की जाय जहाँ से कृषकों को आसानी से एवं कम तथा उचित ब्याज दर पर आवश्यकतानुसार विभिन्न अवधियों के लिये ऋण प्राप्त हो सके।

2. **तकावी ऋणों की उचित व्यवस्था**—हमारे देश में यद्यपि किसानों को तकावी के रूप में ऋण प्राप्त होने की सुविधाएँ प्राप्त हैं, परन्तु उनमें और सुधार करने की आवश्यकता है।

3. **पुराने ऋणों का निपटारा**—पुराने ऋणों को समाप्त किये बिना किसान की उन्नति होना असम्भव है। यदि ऋणी की सम्पत्ति इतनी अधिक न हो, जिससे कि उसके ऋणों को चुकाया जा सके, तो वहाँ उसे दिवालिया घोषित करके पुराने ऋणों को समाप्त करना चाहिए।

4. **महाजनों पर नियन्त्रण**—महाजनों पर उचित नियंत्रण लगाये बिना कृषकों को उन्नति सम्भव नहीं है। इसके लिए सरकार को प्रयास करना चाहिये, ताकि महाजन लोग कृषकों का शोषण न कर सकें। यह कार्य ब्याज-दर पर नियन्त्रण करके पावती किस्तों का हिसाब रखकर तथा ऋणी से रसीदें वगैरह दिलवाकर किया जा सकता है।

5. **नये ऋण लेने पर नियन्त्रण**—कृषकों को नये ऋण लेने से नियंत्रित किया जाना चाहिये और अनुत्पादक ऋणों को हतोत्साहित किया जाना चाहिये।

6. **सहकारी साख समितियों का प्रसार**—देश में सहकारी साख समितियों की संख्या में और अधिक वृद्धि करके भी इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। इन समितियों द्वारा कृषकों को सभी प्रकार के ऋण दिये जाने की व्यवस्था करनी चाहिये।

गाडगिल समिति ने ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिए निम्न सुझाव दिये थे :—

1. ऋणी द्वारा लिये जाने वाले ऋण की मात्रा इस प्रकार निश्चित की जानी चाहिये कि उसे 20 वर्ष में 4% सूद की दर में अथवा अपनी अचल सम्पत्ति के सामान्य मूल्य के 50% द्वारा अदा करने में समर्थ हो सके।

2. कृषि उत्पादन में लगे हुए कृषकों का ऋण अनिवार्य रूप से पुनः निर्धारित किया जाय। लगान का बकाया भी ऋण समझा जाय।

3. ऋण देने वालों अर्थात महाजनों को अपने आपको रजिस्टर्ड करवाना चाहिये तथा पूंजी आदि का विवरण सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिये।

4. बैङ्क अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से 20 किस्तों में वसूल करे।

5. निश्चित की गई कर्ज राशि भूमि बन्धक बैङ्क से या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से लेकर चुका देनी चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त सुझाव ग्रामीण ऋणग्रस्तता को दूर करने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। इन सभी सुझावों का दृढ़ता से पालन करने पर समस्या का पूर्ण हल हो सकता है।

ऋणग्रस्तता की समस्या को सुलझाने की दिशा में सरकारी प्रयास

(i) **भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध**—उत्तर प्रदेश, पञ्जाब और पश्चिमी बङ्गाल की राज्य सरकारों ने ऐसे कानून बनाये हैं, जिनके अनुसार ऋणदाता अपनी रकम के भुगतान के रूप ऋणों किसानों की भूमि सरलता से नहीं खरीद सकता है।

(ii) **ऋणों को अनिवार्यतः कम करना**—मध्य प्रदेश, बिहार, मद्रास, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश की राज्य सरकारों ने ऐसे कानून बनाये हैं, जिनके अनुसार किसानों के ऋण की रकम अनिवार्य रूप से कम कर दी जाती है।

(iii) **ऋण को तय करने मे संबंधित नियम**—मध्य प्रदेश, असम, पञ्जाब, पश्चिमी बङ्गाल आदि राज्यों ने ऋण की रकम तय करने से सम्बन्धित कानून पास

किये हैं जिनके अनुसार किसान की सम्पत्ति के आधार पर उसके ऋण के भुगतान की किस्तें निर्धारित की जाती हैं।

(iv) **ब्याज की दर के नियमन सम्बन्धी कानून**—सन् 1918 के, अधिक ब्याज के ऋण नियम, जिसका सन् 1925 में संशोधन हुआ, में केवल उचित ब्याज लेने की आज्ञा दी गई है। अधिकतम अनुचित ब्याज की दर का राज्यवार विवरण निम्न सारणी में दिया गया है —

	प्रतिशत प्रतिवर्ष साधारण ब्याज	
राज्य	सुरक्षित ऋण	असुरक्षित ऋण
असम	$9\frac{3}{8}$	$12\frac{1}{2}$
बिहार	9	12
बम्बई	9	12
मध्य प्रदेश	12	18
मद्रास	$6\frac{1}{4}$	$6\frac{1}{4}$
मैसूर	9	12
उड़ीसा	9	12
पंजाब	$7\frac{1}{2}$	$12\frac{1}{2}$
उत्तर प्रदेश	$4\frac{1}{2}$	6
पश्चिमी बंगाल	8	10
हिमाचल प्रदेश	6	12

कई राज्यों में 'दमदुपत' (Dumduput) का नियम लागू कर दिया गया है जिसके अनुसार ऋणों द्वारा अदा की गई राशि मूल राशि के दुगुने से किसी हालत में अधिक नहीं हो सकती।

(v) **महाजनों या साहूकारों पर नियंत्रण**—सन् 1930 के बाद विभिन्न राज्यों में साहूकारों पर नियन्त्रण रखने के लिए निम्नलिखित मुख्य कानून बनाये गये हैं :—

राज्य	प्रमुख कानून
असम	साहूकार कानून सन् 1934
बिहार	साहूकार कानून सन् 1938
बंगाल	साहूकार कानून सन् 1933
मध्य प्रदेश	साहूकार कानून सन् 1934, ऋणी सुरक्षा कानून सन् 1937
मद्रास	ऋणी सुरक्षा कानून, सन् 1934, कृषक सहायता कानून, सन् 1934
पंजाब	हिसाब-किताब नियन्त्रण कानून, सन् 1930, साहूकारों का पंजीकरण कानून, सन् 1938
उड़ीसा	साहूकार कानून सन् 1939
उत्तर प्रदेश	कृषक सहायता कानून सन् 1934, ऋण बोझ स्थिति कानून, सन् 1934, बिक्री-नियमन कानून सन् 1934

उपर्युक्त कानून द्वारा मुख्यतया निम्नांकित बातों का प्रबन्ध किया गया है :— (i) नाम रजिस्टर्ड करवाना, (ii) लाइसेन्स लेना, (iii) निश्चित विधि से खाता रखना, (iv) ऋणियों को जमा रकम की रसीद देना, (v) ऋणियों को समय-समय पर खाता विवरण भेजना, (iv) ब्याज का नियमन करना, (vii) किसान को तंग करने के विरुद्ध संरक्षण, और (viii) उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था करना ।

(vi) सहकारी साख सुविधाओं का विस्तार—कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधारने के लिये सरकार ने सहकारी साख सुविधाओं के विस्तार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है । इसके साथ ही राष्ट्रीयकृत बैंकों की ऋण नीति में भी कृषि क्षेत्र को प्राथमिकता दिये जाने पर जोर दिया गया है ।

(vii) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना—यद्यपि सरकार ने सहकारी साख समितियों और व्यापारिक बैंकों के माध्यम से कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली वित्तीय सहायता में वृद्धि को प्रोत्साहन दिया, लेकिन इसका अधिकांश लाभ बड़े-बड़े कृषकों को मिला । अतः छोटे-छोटे कृषकों को सरलता से ऋण प्रदान करने की दृष्टि से ग्रामीण बैंकों की स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया है ।

(viii) बन्धक प्रथा की समाप्ति—नवीन आर्थिक कार्यक्रम में बन्धक-प्रथा को समाप्त करने की घोषणा की गई है और प्रायः सभी राज्यों में कानून बना कर (या अध्यादेश निकाल कर) बंधकी रखने को अवैधानिक घोषित कर दिया गया है । इससे साहूकार द्वारा शोषण का एक माध्यम समाप्त हो गया है ।

(ix) ऋण की मुक्ति—बीस सूत्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत सभी राज्यों में छोटे किसानों (जिसके पास 2 हेक्टर से कम भूमि है) तथा भूमिहीन श्रमिकों एवं कारीगरी को ऋण मुक्त कर दिया गया है और ऐसी व्यवस्था की गई है कि साहूकार इन वर्गों के व्यक्तियों से कोई भी रकम वसूल नहीं कर सकते ।

ऋण सम्बन्धी कानून सामग्री ऋणग्रस्तता की व्यापक बीमारी के लिए केवल प्राथमिक चिकित्सा से रूप में ही कार्य कर सके हैं । ऋणग्रस्तता जैसे भीषण रोग का स्थायी इलाज केवल महाजनों के नियन्त्रण व ऋण तथा ब्याज दर कम करने में निहित नहीं है । इसका अन्तिम समाधान तो केवल कृषि की उन्नति में है । हमें समस्त कृषि विकास की गति बढ़ानी होगी तथा किसान की आय को उच्च स्तर पर स्थिर करना होगा व कृषि विधियों तथा किसान की मनोवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा तभी ऋणग्रस्तता की समस्या का स्थायी समाधान होगा ।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण क्या है ? किसान की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है ? इस समस्या के उपचार के लिये किये गये उपायों और अपने सुझावों का वर्णन कीजिए ।

2. "भारतीय किसान ऋण में पैदा होता है, ऋण में जीवित रहता और

ऋण में ही मरता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारणों पर प्रकाश डालिये।

3. "ऋण मुक्ति और अदायगी की सभी योजनायें अस्थायी उपचार हैं। वे विशाल अनुत्पादक ऋण के प्रमुख कारणों को दूर नहीं करतीं, जो भारतीय काश्तकारों पर भार बन गया है।" इस वक्तव्य में उल्लिखित प्रमुख कारण कौन से हैं और आप उनका निवारण किस प्रकार करेंगे ?

4. "ऋणग्रस्तता की अनिवार्यता, जिससे उसे मुक्त होने की किंचित् भी आशा नहीं है; भारतीय कृषक को एक बेईमान, ऋणी परिवार का अपव्ययी मुखिया और एक गैर-जिम्मेदार नागरिक बना देती है।" इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

14

कृषि वित्त
(Agricultural Finance)

कृषि वित्त की आवश्यकता—अन्य उद्योगों की तरह कृषि वित्त भी एक आवश्यक तत्व है। बीज, औजार तथा खाद इत्यादि को खरीदना, भूमि सुधारना तथा अन्य कृषि सम्बन्धी कार्यों की पूर्ति तभी हो सकती है जब ठीक समय पर और उचित मात्रा में वित्त उपलब्ध हों। भारतीय कृषि की कुछ विशेषताओं के कारण हमारे कृषक की वित्त सम्बन्धी आवश्यकतायें और भी अधिक हैं। **ग्रामीण साख सर्वेक्षण** के विवरण में भी यह कहा गया है, "साख कृषक की उसी प्रकार से सहायता करती है जैसे फाँसी पर लटकते हुए व्यक्ति की जल्लाद की रस्सी।" **सर निकोलसन** के शब्दों में, "साख कृषि के लिए नितान्त आवश्यक है और उधारी किसान के लिये अनिवार्य है।" वर्तमान समय में जब हमारी कृषि दिनों दिन प्रगति कर रही है, वित्त सम्बन्धी आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती ही जा रही हैं। वित्तीय सुविधाओं का अभाव ही हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पिछड़ेपन का मुख्य कारण रहा है।

भारतीय किसानों की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

भारतीय कृषक की वित्त सम्बन्धी आवश्यकता

↓

↓	↓	↓	↓
अवधि के अनुसार	उद्देश्य के अनुसार	जमानत के अनुसार	ऋणदाता के अनुसार

अवधि के अनुसार ↓

↓	↓	↓
अल्प कालीन	मध्यम कालीन	दीर्घ कालीन

उद्देश्य के अनुसार ↓

↓	↓
उत्पादक ऋण	उपभोग ऋण
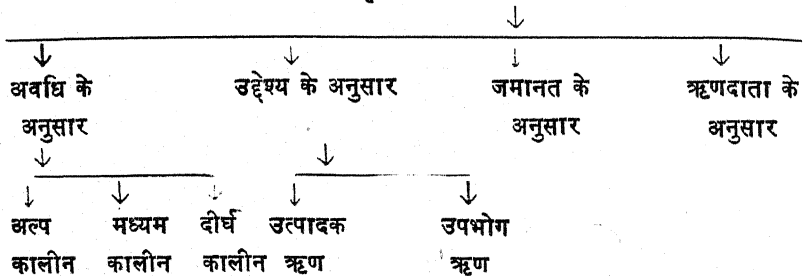
(अ) अवधि के अनुसार—अवधि के अनुसार ऋणों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

1. **अल्पकालीन ऋण**—ये वे ऋण हैं जो खाद व बीज खरीदने के लिए,

फसल बोने से काटने तक काम चलाने के लिए और पशुओं व पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, लिए जाते हैं। इनकी अवधि 15 महीने तक की होती है।

2. **मध्यकालीन ऋण**—इसकी आवश्यकता ओजार व बैल खरीदने, कृषि प्रणाली में सुधार करने व जमीन में सुधार करने के लिए पड़ती है। इनकी अवधि 15 महीने से 5 वर्ष तक की होती है।

3. **दीर्घकालीन ऋण**—इसकी आवश्यकता किसानों को अपने पुराने ऋणों को चुकाने के लिये, नयी भूमि खरीदने के लिये या भूमि पर कोई स्थायी सुधार करने के लिये पड़ती। इनका भुगतान पाँच वर्ष के बाद होता है।

विभिन्न अवधि ऋणों की माँग का अनुमान—भारत में सन् 1966 से अल्पकालीन मध्यमकालीन व दीर्घकालीन साख की माँग में काफी वृद्धि हुई है और भविष्य में भी यह प्रवृत्ति बनी रहेगी।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) में सहकारी ऋणों के लिए निम्न लक्ष्य रखे गए हैं—

	करोड़ रु० 1979-80 में प्रत्याशित उपलब्धि का स्तर	1984-85 के लिए लक्ष्य
अल्पकालीन ऋण	1,300	2,500
मध्यमकालीन ऋण	125	240
दीर्घकालीन ऋण	275	555

इस प्रकार सहकारिता के माध्यम से सभी अवधियों के लिए कुल ऋण 1700 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 1984-85 में लगभग 3295 करोड़ रुपये करने का लक्ष्य रखा गया है।

(ब) उद्देश्य के अनुसार ऋण—ऋण उत्पादक व अनुत्पाद दो प्रकार के हो सकते हैं। अनुत्पादक ऋण उपभोग के लिए लिए जाते हैं। उपभोग के लिए लिए गए ऋण भी दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रथम फसल की अवधि में किसान द्वारा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए लिया गया ऋण और द्वितीय विवाह मृत्यु, मुकदमेबाजी आदि के लिए लिया गया ऋण। प्रथम श्रेणी के ऋण अधिक हानिकारक नहीं होते लेकिन द्वितीय श्रेणी के उपभोग ऋण पूर्णतया अनुत्पादक होते हैं और इन्हें यथासम्भव न्यूनतम रखना चाहिए।

(स) जमानत के अनुसार ऋण—जो ऋण जमानत के आधार पर दिए जाते हैं उसे जमानती ऋण कहते हैं। सरकारी संस्थाएँ भूमि की जमानत पर ही ऋण देती हैं, जिसके कारण बड़े किसानों को भी विशेष लाभ होता है।

इसके विपरीत जो ऋण बिना किसी प्रकार की जमानत के आधार पर दिए जाते हैं उसे गैर जमानती ऋण कहते हैं। गाँव के साहूकार और महाजन प्रायः बिना

जमानत के भी अल्पकालीन ऋण दे देते हैं जिसके कारण वे ग्रामीण वित्त व्यवस्था में अभी भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं।

(द) ऋणदाता के अनुसार—ऋणदाता के अनुसार किसानों को साख प्रदान करने के साधनों को दो भागों में बाँट सकते हैं—(अ) व्यक्तिगत वित्त (ब) संस्थागत वित्त। व्यक्तिगत वित्त के अन्तर्गत देशी बैंकर, साहूकार, व्यापारी व किसानों के सम्बन्धियों आदि को सम्मिलित किया जाता है। संस्थागत वित्त को भी दो भागों में बाटा जा सकता है—(क) प्रत्यक्ष—इसके अन्तर्गत सहकारी समितियाँ राज्य सरकारें व अनुसूचित व्यापारिक बैंक किसानों को प्रत्यक्ष रूप से ऋण देते हैं। (ख) परोक्ष—इसके अन्तर्गत, राज्य सहकारी बैङ्क, केन्द्रीय सहकारी बैङ्क, अनुसूचित व्यापारिक बैङ्क आदि परोक्ष रूप से कृषकों को वित्त प्रदान करते हैं।

कृषि साख की नई व्यवस्था में प्रत्यक्ष व परोक्ष संस्थागत वित्त दोनों का योगदान बढ़ाया जा रहा है।

कृषि वित्त के स्रोत

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने अपनी दिसम्बर, 1954 की रिपोर्ट में 1951-52 की अवधि से सम्बन्धित कृषि साख के विविध पहलुओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला था। रिजर्व बैङ्क ने अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण व विनियोग सर्वेक्षण के अन्तर्गत 1961-62 की अवधि के लिए आँकड़े एकत्र किए थे। 1970-71 के लिए NCAER के सर्वेक्षण से आवश्यक आँकड़े प्राप्त हुए हैं। निम्नांकित तालिका से प्रकट होता है कि ग्रामीण साख की पूर्ति में 1951-52 से 1970-71 की अवधि में विभिन्न एजेन्सियों का तुलनात्मक स्थान काफी बदल गया है।

साख प्रदाता एजेन्सी	आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे (1951-52)	आल इण्डिया रूरल डेट एण्ड इनवेस्टमेंट सर्वे (1961-62)	नेशनल काउंसिल आफ एप्लाइड इकानामिक रिसर्च (1970-71)
सरकार	3·3	2·6	3·6
सहकारिता	3·1	15·5	22·7
व्यापारिक बैङ्क	0·9	0·6	4·0
महाजन, व्यापारी, कमीशन एजेण्ट, मित्र	75·2	58·0	49·6
मित्र सम्बन्धी	14.2	8·8	18·8
जमींदार एवं अन्य	3·3	14·5	1·3
योग	100·00	100·00	100·00

स्रोत:—क्रेडिट रिक्वायरमेन्ट फार एग्रीकल्चर; नेशनल काउंसिल आफ सप्लाइड इकानामिक रिसर्च 1974 पृ० 80

उपर्युक्त सभी संस्थाओं का वर्णन हम कृषि सहकारिता नामक अध्याय में कर चुके हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं कर रहे हैं।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 1951-52 में ग्रामीण साख में सहकारी समितियों का योगदान 3·1% था जो 1970-71 में बढ़कर 22·7% हो गया। 1950-51 में प्राथमिक कृषि साख समितियों ने अल्पकालीन ऋणों के रूप में 1656 करोड़ रुपये प्रदान किए। 1979-80 में केन्द्रीय व प्राथमिक भूमि विकास बैङ्कों ने कृषि के लिए 319 करोड़ रुपये प्रदान किए। ये दीर्घकालीन ऋण के अन्तर्गत आते हैं। यह प्रगति काफी सराहनीय मानी जा सकती है लेकिन साथ ही कुछ कमियाँ भी सामने आयी हैं जिन्हें दूर किया जाना चाहिए। ये इस प्रकार हैं—

1. **लघु कृषकों की संस्थागत साख में कम अंश**—यद्यपि पिछले वर्षों में लघु कृषकों की आवश्यकता पर ध्यान दिया गया है फिर भी इन्हें कुल संस्थागत उत्पादन साख का $\frac{1}{3}$ अंश ही मिला है, जबकि उनके पास कुल जोतों का 70 प्रतिशत अंश हैं।

2. **प्रादेशिक असमानताएँ**—भारत में सहकारी साख समितियों के विकास में काफी प्रादेशिक असमानताएँ हैं। कारण यह है कि सहकारी साख समितियों की विशेष प्रगति आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु महाराष्ट्र व पंजाब राज्यों में ही हुई है।

3. **बढ़ते हुए बकाया ऋणों की समस्या**—सहकारी साख की एक अन्य गंभीर समस्या बकाया ऋणों को वसूली की है। प्राथमिक कृषि साख समितियों के लगभग $\frac{2}{5}$ ऋण अवधि बीत जाने पर भी नहीं लौटाए जाते।

(2) व्यापारिक बैंक
(Commercial Banks)

व्यापारिक बैंकों द्वारा विश्व वित्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित अवस्थाओं का अवलोकन किया जा सकता है।

प्रथम अवस्था 1962 से 1967 की समयावधि से सम्बन्धित है जिसमें बैंकों की यह धारणा रही है कि किस क्षेत्र को वित्त प्रदान करना उनका कार्य नहीं है अतः इस समयावधि में कृषि वित्त का अव्यवस्थित ढंग से विकास हुआ।

द्वितीय अवस्था 1967 से 1975 तक विद्यमान रही जबकि व्यापारिक बैंकों को यह विश्वास हो गया कि किस साख की व्यवस्था भविष्य में बनी रहेगी इस समयावधि में बैंकों ने विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में परीक्षण किये और कृषि वित्त के विकास के लिए सतत् प्रयत्न किये।

तृतीय अवस्था सन् 1975 के उपरान्त शुरू होती है जबकि बैंकों ने यह अनुभव किया कि कृषि वित्त के लिए केवल उनके व्यक्तिगात प्रयास अपर्याप्त है क्योंकि कृषि के लिए अत्यधिक कृषि वित्त की आवश्यकता है। कृषि वित्त की आवश्यकता की गम्भीरता को देखते हुए बैंकों ने यह निर्णय लिया कि कृषि वित्त की व्यवस्था के

लिए अन्य एजेन्सियों का सहयोग भी आवश्यक है। इस समयावधि में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों, कृषक सेवा सहकारी समितियों, प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों, कृषि पुर्नवित एवं विकास निगम तथा कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैंक के सहयोग से कृषि वित्त की व्यवस्था के लिए प्रयत्न किए गये हैं।

प्रगति का विवरण

कृषि साख के क्षेत्र में व्यापारिक बैंकों ने यद्यपि बहुत देर से पदार्पण किया परन्तु अब उनका प्रयास यह है कि वे अपने सभी प्रतियोगियों से आगे निकल कृषि वित्त में सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लें। अत: अब व्यापारिक बैंक पर्याप्त मात्रा में कृषि वित्त प्रदान कर रहे हैं। जहाँ 1951-1952 में व्यापारिक बैंकों का कुल प्रदत्त ऋणों में कृषि ऋण का अंश 0·9 प्रतिशत था वह जून 1982 में बढ़कर 15% हो गया। जून 1982 में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों ने कृषि को प्रत्यक्ष ऋण लगभग 1300 करोड़ रु० का दिया जो पिछले वर्ष से 300 करोड़ रुपया अधिक था। इस प्रकार व्यापारिक बैंक पहले की तुलना में कृषि को अधिक ऋण दे रहे हैं।

स्पष्टत: 1970-80 के दशक में व्यापारिक बैंक कृषि क्षेत्र को विभिन्न रूपों में विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। व्यापारिक बैंकों ने इसके लिए ग्राम अभिग्रहण योजना, लीड बैंक योजना, क्षेत्रीय विचारधारा, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना, कृषक सेवा समितियों की स्थापना, प्राथमिक कृषि साख समितियों के माध्यम से कृषकों को ऋण, अन्य एजेन्सियों के माध्यम से कृषि क्षेत्र को ऋण, और ग्रामीण समुदाय को प्रत्यक्ष ऋण प्रदान करके कृषि विकास के इतिहास में एक नये युग को आरम्भ किया है।

कृषि वित्त में व्यापारिक बैंकों की सीमाएँ—व्यापारिक बैंक कृषि वित्त प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं लेकिन उनके समक्ष कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(1) बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपने स्टाफ को भेजने में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। गत् 10 वर्षों में व्यापारिक बैंकों की ग्रामीण स्थिति शाखाओं में विभिन्न प्रकार की अनियमितताओं और अनाचारों की शिकायतें मिली हैं।

(2) व्यापारिक बैंक कृषि वित्त प्रदान करने में जो लागत आती है उसको स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते हैं, और न ही ग्रामीण क्षेत्रों में नई शाखाओं को खोलने तथा कार्यशील रखने में उनको जो हानि होती है उसका विवरण दे पाते हैं।

(3) प्रत्येक गाँव में 100 में से केवल 25 किसानों को ही कृषि वित्त की सुविधाएँ उपलब्ध होती है। बैंकों ने ग्राम अधिग्रहण योजना के अन्तर्गत कुछ विशेष गाँवों को ही चुना है, पिछड़े हुए और अधिक वित्तीय आवश्यकता वाले गाँवों को इन योजना के अन्तर्गत कोई स्थान नहीं प्राप्त हो सकता।

(4) व्यापारिक बैंक सीमान्त कृषकों को भी ब्याज की उसी दर पर साख की सुविधाएँ प्रदान करते हैं जो कि बड़े कृषकों के लिए निर्धारित की गई है। अधि-

कांश व्यापारिक बैंकों ने साख प्रदान करते की विधि में कोई सुधार नहीं किए हैं। अब भी किसानों को प्रशासनिक औपचारिकताओं को पूरा करने के लिए काफी मात्रा में आय और समय नष्ट करना पड़ता है, तथा अतिदेयों की मात्रा 49 प्रतिशत तक पहुँच गई है।

(5) कई अवस्थाओं में बैंकों के कर्मचारी और अधिकारीगण ग्रामीण बैंकिग में अधिक रुचि नहीं लेते हैं। कुछ शाखाओं में अग्रिम ब्रांच मैनेजर की इच्छानुसार नहीं दिये जाते, बल्कि क्षेत्रीय मैनेजरों के दबाव के कारण दिए जाते हैं।

(6) व्यापारिक बैंकों ने कृषि के विकासात्मक कार्यों तथा सहायक कार्यों के लिए ऋणों की पृथक व्यवस्था नहीं की है जबकि विकासात्मक व्यय से ही गाँव में नये रोजगार के अवसरों का निर्माण हो सकता है।

(3) स्टेट बैङ्क
(State Bank)

भारतीय स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना के समय से ही कृषि वित्त उपलब्ध करने का प्रयास किया है कृषकों को ऋण देने के सम्बन्ध में भारतीय स्टेट बैङ्क प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही तरीकों को काम में लाता है जिनका वर्णन नीचे दिया गया है—

(1) कृषि को प्रत्यक्ष साख—प्रारम्भ में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के आधार पर यह नीति सम्बन्धी निर्णय लिया गया कि ग्रामीण साख की पूर्ति में केवल सहकारी संस्थाएँ ही कार्य करेंगी। अतः प्रारम्भ में भारतीय स्टेट बैंक से यही अपेक्षा की गई कि वह कृषि को प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् सहकारी संस्थाओं के मार्फत ही कृषि साख की पूर्ति में योगदान देगा। लेकिन देश में हरित क्रान्ति को सफल बनाने के लिए कृषि क्षेत्र में अधिक कीमती इन्पुट्स के गहन प्रयोग होने व सहकारी साख संस्थाओं को बढ़ती हुई कृषि साख की माँग के परिप्रेक्ष्य में असफल स्वीकार कर लिए जाने के कारण अप्रैल 1968 में सहकारी नीति बदल गई और व्यापारिक बैंकों से कृषि को अधिकाधिक साख देने के लिए कहा गया।

(2) कृषि को अप्रत्यक्ष साख—कृषि को अप्रत्यक्ष साख देने में भी स्टेट बैंक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस सम्बन्ध में भारतीय स्टेट बैंक राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय सहकारी बैंकों को धन प्रेषण की सुविधा प्रदान करता है। सहकारी बैंक के लिए चैक, विनिमय पत्र तथा अन्य साख पत्रों के संग्रहण करने का कार्य भी रियायती दरों पर करता है इसके अतिरिक्त जहाँ केन्द्रीय सहकारी बैंक कृषि पदार्थों के क्रय-विक्रय आदि के लिए ऋण प्रदान करने की स्थिति में नहीं हैं वहाँ विपणन व विधायन समितियों को ऋण देता है राज्यसरकारों, भारतीय खाद्य निगम व राज्य बिजली बोर्डों को भी ऋण प्रदान करता है।

प्रगति—स्टेट बैङ्क आफ इण्डिया द्वारा कुल कृषि साख की मात्रा 1981 के अन्त में 1440 करोड़ रुपये से बढ़कर 1982 के अन्त में 1567 करोड़ रु० हो गई तथा कृषकों के खातों की संख्या 3915 लाख हो गई। इनमें से अधिकांश कृषक 5

एकड़ या कम की जोतों वाले थे। इस प्रकार स्टेट बैंक छोटे कृषकों की वित्तीय व्यवस्था पर विशेष रूप से ध्यान दे रहा है। सितम्बर 1982 तक कृषिगत प्रत्यक्ष साख का 46·4% अंश कमजोर वर्गों को प्राप्त हुआ था।

SBI की तरफ से कृषि के लिए परोक्ष वित्त 1982 में 275 करोड़ रु० का दिया गया। परोक्ष वित्त में उर्वरक वितरण के लिए अधिक वित्त की व्यवस्था की गई है।

(5) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक
(Regional Rural Banks)

स्थापना—भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही किसानों को ऋणग्रस्तता से मुक्ति दिलाने के लिये अनेक उपाय किये हैं परन्तु संस्थागत वित्त की अपर्याप्त उपलब्धि किसानों को देशी महाजनों के शिकंजे से पूर्ण मुक्ति नहीं दिला पायी थी। किसानों को परम्परागत ऋण-व्यवस्था से छुटकारा दिलाने के लिये सरकार ने प्रथम प्रयास 1960 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के रूप में व द्वितीय प्रयास 2 अक्टूबर 1975 को महात्मा गाँधी के जन्म दिवस पर पहली बार ग्रामीण बैंकों की स्थापना करके किया।

उद्देश्य—ग्रामीण बैंकों की स्थापना के पीछे मूल उद्देश्य यह है कि ग्रामीण बैंक ग्राम समूह को बैंक सेवाएँ उपलब्ध करेंगे और साधारण तौर से 5 हजार से 20 हजार ग्रामवासियों के लिये एक बैंक स्थापित किया जायगा।

यह बैंक छोटे किसानों, ग्रामीण कारीगरों और सामान्य वर्ग के व्यापारियों एवं उत्पादकों के लिये ऋण की व्यवस्था करेंगे और बैंक सुविधाएँ उपलब्ध करेंगे। संक्षेप में ये बैङ्क गाँव वालों की आवश्यकता के अनुसार बैङ्क सेवाओं का प्रबन्ध करेंगे।

संक्षेप में, क्षेत्रीय ग्रामीण बैङ्कों के निम्न उद्देश्यों का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास एवं समाज के कमजोर वर्गों के लिए ऋण प्रदान करता है।

(ii) सुगम व आसान पद्धति द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में शीघ्र बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान करना।

(iii) ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण सुविधाओं की कमी को दूर करना।

प्रगति—जून 1982 को प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की कुल जमा व अग्रिम (बकाया) राशियाँ क्रमशः 382 करोड़ रु० व 463 करोड़ रु० थी। इन्होंने जून 1982 के अन्त तक छोटे/सीमान्त कृषकों, भूमिहीन मजदूरों व ग्रामीण कारीगरों को 403 करोड़ रु० तक के प्रत्यक्ष ऋण दिए थे जबकि जून 1981 के अन्त तक यह राशि 263 करोड़ रु० की थी।

(6) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया
(Reserve Bank of India)

भारतीय अर्थव्यवस्था की कृषि प्रधान प्रकृति को देखते हुए प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक को कृषि वित्त के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है।

वर्तमान में रिजर्व बैंक कृषि साख क्षेत्र के विकास हेतु अल्पकालीन, मध्यम-कालीन एवं दीर्घकालीन तीनों ही प्रकार की साख सुविधाएँ उपलब्ध कराता है। रिजर्व बैंक यह साख प्रत्यक्ष रूप से कृषकों के माध्यम से ही नहीं वरन् परोक्ष रूप से राज्य सहकारी बैंकों, केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों एवं राज्य सरकारों के माध्यम से उपलब्ध कराता है जिसका वर्णन निम्न है :—

(1) **अल्पकालीन साख सुविधाएँ**—राज्य सहकारी बैंक को रिजर्व बैंक की ओर से अल्पकालीन साख या तो पुनर्कटौती के रूप में मिलती है अथवा अग्रिम के रूप में मिलती है। पुनर्कटौती व अग्रिम की सुविधाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

धारा 17 (2) (a) के अन्तर्गत वास्तविक सौदे से उत्पन्न प्रॉमिसरी नोट व बिलों की, जो 90 दिन में परिपक्व होते हैं, पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई। धारा 17 (2) (b) के अन्तर्गत 15 महीने में परिपक्व होने वाले उन प्रॉमिसिरी नोटों व बिलों की पुनर्कटौती की व्यवस्था की गई जो मौसमी कृषि कार्यों या फसलों की बिक्री के लिए बनाये गये हैं। इस धारा के अन्तर्गत मिश्रित व कृषि-परिनिर्माण कार्य भी शामिल किये गये हैं।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ने वर्ष 1981-82 में अल्पकालीन साख के रूप में कुल 1278 करोड़ रुपये की ऋण सीमा स्वीकृति की जबकि जून 1981 के अन्त में बकाया राशि 374 करोड़ रुपये की।

(2) **मध्यकालीन ऋण**—रिजर्व बैंक ने 1956 में दो कोषों की स्थापना की है (i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष व (ii) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायी-करण) कोष। इन दोनों कोषों को क्रमशः 10 करोड़ व एक करोड़ रुपये से स्थापित किया गया है। बैङ्क इन कोषों में से सहकारी बैङ्कों को मध्यकालीन ऋण प्रदान करती है जो 15 महीने से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए होते हैं।

रिजर्व बैङ्क मध्यमकालीन ऋण के रूप में वर्ष 1981-82 में कुल 102 करोड़ रुपये की ऋण सीमा स्वीकृत की जबकि जून 1981 के अन्त में ऐसे ऋणों की बकाया राशि 122 करोड़ रुपये थी।

(3) **दीर्घकालीन वित्तीय सहायता**—रिजर्व बैंक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घ-कालीन कोष) में से राज्य सरकारों को सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूंजी खरी-दने के लिए 12 वर्षों की अवधि के दीर्घकालीन ऋण स्वीकृत करता है ये ऋण केवल 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर पर प्रदान किये जाते हैं 1981-82 तक इस कोष में जमाराशि बढ़कर 1205 करोड़ रुपये पहुँच गई। उसमें से जून 1982 तक 676

कपास एक झाड़ी का सफेद रेशेदार फूल होता है। कपास मूल रूप से भारत का पौधा है। विश्व को कपास से परिचित करने के लिए भारत को ही श्रेय है।

2. **भूमि** —कपास की खेती के लिए मन्द ढाल वाली समतल भूमि की आवश्यकता होती है ताकि जल का प्रवाह सरलतापूर्वक हो सके। इसकी उपज के लिए दक्षिणी पठार की लावा द्वारा निर्मित मिट्टी या चूना मिश्रित दोमट मिट्टी अधिक उपयुक्त है। भारत में काली कछारी एवं लाल मिट्टी से इसकी उपज होती है। कपास के लिए ऐसी मिट्टी उपजाऊ होती है जो नमी सोख कर पौधे को समान गति तक पहुँचाती रहे।

3. **जलवायु**—कपास ऊष्ण जलवायु का पौधा है। इसके लिए ऊष्ण जलवायु की जरूरत होती है। गर्मी के दिनों में साधारण वर्षा कपास के लिए लाभदायक है। पाला कपास का शत्रु है। कपास को उगते समय नमी आवश्यक है। 75 से० मी० से 125 से० मी० वर्षा वाले क्षेत्रों में इसकी खेती सरलता से की जाती है।

4. **बोने का समय**—जुलाई से सितम्बर तक इसकी बोआई कर दी जाती है तथा फरवरी मार्च तक इसकी फसल तैयार हो जाती है।

5. **कपास के प्रकार**—रेशे की लम्बाई की दृष्टि से कपास के चार प्रकार हैं—

(i) **छोटे रेशे वाली कपास**—यह अधिक वर्षा वाले भागों में पैदा होती है। छोटे रेशे वाली कपास मध्य प्रदेश, राजस्थान, नागपुर, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, तमिलनाडु, असम आदि राज्यों में उत्पन्न होती है। यह घटिया किस्म की कपास होती है।

(ii) **मध्यम रेशे वाली कपास**—इसका रेशा कुछ बड़ा और चमकदार होता है। इस प्रकार की कपास मुख्य रूप से कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु में पैदा होती है।

(iii) **लम्बे रेशे वाली कपास**—यह सर्वश्रेष्ठ कपास होती है। इसके रेशों की लम्बाइ $3\frac{3}{4}$ से० मी० से $6\frac{1}{4}$ से० मी० तक या उससे भी अधिक होती है। लम्बे रेशे वाली कपास अधिकतर सिंचाई करने वाले भागों जैसे उत्तर प्रदेश, पंजाब और मद्रास में उत्पन्न होती है। भारत में लम्बे रेशे वाली कपास का उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक प्रयास कर रही है।

(iv) **उत्पादक क्षेत्र**—हमारे देश में करीब 77 लाख हेक्टेयर भूमि पर कपास बोयी जाती है। कपास के उत्पादन में गुजरात राज्य सर्वोपरि है और द्वितीय स्थान महाराष्ट्र का है। दक्षिणी भारत में उल्लेखनीय उत्पादक तमिलनाडु, मैसूर तथा आन्ध्र-प्रदेश हैं। उत्तर भारत में हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश कपास उत्पन्न करने के लिए उल्लेखनीय हैं।

मद	1950-51	1970-71	1981-82
कपास उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	58·82	76·05	79·87
कपास उत्पादन (170 किलो की प्रति लाख गाँठों में)	30·44	47·63	78·26

3. जूट (Jute)

1. **सामान्य परिचय**—भारत की व्यावसायिक फसलों में जूट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में सर्वप्रथम जूट की खेती डा० बुकानन हेमिल्टन ने की थी। यह भी एक रेशेदार व्यापारिक उपज है। गंगा-ब्रह्मपुत्र डेल्टा प्रदेश, संसार में जूट की खेती के लिए विख्यात हैं। विश्व के कुल जूट उत्पादन का लगभग 97 प्रतिशत भाग भारत में ही उत्पन्न होता है।

विभाजन के पूर्व भारत को विश्व में जूट उत्पादन के क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त था। परन्तु विभाजन के पश्चात् जूट के उत्पादन का अधिकांश क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बंगला देश) में चला गया।

2. **भूमि**—जूट की खेती के लिए सामान्य ढाल वाली भूमि की आवश्यकता होती है। पौधों की जड़ों में अधिक दिनों तक जल का रुकना हानिकारक होता है। जूट सभी प्रकार की मिट्टी में उगाया जा सकता है। चिकनी मिट्टी से लगाकर बलुई दोमट मिट्टी में पैदा किया जाता है।

3. **जलवायु**—जूट की उपज के लिए गर्म और नम जलवायु की आवश्यकता होती है। इसकी उपज के लिए 27 सेण्टीग्रेट से 38 सेण्टीग्रेट तक का तापमान अच्छा होता है। जूट की फसल के लिए 200 से० मी० से 950 से० मी० तक की वार्षिक वर्षा उपयोगी होती है।

4. **उत्पादक क्षेत्र**—भारत में जूट का उत्पादन निम्नलिखित राज्यों में होता है—

(i) **पश्चिमी बंगाल**—भारत का आधा जूट पश्चिमी बंगाल से ही प्राप्त होता है। इस राज्य में जूट मुर्शिदाबाद, बर्दवान, नादिया, हुगली, हावड़ा, जलपाईगुड़ी आदि जिलों में पैदा किया जाता है।

(ii) **उड़ीसा**—इस राज्य में बोलंगिर कालाहांडी, कोरापुत, कटकपुरी आदि जिलों में जूट का उत्पादन होता है।

(iii) **बिहार**—इस राज्य में पूर्णिया जिले में जूट की खेती होती है। इसके अतिरिक्त चम्पारन, दरभंगा, सारन, भागलपुर जिलों में जूट उत्पन्न होता है।

उत्पादन स्थिति—जूट के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

मद	1950-51	1970-71	1981-82
जूट उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	5·71	10·79	11·54
जूट उत्पादन मात्रा (लाख गाँठों में प्रति गाँठ 180 किलोग्राम)	33·09	61·93	84·00

4. चाय (Tea)

सामान्य परिचय—आधुनिक युग में चाय सबसे अधिक प्रिय पेय पदार्थ है। चाय के उत्पादन में भारत को द्वितीय स्थान प्राप्त है। चाय का पौधा एक प्रकार की जंगली झाड़ी है जिसकी पत्तियों को सुखा कर एवं भूनकर या उबालकर चाय तैयार की जाती है। भारतवर्ष में चाय के कुल उत्पादन का करीब 75% भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है।

चाय के प्रकार—चाय एक झाड़ीदार पौधे की पत्तियों को सुखाकर तैयार की जाती है। चाय के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. **काली चाय**—काली चाय तैयार करने के पत्तियों को एकत्र करके सूर्य की धूप या लकड़ी के कोयले की आग पर फैला दिया जाता है। फिर इसमें पानी के छींटे डालकर किसी बेलन या मशीन से इसको चोरस किया जाता है। इससे पत्तियाँ काली पड़ जाती हैं। बाद में इन्हें चलनियों से छान कर पैक कर दिया जाता है।

2. **हरी चाय**—हरी चाय तैयार करने के लिए पत्तियों को तोड़कर तथा कुछ गर्म करके तत्काल सूर्य के प्रकाश में छोड़ दिया जाता है जिससे इसका रंग हरा ही रहता है। इसको भूना नहीं जाता।

3. **चूरा चाय**—भारत में एक तीसरे प्रकार की चाय जिसे चूरा चाय कहते हैं तैयार की जाती है। यह पत्तियों के टूटन या बचे हुए चूरे से तैयार की जाती है। यह सबसे घटिया किस्म की चाय मानी जाती है।

(i) भूमि—चाय की खेती के लिए ढालू भूमि उपयुक्त होती है। क्योंकि पानी का पौधों की जड़ों तक अधिक समय तक रुकना हानिकारक होता है परन्तु अधिक ढाल होने से भूमि क्षरण होता है। जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है। चाय की खेती के लिए पोटास लोहा एवं जीवांश की मात्रा से मुक्त हल्की तथा गहरी बलुई मिट्टी उपयुक्त होती है।

(ii) जलवायु—चाय चूंकि उष्ण कटिबंध के मानसूनी प्रदेश का पौधा है अतः इसे 24° सेन्टीग्रेड से 30 सेन्टीग्रेड ताप की आवश्यकता होती है। चाय के लिये धूपदार मौसम अनुकूल रहता है। चाय के लिए 150 से॰ मी॰ से 200 से॰ मी॰ वर्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही वर्षा का समान वितरण भी होना चाहिए।

(iii) श्रम—चाय की खेती के लिए प्रचुर मात्रा में सस्ते श्रमिकों की आवश्यकता होती है क्योंकि इसके सभी कार्य हाथों से ही किये जाते हैं। चाय की पत्तियाँ चुनने के लिए महिला श्रमिक अधिक उपयुक्त समझी जाती है क्योंकि कोमल अँगुलियों से चाय की कोपले चुनना उचित होता है। चाय बागानों का क्षेत्र 1950-51 में 314 हजार हेक्टेयर्स से बढ़कर अब 364 हजार हेक्टेयर्स हो गया है। सन् 1950-51 में काय का उत्पादन 275 हजार टन था, जो अब बढ़कर 600 हजार टन हो गया।

विभिन्न वर्षों में चाय की उत्पादन मात्रा व क्षेत्र

मदें	1950-51	1970-71	1981-82
चाय उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	3 14	3 31	3·75
चाय की उत्पादन मात्रा (लाख किलोग्राम)	2770	4210	5560

5. कहवा (Coffee)

कहवा भी चाय की भाँति एक पेय पदार्थ है। कहवा की झाड़ी के फूलों के बीजों को भूनकर कहवा बनाया जाता है। सर्वप्रथम उसकी खेती कर्नाटक में आरम्भ हुई। कहवा उष्ण कटिबन्धीय पौधा है। विश्व के कुल उत्पादन का 2% भाग भारत में उत्पन्न होता है।

भूमि—इसके लिए ढालू भूमि की आवश्यकता होती है क्योंकि पानी का कहवे की जड़ों पर रुकना हानिकारक होता है। अतः चाय के समान कहवे के बागान पहाड़ी ढालों पर लगाए जाते हैं। कहवा के लिए उपजाऊ दूमट मिट्टी तथा लावा से बनी हुई मिट्टी उपयुक्त होती है।

जलवायु—इसकी खेतो के लिए गर्म जलवायु और साधारण वर्षा की आवश्यकता होती है। इसके लिए सामान्यतः 150 सेन्टीमीटर वर्षा की आवश्यकता होती है। इस पौधे के लिए न तो बहुत कम वर्षा होनी चाहिए और न बहुत अधिक वर्षा होनी चाहिए। कहवा के पौधे का उगने के लिए तथा बढ़ने के 15° सेन्टीग्रेट से लेकर 28° तक दैनिक तापक्रम को आवश्यकता होती है।

उत्पादक क्षेत्र—भारत में केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश आदि राज्यों में कहवा की खेती की जाती है। भारत में कहवा केवल कर्नाटक से (37%), केरल (33%) और तमिलनाडु (80%) में ही पैदा किया जाता है। पश्चिमी घाट के सुरक्षिता पूर्वी ढाल इसके लिए बहुत उपयुक्त क्षेत्र है।

सन् 1974-75 में कहवा का उत्पादन 99·075 टन हुआ। कॉफी बोर्ड इस कृषि-आधारित उद्योग के विकास में संलग्न है।

वर्तमान समय में देश की कॉफी उत्पादन का क्षेत्र 180 हजार हेक्टेयर्स तथा वार्षिक उत्पादन लगभग 120 हजार टन है।

6. तम्बाकू

1. **परिचय**—यह एक नशीली वस्तु है। इसका प्रयोग अनेक रूपों में होता है। तम्बाकू की उपज के आधार पर भारत का विश्व में तीसरा स्थान है।

2. **भूमि**—तम्बाकू के खेतों में पानी भरा रहना हानिकारक है। इसकी खेती के लिए सामान्य ढाल वाले खेत ही उपयुक्त होते हैं। यह उष्ण आर्द्र प्रदेशों में ऊँचे ढालू भागों में उगाया जाता है। तम्बाकू के लिए हल्की रेतीली दुमट मिट्टी श्रेष्ठ होती है। तम्बाकू के खेतों की मिट्टी में पोटाश, चून और वनस्पति अंश मिला हो तो उपज अच्छी होती है।

3. **जलवायु**—तम्बाकू उष्ण और शीतोष्ण दोनों प्रकार की जलवायु में उत्पन्न होती है। इसके लिए 100 सेन्टोमीटर वार्षिक वाले प्रदेश उपयुक्त होते हैं किन्तु वर्षा के समान वितरण की आवश्यकता होती है। तम्बाकू की खेती के लिए 16° सेन्टीग्रेट से 40° सेन्टीग्रेड तापमान तया 50 से 100 सेन्टीमीटर वर्षा की आव-

श्यकता होती है। जिन भागों में अधिक वर्षा होती है उन भागों में खेती करना असम्भव है।

4. **उत्पादक क्षेत्र**—विश्व तम्बाकू उत्पादन में भारत को तृतीय स्थान प्राप्त है। भारत विश्व के कुल तम्बाकू उत्पादन का लगभग 8 प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है। तम्बाकू उत्पादन के निम्नलिखित क्षेत्र हैं।

(i) **दक्षिणी क्षेत्र**—इस क्षेत्र के अन्तर्गत महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु राज्य आते हैं। आन्ध्र प्रदेश कुल तम्बाकू उत्पादन का लगभग 25 प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है।

(ii) **पूर्वी क्षेत्र**—इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिहार, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल राज्य आते हैं।

विभिन्न वर्षों में तम्बाकू की उत्पादन मात्रा व क्षेत्र

मदें	1950-51	1970-71	1981-82
तम्बाकू उत्पादन क्षेत्र (लाख हेक्टेयर में)	3·57	4·47	4·48
तम्बाकू की उत्पादन मात्रा (लाख टन में)	2·61	3·62	5·25

7. तिलहन (Oilseeds)

1. **परिचय**—तिलहन एक व्यापारिक उपज है। अनेक प्रकार के पौधे एवं वृक्षों के बीजों, फलों अथवा गुठलियों से तेल निकाला जाता है उन्हें तिलहन कहते हैं। भारत का विश्व के तिलहन पैदा करने वाले देशों में प्रमुख स्थान है।

2. **तिलहन के प्रकार**—भारत में तिलहन दो प्रकार की होती है :—

(अ) **छोटे दाने वाली तिलहन**—इसके अन्तर्गत तिल, सरसों, राई, अलसी आदि आते हैं।

(ब) **बड़ेदाने वाली तिलहन**—इसके अन्तर्गत मूंगफली, बिनौला, नारियल, आदि आते हैं।

यहाँ विश्व की $\frac{3}{4}$ मूंगफली, $\frac{1}{4}$ तिल, $\frac{1}{4}$ रेंडी और $\frac{1}{6}$ सरसों और अलसी उत्पन्न की जाती है। अन्य तिलहनों में एरण्ड, बिनौला, महुआ, नारियल, राई आदि प्रमुख हैं।

तिलहन की माँग न केवल सलाद और खाद्य के लिए बल्कि साबुन, इत्र, वार्निश, दवाइयों एवं स्नेहन तेलों (Iubjicants) आदि बनाने के लिए बढ़ती जा रही है।

कुछ मुख्य तिलहनों के उत्पादन की स्थिति

(हजार टन)

	1975-16	1976-77	1979-80
तिल	479	404	370·7
अलसी	598	431	269·7
अरण्डी	143	172	232·7
मूंगफली	6755	5262	5771·8
सरसों एवं लाहा	1936	1562	1433·1

उपर्युक्त सभी तिलहन फसलों का उत्पादन 1981-82 में 109·02 लाख टन हुआ और यह इसी वर्ष 166·47 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में बोई हुई थी।

फसलों के स्वरूप को प्रभावित करने वाले तत्त्व

भारत में फसलों के स्वरूप को कुछ विशेष घटक प्रभावित करते हैं, जो निम्नांकित हैं :—

1. **भौतिक**, तकनीकी, आर्थिक, सरकारी (विधि सम्बन्धी एवं प्रशासनिक) **राजनैतिक घटक।** इसमें अधिक घटक आर्थिक प्रभावशाली हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या नीचे की जाती है।

2. **भौतिक घटक**—इस घटक में मिट्टी, वर्षा, जलवायु एवं मौसम सम्मिलित होते हैं। देश के विभिन्न भागों में जो फसलें होती हैं वे इन घटकों से अत्यधिक प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ पर अधिक वर्षा होती है वहाँ धान की फसल पैदा की जाती है, किन्तु जो क्षेत्र शुष्क अथवा कम वर्षा वाले हैं वहाँ ज्वार, बाजरा पैदा किया जाता है। फसलों का उगाया जाना सिचाई सुविधाओं की उपलब्धि पर भी निर्भर करता है। जिन क्षेत्रों में यह साधन बढ़ रहा है वहाँ गन्ना और तम्बाकू की खेती बढ़ रही है।

3. **तकनीकी घटक**—फसलों के स्वरूप निर्धारण में तकनीक का भी प्रभाव पड़ता है। देश के जिस क्षेत्र में जैसी तकनीकी का विकास हुआ है, उसी के अनुसार कुछ अंश तक फसलें पैदा होती हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब में कुछ फसलों के तकनीकी में अधिक विकास है, अतः वे फसलें वहाँ विशिष्ट रूप में उगाई जाती हैं।

4. **सामाजिक घटक**—यह भी फसल का स्वरूप प्रभावित करते हैं। जिस क्षेत्र में लोग सामाजिक दृष्टिकोण में अधिक विकसित रहते हैं, रहन-सहन का स्तर अच्छा रहता है, लोग कम निर्धन होते हैं, वहाँ अच्छी और मँहगी फसलें उगाई जाती हैं। सामाजिक दृष्टिकोण मे पिछड़े क्षेत्र के लोग मोटे अनाजों का अधिक उत्पादन करते हैं।

5. **आर्थिक घटक**—आर्थिक घटक कृषि की फसल को सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। इसमें हम कृषकों को आर्थिक स्थिति, मूल्य, खेत अथवा जोत का आकार,

फसल-बीमा-सुविधा, भू-व्यवस्था, आदानों की उपलब्धि एवं साख की सुविधा आदि सम्मिलित करते हैं जिनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्न हैं :—

(अ) **कृषकों की आर्थिक स्थिति एवं मूल्य**—यदि कृषक की आर्थिक स्थिति अच्छी है तो वह अच्छी और महँगी फसल बोयेगा, क्योंकि वह उस फसल का बीज क्रय करने के लिए धन-राशि का व्यय कर सकता है। साथ ही, फसलों का स्वरूप वस्तुओं के मूल्य पर भी निर्भर करता है। जिस वस्तु के भाव में तेजी है, किसान अधिक मूल्य प्राप्त कर सकते हैं, उस फसल के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ेगा। मूल्यों में स्थायित्व एवं अस्थायित्व का भी प्रभाव फसल के स्वरूप पर पड़ता है।

(ब) **जोत का आकार**—बड़ी जोत वाले किसान मौद्रिक फसलों का उत्पादन अधिक करते हैं। किन्तु जिन किसानों के पास भूमि कम है, वे प्रायः अपनी भूमि का प्रमुख उपयोग अपनी आवश्यकता जैसे, भोजन की पूर्ति करने वाले वस्तुओं के उत्पादन में करते हैं। किन्तु किसानों की आर्थिक स्थिति में जैसे-जैसे सुधार होता जाता है, नकदी अथवा मौद्रिक फसलों की पैदावार बढ़ाते जाते हैं।

(स) **फसल-बीमा-सुविधा**—मानसून की अनिश्चितता किसानों की कमर को तोड़ देती है। यदि फसलों के नष्ट होने पर फसल-बीमा-सुविधा के अन्तर्गत क्षति-पूर्ति की सुविधा है, तो किसान फसलों के स्वरूप में परिवर्तन ला सकता है। उदाहरणार्थ अपने देश के कई शुष्क क्षेत्रों में बीमा की व्यवस्था उपलब्ध कराने के बाद ज्वार-बाजरे आदि की फसल में वृद्धि हो रही है।

(द) **भू-व्यवस्था**—भू-व्यवस्था यदि ऐसी है कि कृषक अपने उपार्जन का लाभ प्राप्त कर सकते हैं, तो कृषक मौद्रिक फसलों का अधिक उत्पादन करेंगे।

(य) **आदानों की उपलब्धियाँ**—जब कृषकों को अच्छे बीज, उर्वरक, जल, भण्डार गृह, यातायात एवं विपणन की व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है तो किसान प्रगतिशील फसलों का उत्पादन बढ़ाते हैं।

(र) **साख की सुविधा**—यह भी फसल के स्वरूप को प्रभावित करती है। साख की सुविधा होने पर कृषक अच्छी एवं मूल्यवान फसलों का उत्पादन करते हैं।

6. **सरकारी कार्यवाही सम्बन्धी घटक**—इसके अन्तर्गत प्रशासकीय एवं विधि सम्बन्धी घटक सम्मिलित किया जा सकता है। प्रशासन जिस प्रकार की फसलों का उत्पादन बढ़ाना चाहता है, उसकी यह विशेष व्यवस्था कर सकता है और उस फसल का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। अपने प्रशासन में, शासन प्रत्याशित फसल के उत्पादन में वृद्धि की व्यवस्था कर सकता है और तकनीकी और वैज्ञानिक सुविधा देकर उसका उत्पादन बढ़ा सकता है। विभिन्न प्रकार की कृषि अथवा फसलें उनके क्रय-विक्रय सम्बन्धी नियम भी फसल के स्वरूप को प्रभावित करते हैं।

7. **राजनैतिक स्थिति**—इसमें हम देश की आन्तरिक एवं बाह्य राजनीति को सम्मिलित करते हैं। देश में आयात, निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, खाद्यान्न आदि की जैसी स्थिति रहेगी उसका प्रभाव फसल उत्पादन के स्वरूप पर पड़ेगा। यदि देश की स्थिति ऐसी है कि विदेशी निर्भरता को कम करना और खाद्यान्नों आदि में आत्म-

निर्भरता को बढ़ाना है तो इन वस्तुओं का अधिक उत्पादन प्रारम्भ किया जायगा। भारतीय उदाहरण इस तथ्य को चरितार्थ करता है।

यद्यपि उपर्युक्त घटक फसलों के स्वरूप को प्रभावित करते हैं, किन्तु इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी, विभिन्न प्रयत्न द्वारा लाये जा सकते हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं में सफल उत्पादन रीति

प्रथम योजनावधि में खाद्य समस्या की गम्भीरता के कारण नकदी फसलों की अपेक्षा खाद्य फसलों के विकास को प्राथमिकता दी गयी। **द्वितीय** योजना काल में व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया गया, **तृतीय व चतुर्थ** योजना के अन्तर्गत इनके विकास हेतु सिंचाई, पौध संरक्षण, ऊँची उपज देने वाली किस्मों इत्यादि के कार्यक्रम तैयार किये गए।

छठवीं योजना में फसल उत्पादन के क्षेत्र में एक ओर खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने तथा दूसरी ओर कृषकों की आय एवं रोजगार में वृद्धि के लिए फसलों में विविधीकरण की नीति अपनाई जायेगी। कृषि क्षेत्र में विस्तार की संभावनाएँ अल्प ही हैं। अतः उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्पादकता पर जोर दिया जायेगा, कृषि उत्पादक एवं उत्पादकता बढ़ाने के लिए निम्न उपाय किए जायेंगे—(i) सिंचित क्षेत्रों में बहु-फसली व्यवस्था और वर्षा से सिंचित क्षेत्रों में मिश्रित फसल व्यवस्था अपनाना, (ii) अच्छे बीजों की कमी दूर करना, iii) उत्पादन तकनीक में सुधार करना, (iv) फसलों की बीमारी पर नियंत्रण करना।

फसल योजना
(Crop Planning)

फसल नियोजना एक स्वस्थ और कुशल कृषि अर्थव्यवस्था का बहुत ही महत्त्व-पूर्ण अंग हैं। ऐसी योजना के अभाव में देश के आर्थिक प्रसाधनों का दुरुपयोग होता है तथा उत्पादकता को ठेस पहुँचती है। फसल नियोजन के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं।

1. **फसलों के हेर-फेर का स्वरूप**—यदि फसलों का उचित हेर-फेर किया जाय तो मिट्टी की उर्वरता अधिक समय तक कायम रह सकती है और भूमि को परती छोड़ने की आवश्यकता न्यूनतम हो जाती है इसके अतिरिक्त फसलों का हेर-फेर पौधों के रोग और महामारियों पर नियंत्रण रखने में सहायक होता है।

2. **मिश्रित फसलें बोना**—मिश्रित फसलें बोने का अर्थ एक ही खेत में एक से अधिक फसलें एक ही वक्त में बोने से है। मिश्रित फसलों की पद्धति तब अधिक उपयोगी होती है जबकि एक फसल तो गहरी जोड़ों वाली हो और उसके पौधों को एक दूसरे से काफी दूर पर लगाना पड़ता हो और दूसरी फसल छोटे-छोटे पौधे वाली हों जिन्हें कि पहली फसल के दो पौधों के मध्य लगाया जा सकता है।

3. **फसलों का वितरण**—इसके अन्तर्गत यह निश्चित किया जाता है कि कौन

सी फसलें कौन से क्षेत्र में उगाई जाय तथा सम्बद्ध क्षेत्र में फसल वास्तव में कितनी भूमि पर बोई जाय ।

भारत में फसल नियोजन की आवश्यकता

एक आदर्श फसल नियोजन अर्थव्यवस्था के बहुत से लाभ हैं किन्तु भारत में इसे अच्छो तरह से नहीं अपनाया गया है यद्यपि यह सत्य है कि फसल नियोजन के लिए संभावनाएँ हमारे देश में हमारे आर्थिक पिछड़ेपन के कारण सीमित है । किन्तु यह आर्थिक पिछड़ापन दूर करने का उपाय भी फसल नियोजन ही है । भारत में फसल नियोजन के लिए निम्नलिखित कार्य किये जा सकते हैं—

1. **गहन अनुसंधान**—चूंकि फसल नियाजन एक प्रावैगिक और बहुमुखी क्रिया है इसलिए हमें इसके सम्बन्ध में काफी अनुसंधान करना पड़ेगा । अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्र निम्नलिखित हो सकते हैं—

(अ) **विभिन्न क्षेत्रों के लिए उपयुक्त फसल हेर-फेर**—यह अनुसंधान करना होगा कि किस प्रकार के फसल हेर-फेर देश के किन क्षेत्रों के लिए उपयुक्त रहेंगे ।

(ब) **विषम जलवायु को झेलने वाली फसल-किस्मों का विकास**—ऐसी विभिन्न फसलों वाली किस्मों का विकास करना होगा जो कि जलवायु की विषमताओं को सहन कर लें और साथ ही भरपूर फसल भी प्रदान करें ।

(स) **मिट्टियों के अनुरूप फसलों का विकास**—ऐसी फसलों का भी विकास करना होगा जो हमारी विभिन्न प्रकार की मिट्टियों को जिसका आजकल गलत शोषण हो रहा है, उचित प्रकार से प्रयोग कर सकें ।

(द) **विभिन्न फसलों की पोषण आवश्यकताएँ**—यह भी पता लगाना होगा कि विभिन्न फसलों की पोषण आवश्यकताएँ क्या हैं और विभिन्न फसल रोगों महा-मारियों, कुकुरमुत्ता और मिट्टी में उनके द्वारा छोड़े गये नाइट्रोजन तत्त्वों पर क्या प्रभाव पड़ेंगे ।

2. **फसल नियोजन सम्बन्धी अध्ययन**—क्षेत्रों के मध्य व्यापारिक एवं खाद्य फसलों के बीच वितरण की दृष्टि से सरकार को फसल नियोजन हेतु अध्ययन कराने होंगे और यह पता लगाना होगा कि विभिन्न कीमतों तथा लगान प्रेरणाओं के प्रति किसान क्या प्रतिक्रिया दिखाते हैं ।

3. **किसानों को शिक्षित करना**—किसानों को शिक्षित करने से तात्पर्य यह है कि कृषि अनुसंधान के परिणामों की सूचना किसानों को प्रभावशाली ढङ्ग से देने और नयी तकनीकों के उपयोग के लिए प्रेरित करने से है ।

4. **वित्तीय सहायता देना**—नयी तकनीकें अपनाने पर जहाँ कृषकों को अति-रिक्त विनियोग करने पड़ेंगे वहाँ उन्हें वित्तीय सहायता भी देना होगा इस दिशा में प्रयोगात्मक फार्म नव प्रचलित तकनीकों के प्रभाव का क्रियात्मक प्रदर्शन करके इस दिशा में मार्ग दर्शन कर सकते हैं ।

5. **प्रेरणादायक कार्यक्रम बनाना**—विभिन्न फसलों के बीच उचित सन्तुलन

बनाये रखने के लिए सरकार को प्रेरणादायक योजनाएँ लागू करने के कार्यक्रम बनाने होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि फसलों के नियोजन की भारत में अत्यधिक आवश्यकता है और इसकी लाभदायकता निर्विवाद है। भारत में फसल के भावी प्रतिरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति उद्देश्यों पर विचार किया जाना चाहिए—

(i) निकृष्ट अनाजों के अन्तर्गत क्षेत्रफल को कम करना तथा

(ii) इस प्रकार से उपलब्ध क्षेत्रफल का प्रयोग गैर-अनाज तथा व्यापारिक फसलों के लिए करना।

फसलों के प्रतिरूप में उपर्युक्त परिवर्तनों के लिए सरकार विशेष फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु बीज, पानी, उर्वरक आदि आगतों को रियायती दरों पर उपलब्ध करा सकती है। एक क्षेत्र में किसी विशेष फसल के उत्पादन के लिए करों में छूट तथा आर्थिक सहायता एवं प्रलोभन प्रदान किए जा सकते हैं।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत की फसलों के बारे में बतलाइए और उनकी प्रकृति पर प्रकाश डालिए।

2. भारत के फसल-स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। फसल-स्वरूप के निर्धारण में कौन-कौन से घटक प्रभाव डालते हैं ?

3. भारत के आधुनिक फसल-स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। क्या भारतीय फसल-स्वरूप में परिवर्तन की आवश्यकता है ? यदि हाँ, तो आवश्यक सुझाव दीजिए।

4. भारत में फसल नियोजन की आवश्यकताओं और सम्भावनाओं का विवेचन कीजिए।

18

भारत में सिंचाई
(Irrigation in India)

अर्थ—जब कृषि कार्यों के लिए वर्षा पर्याप्त नहीं होती तब कृत्रिम रूप से अर्थात् तालाब, नहरों, ट्यूबवेल आदि साधनों से पानी का उपयोग खेती के लिए किया जाता है तो उसे सिंचाई कहते हैं। फील्ड के शब्दों में "कृषि के उद्देश्य से जहाँ आवश्यक हो कृत्रिम रूप से पानी देने को सिंचाई कहते हैं।"

विशेषताएँ—उपर्युक्त परिभाषा में सिंचाई में निम्न तीन विशेषताओं का आभास होता है—

1. **पानी की कृत्रिमता**—कृषि कार्यों के लिए पानी का उपयोग कृत्रिम रूप से किया जाता है।

2. **कृत्रिम पानी खेत में दिया जाना**—पानी कृत्रिम रूप से खेतों में ही दिया जाना चाहिए। उसका उपयोग तालाब या अन्यत्र इकट्ठा करने के लिए नहीं होना चाहिए।

3. **कृत्रिम पानी देने का उद्देश्य कृषि करना**—कृत्रिम पानी देने का उद्देश्य कृषि करना ही होना चाहिये।

सिंचाई का महत्त्व या आवश्यकता

भारत सदा से कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि की पैदावार अन्य चीजों के साथ-साथ पर्याप्त सिंचाई पर निर्भर करती है। भारतीय कृषि को **'मानसून का जुआ'** कहा गया है। वर्षा पर निर्भर रहने के कारण ही हमारी कृषि में अस्थिरता रही है। सिंचाई के साधनों का विकास करके कृषि में स्थिरता उत्पन्न की जा सकती है।

भारत में सिंचाई का महत्त्व—अन्य देशों की अपेक्षा भारत जैसे देश के लिए सिंचाई का विशेष महत्त्व है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

1. **वर्षा की अनिश्चितता तथा अनियमितता**—भारत में वर्षा किसी वर्ष होती है तो किसी वर्ष नहीं और यदि होती भी है तो समय से बहुत पहले अथवा समय से बहुत बाद में ऐसी स्थिति में कृषि पूर्णतया 'मानसून का जुआ' बन जाती है।

अतः भारतीय कृषि की स्थिरता के लिए सिंचाई की सुविधाओं का होना अत्यन्त आवश्यक है।

2. **वर्षा के वितरण में असमानता**—भारत के सभी भागों में एक समान वर्षा नहीं होती एक ओर तो चेरापूजी में वर्षा का वार्षिक औसत 428'' है तो दूसरी ओर जैसलमेर में यह मात्र 4'' है अतः अपर्याप्त वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई के उपयुक्त साधनों का जुटाना आवश्यक है।

3. **खाद्यान्न तथा कच्चे माल की आवश्यकता**—देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को आवश्यक खाद्यान्न की प्राप्ति तथा उद्योगों के लिए कच्चे माल को जुटाने के लिए पर्याप्त सिंचाई के साधनों का होना आवश्यक है। सिंचाई के साधन बढ़ाकर वर्ष में तीन फसलें उगाई जा सकती हैं।

4. **वर्षा की मौसमी प्रकृति**—भारत में वर्षा अधिकतर वर्षा ऋतु में ही होती है जिसकी अवधि जून से अक्टूबर तक होती है। वर्ष के शेष महीनों में वर्षा बहुव कम होती है। अतः शीतकालीन फसलों के लिए व बहु-फसल कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए सिंचाई की बहुत आवश्यकता होती है।

5. **मिट्टी में विभिन्नता**—देश में अधिकांशतः मिट्टी बलुई है जो कि नमी को अधिक समय तक कायम नहीं रख सकती। अतः इस कारण से कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई करना आवश्यक हो जाता है।

6. **विशिष्ट फसलें**—भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कुछ ऐसी भी फसलें होती हैं, जिनके लिए लगातार और अधिक मात्रा में सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी फसलों का जल की अधिक आवश्यकता होती है।

7. **रोजगार के अवसरों में वृद्धि**—सिंचाई का महत्त्व इसलिए भी है कि इससे कृषि में नये रोजगार के अवसर उत्पन्न होंगे। पहले तो सिंचाई के साधनों का निर्माण तथा उनको संचालित करने में कई व्यक्तियों को रोजगार मिलता है; दूसरे सिंचाई के साधनों की उपलब्धि से जो साल में दो या दो से अधिक फसलें पैदा करना सम्भव हो जाता है, उससे किसानों को अधिक मात्रा में काम अथवा रोजगार प्राप्त होगा और पाई जाने वाली अदृश्य बेरोजगारी दूर होगी।

8. **उपज की किस्म में सुधार**—सिंचाई से उपज की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ किस्म में भी सुधार होता है, जिससे किसानों की आय बढ़ती है और उनका रहन-सहन का दर्जा ठीक होता है।

9. **नयी भूमि पर खेती सम्भव**—भारत में कुछ कृषि योग्य भूमि बेकार पड़ी है। सिंचाई के साधनों का विस्तार करके अतिरिक्त जमीन खेतों के अन्तर्गत लाई जा सकती है। ऐसी भूमि को सिंचाई के बिना खेती के लिए कभी प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। राजस्थान में राजस्थान नहर के बन जाने से नयी भूमि पर पहली बार कृषि प्रारम्भ की जायेगी। इस प्रकार सिंचाई से विस्तृत खेती भी सम्भव बन जाती है।

10. **हरित क्रान्ति की सफलता का आधार**—भारतीय कृषि इस समय हरित क्रान्ति के दौर से गुजर रही है । उसमें गहन कृषि, बहु-फसली कार्यक्रम, उत्पादकता वृद्धि इत्यादि कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं और इन कार्यक्रम की सफलता के लिए सिंचाई के साधनों का शीघ्र विकास और सदुपयोग अत्यन्त आवश्यक है ।

11. **अकाल के भय से छुटकारा**—सिंचाई के अभाव में अकाल पड़ने का भय बना रहता है । जब से भारत में सिंचाई के साधनों का विकास हुआ है तब से अकालों की बारम्बारता व भीषणता घट गयी है ।

12. **सरकार की आय में वृद्धि**—सिंचाई के लिए प्रयोग किये गये कृत्रिम साधनों से केवल कृषि और कृषक की ही उन्नति नहीं होती, वरन् देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था इससे प्रभावित होती है । उत्पादन में वृद्धि होने से जनसंख्या के जीवन-स्तर में वृद्धि के साथ ही व्यापार में उन्नति और इसके साथ ही व्यक्ति और सरकार दोनों की आय में वृद्धि होती है फलस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ एवं उन्नतिशील होती है ।

अतः सिंचाई के साधनों का भारत में बड़ा महत्व और अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ इन साधनों के विकास की बहुत आवश्यकता है । **सर चार्ल्स ट्रिविलियन** ने ठीक ही कहा है, "भारत में सिंचाई का सर्वोपरि महत्व है । पानी सोने से भी अधिक मूल्यवान् है ।"

भारत में सिंचाई के साधन

योजना आयोग ने सिंचाई के साधनों को निम्न तीन वर्गों में बाँटा है—

1. **वृहद् सिंचाई योजनाएं**—सिंचाई की उन सभी योजनाओं को वृहद् माना जाता है, जिन पर पाँच करोड़ रुपये से अधिक व्यय करना होता है । इनमें मुख्य रूप से बड़ी-बड़ी नहरें और बहुउद्देशीय सिंचाई योजनाएँ आती हैं ।

2. **मध्यम सिंचाई योजनाएं**—ऐसी सिंचाई योजनाओं को मध्यम सिंचाई योजनाओं में शामिल किया जाता है, जिन पर 25 लाख से 5 करोड़ रुपये तक व्यय होता है । इस वर्ग में प्रायः मध्यम श्रेणी की नहरें आती हैं ।

3. **लघु सिंचाई योजनाएं**—इनमें उन योजनाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनमें 25 लाख रुपये से कम व्यय होता है । लघु सिंचाई योजनाओं में तालाबों, नलकूपों तथा कुओं द्वारा सिंचाई होती है । परन्तु सूखे की स्थिति में सिंचाई के ये साधन उपलब्ध नहीं होते, क्योंकि इनमें जल का अभाव हो जाता है । इसके अतिरिक्त अनुरक्षण पर भी बराबर व्यय करना पड़ता है ।

अध्ययन की दृष्टि से सिंचाई के साधनों का हम 3 शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—जैसा कि आगे चार्ट में दर्शाया गया है—
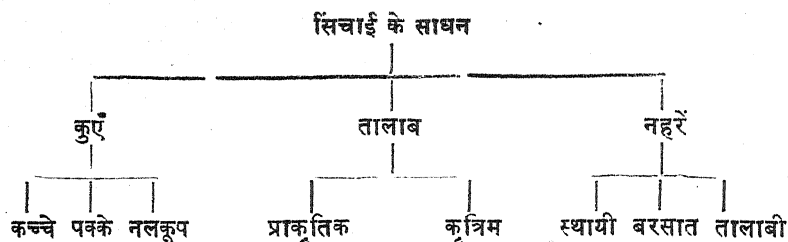
1. कुएँ

परिचय—कुआँ भारत में सिंचाई का अत्यन्त प्राचीन साधन है। कुएँ कच्चे, पक्के या नलकूपों के रूप में होते हैं। कुआं से सिंचाई के लिए मानवीय शक्ति, पशु-शक्ति व बिजली का प्रयोग किया जाता है। कुओं से देश के सभी भागों में सिंचाई करना सम्भव नहीं है इनसे केवल सीमित क्षेत्र में ही सिंचाई हो सकती है।

क्षेत्र—कुओं से सिंचाई की दृष्टि से उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब, हरियाणा व महाराष्ट्र राज्य प्रमुख है।

नलकूपों का प्रयोग उत्तर प्रदेश, पंजाब व हरियाणा में अधिक होता है।

लाभ—(i) कम व्यय होने के कारण कुआँ किसान के लिए सिंचाई का सबसे सरल व सुगम साधन है।

(ii) खेतों में पानी भर जाने व लवणीकरण की समस्या उत्पन्न नहीं होती।

(iii) कृषक फसलों के चुनाव के लिए स्वतंत्र होता है।

(iv) कुओं द्वारा सिंचाई से भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है।

(v) कुओं के लिए किसी विशेष तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती।

दोष—(i) कुओं द्वारा सिंचाई का क्षेत्र सीमित होता है।

(ii) कुओं में खारा जल निकल आने पर सिंचाई के लिए अनुपयोगी होता है।

(iii) जिन क्षेत्रों में भूमिगत जल नीचे रहता है वहाँ कुओं द्वारा सिंचाई में बहुत असुविधा होती है।

कुओं द्वारा सिंचित क्षेत्र—

वर्ष	1950-51	60-61	80-81
सिंचित क्षेत्र (प्रतिशत)	28·7	29·6	50·2

2. तालाब

परिचय—वे भू-भाग जहाँ वर्षा का जल इकट्ठा हो जाता है, तालाब कहलाते हैं। यदि भू-भाग काफी बड़ा हो तो यह झील के नाम से जाना जाता है। तालाब या झीलें प्राकृतिक व कृत्रिम दोनों प्रकार के हो सकते हैं। दक्षिणी भारत में तालाब सिंचाई के मुख्य साधन हैं क्योंकि यहाँ की पथरीली भूमि की बनावट तालाब बनाने के लिए ज्यादा उपयुक्त पाई गई है।

लाभ—(i) तालाबों से वर्षा के पानी का उचित उपयोग सम्भव हो जाता है।

(ii) तालाबों में मछलियाँ भी पाली जाती हैं जिससे कुछ सीमा तक खाद्य समस्या हल की जा सकती है।

(iii) तालाबों से वर्ष भर सिंचाई सम्भव है।

(iv) प्राकृतिक बनावट के कारण कम लागत पर एक बड़े भू-भाग को तालाब का रूप दिया जा सकता है। इसी के कारण दक्षिण भारत में तालाबों का अत्यधिक प्रसार हुआ है।

दोष—(i) यदि वर्षा यथोचित मात्रा में न हो तो तालाबों में पानी बहुत कम मात्रा में आता है जिससे सिंचाई की सुविधाओं का अभाव रहता है।

(ii) तालाबों से खेत तक जल पहुँचाने में काफी श्रम व समय खर्च होता है।

(iii) तालाबों का अनेक कार्यों में उपयोग करने से बीमारियों के फैलने का भय बना रहता है।

क्षेत्र—आन्ध्र प्रदेश, मद्रास, कर्नाटक, उड़ीसा तथा महाराष्ट्र में तालाबों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है अर्थात् तालाब मुख्यतः दक्षिणी भारत में सिंचाई का प्रमुख साधन है।

सिंचित क्षेत्र

वर्ष	1950-51	60-61	80-81
सिंचित क्षेत्र (प्रतिशत)	13·3	18·5	12·5

3. नहरें

परिचय—सिंचाई का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। विशुद्ध सिंचित क्षेत्र के लगभग 40% भाग पर नहरों से सिंचाई की जाती है। भारत में नहरों की कुल लम्बाई संसार में सबसे अधिक है। नहरों की सिंचाई सस्ती, सुविधाजनक और सुनिश्चित होने से आजकल बहुत प्रचलित हो गयी है। नहरें मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं।

(1) स्थायी नहरें (2) बरसाती नहरें (3) तालाबी नहरें।

लाभ—(i) नहरें सिंचाई का सस्ता एवं सरल साधन है।

(ii) नहरों के तटों पर वृक्ष लगाकर भूमिक्षरण को रोका जा सकता है।

(iii) नहरों के कारण अधिक जल चाहने वाली फसलों का उगाना सम्भव हुआ है।

(v) नहरों के निर्माण से आन्तरिक यातायात का विकास सम्भव होता।

(vi) बाढ़ के समय नदियों के पानी को नहरों में बाटकर संकट को कम किया जा सकता है।

(vii) हरित क्रान्ति को सफल बनाने में नहरों का योगदान सराहनीय है।

दोष—(i) नहरों के स्थान-स्थान पर टूट जाने के कारण आस-पास के क्षेत्रों में पानी भर जाता है जिन पर कृषि सम्भव नहीं हो पाती।

(ii) जल प्रसार से बीमारियों का भय बना रहता है।

(iii) कृषकों में आपसी झगड़े व मुकदमेबाजी की सम्भावना बढ़ती है।

(iv) लवणीकरण की समस्या नहरों का मुख्य दोष हैं।

सिंचित क्षेत्र

वर्ष	1950-51	60-61	80-81
सिंचित क्षेत्र (प्रतिशत)	39·8	42·1	62·3

पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई साधनों का विकास

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। विभिन्न योजनावधियों में सिंचाई के साधनों का विकास निम्न प्रकार हुआ—

प्रथम योजना

वृहद एवं मध्यम सिंचाई योजनाएँ—इस योजना अवधि में इन दोनों सिंचाई योजनाओं पर 380 करोड़ रुपये व्यय किए गए जो इन योजनाओं पर पिछली शताब्दी में किए गए व्यय से भी अधिक था। इस योजना में पूरी होने वाली सिंचाई योजनाओं के द्वारा 2·5 मिलियन हेक्टर अतिरिक्त सिंचाई क्षमता प्राप्त की गई फलतः इस योजना के अन्त में वृहद व मध्यम सिंचाई योचनाओं की कुल क्षमता 1220 हेक्टर हो गई।

लघु सिंचाई पर इस योजना में 76 करोड़ रुपये व्यय किए गए। इस योजना में सिंचाई क्षमता 1006 मिलियन हेक्टर से बढ़कर 1006 मिलियन हेक्टर हो गई।

द्वितीय योजना

वृहद और मध्यम सिंचाई योजनाएँ—द्वितीय योजना में इन पर 480 करोड़ रुपये व्यय किए गए और 21 मिलियन हेक्टर की अतिरिक्त क्षमता प्राप्त की गई।

लघु सिंचाई योजना—लघु सिंचाई योजनाओं पर 142 करोड़ रुपये व्यय हुए और इनकी सिंचाई क्षमता बढ़कर 14·79 मिलियन हेक्टर हो गई।

तृतीय योजना

वृहद व मध्यम सिंचाई योजनाएँ—तृतीय योजना में इन पर 581 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया और 2·30 मिलियन हेक्टर की अतिरिक्त **सिंचाई क्षमता प्राप्त की गई।**

लघु सिंचाई—लघु सिंचाई कार्यक्रम पर इस योजना में 328 करोड़ रुपये व्यय कर कुल सिंचाई क्षमता 17·01 हेक्टेयर तक पहुँचा दी।

तीन एक वर्षीय योजनायें

वृहद **एवं मध्यम सिंचाई**—इस योजना में वृहद एवं मध्यम सिंचाई कार्यक्रम पर 434 करोड़ रुपये व्यय कर 1·5 मिलियन हेक्टेयर की अतिरिक्त क्षमता प्राप्त की गई।

लघु सिंचाई--लघु सिंचाई योजनाओं में इस अवधि में 326 करोड़ रुपये व्यय किए गए जिससे इनकी सिंचाई क्षमता बढ़कर 19·00 मिलियन हेक्टर हो गई।

चतुर्थ योजना

वृहद एवं मध्यम सिंचाई—चतुर्थ योजनावधि में वर्षा व सिंचाई व्यवस्था के अभाव वाले क्षेत्रों को सिंचाई में योजनाओं में प्राथमिकता दिए जाने की व्यवस्था की गई। इस योजना में 1237 करोड़ रुपये व्यय कर 3·6 मिलियन हेक्टर की अतिरिक्त सिंचाई क्षमता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया था। इस योजना में सिंचाई क्षमता 18·1 मिलियन हेक्टर से बढ़कर 20·7 मिलियन हेक्टर हुई।

लघु सिंचाई योजनाएं—चतुर्थ योजनावधि में 513 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया था। कुल सिंचाई क्षमता 22·23 मि० हेक्टेयर के लक्ष्य से बढ़कर 23·5 मिलियन हेक्टेयर हो गई।

पाँचवीं योजना

वृहद एवं मध्यम सिंचाई योजनाएं—इन योजनाओं पर 2442 करोड़ रुपये व्यय कर 5·6 मिलियन अतिरिक्त सिंचाई क्षमता बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया था परन्तु वास्तव में 4·1 मिलियन हेक्टर की ही अतिरिक्त सिंचाई क्षमता प्राप्त की गई।

लघु सिंचाई—योजनावधि में इन पर 631 करोड़ रुपये व्यय कर 7·3 मिलियन हेक्टर की अतिरिक्त सिंचाई क्षमता बढ़ाने का प्रावधान था किन्तु 3·8 हेक्टेयर की ही अतिरिक्त क्षमता प्राप्त की गई।

छठी योजना 1980-85

वृहद एवं मध्यम सिंचाई योजनाएँ—छठी पंचवर्षीय योजना में बड़ी एवं मध्यम आकार की सिंचाई योजनाओं पर 8448 करोड़ व्यय कर 5·7 मिलियन हेक्टर भूमि में सिंचाई सुविधा का विस्तार करने का लक्ष्य था जिससे बड़ी व मध्यम सिंचाई योजनाओं के द्वारा सिंचाई क्षेत्र 32·3 मिलियम हेक्टर हो जायेगा।

लघु सिंचाई योजनाएँ—इस योजना में 1810 करोड़ रुपये व्यय कर 8 मिलियन हेक्टर अतिरिक्त सिंचाई समता बैठाने का लक्ष्य है जिससे लघु सिंचाई योजनाओं **द्वारा सिंचित क्षेत्र 38·0 मिलियन हेक्टर हो जायेगा।**

1950-51 से पहले देश में सभी साधनों से कुल सिंचित क्षेत्र 2·26 करोड़ हेक्टर था जिसमें से 97 लाख हेक्टेयर बड़ी व मध्यम आकार की सिंचाई परियोजनाओं और 1·29 करोड़ हेक्टेयर छोटी योजनाओं से सिंचित था। 1979-80 के अन्त तक कुल सिंचाई क्षमता बढ़कर 5·65 करोड़ हेक्टेयर हो गई जिसमें से 2·65 करोड़ हेक्टेयर की सिंचाई बड़ी व मध्यम परियोजनाओं से तथा 3 करोड़ हेक्टेयर की सिंचाई छोटी योजनाओं से हुई। 1980-81 के दौरान 22 लाख हेक्टेयर की अतिरिक्त क्षमता बनाई गई जिससे कुल सिंचाई क्षमता 5.87 करोड़ हेक्टेयर की हो गई। इस प्रकार योजनावधि (1951-1981) के दौरान देश की सिंचाई क्षमता ढाई गुना बढ़ गई।

सिंचाई से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ

1. **संभाव्य का उचित उपयोग न होना** – सरकारी आँकड़े यह बताते हैं कि भारत में सम्पूर्ण सिंचाई संभाव्य का उचित उपयोग नहीं हो रहा है।

आयोजना काल के प्रारम्भ में बड़ी व मध्यम परियोजना द्वारा सिंचाई की क्षमता का विकास और उसके उपयोग सम्बन्धी जानकारी सारणी में दी गई है।

सिंचाई क्षमता और उसका उपयोग

(लाख हेक्टेयर में)

	प्रथम योजना	दूसरी योजना	तीसरी योजना	चतुर्थ योजना	पाँचवीं योजना	वार्षिक योजना		छठी योजना
	(1951-56)	(1956-61)	(1961-66)	(1969-74)	(1974-78)	(1978-80)	(1982-83)	(1980-85) के लिए प्रस्तावित
क्षमता	122	143	165	207	247	265	291	322
प्रयोग	110	129	152	187	212	223	243	279

सिंचाई की इन सुविधाओं का पूर्ण उपयोग न किये जाने का मुख्य कारण इस प्रकार है—(अ) विभिन्न निर्माण कार्यों का समन्वय न होना। (ब) खेतों में नालियों आदि के निर्माण में देर होना। (स) निर्माण कार्य में फसलों की परिवर्तित रूप-रेखा के सम्बन्ध में सूचना आदि उपलब्ध न कराना। (द) कृषि सम्बन्धी आवश्यक चीजों और साख की पूर्ति के लिए अपर्याप्त व्यवस्था आदि।

2. **क्षार आना एवं फसलों को अधिक पानी देना**—सिंचाई सुविधाओं के होने से कभी-कभी खेत को अधिक पानी लग जाता है जिससे बीज सड़ जाता है व फसल नहीं उग पाती। इसी प्रकार खेत को खाली न छोड़ने से भी खेत की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है जिसे क्षार आना कहते हैं।

3. **सिंचाई की व्यवस्था होने पर भी एक से अधिक फसलें न उगाना**—सिंचाई की व्यवस्था होने पर भी दो अथवा तीन फसलें न उगाना साधनों का दुरुपयोग है। **पी० आर० राव तथा बालेश्वर नाथ** की खोज के अनुसार अनेक राज्यों में, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नहीं है उन स्थानों की तुलना में अधिक फसलें उत्पन्न की जाती हैं जहाँ पर सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं।

4. **सिंचाई की बढ़ती हुई लागत**—सिंचाई के साधनों के विकास पर विचार करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि सिंचाई की व्यवस्था की लागत क्या है और उससे कितना लाभ मिलने की संभावना है ? भारत में वृहद् और मध्यम श्रेणी की परियोजनाओं द्वारा सिंचाई-संभाव्य उत्पन्न की प्रति एकड़ लागत में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं, जैसे—(अ) अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण सिंचाई परियोजना की लागत बढ़ती जा रही है। (ब) बहुधा सिंचाई परियोजनाओं के लिए उपयुक्त स्थानों का चयन नहीं किया गया है जिसके कारण भी लागत में वृद्धि हुई है। (स) प्रशासनिक अकुशलता के कारण भी लागत बढ़ रही है।

5. **चालू व्यय में वृद्धि**—न केवल सिंचाई योजनाओं को पूरा करने की लागत बढ़ रही है, बल्कि इनके पूरा हो जाने के बाद इन पर किये जाने वाले चालू व्यय भी निरन्तर बढ़ रहे हैं। इसका यह फल हुआ है कि सिंचाई परियोजनाओं से सरकार को हानि हो रही है।

यद्यपि यह सत्य है कि सिंचाई परियोजनाओं का मूल्यांकन हम इनसे सरकार को होने वाले लाभ या हानि के आधार पर नहीं कर सकते, क्योंकि इनका महत्त्व तो शुद्ध सामाजिक लाभ द्वारा निश्चित होता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि सिंचाई परियोजनाओं से हानि होने पर सरकार की अधिक विनियोग करने की शक्ति कम हो जाती है। अतः इस हानि को पूरा करने के लिए पानी की दरों में संशोधन और कृषकों पर सुधार कर लगाया जा सकता है।

6. **जलरोध** (Water-Logging)—जब सिंचाई नहरें जल-निकास नहरों (Drainage canals) को काटती हैं, तो वर्षा और बाढ़ का जल रुक जाता है, जिससे भूमि जलग्रस्त हो जाती है। कई बार साधारण तौर पर होने वाली वर्षा और समय के कारण सिंचित क्षेत्र में पानी की पूर्ति की मात्रा बढ़ जाती है और भूमि लम्बे समय तक जलमग्न रहती है। अति सिंचन (Over-irrigation) जिनका आजकल बहुत प्रचलन होता जा रहा है, अवरोध का एक कारण है।

7. **अव्यवस्थित सुविधाएँ**—नहरों व अन्य सिंचाई योजनाओं से जो पानी खेतों को दिया जाता है वह उचित समय पर नहीं मिल पाता है, बल्कि कभी समय से पूर्व तो कभी बाद में। इससे किसान उचित लाभ नहीं उठा पाता।

भारत में सिंचाई की उन्नति के सुझाव

1. **राशि का पूर्ण उपयोग**—सरकार द्वारा सिंचाई योजनाओं पर व्यय की जाने वाली राशि का पूर्ण उपयोग होना चाहिए।

2. **उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग**—देश के विभिन्न भागों में सिंचाई के साधनों का पूर्ण उपयोग तथा विकास करना चाहिए।

3. **सरकारी समितियों की स्थापना**—कृषि क्षेत्रों में सहकारी समितियों की स्थापना करनी चाहिए, जो ट्रैक्टर, उत्तम बीज, श्रेष्ठ किस्म की खाद तथा ट्यूबवेल व पम्पिग सेट आदि का प्रबन्ध करें।

4. **आर्थिक सहायता**—सरकार की छोटी योजनाओं को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

5. **प्रचार एवं प्रसार**—ऐसे क्षेत्रों में जहाँ कि निकट भविष्य में नहरों का निर्माण सम्भव नहीं है, ट्यूबवेल व पम्पिग-सेट लगाने के लिए प्रचार एवं प्रसार किया जाना चाहिए।

6. **सिंचाई योजनाओं का समन्वय**—सिंचाई की जो भी योजनाएँ बनाई जायँ, उनमें यह ध्यान रखना चाहिये कि बड़ी, मध्यम एवं छोटी योजनाओं में आवश्यक समन्वय रखा जाना चाहिये अथवा सिंचाई का समुचित विकास नहीं हो सकेगा।

7. **अनुसंधान कार्य**—देश में सिंचाई से सम्बन्धित अनुसन्धान कार्य अनवरत होना चाहिए।

8. **नवीन योजनाओं का उद्देश्य**—राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए नवीन योजनाओं का निर्माण किया जाना चाहिए। इन योजनाओं का एकमात्र उद्देश्य खाद्यान्नों के उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि करना होना चाहिए।

9. **अपूर्ण योजनाओं की प्राथमिकता**—अपूर्ण योजनाओं को पूर्ण करने को प्राथमिकता देनी चाहिए। इससे विनियोग की गई पूँजी का उपयोग तथा लाभ की प्राप्ति होने लगेगी।

नवीन २० सूत्री कार्यक्रम में सिंचाई क्षमता में वृद्धि करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है।

परीक्षा-प्रश्न

1. इस विचार की व्याख्या और जाँच करें कि "जल स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान है।" भारत की मुख्य सिंचाई तथा जल विद्युत योजनाओं की प्रगति का वर्णन कीजिए।

अथवा

भारतीय कृषि के लिए सिंचाई के साधनों का महत्त्व बताइए। भारत में सिंचाई के लिए कौन-कौन से साधन प्रचलित हैं? उनके विकास के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं?

अथवा

भारतीय कृषि के विकास में सिंचाई के महत्त्व की व्याख्या कीजिए। सरकार द्वारा इनके प्रयास के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?

अथवा

भारत में सिंचाई की कौन-सी मुख्य प्रणालियाँ हैं ? पिछले दस वर्षों में देश के अन्दर सिंचाई सुविधाएँ बढ़ाने के लिये किये गये प्रयत्नों की परीक्षा कीजिए।

अथवा

भारत में नियोजन काल में सिंचाई के सुधार के सम्बन्ध में किये गये प्रयत्नों का विश्लेषण कीजिये।

अथवा

भारत में सिंचाई के विभिन्न साधनों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और उनमें से प्रत्येक के पक्ष और विपक्ष में तर्कयुक्त विवेचना कीजिये।

[संकेत—इसमें सिंचाई का महत्त्व दीजिए तथा सरकारी प्रयासों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।]

2. "पर्याप्त सिंचाई सुविधाओं के अभाव में कृषि उत्पादन में वृद्धि की आशा करना कुछ नहीं, परन्तु भारतीय कृषि समस्याओं की पुनरावृत्ति से अनभिज्ञ रहने का प्रदर्शन मात्र था। कृषि उन्नति के अन्य समस्त दूसरे उपायों के विषय में बाद में विचार किया जाना चाहिए न कि सिंचाई के पूर्व।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में सिंचाई का महत्त्व और उनकी आवश्यकता का वर्णन करना है।]

3. "यदि मानसून न आये तो कृषि उद्योग में ताला पड़ जाता है।" इस तथ्य का विवेचन कर कृषि में सिंचाई का महत्त्व समझाइये।

[संकेत—इस प्रश्न में कृषि के महत्त्व का वर्णन करना है।]

———

19

भारत में बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाएं

(River-Valley Projects of India)

अर्थ—'बहुद्देशीय योजनाएँ' शब्द-समूह तीन शब्दों से मिलकर बना है—'बहु' + 'उद्देशीय' + 'योजना' जिसका कि शाब्दिक अर्थ है "ऐसी योजना जिसके अनेक उद्देश्य हों।" इस प्रकार जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसके अन्तर्गत केवल एक ही उद्देश्य नहीं होता, बल्कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति इन योजनाओं के द्वारा होती है। इन योजनाओं से जल-विद्युत् का निर्माण तथा पर्याप्त सिंचाई की व्यवस्था तो की ही जाती है, साथ ही बाढ़ नियन्त्रण, मछली क्षेत्रों का विस्तार, यातायात विकास, वन क्षेत्रों की वृद्धि तथा मनोरंजन आदि की भी व्यवस्था की जाती है।

बहुउद्देशीय परियोजनाओं के उद्देश्य—भारत में जलराशि का उपयोग करने के लिए ही बहुउद्देशीय परियोजनाओं को अपनाया गया। इन परियोजनाओं के निम्न उद्देश्य हैं—

1. विद्युत शक्ति में तीव्र वृद्धि और औद्योगीकरण, 2. बाढ़ नियंत्रण और बीमारियों की रोकथाम में सहायता, 3. सिंचाई और भूमि का वैज्ञानिक उपयोग एवं प्रबन्ध, 4. मत्स्य पालन उद्योग का विकास तथा कृत्रिम झीलों में आमोद-प्रमोद के साधन उपस्थित करना, 5. पशु-सम्पत्ति के लिए चारे की व्यवस्था, 6. वनों की रक्षा, वृक्षारोपण एवं इंधन का प्रबन्ध, 7. दुर्भिक्ष और सूखे आदि से मुक्ति दिलाना, 8. भूमि का कटाव रोक कर उसे कृषि योग्य बनाना और 9. जलमार्गों का विकास तथा क्षेत्रीय आर्थिक प्रगति, 10. घरेलू कार्यों के लिए जल व्यवस्था, 11. उस सम्पूर्ण घाटी क्षेत्र के निवासियों और साधनों का समुचित उपयोग करना।

बहुउद्देशीय योजनाओं से भारतीय अर्थव्यवस्था का लाभ—बहुउद्देशीय योजनायें देश के लिए बड़ी हितकर हैं। इसीलिए इन योजनाओं को 'समृद्धि की योजनाएँ' कहा जाता है। अतः इन योजनाओं को जितनी जल्दी हो सके पूरा किया जाना चाहिए। संक्षेप में इन योजनाओं के पूरा होने से भारतीय अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित लाभ होंगे—

1. सिंचाई सुविधाएं—सिंचाई के साधनों में वृद्धि होगी। फलस्वरूप खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ेगा और देश की खाद्यान्न समस्या का समाधान होगा।

2. **बाढ़ नियंत्रण**—भारत में बाढ़ को नियन्त्रित करने की यह उत्तम पद्धति है। किसी अन्य उपाय से बाढ़ की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है।

3. **जल विद्युत शक्ति**—ग्रामीण क्षेत्रों में बिजली प्राप्त होगी। फलस्वरूप कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास होगा। अतः ग्रामीणों की स्थिति में सुधार होगा।

4. **मछली उद्योग का विकास**—नदी घाटी योजनाओं से निर्मित झीलों में मत्स्य उद्योग की प्रगति के परिणामस्वरूप भोज्य पदार्थों में मूल्यवान तथा पौष्टिक पदार्थों की वृद्धि होगी तथा खाद्य समस्या का पूरक हल भी हो सकेगा। मत्स्य उद्योग अनेक व्यक्तियों को रोजगार दिलाने में भी समर्थ है।

5. **आन्तरिक्त जल यातायात**—नौका-चालन की सुविधा में वृद्धि होगी। फलस्वरूप आन्तरिक व्यापार एवं आवागमन की सुविधा में वृद्धि होगी तथा रेलवे पर ट्राफिक का भार कम हो जाएगा।

6. **रोजगार में वृद्धि**—इन प्रायोजनाओं में काम चलने पर इनसे लोगों की आय में वृद्धि होगी तथा प्रायोजना पूर्ण हो जाने पर आवश्यक कर्मचारियों के काम करते रहने के रूप में रोजगार प्राप्त होगा।

7. **वन आन्दोलन को प्रोत्साहन तथा चरागाह का विकास**—नदी घाटी योजनाओं से वनारोपण कार्यक्रम में प्रगति होगी जिसमें भूमि की उत्पादन क्षमता बढ़ जायेगी। चरागाहों का विस्तार होने से पशु उद्योग का विकास होगा।

8. **आय का स्रोत**—नदी घाटी योजनाओं के अन्तर्गत निर्मित बाँध सौन्दर्य स्थलों में परिणत हो जायेंगे। प्राकृतिक दृश्यों की छटा से परिपूर्ण मनोरंजन के ये स्थल पर्यटकों को आकर्षित कर आय की वृद्धि में सहायक सिद्ध होंगे तथा पर्यटक यातायात को प्रोत्साहन मिलेगा। श्री नेहरू का यह कथन उल्लेखनीय है—"वे वस्तुतः देश के नये तीर्थ बन गये हैं, जिन्हें भारतीय श्रद्धा के साथ तथा विदेशी पर्यटक आश्चर्य के साथ देखते हैं।"

9. **भू-संरक्षण**—इन प्रायोजनाओं के अन्तर्गत वर्षा ऋतु में नदियों का पानी एक बहुत बड़ी मात्रा में जलाशयों या झीलों में एकत्रित कर लिया जाता है। अतः पानी का वेग कम होने से भूमि का कटाव कम हो जाता है।

10. **देश में कुटीर-उद्योग-धन्धों एवं अन्य उद्योगों का विकास**—इन परियोजनाओं के कारण देश में सस्ती चालक शक्ति प्राप्त होने लगती है जिससे कुटीर-उद्योग व अन्य उद्योग विकसित होने लगते हैं।

प्रमुख बहुउद्देशीय घाटी योजनाएँ

1. दामोदर घाटी योजना
(Damodar Valley Project)

परिचय—दामोदर नदी हुगली नदी की सहायक नदी है। यह नदी छोटा नागपुर के पठार से निकल कर बिहार में बहते हुए पश्चिमी बंगाल में हुगली नदी में

मिल जाती है। इस नदी की बाढ़ को रोकने के लिए दामोदर घाटी की योजना बनाई गई है। इस योजना को अमेरिका की 'टेनेसी योजना' के आधार पर बनाया गया है।

2. **प्रबन्ध**—इस योजना का प्रबन्ध **'दामोदर घाटी कारपोरेशन'** के अन्तर्गत किया जाता है। इसकी स्थापना 1948 में हुई।

3. **व्यय**—इस योजना पर 170 करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान है।

4. **दामोदर घाटी योजना के उद्देश्य**—इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(i) इस योजना से लगभग 1181 मेगावाट बिजली का उत्पादन होगा जिससे 800 कि० मी० दूरी वाले स्थानों पर बिजली की सुविधा प्रदान की जायेगी।

(ii) सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मिलने से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि होगी।

(iii) इस योजना के द्वारा उद्योग धन्धों को विद्युत शक्ति प्रदान की जाएगी तथा नये-नये कारखाने स्थापित किए जायेंगे।

(vi) लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धे भी जल-विद्युत की सहायता से विकास कर सकेंगे।

(v) नदियों पर बाँध बनाकर बाढ़ पर नियन्त्रण रखा जायेगा।

(vi) इस योजना के अन्तर्गत दलदलों को सुखाकर मलेरिया नियन्त्रण किया जाएगा।

(vii) नदियों पर बाँध बनाकर जलाशय का निर्माण कर नौका-विहार आदि मनोरंजन की व्यवस्था की जायेगी।

(viii) इस योजना के अन्तर्गत 8 बड़े और छोटे बाँधों का निर्माण होगा तथा उन जलाशयों में मछलियों के विकास का प्रोत्साहन दिया जायेगा।

प्रगति

(i) दुर्गापुर में 672 मीटर लम्बा और 11·58 मीटर ऊँचा बराज तथा 2,495 किलोमीटर सिंचाई वाली लम्बी नहरें भी बन चुकी हैं।

(ii) बोकारो, चन्दपुरा तथा दुर्गापुर में तीन ताप बिजली घर भी चालू किये जा चुके हैं।

(iii) इसे परियोजना से लगभग 5·15 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई हो सकती है।

(iv) विद्युत उत्पादन की कुल क्षमता 1,181 मेगावाट है, जिसमें से 1,077 मेगावाट तापीय और 104 मेगावाट जल विद्युत है।

(v) 1981-82 के अन्त में 475 लाख हेक्टेयर की सिंचाई क्षमता प्राप्त की जा चुकी है।

दामोदर घाटी योजना निर्माण हो जाने के पश्चात् सम्भावित लाभ

इस योजना के निर्माण हो जाने के पश्चात् निम्नलिखित लाभ होंगे—

(क) खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि—इस योजना के निर्मित हो जाने पर सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ मिल सकेंगी जिसके फलस्वरूप कृषि की उपजों के उत्पादन में वृद्धि होगी।

(ख) औद्योगिक विकास—इस योजना के पूर्ण हो जाने पर उस क्षेत्र का उचित औद्योगिक विकास होगा।

(ग) खनिज की प्राप्ति—दामोदर नदी के बेसिन में बड़ी मात्रा में क्रोमाइट अभ्रक, मैंगनीज, बाक्साइट, चूना, कोयला तथा लोहे के भण्डार हैं। किन्तु विद्युत शक्ति के अभाव के कारण इनका उचित उपयोग नहीं हो सका है।

2. भाखड़ा-नागल परियोजना
(Bhakhra-Nangal Project)

1. परिचय—पंजाब में सतलज नदी पर भाखड़ा व नांगल स्थानों पर दो बांध बनाये गये हैं। भाखड़ा संसार का सबके ऊँचा बाँध है। इसकी ऊँचाई 226 मी॰ है।

1. व्यय व योजना—इस योजना के निर्माण पर 236 करोड़ रुपये व्यय हुए। इस परियोजना के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें मुख्य हैं—

2. भाखड़ा बाँध भाखड़ा नामक स्थान पर सतलज नदी के आर-पार बनाया गया है जो नदी के तल से 226 मी॰ ऊँचा और 518 मीटर लम्बा है।

2. भाखड़ा नहर प्रणाली के अन्तर्गत 173 किलोमीटर लम्बी भाखड़ा की मुख्य नहर, बिस्त दोआब नहर, सरहिन्द नहर और नरवाना नहर है।

3. नांगल बाँध—भाखड़ा से 13 कि॰ मी॰ नीचे की ओर है। यह 29 मीटर ऊँचा और 395 मी॰ लम्बा तथा 121 मीटर चौड़ा है। इस बाँध में लगभग 32 हजार एकड़ फीट जल जमा होता है।

4. नांगल जल विद्युत नहर नांगल बाँध के बाँयें किनारे से निकाली गई है जो लगभग 64 कि॰ मी॰ लम्बी और 8 मीटर गहरी है।

5. शक्तिगृह—नांगल जल विद्युत नहर पर तीन शक्तिगृह बनाने की योजना है जिनमें दो शक्तिग्रह बाँध से 20 कि॰ मी॰ और 28 कि॰ मी॰ नीचे गंगूवाल और कोटला में बनाये गये हैं। इन शक्तिग्रहों से 1,204 मेगावाट शक्ति तैयार होती है। तीसरा शक्तिग्रह रोपड़ के निकट बनाया गया है।

6. शक्ति पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और दिल्ली राज्यों के उद्योगों और सड़कों पर प्रकाश के लिए उपयोग में आ रही है।

योजना के उद्देश्य व लाभ

(1) सतलज और यमुना के मध्यवर्ती भाग की सिंचाई करना, (2) सरहिन्द नहर में जाल बनाकर उसके सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि करना, (3) गंगा नहर द्वारा राजस्थान में सिंचाई के लिए जल पहुँचाना; (4) जल से लगभग 12 किलोवाट

विद्युत शक्ति उत्पन्न करना, (5) वर्तमान समय में इस योजना से 14·6 लाख हेक्टर भूमि की सिंचाई हो रही है।

3. हीराकुण्ड परियोजना
(Hirakund Dam Project)

परिचय—महानदी मध्य प्रदेश के रायपुर जिले से निकल कर उड़ीसा राज्य में बहती हुई बङ्गाल की खाड़ी में गिरती है।

योजना—(क) सर्वप्रथम सन् 1948 में हीराकुण्ड बाँध के निर्माण का कार्य शुरू किया गया। (ख) 4,810·2 मीटर लम्बा हीराकुण्ड बाँध (उडीसा) संसार का सबसे लम्बा बाँध है। इसको दो चरणों में पूरा किया गया है। (ग) प्रथम चरण में उड़ीसा से सम्बलपुर तथा बलांगीर जिलों के 2·55 लाख हेक्टेयर क्षेत्र की सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हुई हैं। इसी चरण की एक सहायक योजना के रूप में महानदी डेल्टा योजना क्रियान्वित की जा रही है जिसके पूरा होने पर कटक और पुरी में 6·81 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में सिंचाई सुविधा प्रदान की जा सकेगी। (घ) वर्तमान में इस परियोजना की विद्युत उत्पादन क्षमता 270·2 मैगावाट है। इससे प्राप्त विद्युत का उपयोग हीराकुण्ड राजगंगपुर, रूरकेला, जोदा, बृजराजनगर, आदि औद्योगिक नगरों तथा पुरी, सम्भलपुर, सुन्दरगढ़, बरगढ़ और कटक नगरों में किया जाता है।

उद्देश्य व लाभ

1. इस योजना के अन्तर्गत 2·54 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी।
2. इस योजना में महानदी की बाढ़ों की समस्या को हल किया जा सकेगा।
3. इस योजना के अन्तर्गत दो बड़े-बड़े शक्तिग्रह निर्मित किये जायेंगे जिनसे 3 लाख 50 हजार किलोवाट बिजली उत्पादन किया जायेगा।
4. इससे प्राप्त विद्युत का उपयोग हीराकुण्ड राजगंगपुर, रूरकेला, जोदा, बृजराजनगर आदि औद्योगिक नगरों तथा पुरी-सम्भलपुर में किया जायेगा।

कोसी परियोजना (बिहार)
(Kosi Project)

परिचय—कोसी नदी हिमालय से निकलती है तथा मुंगेर जिले (बिहार) में गङ्गा नदी में मिल जाती है। बिहार में प्रतिवर्ष कोसी नदी की बाढ़ से बड़ी धन-जन की हानि होती है।

व्यय—इस परियोजना के अन्तर्गत 85·34 करोड़ रुपये के व्यय से तीन इकाइयों पर कार्य पूरा करना है; (i) नेपाल में हनुमान सागर के निकट एक अवरोधक बाँध, (ii) लगभग 240 कि० मी० लम्बा बाँध बाढ़ों को रोकने के लिए और (iii) पूर्वी कोसी नहर का निर्माण करना।

योजना के उद्देश्य व लाभ—इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(i) इस योजना के अन्तर्गत 18 लाख किलोवाट बिजली उत्पादित की जायेगी।

(ii) कोसी नदी की बाढ़ की समस्या को हल किया जा सकेगा।

(iii) इस परियोजना के द्वितीय चरण में कोसी बिजलीघर पश्चिमी कोसी नहर के निर्माण तथा राजगंगपुर नहर के पूर्वी तथा पश्चिमी तटबन्धों के विस्तार की व्यवस्था की गई है।

(iv) पश्चिमी कोसी नहर से बिहार के दरभंगा जिले में 3012 लाख हेक्टेयर तथा नैपाल के सप्तारी जिले में 12।20 हेक्टेयर सिंचाई होगी।

5. नागार्जुन सागर परियोजना (आन्ध्र प्रदेश)

परिचय—आन्ध्र प्रदेश में नागार्जुन सागर योजना कृष्णा नदी पर नदी कोंडा गाँव के पास बनाया गया है। यह 1400 मीटर लम्बा 130 मीटर ऊँचा बाँध है।

व्यय—इस योजना पर लगभग 165 करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है।

उद्देश्य—इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

(क) इस योजना के द्वारा अकालों पर नियन्त्रण रखा जा सकेगा।

(ख) इस योजना से 75,000 किलोवाट बिजली प्राप्त होगी।

(ग) इस योजना से 14 लाख टन खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि होगी।

(घ) इस योजना के द्वारा हैदराबाद तथा आंध्र प्रदेश में 8·3 लाख हेक्टेयर भूमि की सिंचाई होगी।

6. रिहन्द बाँध या गोविन्दबल्लभ सागर परियोजना

परिचय—यह उत्तर प्रदेश की सबसे महत्त्वपूर्ण योजना है। इसके अन्तर्गत मिर्जापुर जिले में पीपरी नामक ग्राम के पास रिहन्द नदी पर एक 939 मीटर लम्बा और 91·6 मीटर ऊँचा बाँध बनाया गया है।

2. **व्यय**—इस योजना पर 31·5 करोड़ रुपये अनुमानित व्यय किए गए हैं। इसके अतिरिक्त इस योजना के लिए 1 करोड़ 10 लाख डालर का समझौता '**भारत अमेरिका टेक्नीकल कारपोरेशन एग्रीमेंट**' के अन्तर्गत हो चुका है।

3. **योजना के उद्देश्य**—(1) इससे उत्तर प्रदेश के 16 पूर्वी जिलों में 4,000 नलकूपों को विद्युत प्रदान की जायेगी।

(2) इस योजना के द्वारा बिजली वाराणसी से लेकर कानपुर तक के औद्योगिक केन्द्रों को पहुँचायी जाएगी।

(3) रिहन्द नदी की बाढ़ पर नियन्त्रण किया जा सके।

(4) इसके अन्तर्गत मछलियों का विकास किया जावेगा।

(5) नौका-विहार आदि मनोरञ्जन सुविधायें उपलब्ध होंगी।

(6) रेलों को जल विद्युत सुविधायें दी जाएँगी।

(7) इस योजना के अन्तर्गत 1,70,000 किलोवाट बिजली के उत्पादन का 1970 तक का अनुमान है ।

(7) चम्बल परियोजना
(Chambal Project)

1. **परिचय**—मध्य प्रदेश तथा राजस्थान की यह सम्मिलित योजना है । चम्बल नदी मध्यप्रदेश में विन्ध्याचल पर्वत श्रेणी से निकलकर राजस्थान होती हुई उत्तर प्रदेश में यमुना नदी में मिल जाती है । इसके अन्तर्गत 5 शक्तिग्रह 1 सिंचाई अवरोधक बनाने की योजना है ।

2. **उद्देश्य**—(क) इस योजना के द्वारा मध्यप्रदेश और राजस्थान राज्यों को औद्योगिक सहायता पहुँचाना है ।

(ख) इसका प्रमुख उद्देश्य सिंचाई सुविधाओं में विस्तार करना है ।

(ग) खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि करना इस योजना का प्रमुख लक्ष्य है ।

3. **योजना**—इस योजना के अन्तर्गत तीन बाँध बनाये जा रहे हैं—

(i) गाँधी सागर बाँध—मध्यप्रदेश के मन्दसौर जिले में चौरासीगढ़ के निकट 533 मीटर लम्बा तथा 61 मीटर ऊँचा एक बाँध बनाया गया है । इस बाँध से 115 मेगावाट क्षमता वाले विद्युत गृह का निर्माण किया गया ।

(ii) राणाप्रताप सागर बाँध—राजस्थान में रावतभाटा के निकट यह बाँध बनाया गया है । इससे 172 मेगावाट का बिजलीघर स्थापित किया गया है ।

(iii) कोटा बाँध—राजस्थान के कोटा नगर के निकट 548 मीटर लम्बा और 24 मीटर चौड़ा बाँध बनाया गया है । यहाँ शक्तिगृह से 60 हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होगा ।

4. लाभ—(क) इस योजना के अन्तर्गत 21 लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन होगी ।

(ख) इस योजना द्वारा अनेक उद्योग-धन्धों को विद्युत शक्ति प्रदान की जाएगी ।

(ग) सिंचाई सुविधाओं के विकास से खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि होगी ।

(घ) इस योजना से औद्योगिक क्षेत्रों के विकास की पर्याप्त संभावनाएँ हैं ।

परीक्षा प्रश्न

1. बहुउद्देशीय योजनाएँ क्या हैं ? भारत की प्रमुख बहुउद्देशीय योजनाओं का वर्णन कीजिए ।

2. संक्षेप में भारतवर्ष की मुख्य-मुख्य बहुउद्देशीय नदी-घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए । कृषि तथा उद्योगों के विकास में उनके महत्त्व की व्याख्या कीजिए ।

20

कृषि श्रमिक
(Agricultural Labour)

कृषि श्रमिकों की समस्या भारतीय कृषि की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। अतः कृषि सुधार की किसी भी योजना में इनको पर्याप्त महत्व देना आवश्यक है। कृषि सुधार समिति के अनुसार "कृषि सुधार की किसी भी योजना में कृषि श्रमिकों की समस्या को सम्मिलित न करना देश की कृषि व्यवस्था में भयंकर घाव को बिना मरहम-पट्टी के छोड़ देने के समान है।"

कृषि श्रमिकों से आशय

1. **प्रथम कृषि श्रम जाँच समिति**[1] के अनुसार कृषि श्रमिकों का अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो कृषि कार्य में किराये के मजदूर के रूप में कार्य करते हों तथा वर्ष में जितने दिन उन्होंने वास्तव में कार्य किया है उससे आधे से अधिक दिनों में उन्होंने कृषि में ही कार्य किया है। कृषि श्रमिक परिवार का तात्पर्य उस परिवार से है जिसकी आधे से अधिक आय कृषि मजदूरी से प्राप्त होती है।

2. **द्वितीय श्रम जाँच समिति**—"कृषि-श्रमिक से आशय उस व्यक्ति से है जो न केवल फसलों के उत्पादन के काम पर रखा गया है बल्कि अन्य कृषि सम्बन्धी धंधों (जैसे बागवानी, पशुपालन, दुग्ध व्यवसाय, मुर्गी पालन आदि) में किराये के मजदूर के रूप में कार्य करता है। कृषि-श्रमिक परिवार से आशय उस परिवार से है जिसकी अधिकांश आय कृषि मजदूरी से प्राप्त होती है।"

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति निम्नलिखित कृषि कार्यों में से किसी एक या अधिक कार्यों को किराये के श्रमिक अथवा विनिमय के आधार पर सम्पन्न करता है और उसे नकद रूप में, किस्म के रूप में, अथवा दोनों रूपों में मजदूरी प्राप्त होती है तो उसे कृषि श्रम कहते हैं—

(i) कृषि जिसमें भूमि की जुताई और खेती सम्मिलित हैं,

(ii) डेरी उद्योग,

(iii) किसी बागवानी की वस्तु का उत्पादन खेती उगाना तथा फसल तैयार करना।

(iv) कृषि कार्य से सम्बन्धित किसी क्रिया को करना तथा कृषि पदार्थ को संगृहीत करने या विक्रय के लिए तैयार करना अथवा विक्रय के लिए बाजार ले जाना एवं,

(v) पशुपालन, मधुमक्खी पालन, अथवा मुर्गी पालन आदि।

कृषि श्रमिक औद्योगिक श्रमिकों से कई दृष्टियों से भिन्न है जैसा कि कृषि श्रमिकों की विशेषताओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा।

कृषि श्रमिकों की विशेषतायें

1. **कृषि श्रमिक असंगठित है**—औद्योगिक श्रमिकों की भाँति कृषि श्रमिक संगठित नहीं होते हैं। इसका मुख्य कारण कृषि कार्य की प्रकृति है। कृषि श्रमिकों को एक दूसरे पर आश्रित रहकर कार्य नहीं करना पड़ता कृषकों में परस्पर उपयोगी संगठत स्थापित नहीं हो पाता।

1. **कृषि श्रमिक भ्रमणशील** होते हैं—कृषि श्रमिकों की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे एक ही स्थान या खेत पर ही वर्ष भर कार्य नहीं करते। इसका कारण कृषि क्रियाओं की मौसमी प्रकृति है। भारतवर्ष में कृषि कार्य 6 से 7 महीने तक ही रहता है। वर्ष के शेष अवधि में जीविकोपार्जन के लिए कृषि श्रमिकों को अन्य स्थानों पर जाना पड़ता है।

3. **कृषि श्रमिक अकुशल होता है**—कृषि श्रमिक मौलिक रूप से अकुशल होता है वह खेती के कार्य में भी कुशल नहीं होता है जो कि उसका प्रमुख व्यवसाय है।

4. **कम मजदूरी**—चूंकि कृषि श्रमिक अकुशल होते हैं इसलिए उनकी पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है। उत्पादक इस स्थिति का लाभ उठाकर श्रमिकों को कम मजदूरी देने में सफल हो जाते हैं।

5. **सेवायोजक और कृषि श्रमिक में अन्तर नाम मात्र का होता**—कृषि श्रमिक का सेवायोजक साधन सम्पन्न व्यक्ति नहीं होता कुछ स्थितियों में तो एक छोटा किसान दूसरे छोटे किसान को रोजगार देता है ऐसी अवस्था में सेवायोजक और श्रमिक के बीच प्रत्यक्ष निकटवर्ती सम्बन्ध होता है।

6. **कृषि कार्य के लिए कानून का अभाव**—कृषि कार्य के लिए कोई नियमावली और निश्चित समयावधि नहीं होती। उत्पादक कृषि श्रमिकों को उपयुक्त कार्य की दशाओं का आश्वासन भी नहीं दे सकता कारण यह है कि कृषि कार्य प्रकृति पर निर्भर करता है। कई बार तो कड़ी धूप वर्षा व सर्दी में भी कृषि श्रमिकों को कार्य करना पड़ता है यद्यपि कृषि श्रम पर न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू करने का प्रयास किया गया है परन्तु उत्पादक इन अधिनियमों की उपेक्षा करने में आसानी से सफल हो जाते हैं।

स्पष्टत: कृषि श्रमिक असंगठित और अकुशल होता है उसकी पूर्ति लोचदार होने के कारण सौजाबाजी करने की शक्ति बहुत कमजोर होती है फलत: उसकी मजदूरी भी कम होती है।

भारत में कृषि श्रम का विकास

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि मजदूरों की संख्या बहुत कम थी, परन्तु गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ इनकी संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। सन् 1981 व 1921 के बीच खेतिहर मजदूरों 'की संख्या 75 लाख से बढ़कर 2·16 करोड़ हो गई। 1951 में कृषि श्रमिकों की संख्या 28 मिलियन थी जो सन् 1961 में 31.5 मिलियन हो गई। 1971 की जनगणना में 1981 की जनगणना के अनुसार कृषि मजदूरों की संख्या 4·75 करोड़ से बढ़कर 5·94 करोड़ हो गई है।

भारत में भूमिहीन श्रमिकों की वृद्धि

	भूमिहीन श्रमिक (लाखों में)	कुल ग्राम श्रम-शक्ति (लाखों में)	1, 2 के प्रतिशत के रूप में
1964-65	310	1,740	17·8
1974-75	460	2,040	22·6
1977-78	530	2,230	22·8
1981	594	2,260	25·2

भारतीय कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के कारण

विगत वर्षों में भारत में कृषि श्रमिकों की संख्या निरन्तर वृद्धि हुई है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(1) **कुटीर उद्योगों का पतन**—कुटीर उद्योग-धन्धों के पतन के कारण बहुत से कारीगर बेरोजगार हो गये और उन उद्योगों से बेकार हुए श्रमिक कृषि कार्य करने लगे। डा० बुचेन का कथन है कि उनके स्वयं के रोजगार नष्ट हो चुके थे। आधुनिक उद्योगों का उस समय (19वीं शताब्दी में) विकास नहीं हुआ था, जबकि उनके पास इतने साधन नहीं थे कि वे खेत लेकर उसे जोतने की व्यवस्था कर पाते। किन्हीं कारणों से उन्हें कृषि श्रमिक बनने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था।

(2) **कृषि पर जनसंख्या का दबाव**—भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता जा रहा है, परन्तु दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था होने के कारण भूमि का केन्द्रीयकरण कुछ ही हाथों में होता रहा और कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती गयी।

(3) **खेतों का छोटा आकार**—भारतीय कृषि की एक विशेषता यह है कि यहाँ अधिकांश खेत छोटे आकार के होते हैं। खेतों के छोटे होने के कारण कृषक को पर्याप्त आय नहीं हो पाती फलत: उसे अपने खेत के अतिरिक्त दूसरे खेतों पर मजदूरी पर कार्य करना होता है।

(4) **ऋणग्रस्तता**—भारतीय कृषकों की एक महत्त्वपूर्ण समस्या ऋणग्रस्तता रही है। ये अधिकांश ऋण साहूकारों से लेते हैं जिनकी ब्याज की दर इतनी अधिक

होती है कि कृषकों को अपनी जमीन मूलधन और ब्याज के भुगतान में बेचनी पड़ती है। इस परिस्थिति के कारण भी कृषि श्रमिकों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

(5) **बेरोजगारी की मजबूरी में कृषि कार्य**—भारत में बेरोजगारी की समस्या ने विस्फोटक रूप ले लिया है, फलतः व्यक्तियों को सरलता से रोजगार नहीं मिल पाता। ऐसी परिस्थिति में बेरोजगार व्यक्ति मजबूरी में कृषि कार्य करने को तैयार हो जाता है और फलतः कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती रही है।

(6) **सरकारी फार्मों पर खेती**—भारत में योजना अवधि में सरकारी फार्मों (खेतों) की संख्या में वृद्धि हुई है। इन फार्मों में भी काफी संख्या में लोगों को रोजगार मिलता है।

(7) **दूषित भूमि व्यवस्था**—डा० देसाई ने लिखा कि अंग्रेजों द्वारा लागू की गई भूमि व्यवस्था भी किसी सीमा तक भूमिहीन किसानों की संख्या में वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी थी। इसके कुछ ऐसे व्यक्ति भी जैसे—जमींदार जागीरदार व रिसालदार आदि होते हैं जो किसानों पर मनमाना अत्याचार करते थे जिसके कारण बहुत से किसान गाँव छोड़कर दूसरी जगह चले जाते थे और वहाँ मजदूरी करना प्रारम्भ कर देते थे।

(8) **कृषि में अनिश्चितता की स्थिति**—भारत की कृषि हमेशा प्राकृतिक दशाओं पर आश्रित रहती है। मानसून की अनिश्चितता के कारण फसल नष्ट हो जाती है जिससे उसकी हानि होती है। जोत का आधार छोटा होने से दशा और गम्भीर हो जाती है। एक तरफ किसान ऋणी हो जाता है और दूसरी ओर उसे अपनी भूमि पर साल भर काम नहीं मिलता जिससे किसान की आर्थिक स्थिति सुधर सके। अतः किसान मजदूरी करके अपनी जीविका चलाने को बाध्य हो जाता है।

कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशाएँ—कृषि श्रम की आर्थिक दशाओं का ज्ञान विभिन्न तथ्यों की जानकारी से हो सकता है, इसमें से कुछ प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं :—

1. **परिवार का आकार**—कृषि श्रमिकों के परिवार के आकार को मापने के लिए कोई सुव्यवस्थित प्रयत्न नहीं किए गए। डा० एच० लक्ष्मी नारायण ने उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा के तीन गाँवों में कृषि श्रमिकों की बदलती हुई दशाओं का अध्ययन किया। उनके अनुसार उत्तर प्रदेश में कृषि श्रमिकों के परिवार का औसत आकार 1958-59 में 6 था जो कि 1972-73 में घटकर 4·45 रह गया है। पंजाब में यह औसत आकार 1956-57 में 5·34 था जो कि 1971-72 में बढ़कर 8·65 हो गया। हरियाणा में यह आकार 1959-60 में 5·32 था जो कि 1971-72 में 6·48 हो गया। उत्तर प्रदेश में परिवार के औसत आकार में कमी का मुख्य कारण इस क्षेत्र में शिशु मृत्यु दर का ऊँचा स्तर था। ऊँची शिशु मृत्यु दर कृषि श्रमिकों की निर्धनता और पिछड़ेपन का परिचायक है।

2. **शिक्षा**—कृषि श्रमिक परिवारों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सूचना एक स्कूली शिक्षा की प्रगति से प्राप्त होती है। हरियाणा में कृषि करने वाले परिवारों में

4 स्कूल में जाने की उम्रवाली लड़कियों में से एक लड़की ही स्कूल जाती है जबकि मजदूरी करने वाली श्रम परिवार में प्रति 25 स्कूल जाने की उम्रवाली लड़कियों में से केवल एक ही स्कूल जाती है इसी प्रकार पंजाब में कृषक परिवारों के 78% बच्चे स्कूल जाते हैं जबकि श्रम परिवारों में केवल 40% बच्चे ही स्कूल जाते हैं।

यद्यपि कृषि श्रमिक परिवारों में स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है किन्तु इसका कुल साक्षरता की दर पर कोई धनात्मक प्रभाव नहीं पड़ रहा है।

3. ऋणग्रस्तता—पहली जाँच समिति के अनुसार 1950-51 में लगभग 445% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे प्रति परिवार ऋण की औसत मात्रा बढ़कर 105 रुपये थे। दूसरी जाँच समिति के अनुसार 1956-57 में लगभग 64% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे तथा प्रति परिवार ऋण की औसत मात्रा बढ़कर 138 रुपये हो गई। सन् 1964-65 में ऋणग्रस्तता के इस प्रतिशत में कमी हुई है और यह 61% रह गया लेकिन औसत ऋण की मात्रा 138 से बढ़कर 244 रुपये हो गई। सन् 1971-72 में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने अखिल भारतीय ऋण एवं निवेश सर्वे का आयोजन किया जिसके अनुसार 35·33% कृषि परिवार ऋणग्रस्त थे तथा प्रति परिवार औसत ऋण की मात्रा 161·96 रुपये थी।

उपर्युक्त सर्वेक्षण में यह भी बताया गया है कि अब भी बहुत से कृषि परिवार देशी महाजनों के चंगुल में फँसे हुए हैं यद्यपि 1960 के बाद से संस्थागत साख एजेन्सियों के द्वारा पर्याप्त मात्रा में कृषि साख की व्यवस्था की गई है।

4. रोजगार एवं बेरोजगारी—भारतीय कृषि मौसम पर निर्भर करती है अतः फसल की कटाई के दिनों में ही श्रमिकों की आवश्यकता होती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कृषि श्रमिक वर्ष में 4-5 महीनों तक बेकार रहते हैं। प्रथम कृषि आयोग (1950-51) के अनुसार पुरुष श्रमिकों को वर्ष में केवल 200 दिन मजदूरी पर काम मिलता था। द्वितीय कृषि आयोग (1956-57) की जाँच के अनुसार पुरुष श्रमिकों को वर्ष में केवल 197 दिन मजदूरी पर कार्य मिलता था। ग्रामीण जांच समिति (1963-64) के अनुसार एक पुरुष कृषि श्रमिक को एक वर्ष में 240 दिन तथा स्त्री श्रमिकों को 159 दिन रोजगार प्राप्त होता है। योजना आयोग के अनुसार प्रायः 16% व्यक्तियों को पूरे वर्ष भर कोई कार्य नहीं मिलता।

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि मजदूर को एक वर्ष में लगभग 4 महीने बेरोजगार रहना पड़ता है। इस अवधि में उसे ग्रामीण जीवन की सभी बुराइयों का सामना करना पड़ता है।

5. कार्य करने का समय एवं दशाएँ—कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार "कार्य के घण्टे में कोई नियमितता नहीं थी और यह श्रमिकों और सेवायोजकों के मध्य सहयोग, विश्वास तथा स्थानीय रीति-रिवाजों पर निर्भर करती थी फसल की कटाई और सफाई के समय अनियमित कृषि श्रमिकों को प्रतिदिन 10-11 घण्टे कार्य करना पड़ता था। स्पष्ट है कि कृषि श्रमिक की कार्य करने की दशाएँ प्रकृति पर

निर्भर करती है चूंकि कृषि श्रमिक खुले हुए वातावरण में कार्य करते हैं इसलिए उन्हें गर्मी और वर्षा दोनों में ही काम करना पड़ता है।''

6. **मजदूरी एवं आय**—प्रथम जांच समिति ने बताया है कि 1950-51 में पुरुष श्रमिक की औसत मजदूरी 1·09 रुपये प्रतिदिन थी। दूसरी जाँच समिति के अनुसार 1956-57 में घटकर 0·90 रुपये प्रतिदिन रह गयी, तथा ग्रामीण जाँच समिति के अनुसार यह 1964-65 में 1·43 रुपये आँकी गई। स्त्री कृषि श्रमिकों के लिए 1950-51 में यह 0·68 रुपये, 1956-57 में 0·59 रुपये और 1964-65 में यह 0·95 रुपये थी, यद्यपि समयावधि 1950-51 से 1964-65 के दौरान पुरुष और स्त्री दोनों ही प्रकार के कृषि श्रमिकों की मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि हुई है लेकिन कीमतों में वृद्धि होने के कारण 1964-65 में वास्तविक मजदूरी 1950-51 की तुलना में कम हो गई।

जहाँ तक कृषि श्रमिकों की आय का प्रश्न है पहली कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार कृषि श्रम की सभी स्रोतों से वार्षिक आय 1950-51 में 447 रुपये थी। दूसरी जाँच समिति के अनुसार कृषि श्रम की वार्षिक आय 1964-68 में 660 रुपये थी इससे श्रमिकों की मौद्रिक आय में वृद्धि का आभास होता है। लेकिन यदि मौद्रिक आय में इस वृद्धि की कीमत वृद्धि के साथ तुलना करें तो विदित होता है कि कृषि श्रम की वास्तविक आय में कोई महत्वपूर्ण वृद्धि नहीं हुई है।

7. **उपभोग व जीवन-स्तर**—एक तो कृषि श्रमिकों की मजदूरी बहुत कम होती है। दूसरे ये वर्ष में काफी दिन बेकार रहते हैं फलस्वरूप इनकी आय इतनी कम हो जाती है कि इनके न्यूनतम उपयोग का खर्च भी पूरा नहीं हो पाता और विवश होकर उसे उपभोग के लिए भी उधार लेना पड़ता है द्वितीय कृषि श्रम जाँच समिति का अनुमान था कि सन् 1956-57 में प्रति परिवार उपभोग पर वार्षिक व्यय 617 रुपये था तथा परिवार औसत वार्षिक आय 437 रुपये थी इस प्रकार प्रति परिवार औसत घाटा 180 रुपये का था।

कृषि श्रमिकों के उपभोग व्यय में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु भोजन है। कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार ''कृषि परिवार अपने उपभोग व्यय का 8·53% भोजन, 6·3% कपड़ों व जूतों तथा 65% सेवाओं व अन्य कार्यों पर खर्च करते हैं।'' इस उपभोग व्यय के स्वरूप में कृषि श्रमिकों की पिछड़ी हुई दशा एवं बेरोजगारी मिलती है।

कृषि श्रमिकों की समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ
(Problems and Difficulties of Agricultural Labourers)

योजना आयोग ने लिखा है, ''कृषि श्रमिकों की समस्याएँ हमारे लिये एक चुनौती है और इन समस्याओं का समुचित निदान खोजने की जिम्मेदारी संपूर्ण समाज पर है। अर्थात् कृषि श्रमिकों की समस्याओं की ओर हमें तत्काल ध्यान देना चाहिये।'' केन्द्रीय कृषि मंत्रालय द्वारा कृषि-श्रमिकों की समस्याओं के समाधान पर किये गये एक

अध्ययन के ये विचार महत्त्वपूर्ण हैं, "समस्या का समाधान विस्तृत रूप से प्रभावशाली और सुविचारित ढङ्ग से किया जाना चाहिये। ऐसा न करने का परिणाम ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना होगा कि ग्रामीण क्षेत्र का असन्तुष्ट वर्ग मजबूर होकर संगठित होगा और एक दिन विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर देगा।"[1] भारतीय श्रमिकों की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **मौसमी व छिपी बेरोजगारी**—कृषि श्रमिकों को वर्ष पर्यन्त कार्य नहीं मिलता। द्वितीय कृषि जाँच समिति के अनुमान के अनुसार कृषि श्रमिकों को वर्ष भर में केवल 197 दिन ही काम मिलता है और शेष समय वह बेकार रहता है। अन्यत्र रोजगार मिलने की सम्भावनाएँ कम होने से कृषि श्रमिकों का भार आवश्यक रूप से अधिक हो जाता है और कुछ श्रमिक यद्यपि कार्यरत दिखाई देते हैं तथापि कृषि उत्पादन में उनका अंशदान नहीं के बराबर है जिसके फलस्वरूप छिपी बेरोजगारी की समस्या पायी जाती है। भारतीय कृषि श्रमिकों में मौसमी बेरोजगारी, अर्द्ध बेरोजगारी और छिपी हुई बेरोजगारी तीनों ही समस्यायें जटिल रूप में पायी जाती हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अनुमान का प्रयास नेशनल सैम्पल सर्वे (N.S.S.) ने अपने 19वें सत्र में जुलाई 1964 से जून 1975 के मध्य किया। इसका प्रतिवेदन 1970 में प्रकाशित हुआ। उसके अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमशक्ति कुल जनसंख्या की 40·15 प्रतिशत थी जिसमें से 38.4 प्रतिशत लाभप्रद रोजगार में थे, जबकि बेरोजगार रोजगार के लिये उपलब्ध व्यक्ति 1·75 प्रतिशत थे। सप्ताह में 4 दिन या उससे कम तथा एक दिन तक काम करने वाले व्यक्तियों का प्रतिशत कुल जनसंख्या का 10·24 प्रतिशत था।

(2) **भूमिहीनता**—भारत में अधिकांश कृषि श्रमिक भूमिहीन हैं और जिनके पास भूमि है वह प्राय: इतनी कम मात्रा में है कि न तो उन्हें उस पर वर्ष भर कार्य मिल सकता है और न वह आर्थिक इकाई के रूप में जोती जा सकती है।

(3) **अस्थायी श्रमिकों का आधिक्य**—भारत में अधिकांश कृषि श्रमिकों को अस्थायी रूप से ही खेतों पर कार्य मिलता है और भारत में अस्थायी कृषि श्रमिकों का ही आधिक्य है; 1970-71 में लगभग 70 प्रतिशत कृषि श्रमिक अस्थायी थे। अस्थायी होने से उनकी दशा दयनीय है।

(4) **कार्य के अनियमित घण्टे**—कृषि श्रमिकों के कार्य के घण्टे भिन्न-भिन्न स्थान, ऋतु और फसलों के लिए एक से नहीं हैं। वैसे तो कृषि मजदूरों को वर्ष भर काम नहीं मिलता, किन्तु जब वह खेतों पर काम करता है तो उसके प्रतिदिन काम का समय काफी लम्बा होता है। औद्योगिक श्रमिकों की तरह इनके काम के घण्टे निश्चित किये गये हैं।

---

1. The Causes and Nature of Current Agrarian Tensions, (Ministry of Home Affairs, Govt. of India, 1969, p. 37.)

(5) **संगठन का अभाव**—कृषिक श्रमिक अनपढ़ और अजागरूक हैं। वे बिखरे हुए गाँवों में असंगठित रूप से रहते हैं। वे अपने को संघों के रूप में संगठित नहीं कर पाये हैं। संगठन के अभाव के कारण वे भूमिपतियों से अपने अधिकारों की प्रभावशाली ढङ्ग से माँग नहीं कर पाते।

(6) **ऋणग्रस्तता**—कृषि श्रमिक बुरी तरह ऋणग्रस्त हैं। भारतीय कृषि श्रमिक की प्रति व्यक्ति आय का अनुमान 140 रुपये लगाया गया है। सन् 1972-73 के अनुमान के अनुसार भारत के समस्त कृषि परिवारों को राष्ट्रीय आय का केवल 8·3 प्रतिशत ही प्राप्त हुआ। इतनी कम आय होने के कारण कृषकों के लिये अपना जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता है, फलत: उसे ऋण लेना पड़ता है। एक बार ऋणी होने के बाद कृषि श्रमिक को जीवन भर छुटकारा नहीं मिलता। कृषि श्रम जाँच समिति के अनुसार हमारे देश में कृषि श्रमिकों के लगभग 45 प्रतिशत परिवार ऋणग्रस्त हैं और प्रति परिवार और औसत ऋण का अनुमान 105 रुपया है।

सन् 1971-72 में लगभग 60 प्रतिशत कृषि मजदूर परिवारों पर ऋण का काफी भार रहा। ऐसे प्रत्येक परिवार पर औसतन 138 रुपये ऋण रहा।

(7) **निम्न सामाजिक स्थिति**—अधिकांश कृषि श्रमिक युगों से उपेक्षित एवं दलित जातियों के सदस्य हैं जिनका सदियों से शोषण किया गया है। इसके कारण इनका सामाजिक स्तर नीचा रहता है।

(8) **आवास समस्या**—भूमिहीन कृषि श्रमिकों के सामने आवास की समस्या भी है। उन्हें या तो भूमिपतियों की या ग्राम संस्थाओं के स्वामित्व की भूमि पर उनकी स्वीकृति लेकर मकान या झोपड़ियाँ बनाकर रहना पड़ता है। ये झोपड़ियाँ अत्यन्त छोटी होती है। कृषि श्रमिकों की आवास-व्यवस्था की दयनीय अवस्था के सम्बन्ध में **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** ने लिखा है, "इन झोपड़ियों में श्रमिक केवल पैर फैला कर सो सकता है। एक ही झोपड़ी में अनेक व्यक्तियों के सोने से मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।···शुद्ध वायु तथा रोशनी के लिये खिड़कियों का पता नहीं होता।" इस व्यवस्था का श्रमिकों और उनके बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(9) **बेगारी की समस्या**—अभी कुछ समय पहले तक भारत के लगभग सभी भागों में कृषि श्रमिकों से बेगारी (Forced Labour) में कार्य लेने की प्रणाली प्रचलित थी। इसकी भीषणता गुलामी से कुछ कम अवश्य थी, किन्तु इस प्रथा में कृषि श्रमिकों को ऋणग्रस्तता के कारण मालिक के खेत या घर पर स्थायी रूप से काम करना पड़ता था जिसके लिये उन्हें नाममात्र की मजदूरी मिलती थी। अब कानून बनाकर इस प्रथा का अन्त कर दिया गया है।

(10) **मजदूरी की निम्न दर**—कृषि श्रमिकों की मजदूरी की दर भारत में बहुत कम है। इसके कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :—

(अ) कृषि श्रमिकों का अशिक्षित व असंगठित होना, (ब) भारतीय कृषि का मौसमी स्वरूप, (स) श्रमिकों का आधिक्य, (द) सघन खेती और व्यापारिक फसलों

की कमी। मजदूरी का स्तर नीचा रहने से श्रमिकों की कार्यक्षमता कम रहती है और भावी संतति के विकास पर कुप्रभाव पड़ता है।

(11) **गैर-कृषि व्यवसायों की कमी**—ग्रामी में गैर कृषि व्यवसायों की कमी भी कृषि श्रमिकों की कम मजदूरी और हीन आर्थिक दशा के लिए उत्तरदायी है। ग्रामों में जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। परन्तु दूसरी ओर गैर-कृषि पर जनसंख्या का दबाव भी बढ़ता जा रहा है। यदि बाढ़, अकाल इत्यादि के कारण फसल नष्ट हो जाय तो कृषि श्रमिकों का जीवन-निर्वाह करना भी कठिन हो जाता है।

(12) **कृषि-श्रमिकों में स्त्री और बच्चों का आधिक्य**—भारतीय कृषि में वैसे ही श्रमिकों की संख्या अनावश्यक रूप से अधिक है तथा स्त्री और बच्चों के खेतों पर कार्य करने से कृषि श्रमिकों की पूर्ति और प्रतियोगिता अधिक बनती है जिसका बुरा प्रभाव उनकी मजदूरी और बच्चों के शिक्षा-स्तर पर पड़ता है।

(13) **मशीनीकरण से बेरोजगारी समस्या**—नियोजन काल में कृषि में नवीन यन्त्रों और वैज्ञानिक उत्पादन पद्धति का उपयोग किया जा रहा है। इससे अशिक्षित कृषि श्रमिकों के समक्ष बेरोजगारी की समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गयी है।

कृषि श्रमिकों की समस्याओं के समाधान के सुझाव
(Suggestions to Solve the Problems of Agricultural Labour)

कृषि श्रमिकों की समस्याओं को हल करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(1) **जनसंख्या नियंत्रण**—भारतवर्ष में कृषि या अन्य क्षेत्रों में रोजगार बढ़ाने के लिए बहुत से प्रयत्न किये गये हैं तथापि बेरोजगारों की संख्या कृषि व गैर-कृषि क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है। इसलिये आवश्यक है कि बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन कार्यक्रम को तेजी से कार्यान्वित किया जाय।

(2) **कृषि क्षेत्र में रोजगार बढ़ाया जाय**—कृषि क्षेत्र में ही रोजगार बढ़ाने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम किये जा सकते हैं—(अ) कृषि क्षेत्र में सिचाई की सुविधा बढ़ाकर उन्नत बीज, खाद आदि आवश्यक वस्तुएँ किसानों को उपलब्ध कराकर सघन खेती को प्रोत्साहन देना चाहिये। (ब) अधिक से अधिक क्षेत्र में प्रतिवर्ष एक से अधिक फसलें बोने के लिये सघन फसल कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिए। (स) ग्रामों में कृषि उद्योग जैसे मुर्गी पालन, मधुमक्खी पालन, सुअर पालन, गो-पालन आदि का व्यवसाय किया जाना चाहिये। (द) लोक निर्माण कार्यक्रम शुरू किया जाना चाहिये। सरकार गाँवों में अपनी परियोजनायें इस तरीके से कार्यान्वित करे कि बेकार समय (off Season) में खाली श्रमिकों को रोजगार मिल सके। सड़कें बनाना तालाबों तथा नहरों की खुदाई और उन्हें गहरा करना, वनारोपण आदि ऐसी ही परियोजनाएँ हैं।

(3) **गैर-कृषि-क्षेत्र में रोजगार बढ़ाना**—इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये

जा सकते हैं : (अ) देश में बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये जाने चाहिये जिससे गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार बढ़ेगा और कृषि-श्रमिक भी उनकी ओर आकर्षित होंगे। (ब) बहु उद्देशीय नदी-घाटी परियोजनाओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। इनसे प्रत्यक्ष रूप से रोजगार में वृद्धि होगी और साथ ही परोक्ष रूप से ग्रामीण विद्युतीकरण और सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाने से भी सघन कृषि और ग्रामीण उद्योग प्रोत्साहित होंगे जिनसे रोजगार अवसरों का विस्तार होगा। (स) कताई, बुनाई, मिट्टी का काम, बाँस और लकड़ी का काम आदि कुटीर उद्योग, यन्त्रों के पुर्जे बनाने व छोटे-छोटे यंत्रों का निर्माण करने हेतु लघु उद्योगों तथा धान, तिलहन, कपास, फल, दालें आदि पर प्रक्रिया करने के कृषि उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहिये।

(4) **शिक्षा का प्रसार**—कृषि श्रमिकों की विभिन्न समस्याओं और कठिनाइयों के समाधान की दृष्टि से उनमें व्यापक रूप से शिक्षा का प्रसार किया जाना चाहिये जिससे वे भूमिपतियों के शोषण से बच सकें, अपनी मजदूरी की सही गणना कर सकें और कृषि में हो रही हरित् क्रान्ति के अनुरूप अपने को कार्य करने के योग्य बना सकें।

(5) **कृषि कार्य में कार्य के घंटों का नियमन**—इटली, जर्मनी आदि कई विकसित देशों में कृषि कार्य के घण्टे नियमित किये गये हैं। अतः भारतवर्ष में भी कृषि श्रमिक के कार्य के घण्टों का नियमन किया जाना चाहिये और निर्धारित समय से अधिक कार्य करने पर अतिरिक्त मजदूरी की व्यवस्था होनी चाहिये।

(6) **काम की परिस्थितियों में सुधार**—काम की प्रतिकूल परिस्थिति के बुरे प्रभाव से बचने के लिये जाड़े, गर्मी व वर्षा के मौसम में आवश्यकतानुसार संरक्षक वस्त्र तथा अन्य सुविधायें श्रमिकों को उपलब्ध होनी चाहिये। उनसे बेगार नहीं ली जानी चाहिए, अवकाश की व्यवस्था होनी चाहिए तथा दुर्घटना इत्यादि पर सहायता का प्रावधान होना चाहिये।

(7) **न्यूनतम मजदूरी का प्रभावशाली क्रियान्वयन**—यद्यपि सरकार द्वारा कृषि श्रमिक के सम्बन्ध में भी न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था की गई है परन्तु केवल न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बना देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसे प्रभावपूर्ण ढंग से लागू करने के उपाय भी किये जाने चाहिये।

(8) **भूमिहीन कृषि श्रमिकों के लिए भूमि की व्यवस्था**—कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये भूमिहीन कृषि श्रमिकों को भूमि देना आवश्यक है। वर्तमान समय में भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारण तथा भूदान आन्दोलन द्वारा यह व्यवस्था की गई है, परन्तु जैसा चरण सिंह ने लिखा है, "अधिकतम सीमा निर्धारण के बाद जो अतिरिक्त भूमि प्राप्त हुई वह भूमिहीनों में वितरित करने का प्रबन्ध योजना काल में किया गया था, किन्तु इससे भूमिहीनों की समस्या के हल करने की सम्भावनाएँ सीमित हैं।"[1] कारण यह है कि अधिकांश भूमिहीन निम्न श्रेणी की होने से तथा

---

1. Charan Singh : India's Poverty and Solution, p. 178.

बैल, औजार और वित्त के अभाव में भूमिहीन श्रमिक भूदान से प्राप्त भूमि से अधिक लाभ न उठा सकेंगे।

(9) **स्त्री श्रमिकों की रक्षा**—औद्योगिक श्रमिकों की भाँति कृषि श्रमिकों को सम्पूर्ण सुविधायें मिलनी चाहिये, विशेष रूप से **'प्रसव अवकाश'** आदि का प्रबन्ध कम से कम सहकारी व अन्य निजी तथा बड़े खेतों पर उपलब्ध होने चाहिए।

(10) **श्रम सहकारिता का निर्माण**—कृषि श्रमिकों को श्रम सहकारिताओं का निर्माण करना चाहिए और सरकार को सार्वजनिक निर्माण तथा अन्य कार्यों में इन श्रम सहकारिताओं को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(11) **ग्रामीण रोजगार केन्द्रों की स्थापना**—ग्रामीण रोजगार केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए, ताकि कृषि श्रमिकों की गतिशीलता बढ़े और रोजगार के सम्बन्ध में उन्हें जानकारी उपलब्ध हो सके।

(12) **कृषि श्रम कल्याण केन्द्र की स्थापना**—खण्ड अथवा ब्लाक-स्तर पर कृषि श्रम कल्याण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिये जहाँ पर श्रमिकों को मनोरंजन तथा अन्य सुविधायें उपलब्ध हों।

(13) **कृषि श्रम संगठन की स्थापना**—औद्योगिक श्रमिकों की भाँति कृषि श्रम संगठनों की स्थापना की जानी चाहिये जिससे कृषि श्रमिक अपने अधिकारों को सुरक्षित रख सकें।

कृषि श्रमिकों की उन्नति के लिये उठाये गये कदम

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए निम्न कार्य किये हैं—

1. **कृषि-दास-प्रथा**—भारतीय संविधान ने कृषि-दास-प्रथा को अपराध घोषित कर दिया है, जिससे कि कृषि श्रमिकों की दशा सुधरे तथा पूर्णकालीन रोजगार मिल सके। राज्यीय सरकारों से श्रम मंत्रालय को प्राप्त सूचना के अनुसार 1,33,550 बन्धुआ मजदूरों का पता लगाकर उन्हें 31 दिसम्बर 1981 तक मुक्त कर दिया गया है। मुक्त किए बन्धुआ श्रमिकों में से अभी तक 1,19,026 पुन: स्थापित कर दिये गए हैं। 1981-82 के दौरान 10,014 बन्धुआ श्रमिकों को पुन: स्थापित करने के लिए राज्यीय सरकारों को 80·44 लाख रुपये की राशि समतुल्य अनुदान के रूप में प्रदान की गई है। छठी योजना (1980-85) में बन्धुआ मजदूरों के पुनः स्थापन के लिए 25 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इस योजना के अधीन एक बन्धुआ मजदूर को पुनः स्थापित करने की लागत 4,000 रुपये होगी जिसमें से राज्यीय सरकारों को 50% समतुल्य अनुदान के रूप में दिया जायगा।

2. **न्यूनतम मजदूरी अधिनियम एवं कृषि श्रमिक**—सन् 1948 में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पारित किया गया, जिसके अधीन तमिलनाडु और महाराष्ट्र को छोड़कर शेष सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों में कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की गई है। केन्द्रीय सरकार द्वारा कृषि शोधन संस्थाओं तथा सैनिक फार्मों

पर काम करने वाले श्रमिकों की भी न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है। अधिनियम में जीवन निर्वाह व्यय में हुई वृद्धि को ध्यान में रखते हुए 5 वर्ष की अवधि में न्यूनतम मजदूरी की समीक्षा करने की भी व्यवस्था है।

अगस्त 1981 में हुए श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन में न्यूनतम मजदूरी के बारे में विचार कर ये निर्णय लिए गए —(i) न्यूनतम मजदूरी निर्धनता रेखा के नीचे नहीं गिरनी चाहिए, (ii) जिस हद तक संभव हो सके जैसा कि कुछ राज्यों में किया गया है न्यूनतम मजदूरी को उपभोक्ता कीमत सूचकांक के साथ जोड़ना चाहिये (iii) न्यूनतम मजदूरी का व्यापक रूप में संशोधन होना चाहिए ताकि इसके दोष दूर किये जा सकें और इसे अधिक प्रभावी बनाया जा सके। इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए सामान्य न्यूनतम मजदूरी की एक नयी अवधारणा निर्मित की गई जिसके अधीन खाद्य, ईंधन और निवास के रूप में केवल निर्वाह आवश्यकताएँ शामिल की गईं। इसका उद्देश्य ऐसे श्रमिकों को जो न्यूनतम मजदूरी कानून के अधीन नहीं आते, इसके दायरे में लाना था।

3. ग्रामीण मजदूरों को संगठित करने की योजना—छठी योजना में क्षेत्रीय स्तर पर एक अवैतनिक पदाधिकारी को ग्रामीण मजदूरों को संगठित करने के लिए नियुक्त करने की योजना है। इसके लिए 65 लाख रुपये खर्च करने का प्रावधान भी रखा गया है। इस संयोजक का मुख्य कार्य मजदूरों को इस बात की शिक्षा देना है उसके क्या-क्या कर्त्तव्य और अधिकार हैं। उन्हें इस बात का भी ज्ञान कराना है कि मजदूर संगठन की क्या महत्ता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किस प्रकार व्यापार संघ तथा अन्य विभिन्न इकाइयों को संगठित करना है। शुरू में आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के 415 खंडों में इस योजना को लागू किया गया।

4. कृषि मजदूरों के केन्द्रीय वैधानिक अधिनियम—पिछले कुछ समय से कृषि मजदूरों के केन्द्रीय वैधानिक अधिनियम का सुझाव विचाराधीन है। विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण ऐसा कृषि मजदूरों की कार्यों की शर्तों को व्यवस्थित करने और उनके कल्याण के लिए नियम बनाने का दायित्व राज्य सरकारों पर डाला गया है और उनसे कहा गया है कि वे इन विषयों पर उपयुक्त कानून बनायें। यह निश्चित किया गया कि कृषि श्रमिकों की कार्य दशा और कल्याण के लिए राज्य सरकारें उचित नियम बनायें तथा उनको लागू करें। केरल सरकार ने इसके लिये पहले ही नियम बना दिया है।

5. ग्रामीण श्रमिक पूछताछ—केन्द्र सरकार ने अब तक चार अखिल भारतीय ग्रामीण श्रमिक सर्वेक्षण किये हैं। पहले दो सर्वेक्षण जिन्हें खेतिहर श्रमिक सर्वेक्षण के नाम से जाना जाता है, 1950-51 तथा 1956-57 में किये गये अन्य दो सर्वेक्षण, जिन्हें ग्रामीण श्रमिक सर्वेक्षण के नाम से जाना जाता है, 1963-65 में तथा 1974-75 में किये गये। ग्रामीण श्रमिक सर्वेक्षण के मुख्य उद्देश्य के अन्तरकाल में ग्रामीण खेतिहार मजदूरों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक की तुलनात्मक सारणी

तैयार करना और कृषि ग्रामीण घरेलू श्रम के महत्त्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक विशेषताओं के विश्वसनीय तथा अद्यतन अनुमान तैयार करना तथा उनके प्रवाह तथा परिवर्तन का अध्ययन करना है।

6. **श्रमिक सहकारिता का संगठन**—श्रम या सेवा सहकारी समितियों की स्थापना के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस समितियों के सदस्य स्वयं श्रमिक ही होते हैं और सड़कों का निर्माण, नहरों और तालाबों की खुदाई, वन रोपड़ आदि सहकारा परियोजनाओं के ठेके लेती हैं।

7. **भूदान आन्दोलन**—भूदान, ग्रामदान व प्रखण्डदान आदि आन्दोलनों से भी कृषि श्रमिकों की दशा को सुधारने में बड़ी सहायता मिल रही है। इन आंदोलनों में प्राप्त हुई भूमि के हस्तान्तरण व प्रबन्ध के लिए राज्यों ने आवश्यक कानून बना दिये हैं।

8. **कृषि मजदूर विकास संस्था**—अखिल भारतीय कृषि ऋण पुनरवलोकन समिति ने सिफारिश में ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे किसानों की विकास संस्था द्वारा उनकी मदद करने को कहा था। भारत सरकार ने उसे स्वीकृत ही नहीं किया बल्कि उससे एक कदम आगे भूमि-रहित मजदूर तथा बहुत छोटे किसानों के लिए भी विकास संस्था खोलने का निश्चय किया और इस निश्चय के आधार पर ऐसी संस्था को संगठित कर दिया गया जो भूमि-रहित तथा छोटे-छोटे काश्तकारों के लिए सहायता प्रदान करेगी। संस्था का मुख्य ध्येय उन्हें रोजगार तथा साधन प्रदान करना है। आगामी 4 वर्षों में देश में इस प्रकार की 40 परियोजनाएँ स्थापित करने का प्रस्ताव है।

9. **ग्रामीण वर्क्स कार्यक्रम**—कृषि श्रमिकों को बेरोजगारी के दिनों में उनके लिए रोजगार की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने ग्रामीण वर्क्स कार्यक्रम की योजना तैयार की है। इस कार्यक्रम में लघु और मध्यम स्तरीय सिंचाई साधनों का विकास, भूमि संरक्षण, इत्यादि सम्मिलित है। यह अनुमान है कि प्रति एक करोड़ रुपये का व्यय सम्बन्धित कार्य विधि में 25 हजार से 30 हजार व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध करेगा।

10. **ग्राम आवास निर्माण योजना**—अक्टूबर 1957 में यह योजना प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत भूमिहीन कृषि श्रमिकों को नि:शुल्क या नाम मात्र कीमत पर मकान प्रदान करने के लिए राज्य सरकारों को अनुदान दिया जाता है।

11. **रोजगार गारन्टी योजना**—महाराष्ट्र सरकार ने रोजगार गारन्टी योजना शुरू की है। इस योजना के अनुसार सरकार को प्रार्थी को उसके निवास स्थान के 5 किलोमीटर के बीच रोजगार उपलब्ध कराना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को विभिन्न सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम सम्बन्धी योजनाएँ (अर्थात् सड़क सिंचाई आदि) तैयार करनी होगी। इसमें मजदूरी की दर ऐसी नहीं होगी जिससे कृषि क्रियाओं में सामान्य रोजगार प्राप्त श्रमिक आकर्षित हो सकें। यह

सभी व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने का अभिनन्दनीय कदम है। यह आशा की जाती है कि अन्य सभी राज्य भी ऐसी ही योजनाएँ चालू करेंगे।

12. **बीस सूत्रीय कार्यक्रम**—प्रधान मन्त्री के 20 सूत्रीय कार्यक्रम में भी भूमिहीन श्रमिकों एवं समाज के अन्य निर्बल वर्गों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कई उपाय किये गये हैं इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : --

(i) कृषि भूमि की अधिकतम सीमा के कानूनों को लागू करना तथा अतिरिक्त भूमि को भूमिहीनों में तेजी से वितरण करने की कार्यवाही करना और अभिलेख को पूर्ण करना।

(ii) भूमिहीनों व समाज के निर्बल वर्गों को मकानों की जगहें तेजी से वितरित करना।

(iii) बन्धुआ श्रम को गैर कानूनी घोषित करना।

(iv) ग्रामीण ऋणग्रस्तता को समाप्त करना। देहातों में भूमिहीन मजदूरों, दस्तकारों और छोटे किसानों से ऋण वसूली पर रोक लगाने के लिए कानून बनाकर प्रतिबन्ध लगाना।

(v) समग्र ग्रामीण विकास एवं राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम को सुदृढ़ एवं अधिक विस्तृत करने की योजना।

(vi) कृषि मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानूनों की समीक्षा और उनका असरदार तरीके से क्रियान्वयन।

(vii) बन्धुआ मजदूरों के पुनर्वास की व्यवस्था।

(viii) ग्रामीण क्षेत्रों के भूमिहीनों को आवासीय भूमि देने और मकान बनाने सम्बन्धी कार्यक्रम का विस्तार।

(ix) अनुसूचित जाति और अनुसूचित जन-जातियों के विकास से सम्बद्ध कार्यों में तेजी।

विशेष क्षेत्र कार्यक्रम—प्रारम्भ में ग्राम पुनर्निर्माण के लिए सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया जिसमें कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशा में सुधार की भी व्यवस्था की गई थी। लेकिन इसके बाद यह निश्चय किया गया कि ये कार्यक्रम कुछ विशेष जिलों तथा क्षेत्रों में ही लागू किये जाने चाहिए। इस योजना को ध्यान में रखकर कई विशेष क्षेत्र कार्य क्रम आरम्भ किये गये इन कार्यक्रमों में छोटे किसान, विकास एजेन्सियों सीमान्त कृषक एवं कृषि श्रमिक विकास एजेन्सी कार्यक्रम आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(1) **सीमान्त कृषक और श्रमिक योजना**—सीमान्त कृषकों तथा कृषि श्रमिकों की सहायता के लिए सरकार द्वारा देश के 41 चुने हुए जिलों में पायलट प्रोजेक्ट्स शुरू किये जायेंगे और प्रत्येक जिले में 20 हजार सीमान्त कृषक और कृषि श्रमिकों को वित्तीय सहायता दी जायेगी।

(2) **कुटीर व लघु उद्योगों का विकास**—कृषि पर जनसंख्या के दबाव को

कम करने के लिए सरकार ने हमेशा लघु और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया है। ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण औद्योगिक बस्तियाँ भी स्थापित की गई हैं।

(3) **कृषि श्रमिकों की स्थायी समिति**—केन्द्रीय सरकार ने विद्यमान कृषि श्रमिकों सम्बन्धी कानूनों एवं व्यवस्थाओं की समीक्षा एवं विस्तृत अधिनियमों की रूप-रेखा बनाने के लिए एक स्थायी समिति की नियुक्ति की है।

(4) **बन्धुआ मजदूर प्रथा का अन्त**—1976 में बन्धुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम पारित कर बन्धुआ मजदूरी प्रणाली गैर कानूनी घोषित कर दी गई है—जिसके फलस्वरूप अब कोई भी व्यक्ति ऋणों के चुकाने के लिए मजदूर के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

(5) **क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना**—ग्रामीण क्षेत्रों में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित की गई है जो ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करती है।

(6) **ऋण मुक्ति कानून**—वे भूमिहीन श्रमिक व शिल्पकार जिनकी आय 2,400 रुपए वार्षिक या इससे कम है इन्हें पुराने ऋणों से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न राज्यों ने अध्यादेशों के माध्यम से कानून बनाये हैं जिनके अनुसार अब इस प्रकार के ऋणों की वसूलयाबी नहीं हो सकती है और यदि कोई डिग्री भी हो गई है तो भी उसकी वसूलयाबी नहीं हो सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि श्रमिक

प्रथम योजना में कृषि-श्रमिक की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से कई कार्य किये गये, जैसे—कम मजदूरी वाले क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरियाँ निश्चित करना, निवास स्थान के सम्बन्ध में श्रमिकों को दखली अधिकार देना, श्रमिक सहकारिताओं का संगठन करना तथा भूमिहीन श्रमिकों हेतु पुनर्वास योजना बढ़ाना, जिस पर लगभग 1 करोड़ रुपये व्यय किये गये। परन्तु इस योजनावधि में कृषि श्रमिक की स्थिति में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

प्रथम योजना काल में भूमिहीन मजदूरों के पुनर्वास के लिए 2 करोड़ रुपये व्यय का एक कार्यक्रम तैयार किया गया था जिसे आगे कम कर केवल 1·5 करोड़ रुपये का ही रखा गया। किन्तु योजनाकाल में इस मद में एक करोड़ रुपये से भी कम रकम खर्च की गयी। प्रथम योजना में तमिलनाडु व आन्ध्र प्रदेश में भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के कार्यक्रम लागू किये गये। भोपाल में केन्द्रीय सरकार ने 10,000 एकड़ के फार्म पर भूमिहीन श्रमिकों को बसाया।

द्वितीय योजना में श्रम सहयोग समितियों की स्थापना, कुटीर व लघु उद्योगों को प्रोत्साहन द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना, भूमि के पुनर्वितरण व शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं के विस्तार पर विशेष जोर दिया गया। योजना काल में 1 लाख एकड़ भूमि पर 10,000 भूमिहीन मजदूर परिवारों को बसाने के लिये लगभग 5 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इसके अतिरिक्त, इसी योजना-वधि में पिछड़े वर्गों के उद्धार के लिये लगभग 90 करोड़ व्यय किये गये।

इस योजनावधि में पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई व बिहार में श्रम-सहकारी समितियाँ स्थापित करने में सफलता प्राप्त की गई। बिहार में 10 हजार परिवारों को भूदान से प्राप्त भूमि पर बसाया गया। आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर व पंजाब में खेतिहर मजदूरों को मकान की जगह दिलाने में सफलता मिली।

तृतीय योजना में कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने पर पर्याप्त जोर दिया गया और इसलिए विशाल विनियोग की व्यवस्था की गई। विभिन्न विकास-कार्यक्रमों, जैसे कुटीर एवं लघु उद्योगों का विकास, गाँवों का विद्युतीकरण, ग्रामीण आवास, पीने के पानी की व्यवस्था, सिंचाई कृषि-उत्पादन में वृद्धि, शिक्षा आदि से कृषि श्रमिकों की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है। योजनाकाल में कृषि श्रमिकों को बसाने के लिए 12 करोड़ रुपये व्यय करने थे और 50 लाख एकड़ भूमि पर 7 लाख कृषि-श्रमिक परिवारों को बसाने की व्यवस्था थी। पिछड़ी हुई जातियों के कल्याणार्थ 19·41 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय योजना में जो लक्ष्य निर्धारित किए गए वे प्राप्त नहीं किये जा सके हैं। अनुमान है कि योजनाकाल के 15 वर्षों में भूमिहीन मजदूरों को एक करोड़ एकड़ भूमि वितरित की जा चुकी है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—इस योजना में कृषि-श्रमिकों के लिए विशेष कार्यक्रम तैयार किया गया जिसके अन्तर्गत (i) भूमि सुधार कार्यक्रम को प्रभावी ढंग से लागू करने पर जोर दिया गया, एवं (ii) कृषि-श्रमिकों को अन्य रोजगारों में लगाने पर ध्यान दिया गया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना—इस समस्या का स्थायी हल निकालने के लिए 18 सदस्यीय कृषि-श्रम तदर्थ समिति बनायी गयी। साथ ही इस योजना में आवास व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया।

छठी योजना तथा कृषि श्रमिक—छठी योजना में पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए जो कार्यक्रम बनाए गये हैं उनमें कृषि श्रमिक को सम्मिलित किया है। योजना में यह उल्लेख किया गया है कि देश की लगभग 20% जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली अनुसूचित जातियों और जन जातियों की है, ये जनसंख्या के निर्धनतम वर्ग का निर्माण करती हैं। इनके पास साधनों का अभाव है और प्रमुख रूप से ये कृषि पर निर्भर रहते हैं इस योजना में इस वर्ग के आर्थिक विकास के लिए पुनर्वितरण के कार्यों को प्राथमिकता प्रदान की गई है इस योजना में सामान्य विकास कार्यक्रमों के साथ ही कमजोर वर्ग के विकास को जोड़ा गया है।

इस योजना में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम हेतु भी पर्याप्त मात्रा में परिव्यय का प्रावधान है। क्षेत्रीय विकास हेतु ब्लाकों और कार्यक्रमों का चयन इस प्रकार किया जायेगा ताकि कमजोर वर्ग के लोगों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके इसके साथ ही निर्बल वर्गों को लाभ प्राप्त हो सकेगा।

न्यूनतम आवश्यकताओं के संशोधित कार्यक्रम (R.M.N.P.) में प्राथमिक और प्रौढ़ शिक्षा के विकास के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई है जिन क्षेत्रों में पिछड़ी

हुई जनसंख्या का प्रभाव अधिक है और शिक्षा की सुविधाएँ नहीं हैं वहाँ प्राथमिक शिक्षा के विकास को प्राथमिकता दी जायेगी। इस कार्यक्रम में भूमिहीन श्रम आवास योजना के लिए 500 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है इससे भी निर्बल वर्ग के लोगों को पर्याप्त सुविधा उपलब्ध हो सकेगी इसके अतिरिक्त गन्दी बस्तियों के वातावरण में सुधार एवं अनुपूरक पोषण आदि के प्रावधान से भी निर्बल वर्ग के लोगों को लाभ प्राप्त होगा।

स्पष्टत: छठी योजना में निर्बल लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए पर्याप्त व्यवस्था की गई है। केवल सामान्य विकास कार्यक्रमों व कल्याणकारी कार्यक्रमों से ही नहीं अपितु रोजगारोन्मुख कार्यक्रमों के विकास से भी निर्बल वर्ग के लोगों को लाभ प्राप्त हो सकेगा। इसी तरह सहायक व्यवसायों में व ग्रामीण उद्योगों के विकास से भी उन्हें पर्याप्त लाभ प्राप्त हो सकेगा।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में कृषि श्रमिकों की समस्याओं का उल्लेख कीजिए और इन समस्याओं को सुलझाने के उपाय बताइए।

2. भारत में कृषि श्रमिकों की निम्न आर्थिक दशा के कारण बताइए तथा इसकी दशा सुधारने के सुझाव दीजिए।

3. भारतीय कृषि में कृषि श्रमिकों की समस्या का परीक्षण कीजिए। यह समस्या कैसे हल हो सकती है ?

4. देश में कृषि श्रम समस्या को संक्षेप में विवेचन कीजिए। क्या वह कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक ढाँचे में परिवर्तन के बिना हल की जा सकती है ?

21

कृषि-कीमत एवं उनका स्थिरीकरण

(Agricultural Prices and Their Stability)

भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि-वस्तुओं की कीमतों का विशेष महत्त्व है। कारण यह है कि कृषि वस्तुओं की कीमतों में होने वाले परिवर्तन अन्य वस्तुओं की कीमतों को भी प्रभावित करते हैं और सामान्य कीमत स्तर में होने वाले उच्चावचन आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं।

कृषि-कीमतों के कार्य या महत्त्व

कृषि कीमतें अनेक कार्य सम्पन्न करती हैं जिनमें से कुछ आर्थिक विकास की प्रक्रियाओं के लिए विशेष महत्त्व के हैं। कृषि-कीमतों के मुख्य कार्य ये हैं —

1. **कीमती आय वितरक के रूप में**—कृषि-कीमतें अर्थव्यवस्था के आय वितरण को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए उत्पादक की आय उपज के उस भाग के अनुपात में प्रभावित होती है जो वे बाजार में विक्रय करते हैं तथा उपभोक्ताओं की वास्तविक आय उनकी आय के उस भाग के अनुपात में प्रभावित होगी जो वे कृषि पदार्थों पर व्यय करते हैं। इस प्रकार जब कीमतों में वृद्धि होती है तो इससे बड़े उत्पादकों को जिनके पास विक्रय-योग्य काफी अतिरेक रहता है, लाभ होता है परन्तु छोटे किसानों को अधिक लाभ नहीं होता क्योंकि विक्रय-योग्य अतिरेक की मात्रा उनके पास कम होती है। कृषि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि से कम आय वाले नगरीय उपभोक्ता की वास्तविक आय में काफी कमी आ जाती है क्योंकि वे अपनी आय का अधिकांश भाग खाद्य पदार्थों के क्रय पर व्यय करते हैं। यह भी हो सकता है कि बढ़ती हुई कीमतों के फलस्वरूप उन्हें अपने घरेलू उपभोग में कमी करनी पड़े जो बिलकुल वांछनीय नहीं है।

2. **कीमत पूंजी निर्माण के उद्दीपक के रूप में**—कृषि-कीमतें आर्थिक विकास के लिए अतिरिक्त संसाधनों के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। वे इस भूमिका को पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करके निभाती हैं। ऊंची कीमतों के फलस्वरूप उत्पादन की कीमतों में वृद्धि हो जाती है और अधिक आय प्राप्त होती है। फलतः बचत और विनियोग-दरों में वृद्धि होती है।

3. **कीमतें संसाधनों के आबण्टक के रूप में**—कृषि कीमतें देश के आर्थिक साधनों के बँटवारे या आवंटन को प्रभावित करती हैं। किसान उन वस्तुओं के उत्पादन को प्राथमिकता देता है जिसकी कीमत अधिक होती है अथवा जिनकी कीमत बढ़ने की आशा होती है। इस सम्बन्ध में एक प्रमुख तथ्य यह है कि कृषि वस्तुओं की कीमत में वृद्धि का प्रभाव उन वस्तुओं के उत्पादन पर बहुत अधिक नहीं होता जो उपभोग के लिए आवश्यक होती हैं तथा जिनका सम्पूर्ण कृषि उत्पादन में बहुत बड़ा भाग होता है जैसे गेहूँ व चावल आदि। कीमत वृद्धि का प्रभाव व्यापारिक फसलों के उत्पादन पर अपेक्षाकृत अधिक होता है।

कृषि वस्तुओं की कीमत में उतार-चढ़ाव के कारण
(Causes of Fluctuation in Agricultural Prices)

1. **कृषि उपज की पूर्ति में परिवर्तन**—कृषि अधिकांशत: प्रकृति पर निर्भर रहती है, फलत: प्रतिकूल और अनुकूल मौसम के कारण कृषि उपज के प्रतिवर्ष परिवर्तन होते रहते हैं। बाढ़, सूखा, व्यापक पौध रोग आदि के कारण कृषि पैदावार कम हो जाती है जिसका कृषि उपज की पूर्ति पर घातक प्रभाव पड़ता है, जिससे कृषि-कीमतों में काफी वृद्धि होती है। कभी-कभी अनुकूल मौसम से कृषि उपज बढ़ती है, जिससे मंडी में कृषि उपज की पूर्ति बढ़ जाती है। फलत: कृषि कीमतों में कमी आ जाती है।

2. **कृषि उपज की मांग में परिवर्तन**—कृषि उपज की माँग में वृद्धि होने पर भी कृषि वस्तुओं की कीमत में वृद्धि होती है। कृषि वस्तुओं की माँग में वृद्धि के साधारणतया दो कारण होते हैं—(i) जनसंख्या में वृद्धि (ii) लोगों की आय में वृद्धि।

जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या में वृद्धि के कारण भी कृषि उपज की माँग में वृद्धि होती है तथा कृषि उपज की माँग में वृद्धि के कारण कृषि-कीमतों में वृद्धि होती है।

लोगों की आय में वृद्धि—भारतवर्ष ने पञ्चवर्षीय योजनाओं में बहुत अधिक व्यय किए जाने के कारण लोगों की आय में वृद्धि हुई। आय में वृद्धि होने के कारण भारत में खाद्यान्नों की माँग और कीमत में भी वृद्धि हुई है।

3. **औद्योगिक विकास**—भारतवर्ष में बहुत से ऐसे उद्योगों का विकास हुआ है जिनको कच्चा माल कृषि से प्राप्त होता है जैसे चीनी, पटसन व कपड़ा उद्योग इत्यादि किन्तु इन उद्योगों के विकास ने देश के फसलों के ढाँचे को प्रभावित किया है। जैसे खाद्यान्नों के अन्तर्गत क्षेत्र कम होता गया है और व्यापारिक फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई है फलत: खाद्यान्नों की कीमतें बढ़ी हैं।

4. **सरकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति**—सरकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति का भी कृषि कीमतों पर प्रभाव पड़ता है—

(अ) **मौद्रिक नीति**—देश में जब वास्तविक उत्पादन की वृद्धि की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि अधिक होती है तो कीमतें बढ़ती हैं। भारत में पञ्चवर्षीय योजनाओं

में भारी व्यय के कारण मुद्रा की पूर्ति वास्तविक उत्पादन से सदैव अधिक रही है फलतः कृषि कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति रही है।

रिजर्व बैंक की साख-नीति का प्रभाव कृषि-कीमतों की नीति पर पड़ता है। यदि साख-नीति उदार होती है अर्थात् नीचे ब्याज की दर पर ऋण मिल जाता है और ऋण लेने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता तो व्यापारियों को सट्टेबाजी व जमाखोरी को प्रोत्साहन मिलता है। फलतः कीमतें बढ़ती हैं। रिजर्व बैंक ने कृषि-कीमतों में वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए चयनात्मक साख-नीति का उपयोग किया है।

(ब) **राजकोषीय नीति**—भारत ने अपनी पञ्चवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए भारी मात्रा में हीनार्थ-प्रबन्धन का सहारा लिया है। इसके अन्तर्गत सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करने के लिए कागजी मुद्रा का निर्गमन करती है जिसके कारण बाजार में मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है। मुद्रा की पूर्ति अधिक होने पर कीमतों में वृद्धि होने लगती है।

5. **साख विपणन, यातायात, संग्रह आदि की सुविधाओं में वृद्धि**—किसानों को साख, विपणन, यातायात, संग्रह आदि की जो सुविधाएँ योजनाकाल में प्रदान की जा रही हैं, उससे किसानों की अनुकूल मूल्य मिलने तक उपज अपने पास रोकने की क्षमता बढ़ी है। फलतः कृषि कीमतों में अनावश्यक रूप से वृद्धि हुई है।

6. **उचित कृषि-कीमत नीति का अभाव**—भारत में कृषि वस्तुओं की कीमत में उच्चावचन का एक कारण यह भी रहा है कि या तो सरकार ने उचित कृषि-कीमत नीति नहीं अपनाई अथवा यदि अपनाई तो उसे कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त कदम नहीं उठाए। फलतः कृषि-कीमतों में वृद्धि या भारी गिरावट होती रही।

7. **अपूर्ण ता संगठित बाजार**—भारत में संगठित बाजार नहीं है। यहाँ कृषि विपणन में मध्यस्थों की लम्बी शृङ्खला है और विभिन्न प्रकार की कुप्रथाएँ प्रचलित्त हैं। फलतः कृषि पदार्थों की कीमतों में भारी अस्थिरता रहती है।

कृषि-कीमत में परिवर्तनों के दुष्परिणाम

कृषि कीमतों में होने वाले परिवर्तनों के दुष्परिणामों का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं।

1. **कृषि अर्थ-व्यवस्था के विकास में बाधक**—कृषि-कीमतों में होने वाले परिवर्तनों का कृषि विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि किसानों को मिलने वाली कृषि उपज कीमतों में बार-बार उच्चावचन आने से किसानों की आय में अस्थिरता तथा अनिश्चितता बढ़ जाती है।

किसानों की आय में अस्थिरता कृषि अर्थव्यवस्था को मुख्यतः निम्न दो प्रकार से प्रभावित करती है—

(अ) **कृषि क्षेत्र में बचत व विनियोग का अभाव**—कृषि-कीमतों की अस्थिरता के कारण किसानों की आय में जो अनिश्चितता आ जाती है, उसके कारण किसान

बचत करने व कृषि पूँजी लगाने में हिचकते हैं। स्पष्टत: कृषि-कीमतों में समय-समय पर होने वाला परिवर्तन कृषि क्षेत्र में विनियोग बढ़ाने के मार्ग में बाधक है।

(ब) **उत्पादन कम व ऋण के भार में वृद्धि**—यदि कृषि-पदार्थों की कीमतें बहुत कम हो जाती हैं तो किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। किसान-वर्ग पर दुख की छाया फैल जाती है। किसान को भू-राजस्व, सिंचाई, मजदूरी इत्यादि पर एक निश्चित राशि व्यय करनी पड़ती है, किन्तु कृषि वस्तुओं की कीमतें गिर जाने के कारण उसकी आय बहुत कम हो जाती है। फलत: किसानों पर ऋण का भार बढ़ जाता है।

2. **उपभोक्ताओं को हानि**—भारत जैसे निर्धन देशों में व्यक्तियों की आय का अधिकांश भोजन, कपड़ा आदि प्राथमिक आवश्यकताओं पर व्यय किया जाता है, जिनके कारण इन वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है। इसका अर्थ यह है कि इन वस्तुओं की कीमतें बढ़ने पर व्यय की मात्रा बढ़ जाती है। अत: कृषि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के कारण व्यय की मात्रा बढ़ने पर एक ओर उपभोक्ताओं को हानि होती है और दूसरी ओर उनका जीवन-स्तर गिर जाता है।

3. **आयात-निर्यात-नीति के क्रियान्वयन में कठिनाई**—कृषि-कीमतों में अस्थिरता से कारण सरकार को आयात-निर्यात नीति का उचित ढंग से बनाना और क्रियान्वित करना कठिन हो जाता है। उसमें निरन्तर परिवर्तन करने पड़ते हैं, जिसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

4. **जमाखोरी-मुनाफाखोरी व सट्टेबाजी में वृद्धि**—कृषि-कीमतों में अस्थिरता के कारण उत्पादकों की आय अनिश्चित हो जाती है, उपभोक्ताओं के उपभोग का स्तर अनिश्चित हो जाता है और व्यापारियों के व्यापार की स्थिति भी अनिश्चित हो जाती है। इनका संयुक्त प्रभाव यह होता है कि देश में जमाखोरी, मुनाफाखोरी व सट्टेबाजी की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है जिसके कारण व्यापारी वर्ग को तो लाभ होता है परन्तु उत्पादक व उपभोक्ता वर्ग को हानि उठानी पड़ती है।

5. **देश के आर्थिक नियोजन कार्यक्रम में बाधा**—कृषि-कीमतों की अस्थिरता के कारण देश के आर्थिक नियोजन कार्य में कई बाधाएँ आती हैं। उदाहरण—कृषि पदार्थों की कीमतें बढ़ने के कारण जीवन-निर्वाह का व्यय अधिक हो जाता है। फलत: मजदूरों की मजदूरी में वृद्धि करनी होती है। मजदूरी में वृद्धि होने के कारण उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है जिससे निर्मित वस्तुओं की कीमतें और बढ़ जाती हैं दूषित-चक्र चलता रहता है जिसके कारण आर्थिक नियोजन के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना कठिन हो जाता है।

कृषि-कीमतों के स्थिरीकरण का आशय
(Meaning of Stability in Agricultural Prices)

कृषि एक मौसमी उद्योग के कारण तथा भारतीय कृषि की मानसून पर अत्यधिक निर्भरता के कारण कृषि उत्पादन में और उसके फलस्वरूप कृषि-कीमतों में

उतार-चढ़ाव आना स्वाभाविक है। अतः कृषि वस्तुओं की कीमतों के स्थिरीकरण का यह आशय नहीं है कि इनकी कीमतों को किसी विशेष बिन्दु पर स्थिर रखा जाय बल्कि इसका तात्पर्य कृषि-कीमतों के अत्यधिक उतार-चढ़ाव को कम करके एक निर्धा-सीमा के अन्दर नियमित करने से है। अशोक मेहता कमेटी के अनुसार "एक विकासशील अर्थव्यवस्था की कठिनाइयाँ विभिन्न कीमत असमानताओं में प्रतिबिम्बित होती हैं। इन असमानताओं को एक सीमा के भीतर ही रखना ही कीमत स्थिरीकरण हैं।"

कृषि कीमत-स्थिरता के उद्देश्य

कृषि कीमत में स्थिरता के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

1. कृषि कीमतों में मौसमी उतार-चढ़ावों को न्यूनतम करना।

2. कृषि से उत्पादित वस्तुएँ तथा कृषि आवश्यकताओं के बीच उचित कीमत सम्बन्ध स्थापित करना।

3. कृषि कीमतों में भारी व एक तरफा परिवर्तनों को रोकना।

4. ऐसे पदार्थों के उत्पादन को बढ़ाना जिससे जन साधारण के उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकें तथा उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध हो सके।

5. विभिन्न प्रतियोगी फसलों की माँग व उत्पादन में समायोजन करने के लिए इन प्रतियोगी फसलों की कीमतों में उचित सम्बन्ध बनाये रखना।

6. कृषकों को अपनी उपज की लाभप्रद न्यूनतम कीमत प्राप्त हो सके तथा उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर पर्याप्त मात्रा में कृषि-वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

7. किसानों से बाजार में विपणन योग्य बचत नियमित रूप से आती रहे इस लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों की कृषि-कीमतों में समन्वीय स्थापित करना।

8. मुद्रा स्फीति के दबाव पर नियन्त्रण रखना।

9. कृषि उत्पादित वस्तुओं का मुख्यतया व्यापारिक फसलों का निर्यात स्तर बनाए रखना तथा प्रोत्साहित करना। अस्थिर कृषि-कीमतों का कृषि वस्तुओं के निर्यात पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः निर्यात प्रोत्साहन के लिए कृषि-कीमतों का स्थिरीकरण आवश्यक है।

भारत में कृषि-कीमतों की प्रवृत्तियाँ

प्रथम योजना के आरम्भ में कृषि-कीमत काफी ऊँची थी, लेकिन योजना में कृषि उत्पादन में वृद्धि होने तथा सरकार द्वारा मुद्रा स्फीति विरोधी नीति अपनाने से योजना के अन्त में कीमतों में 20% की कमी हुई। **द्वितीय योजना** में कृषि उत्पादन में आशानुकूल वृद्धि न होने तथा मुद्रा प्रसारजन्य दबावों के कारण, कृषि-कीमतों में लगभग 39% वृद्धि हुई। **तृतीय योजना** में भी कृषि उपज की कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति थी।

1965-66 के बाद कृषि उपज की कीमतों एवं सामान्य कीमत स्तर में अत्यधिक वृद्धि हुई, जिसके मुख्य कारण इस प्रकार थे—(i) भारत-पाक युद्ध (ii) 1965 के बाद दो वर्ष लगातार सूखा पड़ने के कारण मध्यप्रदेश, बिहार व राजस्थान में फसलों का नष्ट हो जाना (iii) बजट में भारी कराधान (iv) 1971 में बंगलादेश से भारी मात्रा में शरणार्थियों का आगमन (v) 1971 में भारत-पाक युद्ध (vi) 1971-72 के बाद लगातार प्राकृतिक आपदाओं के कारण फसलों का नष्ट होना तथा (vii) सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा में मुद्रा-पत्रों का निर्गमन अर्थात् मुद्रा-पूर्ति में वृद्धि, संग्रह करने की प्रवृत्ति में वृद्धि, खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी एवं हीनार्थ-प्रबन्धन इत्यादि।

जनवरी सन् 1977 से 1970-71 को आधार वर्ष मानकर थोक मूल्य सूचकांकों की एक नई श्रृङ्खला प्रारम्भ की गई जिसके अनुसार कृषि मूल्यों की प्रवृत्ति को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

कृषि-मूल्यों की प्रवृत्ति

1970-71 = 100

वर्ष	खाद्यान्न	दालें	तिलहन
1971-72	103	111	90
1975-76	174	182	126
1976-77	153	146	151
1977-78	170	215	184
1979-80	215	315	236
1982-83	249	339	249

उपर्युक्त सारिणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अल्पकालीन उच्चावचनों को छोड़कर कीमतों की सामान्य प्रवृत्ति बढ़ने की रही है।

कृषि-कीमतों में स्थिरता लाने के लिए उपाय एवं विभिन्न समितियों के सुझाव

भारत सरकार ने समय-समय पर कीमत स्थायीकरण के सम्बन्ध में अध्ययन करने और सुझाव देने हेतु विभिन्न समितियों की नियुक्ति की है। इन विभिन्न समितियों द्वारा कृषि-कीमत के सम्बन्ध में दिये गये सुझाव निम्नलिखित हैं—

1. कृष्णमाचारी कीमत उप समिति—सन् 1944 में श्री कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में कृषि-कीमतों के सम्बन्ध में एक कीमत उपसमिति नियुक्त की गई थी। इस समिति के कृषि-कीमतों के स्थायीकरण के सम्बन्ध में मुख्य सुझाव इस प्रकार थे—(i) कृषकों को कीमत सम्बन्धी गारण्टी सरकार प्रदान करे (ii) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा हेतु अधिकतम कीमत भी निर्धारित की जानी चाहिये (iii) न्यूनतम कीमत निर्धारित करते समय लागत को ध्यान में रखा जाना चाहिए, (iv) कृषि पदार्थों का सरकार द्वारा क्रय-विक्रय करके कीमतों को निर्धारित सीमा में ही रखा जाना चाहिए।

(v) एक अखिल भारतीय कृषि कीमत परिषद बने जो कृषि कीमत नीति निर्धारित करे (vi) न्यूनतम व अधिकतम सीमाओं के मध्य एक उचित कीमत निर्धारित की जानी चाहिए । (vii) आधिक्यों के आधार पर अन्न के सुरक्षित भण्डार बनाये जाने चाहिये (viii) कीमतों में कमी एक फसल में $12\frac{1}{4}$ प्रतिशत से अधिक न हो ।

2. अशोक मेहता खाद्यान्न जाँच समिति—1957 में श्री अशोक मेहता की अध्यक्षता में खाद्यान्न जाँच समिति की नियुक्ति की गई, जिसने खाद्यान्न कीमत स्थायीकरण के लिए निम्न सुझाव दिये थे—(i) कीमत स्थायीकरण के कार्यक्रम की एक सामान्य रूपरेखा तैयार करने के लिए एक उच्च अधिकार प्राप्त सत्ता 'कीमत स्थिरीकरण बोर्ड' की स्थापना की जाये । (ii) खाद्यान्न स्थायीकरण संगठन की स्थापना की जाय जो कि खाद्यान्नों के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित नीति को कार्यान्वित करे (iii) एक कीमत अनुसंधानशाला संगठित की जाये जो कि कीमतों से सम्बन्धित आँकड़ों का संग्रह करे । (iv) खाद्यान्नों के वितरण हेतु उचित कीमत की दुकानें खोली जाय ।

3. फोर्ड फाउंडेशन दल के विचार—कृषि-कीमतों के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में फोर्ड फाउन्डेशन दल ने अपनी रिपोर्ट जो 1959 में प्रस्तुत की जिसमें निम्न सुझाव दिये थे—(i) कीमत-नीति के निर्धारण करने हेतु एक स्थायी संगठन बनाया जाना चाहिये । (ii) प्रारम्भ में अखिल भारतीय स्तर पर गेहूँ और चावल की और क्षेत्रीय आधार पर अन्य फसलों की न्यूनतम कीमत निर्धारित की जाय । (iii) कीमत निर्धारित करते समय घरेलू एवं विश्व की परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय ।

खाद्यान्न वसूली के सुझाव—प्रो० डी०आर० गाडगिल का मत था कि खाद्यान्नों की न्यायोचित वितरण नीति को सफल बनाने के लिए आंतरिक कृषि उपज वसूली का होना अनिवार्य है । प्रो० गाडगिल का विचार था कि कृषकों द्वारा विक्रय की जाने वाली कुल उपज का लगभग 30% सरकार को वसूली के माध्यम से प्राप्त करना चाहिए । आयातों के साथ-साथ घरेलू उत्पादन आधिक्य के माध्यम से समीकरण भंडार बनाना चाहिए तथा इन भंडारों का उपयोग कमी के समय आवश्यकता पड़ने पर करना चाहिए । सफल कीमत नीति के समय समीकरण भंडार योजना बहुत आवश्यक है ।

खाद्यान्न नीति समिति 1966—मार्च 1966 में भारत सरकार ने श्री बी० **वेंकटैया** की अध्यक्षता में खाद्यान्न नीति समिति नियुक्त की जिसके मुख्य उद्देश्य प्रचलित खाद्य क्षेत्र व्यवस्था व खाद्यान्न वसूली व वितरण व्यवस्था की जाँच करना तथा देश के विभिन्न राज्यों व वर्गों के बीच उचित कीमतों पर खाद्यान्न वितरण के उचित प्रबन्ध के लिए आवश्यक सुझाव देना था । इस समिति ने समन्वित खाद्य नीति का सुझाव दिया था, जिसके मुख्य तत्त्व निम्न प्रकार दिये गये हैं —

1. आवश्यक पूर्ति के लिए खाद्यान्नों की वसूली की जाय ।
2. अन्तर राज्य खाद्यान्न शक्तियों पर नियन्त्रण रखा जाय ।
3. समीकरण भंडार योजना को सफल बनाया जाय, जिससे कठिन समय में खाद्यान्नों की पूर्ति की जा सके ।

4. न्यायोचित बँटवारे की दृष्टि से सार्वजनिक वितरण की व्यवस्था को अपनाया जाय।

5. इस समिति ने 'राष्ट्रीय खाद्य-प्रबन्ध' का नवीन विचार रखा। इस हेतु एक राष्ट्रीय खाद्य बजट बनाया जाय जिससे कि उपलब्ध खाद्य सामग्रियों का न्यायोचित वितरण हो सके।

कृषि-कीमतों में स्थिरता लाने के लिए सरकार द्वारा उठाये गये कदम

देश में कृषि-कीमतों के स्थायीकरण के महत्व को अनुभव करते हुए सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कदम उठाये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. कृषि उत्पादन में वृद्धि।
2. अन्तर्देशीय वसूली।
3. खाद्यान्नों का आयात।
4. राशन व्यवस्था तथा उचित कीमत की दुकान।
5. खाद्यान्न व्यापार-निगम की स्थापना।
6. गेहूँ के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण।
7. साख-नियन्त्रण।

उपर्युक्त बिन्दुओं पर पर्याप्त प्रकाश 'भारत में खाद्य समस्या' नामक अध्याय में डाला जा चुका है।

सरकार की कृषि-मूल्य नीति की समीक्षा

सरकार द्वारा जो कृषि-मूल्य नीति अपनाई गई है उसके पक्ष में और विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

पक्ष में तर्क—1. उपभोक्ता को उचित मूल्य की दूकानों से उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ मिलते रहे हैं। यदि यह नीति न अपनाई जाती तो मूल्यों में काफी उच्चावचन होते।

2. इन नीति से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है।

3. कृषि पदार्थों के मूल्य न तो अत्यधिक बढ़े हैं और न अत्यधिक घटे। उनमें एक सीमा तक स्थायित्व आया है।

4. खाद्यान्नों के उत्पादन कम होने की स्थिति में खाद्यान्नों का आयात कर देश को अकाल से बचाया है।

5. उद्योगों को भी कृषि पदार्थ उचित मूल्य पर उपलब्ध कराये गये हैं, जिससे उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में भी स्थायित्व रहा है तथा औद्योगिक शांति रही है।

6. कृषकों को आवश्यक आदान उपलब्ध किए हैं। उन्नत-बीज दिये गये हैं। सिंचाई सुविधाओं में विस्तार किया गया है। भूमि सुधार करके कृषक को स्वामित्व दिलाया गया है आदि।

विपक्ष में तर्क—सरकार की कृषि-मूल्य नीति के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. कृषि मूल्य कभी भी स्थिर नहीं रहे हैं इससे सभी के मन में अनिश्चितता रहती है।

2. खुले बाजार में कृषि पदार्थ सदैव ही उपलब्ध रहे हैं चाहे उनकी कीमतों में कितनी भी वृद्धि हो गई हो लेकिन सरकार मूल्य वृद्धि के समय पूरा-पूरा खाद्यान्न देने में असफल रही है।

3. उपभोक्ता को सदैव ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। राशन की दूकानों पर पूरा राशन नहीं मिल पाता क्योंकि वहाँ सदा ही राशन कार्डों की माँग से कम ही स्टाक रहता है।

4. कृषि उत्पादन में जो वृद्धि हुई है वह सरकार के प्रयत्नों से नहीं बल्कि कृषकों के प्रयत्नों व प्राकृतिक सहयोग से हुई है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि सरकार की कृषि-मूल्य नीति से कृषि पदार्थों की कीमतों में स्थिरता तो आयी है लेकिन जिस स्तर तक हम चाहते थे वैसा नहीं हो पाया है। "कृषि पदार्थों की कीमतों की समस्या मुख्यतया उत्पादन एवं वितरण की समस्या है, अतः मूल्यों में स्थायित्व रखने के लिए उत्पादन तथा पूर्ति का स्राव नियमित एवं निश्चित होना चाहिये ताकि असामाजिक तत्त्वों को अभाव का लाभ उठाने का अवसर मिल सके। वस्तुतः कृषि मूल्यों की वृद्धि की समस्या का समाधान अधिक उत्पादन तथा सरकार को निश्चित नीति तथा उसे दृढ़तापूर्वक क्रियान्वित करने में सन्निहित है।

छठवीं योजना में कृषि मूल्य सम्बन्धी नीति

छठवीं योजना में कृषि मूल्यों में स्थानीयकरण की नीति अपनाई जायेगी। इस नीति में समर्थित मूल्य बफर स्टाक क्रियायें और आवश्यक होने पर आयात की व्यवस्था शामिल होगी। इस नीति में केवल गेहूँ और चावल को ही नहीं, वरन् कपास और जूट को भी शामिल किया जायेगा। वित्तीय और प्रशासकीय क्षमता के आधार पर दालों और तिलहनों को भी शामिल किया जा सकता है। प्रतियोगी फसलों में मूल्य के तुलनात्मक निर्धारण का प्रयास किया जायेगा ताकि विभिन्न फसलों में क्षेत्र-फल का वितरण नियोजित व्यवस्था के अनुसार बना रहे।

परीक्षा-प्रश्न

1. 'कीमत स्थिरीकरण' से आप क्या समझते हैं। प्रमुख कृषि उपजों की कीमतों को स्थिर करने के लिए किए गए उपायों का विवरण दीजिए।

2. उन विभिन्न रीतियों का वर्णन कीजिये जिनके द्वारा कृषि उपज के मूल्य स्थिर रखे जा सकते हैं। क्या आपके विचार में मूल्यों का ऐसा स्थिरीकरण भारतीय किसान के हित में होगा ? कैसे ?

22

भारत में प्रमुख बृहत् उद्योग

(Major Industries of India)

1. लोहा तथा इस्पात उद्योग
(Iron and Steel iIndustry)

लोहा एवं इस्पात उद्योग भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण और आधारभूत उद्योगों में से एक है। देश की औद्योगिक प्रगति के लिए इस उद्योग का विकास अनिवार्य है। देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी इस उद्योग का बहुत महत्त्व है क्योंकि प्रत्येक प्रकार की लड़ाई के अस्त्र-शस्त्रों में लोहे का प्रयोग होता है। इसलिए यदि वर्तमान युग को 'लोहा व इस्पात युग' कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

संक्षिप्त इतिहास—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हमारा देश लोहे व इस्पात के उद्योगों के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। दिल्ली का लौह स्तम्भ संसार के वैज्ञानिकों एवं इंजीनियरों के लिए सदैव आश्चर्य की वस्तु रहा है। **प्रो० विल्सन** के शब्दों में "लोहे की ढलाई तो इंगलैण्ड में थोड़े ही वर्षों से आरम्भ की गई है, परन्तु हिन्दू लोग लोहा गलाने, ढालने और इस्पात बनाने की कला का ज्ञान प्राचीन काल से रखते हैं।" **वाडिया व मर्चेंट** के अनुसार "भारतवर्ष में चौथी व पाँचवीं शताब्दी से भी टिकाऊ व सुन्दर लोहे की वस्तुओं का उत्पादन होता था तथा ये वस्तुएँ विदेशों को पर्याप्त मात्रा में निर्यात की जाती थीं।" इस प्रकार, भारत प्राचीन काल से ही लोहा बनाने की पद्धति से परिचित था, परन्तु आधुनिक ढङ्ग से लोहा बनाने का प्रथम प्रयास सन् 1830 में किया गया, जो कि असफल रहा। सन् 1847 में बंगाल में **बराकर आयरन वर्क्स** की स्थापना की गई परन्तु यहाँ केवल लोहा ही बनाया जा सकता था, इस्पात नहीं। इसके पश्चात् निम्न कारखानों की स्थापना की गई—

1857—आसनसोल—बंगाल आयरन कम्पनी,

1875—बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,

1907—जमशेदपुर—टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,

1918—हीरापुर—इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,

1923—भद्रावती—मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

इसमें से बंगाल आयरन कम्पनी को सरकार ने खरीद लिया तथा 1881 में इसे बंगाल आयरन एण्ड स्टील को बेच दिया गया। यह सब कारखाने निजी उद्योग द्वारा स्थापित किये गये, केवल भद्रावती का कारखाना कर्नाटक सरकार द्वारा आरम्भ किया गया।

प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात्

प्रथम महायुद्ध ने इस उद्योग को, जो अपने बाल्यकाल में ही था, अधिक उन्नति करने का अवसर प्रदान किया। युद्ध के कारण लोहे एवं इस्पात का आयात घट गया। दूसरी ओर, देश में युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माँग में वृद्धि हो रही थी। साथ ही साथ अन्य देशों में भी लोहे तथा इस्पात की माँग बढ़ रही थी। सन् 1915 में कच्चे लोहे का उत्पादन 1·62 लाख टन था, जो सन् 1916-17 में बढ़कर 2·32 लाख टन हो गया। युद्ध-काल में टाटा कम्पनी ने उन्नति की। टाटा कम्पनी ने अपने विस्तार कार्यक्रम को सन् 1921-22 तक पूरा किया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध ने इसकी नींव को पूर्णरूप से सुदृढ़ बना दिया।

युद्ध के उपरान्त अन्य उद्योगों की तरह लोहा एवं इस्पात उद्योगों को भी कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। क्योंकि युद्ध समाप्त होने के बाद लोहे एवं इस्पात की सैनिक माँग समाप्त हो गई और साथ ही साथ इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का भी सामना करना पड़ा। अतः उद्योग की रक्षा के लिए संरक्षण की माँग की जाने लगी और सन् 1934 में इस उद्योग को 3 वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण के अधीन उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में ही वृद्धि हुई। सन् 1927 में संरक्षण की अवधि 7 वर्षों के लिए बढ़ा दी गई। परन्तु यह संरक्षण 31 मार्च सन् 1947 तक चलता रहा। इस प्रकार, 23 वर्ष तक इस उद्योग को बराबर संरक्षण मिलता रहा।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्

द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग की उन्नति एवं विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। माँग में आशातीत वृद्धि हुई, जिसके परिणामस्वरूप कीमतों में भी वृद्धि हुई। अतः बाध्य होकर सरकार को सन् 1944 में इसके उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण लगाना पड़ा। इससे उत्पादन की मात्रा के साथ ही माँग की किस्म में भी सुधार हुआ।

किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद अनेक कारणों से जैसे, माँग में कमी, मुद्रा स्फीति, देश का विभाजन, मशीनों की पुनर्स्थापना की समस्या, कच्चे माल की कठिनाई, श्रम समस्या आदि के कारण इस उद्योग को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा। उद्योग का उत्पादन घटने लगा। यह स्थिति सन् 1948 तक चलती रही। स्वतन्त्रता से पूर्व इस उद्योग में निम्न बड़े कारखाने थे। जिनका उत्पादन कुल मिलाकर लगभग 10 टन था—(क) **टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी**, जमशेदपुर, **(TISCO)**; **(ख) स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल (SCOR)**—जिसे सन् 1953 से

बर्नपुर की इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (HSCO) में मिला दिया गया है; (ग) भद्रावती, मैसूर में **मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स** ।

योजनाकाल में इस्पात उद्योग

1. **प्रथम योजना**—इस योजना में सिर्फ निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानों के विस्तार पर जोर दिया गया। (TISCO), (IISCO) तथा (MISW) (अब मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी) के विस्तार एवं आधुनिकीकरण के लिए योजनाएँ बनाई गयीं । टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विकास कार्यक्रम पर 34·14 करोड़ रुपये और मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विस्तार कार्यक्रम पर 13·86 करोड़ रुपये खर्च किए गए ।

2. **द्वितीय योजना**—वस्तुतः इस उद्योग के विकास के लिए ठोस कार्यक्रम द्वितीय योजना में ही लागू किया गया । प्रथम योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में तीन कारखानों की स्थापना के समझौते किए गए थे । उनका निर्माण द्वितीय योजना की अवधि में ही किया गया—(i) राउरकेला स्टील प्लान्ट (उड़ीसा) जर्मनी के दो फार्म—Krupf तथा Demag की सहायता से (ii) भिलाई स्टील प्लान्ट (मध्यप्रदेश) रूस सरकार की सहायता से (iii) दुर्गापुर स्टील प्लान्ट (पश्चिम बंगाल) ब्रिटेन की सहायता से सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों कारखानों का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (HSC) के अधीन रखा गया ।

द्वितीय योजना के अन्त में सन् 1960-61 में कच्चा लोहा 1·140 लाख टन स्टील 3·870 लाख टन तथा निर्मित स्टील 2·980 लाख टन उत्पादित किया गया ।

3. **तृतीय योजना**—इस योजना काल में निम्नलिखित प्रगति हुई—(i) इस्पात का उत्पादन 34 लाख टन से बढ़कर 62 लाख टन हो गया । (ii) भिलाई कारखाने की उत्पादन क्षमता 10 लाख मैट्रिक टन से बढ़ाकर 27·7 मीटरिक टन कर दी गई । (iii) राउरकेला में सन् 1965 में 10·7 लाख मीट्रिक टन लोहा और 10·8 लाख टन इस्पात की सिल्लियाँ उत्पन्न की गयीं । (iv) बोकारो कारखाना इस योजना काल में पूर्ण न हो सका।

4. **चतुर्थ योजना**—(i) चतुर्थ योजना में इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य 81 लाख टन रखा गया है । बोकारो स्टील प्लान्ट (रूस सरकार की सहायता से) की स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया लेकिन 1973-74 में तैयार इस्पात का उत्पादन 44·7 लाख ही हो सका। (ii) इस योजना की एक उल्लेखनीय बात यह थी की बोकारो में 1·7 मिलियन टन की प्रथम चरण की योजना का निर्माण कार्य काफी पूरा हो गया था । (iii) इसी योजना काल में सलेम (तमिलनाडु) विजयनगर (कर्नाटक) एवं विशाखापटनम् (आन्ध्र प्रदेश में) तीन नए इस्पात कारखानों की स्थापना के लिए योजना तैयार की गई ताकि पाँचवी योजना की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें (iv) 1972 में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को केन्द्र ने अपने हाथ में ले लिया ।

5. **पांचवीं योजना**—इस योजना में लोहा एवं इस्पात उद्योग के सार्वजनिक

कारखानों के विकास के लिए 1622 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान था। योजना के अन्त तक 28 लाख मीटरिक टन इस्पात के उत्पादन का अनुमान था।

छठी योजना—योजना के अन्तर्गत 3757·21 करोड़ रुपया व्यय करने का प्रावधान है। योजन के अन्त में इस्पात का उत्पादन (छोटे इस्पात संयंत्रों सहित) 11·5 मिलियन टन तथा 1989-90 में 17·4 मिलियन टन तक पहुँचाने का लक्ष्य है। योजना के अन्तर्गत इस्पात कारखानों की क्षमता बढ़ाने का भी प्रयत्न किया जायेगा लेकिन इसका लाभ योजना के अन्तिम वर्षों या सातवीं योजना में ही प्राप्त हो पायेगा।

वर्तमान स्थिति

1. **वर्तमान करखाने**—लोहा-इस्पात के कारखानों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: (अ) सरकारी क्षेत्र के कारखाने (ब) निजी क्षेत्र के कारखाने। इस समय देश में 6 इस्पात कारखाने हैं जिनमें से 5 सरकारी क्षेत्र और 1 निजी क्षेत्र में है।

वर्तमान में देश में लोहा एवं इस्पात उत्पन्न करने वाली प्रमुख इकाइयों का संक्षिप्त विवरण निम्न है।

इकाई का नाम	स्थापना	उत्पादन क्षमता इस्पात पिण्ड (लाख टन)	विक्रय योग्य इस्पात (लाख टन)
निजी क्षेत्र—			
टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	1907	20·00	15·00
सार्वजनिक क्षेत्र			
(i) भिलाई	1959	25·00	19·65
(ii) राउरकेला	1960	18·00	12·25
(iii) दुर्गापुर	1959	16·00	12·39
(iv) बोकारो	1965	25·00	20·00
(v) इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कं०	1919	10·00	8·00
योग		11,4·00	87·29

2. **लोहा एवं इस्पात का उत्पादन**—1950-51 में विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन केवल 10·4 लाख टन था जो बढ़कर 1981-82 में 72·7 लाख टन हो गया। इसी प्रकार 1950-51 में इस्पात पिण्डों का उत्पादन 14·7 लाख टन था जो बढ़कर 1981-82 में 109·4 लाख टन हो गया। इस प्रकार 1951-82 की अवधि में विक्रय योग्य इस्पात के उत्पादन में लगभग 6 गुनी व इस्पात पिण्डों के उत्पादन में

लगभग 7 गुनी वृद्धि हो गई। तालिका में विभिन्न वर्षों के लोहा एवं इस्पात उत्पादन को दर्शाया गया है।

वर्ष	1950-51	60-61	70-71	80-81	81-82	84-85
विक्रय योग्य इस्पात (लाख टन)	10·4	23·9	44·8	62·9	72·7	115·1
इस्पात पिण्ड (लाख टन)	14·7	34·2	61·4	73·5	109·4	144·5

3. **पूँजी व रोजगार**—यह उद्योग भारत का विशालतम एवं महत्वपूर्ण उद्योग है। इसमें 4000 करोड़ रुपए की पूँजी विनियोजित है तथा 2·5 लाख लोगों को रोजगार मिला हुआ है।

4. **आयात व निर्यात**—तीव्र औद्योगीकरण के साथ-साथ लोहा व इस्पात की माँग में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। यही कारण है कि विगत वर्षों में भारत को बड़े पैमाने पर इस्पात का आयात करना पड़ा तथा देश में लोहा-इस्पात की कमी के कारण इसके निर्यात में कमी हुई है। जैसा कि तालिका के अंकों से स्पष्ट हैं :—

वर्ष	आयात (करोड़ रु०)	निर्यात (करोड़ रु०)
1965-66	154·3	13·1
1975-76	311·9	68·0
1880-81	852·4	69·7
1981-82	1136·4	70·1

5, **स्थानीयकरण की प्रवृत्ति**—भारतीय लोहा एवं इस्पात उद्योग मुख्यतः बिहार, पं० बंगाल, मध्य प्रदेश व उड़ीसा में केन्द्रित हो गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस उद्योग के लिये आवश्यक कच्चा माल जैसे कच्चा लोहा, चूना, कोयला तथा मैंगनीज आदि इन स्थानों पर आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। नये कारखानों की स्थापना करते समय भी कच्चे माल की प्राप्ति पर विशेष ध्यान दिया गया है।

6. **रुग्णता (बीमारी) की स्थिति**—लोहा एवं इस्पात उद्योग में भी रुग्णता की स्थिति बनी हुई है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की रिपोर्ट 1977 के अनुसार देश की 20 वृहत् व लघु इस्पात इकाइयाँ रुग्ण थीं। इन इकाइयों को लाभ की स्थिति में लाने के लिये प्रतिस्थापन व अभिनवीकरण पर 41·57 करोड़ रुपये व्यय करने की

आवश्यकता थी। लोहा एवं इस्पात उद्योग के मिनी स्टील प्लांट में रुग्णता की समस्या अधिक गम्भीर है।

7. **खपत**—भारत में प्रति व्यक्ति एक किलो ग्राम इस्पात कार्य में आता है, जबकि विकसित देशों में प्रति व्यक्ति खपत 800 कि० ग्रा० है।

8. **लघु इस्पात संयंत्र**—इस समय देश में 169 लाइसेन्सशुदा लघु इस्पात संयंत्र हैं जिनकी कुल वार्षिक क्षमता 44 लाख टन की है।

सन् 1982-83 में उनका उत्पादन 20·5 लाख टन इस्पात पिण्डों का था।

9. **विपणन व्यवस्था**—लोहा एवं इस्पात उद्योग के सार्वजनिक क्षेत्र के इस्पात संयन्त्रों की विपणन व्यवस्था स्टील ऑथोरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड द्वारा की जाती है। स्टील ऑथोरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड के बिक्री केन्द्र सम्पूर्ण देश में फैले हुये हैं जिनके माध्यम से विभिन्न इस्पात संयंत्रों द्वारा उत्पन्न माल की बिक्री की जाती है। निजी क्षेत्र के इस्पात कारखानों द्वारा उत्पन्न माल की बिक्री से भी स्टील ऑथोरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड आवश्यक सहयोग व सलाह प्रदान करता है। लोहा एवं इस्पात का मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है। सरकारी नीतियों में परिवर्तन के साथ-साथ लोहा एवं इस्पात के मूल्यों में भी उतार-चढ़ाव की स्थिति बनी रहती है।

10. **भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि० (सेल)**—लोहा-इस्पात उद्योग को कच्चा माल एवं अन्य सामग्री प्रदान करने वाले सम्बन्धित क्षेत्रों के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से सरकार ने 'एक स्टील होल्डिंग कम्पनी' के रूप में जनवरी सन् 1973 को भारतीय इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड की स्थापना की गई। अक्टूबर 1977 में सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के इस्पात कारखानों और सेल के ढांचे और कार्यकलापों का पुनरीक्षण किया और यह महसूस किया गया कि इस्पात मन्त्रालय और उद्योग के बीच एक संग्रहकर्ता (होल्डिंग) कम्पनी की कोई आवश्यकता नहीं। तदनुसार 1 मई 1978 से लागू होने वाले सार्वजनिक क्षेत्र की लोहा और इस्पात कम्पनी (पुनर्गठन) और सामान्य प्रावधान अधिनियम 1978 के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में स्थिति इस्पात उद्योग का पुनर्गठन किया गया। इस प्रकार सेल अपने सार्वजनिक क्षेत्र में स्थिति पाँच इस्पात स्कन्धों जिनमें भारतीय लोहा और इस्पात कम्पनी (इस्को) भी शामिल है, के साथ एक संगठित इस्पात कम्पनी के रूप में उभरी। इसका उद्देश्य बेहतर प्रबन्ध और इनके परिचालन में अधिक कुशलता सुनिश्चित करना है।

31 मार्च 1982 को इसकी अधिकृत पूँजी 4000 करोड़ रु० और चुकता पूँजी 3177·66 करोड़ रु० थी।

11. **नए प्रस्तावित कारखाने :**

(अ) सेलम इस्पात कारखाना—32,000 टन स्टेनलेस स्टील की चादरों और पट्टियों को उपकरणों के माध्यम से तावरहित मोड़ने के उत्पादन की क्षमता वाला

सेलम इस्पात कारखाना सितम्बर 1981 को चालू हो गया। 31 मार्च, 1982 से इसने व्यापारिक उत्पादन करना शुरू कर दिया है।

(ब) **विशाखापट्टनम इस्पात परियोजना**—विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश) इस्पात परियोजना का निर्माण दो चरणों में किया जा रहा है। प्रथम चरण का कार्य अक्टूबर 1981 से चालू हो चुका है। इसके सन् 1985 तक पूर्ण होने की सम्भावना है।

इस योजना में 1986 के प्रारम्भ तक 21 लाख टन तरल-इस्पात की उत्पादन-क्षमता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है तथा 1987 के अन्त तक सम्पूर्ण परियोजना की 34 लाख टन तरल-लोहे की वार्षिक क्षमता प्राप्त हो जाएगी।

अनुमान है कि परियोजना पर कुल 3,897·28 करोड़ रुपए की लागत आएगी जिसमें 679·50 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा लगेगी।

(स) **विजयनगर इस्पात परियोजना**—स्टील आँथोरिटी आँफ इण्डिया में विजयनगर (कर्नाटक) परियोजना की संशोधित रिपोर्ट सरकार को दे दी है। इस परियोजना की इस्पात उत्पादन क्षमता 3·1 मिलियन टन होगी। परियोजना की लागत 2962·9 करोड़ रुपये होने का अनुमान है। परियोजना रिपोर्ट पर सरकार विचार कर रही है।

(द) **पाराद्वीप इस्पात परियोजना**—सरकार ने पाराद्वीप (उड़ीसा) इस्पात परियोजना के निर्माण हेतु ब्रिटेन की डेवी निगम (Davy Corporation) से अनुबन्ध कर लिया है। इस परियोजना की लागत 2·87 बिलियन डालर होगी तथा इसकी इस्पात उत्पादन क्षमता 1·5 मिलियन टन होगी।

12. **दीर्घकालीन योजना**—भारत में लोहा एवं इस्पात उद्योग के विकास, विस्तार एवं तकनीकी क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लिए 27 मई, 1976 को संसद में एक श्वेत पत्र प्रस्तुत किया गया था। जिसके अधीन सन् 2000 तक साढ़े सात करोड़ टन की क्षमता पैदा करने की व्यवस्था करने का प्रावधान है। इस्पात मन्त्री के अनुसार सन् 1980 तक हमारी क्षमता 1·8 करोड़ टन करने का था। इसके बाद 20 वर्षों में प्रतिवर्ष लगभग 25 लाख टन अतिरिक्त इस्पात उत्पादन की क्षमता का निर्माण किया जायेगा। भारत में खनिज लोहे की कोई कमी नहीं है। अन्य कच्चे माल की भी नहीं है। इसके अतिरिक्त तकनीकी कुशलता, प्लाण्ट निर्माण की क्षमता और निर्माण कार्य में पर्याप्त अनुभव भी देश में ही उपलब्ध हैं। यदि साधनों की कठिनाइयाँ इस्पात उत्पादन के मार्ग में नहीं आई तो इस्पात उत्पादन का लक्ष्य सन् 2000 तक पूरा किया जा सकेगा। एक अनुमान के अनुसार अगले 25 वर्षों में देश में इस्पात की माँग बढ़कर 6 करोड़ टन हो जायेगी। भारत इस प्रकार इस्पात उत्पादन में विश्व के कुछ उन्नत देशों की श्रेणी में सम्मिलित हो सकेगा।

उद्योग की प्रमुख समस्याएँ व समाधान

1. **दोषपूर्ण मूल्य नीति**—इस्पात मूल्यों का निर्धारण पूर्णतया सरकार के

अधीन था परन्तु मई 1967 से इस्पात के वितरण तथा मूल्यों पर केवल आंशिक नियन्त्रण रखा गया है। परन्तु आंशिक नियन्त्रण के अन्तर्गत भी इस्पात कम्पनियों को मूल्य बढ़ाने की छूट नहीं है। यही कारण है पिछले वर्षों से सरकारी इस्पात कारखानों के साथ-साथ निजी कारखानों को भी घाटा हो रहा है। इस्पात उद्योग के विकास पर इस प्रकार की अविवेकपूर्ण मूल्य नीति का प्रतिकूल प्रभाव ही होता है।

अलाभकारी मूल्यों के कारण ही लोहा एवं इस्पात उद्योगों में पूँजी निर्माण की दर कम है और इस उद्योग के सामने पूँजी की समस्या बनी रहती है। श्री जे० आर० डी० टाटा के अनुसार—"भारत में लोहे एवं इस्पात की संरचनात्मक वस्तुओं के मूल्य ब्रिटेन व अमेरिका की तुलना में 65 प्रतिशत व 64 प्रतिशत कम है।"

2. **कच्चे कोयले की कमी**—भारत में लोहे को गलाने के लिए कच्चे कोयले का बहुत अभाव है। इस्पात उद्योग की प्रगति के साथ कच्चे कोयले की माँग, पूर्ति की अपेक्षा अधिक बढ़ रही है। अच्छे कोयले की कमी के कारण घटिया किस्म के कोयले को काम में लाना पड़ता है, जिसमें राख का अंश अधिक होता है। इससे उत्पादन कम होता है तथा लागत में वृद्धि होती है।

एक सर्वे के अनुसार—1951 व 1963 के बीच भारतीय इस्पात उद्योग में प्रतिश्रमिक विनियोग 4 हजार रुपये से बढ़कर 37 हजार रुपये हो गया जबकि पूर्ति श्रमिक उत्पादन में 50 प्रतिशत ही वृद्धि हुई। उत्पादकता में अनुपातिक वृद्धि का न होना एक प्रकार से लागत वृद्धि का न होना एक प्रकार से लागत वृद्धि का ही द्योतक है।

उपाय—इस समस्या को हल करने लिए कोयले धोने वाले कारखानों को स्थापित किया जा रहा है। बिजली की भट्टियाँ तैयार करके ईंधन की समस्या का आंशिक समाधान सम्भव है। सरकारी क्षेत्र में इस्पात कारखानों को धुला कोयला उपलब्ध कराने के लिए हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के दुर्गापुर, दुगड़ा, पाथरडीह तथा भोजूडीह में अपना कोयला धुलाई घर है।

3. **परिवहन रुकावटें**—अच्छी परिवहन सुविधाओं के अभाव के कारण कच्चे मालों की पूर्ति में अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं।

उपाय—उद्योग में प्रयुक्त खनिज लोहा, कोयला, चूना, मैंगनीज आदि को ढोने के लिए रेलवे या जल यातायात की व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि ये सभी भारी कच्चे माल हैं। कोयले तथा खनिज लोहे की लगातार कुशल पूर्ति के लिए अधिक रेलवे बैंगनों की व्यवस्था की जाये। बार-बार रेलवे परिवहन में आने वाली रुकावटों को दूर कराने की आवश्यकता है। पिछले 2 वर्षों में कोयले की ढुलाई व्यवस्था में प्रर्याप्त सुधार हुआ है।

4. **तकनीकी व प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव**—इस उद्योग के लिए उच्च

कोटि की तकनीक व प्रशिक्षित कर्मचारी देश में नहीं मिल पाते फलस्वरूप बहुत अधिक वेतन देकर विदेशों से इन्हें बुलाना पड़ता है।

उपाय—ज्यों-ज्यों देश में प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ती जाएँगी, यह समस्या इतनी गम्भीर नहीं रहेगी। हमारी योजनाओं के अन्तर्गत इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं।

5. **सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों में अप्रयुक्त क्षमता का अधिक होना**—देश में एक तरफ इस्पात की कमी है तथा दूसरी तरफ सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े करखानों में अप्रयुक्त क्षमता बनी हुई है।

उपाय—अप्रयुक्त क्षमता के प्रयोग के उपाय किये गये हैं, परन्तु अभी भी 35.40 प्रतिशत क्षमता अप्रयुक्त है। सम्भवतया आवश्यक कार्यवाही करने पर 1978-79 तक प्रयुक्त क्षमता 90 प्रतिशत तक पहुँच जायेगी।

6. **ऊँची लागत समस्या**—भारत में इस्पात निर्माण की लागत दुनिया के अन्य देशों की तुलना में अधिक है जबकि खनिज पदार्थों की उपलब्धि को देखते हुए यह बहुत कम होनी चाहिए। खनिज लोहे में इल्यूमिनियम तत्त्व का अधिक होने, कोकिंग कोयले का अभाव, श्रमिकों की उत्पादकता कम होने आदि के कारण लागत अधिक है। मुद्रा-स्फीति, उत्पादन कर, भाड़ा व कस्टम आदि में वृद्धि के कारण भी लागत बढ़ी है अतः इन तत्त्वों पर सख्त नियंत्रण की आवश्यकता है।

7. **श्रम अशांति**—भारत में लोहे एवं इस्पात उद्योग में श्रम अशान्ति की एक विकट समस्या है। श्रम अशान्ति सार्वजनिक क्षेत्र के कारखानों में और विशेषतः दुर्गापुर संयंत्र में अधिक है।

उपाय—श्रम संघों से इस समस्या के समाधान के लिए दीर्घकालीन समझौते किये जायँ तथा मजदूरी को उत्पादकता से सम्बन्धित कर दिया जाना चाहिए। श्रम संघों को समय की पुकार को समझकर उत्पादन बढ़ाने एवं शांति बनाये रखने में अपना योगदान देना चाहिये।

8. **अन्य समस्याएँ**—इस्पात के उचित वितरण, मूल्य नियंत्रण, मशीनों का अभाव, पूँजी की कमी आदि अनेक समस्याएँ भी इस उद्योग के विकास में बाधक हैं। सरकार को इन सब समस्या का समाधान करने के लिये आवश्यक सहायता प्रदान करनी चाहिये। विदेशों से आयात किये गये इस्पात का मूल्य कम बैठता है परन्तु इसका विक्रय मूल्य आन्तरिक उत्पादन मूल्य के अनुसार बढ़ाकर निर्धारित किया जाता है और इस प्रकार उपलब्ध आधिक्य इस्पात विकास कोष में डालकर इस्पात उद्योग के विकास से सम्बन्धित कार्यों पर व्यय किया जाता है।

भविष्य—इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। इस्पात उद्योग के विकास के लिए सभी प्रकार का कच्चा माल देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। नये इस्पात कारखानों के लिए तकनीकी कुशलता भी देश के अन्दर विकसित हो चुकी है। इस्पात कारखानों के लिए आवश्यक यन्त्रों और उपकरणों का निर्माण भी देश में

होने लगा है और योजनाबद्ध रीति से इस्पात उत्पादन को बढ़ाने के लिए कार्यक्रम चल रहा है।

2. सूती वस्त्र उद्योग
(Cotton Textile Industry)

सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे प्राचीन और प्रमुख राष्ट्रीय उद्योग है। इसको औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में जीवन डालने वाला उद्योग भी कहा जाता है। **बुकानन** के शब्दों में—"सूती वस्त्र उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव और वर्तमान में कष्टों का कारण किन्तु सदा की आशा है।"

स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"रखा नली में बाँस की जो थान कपड़े का नया,
आश्चर्य अम्बारी सहित हाथी उसी से ढक गया।
वे वस्त्र कितने सूक्ष्म थे कर लो जिनकी कई तहें,
शहाजादी के अङ्ग फिर भी झलकते जिनमें रहें।"

विदेशों में विभिन्न प्रकार के भारतीय वस्त्र अनेक नामों से प्रसिद्ध थे। तत्कालीन भारत की यात्रा करने वाले विदेशी लोगों ने यहाँ के सूती वस्त्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह महत्वपूर्ण उद्योग भारत में 18वीं शताब्दी तक निर्बाध गति से विकसित होता रहा। **आर० सी० दत्त के** शब्दों में **"बुनाई का काम जनता का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई का काम लाखों स्त्रियाँ करती थीं।"**

संक्षिप्त इतिहास—सूती वस्त्र उद्योग लगभग एक शताब्दी पुराना है। भारत में सूती कपड़े की प्रथम मिल सन् 1818 में कलकत्ते के पास हुसरी नामक स्थान पर बनी थी, परन्तु प्रथम सफल मिल सन् 1845 में बम्बई में स्थापित की गयी थी। धीरे-धीरे इस उद्यम का विकास बम्बई तथा अहमदाबाद में होने लगा। सन् 1861 तक बम्बई में 9 तथा अहमदाबाद और बड़ौदा में 1-1 मिल खुल चुकी थी।

अमेरिका के गृहयुद्ध के कारण कुछ काल के लिए इसकी प्रगति रुकी रही, किन्तु सन् 1870 के बाद इस उद्योग ने पुनः प्रगति करना आरम्भ किया। 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में कई बड़े अकाल पड़े जिनका सूती वस्त्र उद्योग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। परन्तु 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्वदेशी आन्दोलन विद्युत शक्ति का आविष्कार, बढ़ी हुई माँग आदि के कारण इस उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। सन् 1905 से सन् 1910 की अवधि में धागा व्यापार और बुनकर मिलों के वस्त्र को ऊँचे लाभ के लिए सम्मिलित करना था। सन् 1914 में मिलों की संख्या 274 थी और संसार के सूती वस्त्र उद्योग में भारत का चतुर्थ स्थान था।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस उद्योग की दो विशेषताएँ थीं—(1) तकुवे की तुलना में मिलों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि। (2) उत्तम धागों का उत्पादन।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात—प्रथम महायुद्ध के समय आयात में कटौती हो जाने, विदेशी बाजार के विस्तार तथा युद्ध सम्बन्धी माँग की वृद्धि के कारण इस

उद्योग के विकास को अच्छा अवसर मिला। परन्तु युद्ध के उपरान्त स्थिति बिगड़ने लगी, विशेषकर जापान की प्रतिस्पर्धा तेज होने के कारण भारतीय धागे के निर्यात में भारी कमी आई।

संरक्षण—सूती वस्त्र उद्योग की स्थिति इतनी खराब थी कि श्रमिकों की मजदूरी घटानी पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप श्रमिकों ने सामान्य हड़ताल की और सन् 1926 में उद्योग ने संरक्षण के लिए प्रार्थना की। सन् 1927 में उद्योग की संरक्षण की माँग स्वीकृत हुई; जिसके अनुसार विदेशी कपड़े के आयात पर कर लगाया गया। संरक्षण के अन्तर्गत इस उद्योग की प्रगति बड़ी तेजी से हुई। मिलों, करघों, तकुओं आदि की संख्या में वृद्धि हुई और आयात कम होता गया।

द्वितीय महायुद्ध—द्वितीय महायुद्ध ने इस उद्योग को साँस लेने का अवसर दिया और इसकी दशा को सुधारने में अत्यधिक सहायता की। इस युद्ध काल में जापान से कपड़े का आयात बन्द कर दिया गया और मित्र देशों की सेनाओं के लिए कपड़े के विशाल आर्डर प्राप्त हुए इस प्रकार, कपड़ों की माँग में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सन् 1944 में 485 करोड़ गज कपड़े का उत्पादन हुआ जो, अब तक हुए उत्पादन में सबसे अधिक था। किन्तु फिर भी देश में कपड़े की अत्यधिक कमी के कारण मूल्यों में वृद्धि हुई, जिसकी रोक-थाम के लिए सन् 1943 में भारत सरकार ने सूती वस्त्र और धागा नियन्त्रण आदेश पारित किया।

मूल्य, उत्पादन तथा वितरण पर लगाए गए नियंत्रण कई वर्षों तक चलते रहे। सन् 1947 में देश-विभाजन से सूती कपड़े-उद्योग को बहुत अधिक धक्का लगा, क्योंकि मिलें तो भारतीय क्षेत्र में स्थित थी, जबकि लम्बी कपास उत्पन्न करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में चला गया। अविभाजित भारत कपास का निर्यात करता था, परन्तु अब कपास का आयात करना पड़ा। सन् 1947 में सूती कपड़ा उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। सन् 1949 में भारत ने रुपये का अवमूल्यन किया, परन्तु पाकिस्तान ने सन् 1955 तक अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया और साथ ही व्यापारिक समझौतों के अन्तर्गत किए गये वादों का भी पालन नहीं किया। सन् 1950 का वर्ष भी हड़ताल तथा कपास की कमी के कारण अच्छा नहीं रहा। इस प्रकार, विभिन्न कारणों से सन् 1944 के उपरान्त कपड़े का उत्पादन कम रहा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—सन् 1951 से लेकर सूती कपड़ा उद्योग ने बहुत उन्नति की है। इस योजना को चलाते समय यह ध्यान रखा गया कि सूती वस्त्र उद्योग द्वारा देश की अतिरिक्त माँग की पूर्ति हो सके तथा पर्याप्त मात्रा में निर्यात भी किया जा सके। इस योजना काल में अच्छी फसलों और बढ़ते हुए सरकारी व्यय के कारण कपड़े की अतिरिक्त माँग में बहुत वृद्धि हुई, जिससे सूती कपड़ा उद्योग के उत्पादन में, योजना के लक्ष्य से भी अधिक वृद्धि हुई। सन् 1951 में कपड़े का उत्पादन 373 करोड़ मीटर था जो बढ़कर 1955 में 468 करोड़ मीटर हो गया। यह अब तक का सर्वाधिक उत्पादन है। इस योजना के आरम्भ में प्रति व्यक्ति कपड़े की

खपत 10·98 मीटर थी, परन्तु योजना के अन्त में प्रति व्यक्ति औसत खपत बढ़ कर 14·34 मीटर हो गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया था कि देश में प्रति व्यक्ति वस्त्र की वार्षिक खपत 14·3 मीटर से बढ़कर 17·2 मीटर हो जानी चाहिए। प्रति वर्ष सौ करोड़ रुपये के निर्यात का लक्ष्य भी रखा गया। परन्तु माँग की कमी के कारण कई मिलें तो बन्द हो गईं और कुछ केवल नाम मात्र की ही चल रही थीं। मिलों में कपड़े का भण्डार जमा हो गया था। सन् 1960 में हमारे कपड़े का उत्पादन केवल 461 करोड़ मीटर ही था। यद्यपि इस योजना अवधि में कपड़ों का उत्पादन माँग से अधिक था, परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कपड़े के मूल्यों में कमी नहीं हुई।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इसमें सूती वस्त्र का उत्पादन 1965-66 ई० में 550 करोड़ मीटर करने का आयोजन था। अनुमान लगाया गया था कि 1965-66 ई० में आंतरिक उपभोग के लिए 805 करोड़ मीटर तथा निर्यात के लिए 80 करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता पड़ेगी, यानी 1965-66 ई० में कुल 885 करोड़ मीटर तथा विकेन्द्रित क्षेत्र का 335 करोड़ मीटर निश्चित किया गया। किन्तु योजना का यह लक्ष्य पूरा नहीं हो सका तथा 1965-66 ई० में सूती वस्त्र का उत्पादन 440 करोड़ मीटर तथा सूत का उत्पादन 90·8 करोड़ किलोग्राम ही हुआ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—इस योजना में मिल क्षेत्र के उत्पादन को मार्च 1874 तक 510 करोड़ मीटर तक बढ़ाने का आयोजन किया गया था। परन्तु इस योजना में सूती वस्त्र की प्रगति बहुत ही असंतोषजनक रही है और लक्ष्य पूरे नहीं हो सके हैं।

पंचम पंचवर्षीय योजना—पाँचवीं योजना में सूती वस्त्र के कुल उत्पादन को 850 करोड़ मीटर करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष 1977-78 में सूती वस्त्र का उत्पादन केवल 844 करोड़ मीटर था।

छठी योजना—1984-85 तक 13,300 मिलियन मीटर कपड़े की आवश्यकता होगी जिसमें 1400 मिलियन मीटर की आवश्यकता निर्यात हेतु होगी। इसमें से 4900 मि० मीटर मिल क्षेत्र 4300 मि० मीटर पावरलूम तथा शेष 4100 मि० मीटर हथकर्घा द्वारा उपलब्ध कराया जायेगा।

वर्तमान स्थिति

1. **मिलों की संख्या**—वर्तमान समय में कपड़ा की 803 मिलें हैं।

2. **रोजगार और पूंजी**—इस उद्योग में 10 लाख से अधिक व्यक्ति कार्य कर रहे हैं। लगभग 330 करोड़ रुपए के विनियोग वाला यह उद्योग देश का सबसे बड़ा उद्योग है।

3. **उत्पादन**—1950-51 में सूती वस्त्रों का कुल उत्पादन 421·5 करोड़

मीटर था जो 1981-82 में बढ़कर 798·3 करोड़ मीटर हो गया। जैसा कि नीचे सारणी में दर्शाया गया है।

वर्ष	सूती धागा (करोड़. कि. ग्राम)	वस्त्र उत्पादन (करोड़ मीटर)		कुल
		मिल क्षेत्र	विकेन्द्रित क्षेत्र	
1950-51	53·4	340·1	81·4	421·5
1960-61	80·1	464·9	208·9	537·8
1970-71	92·8	405·5	354·1	759·6
1980-81	126·1	343·4	493·4	830·8
1981-82	98.9	292·3	506·0	798·3
1984-85	—	490·0	840·0	1330·0

4. **कपड़े की खपत**—भारत में कपड़े की खपत अत्यन्त कम है। 1982 में प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत 15·25 मीटर थी।

5. **निर्यात**—भारत अपने कुल उत्पादन का लगभग 8 प्रतिशत ही निर्यात कर पा रहा है। गत वर्षों में भारतवर्ष के निर्यात की मात्रा में निरन्तर गिरावट आयी है। सूत के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई है।

वर्ष	1955-56	1969-70	1973-74	1980-81	1981-82	1984-85 (लक्ष्य)
निर्यात (करोड़ रु.)	87·4	69·7	195.1	276·5	272·5	400·0

6. **वितरण**—भारत में सूती कपड़ा के व्यवसाय में महाराष्ट्र का स्थान सर्वप्रथम है। इसके पश्चात् गुजरात, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, व राजस्थान का स्थान है। विभिन्न राज्यों में वस्त्र उद्योग के प्रमुख क्षेत्रों को अग्रलिखित सारिणी द्वारा दर्शाया गया है :—

राज्य	प्रमुख क्षेत्र
महाराष्ट्र	बम्बई, पूना, शोलापुर, नागपुर, वर्धा
गुजरात	अहमदाबाद, सूरत, बड़ौदा, राजकोट, भावनगर, पोरबन्दर
पश्चिमी बंगाल	कलकत्ता, हावड़ा, चौबीस परगना
उत्तर प्रदेश	कानपुर, वाराणसी, सहारनपुर, मोदीनगर, हाथरस
पंजाब	अमृतसर, लुधियाना
राजस्थान	जयपुर, अजमेर, बियावर, कोटा, किसनगढ़
तमिलनाडु	मद्रास, कोयम्बटूर, त्रिचनापल्ली, सलेम, पाण्डिचेरी
मध्यप्रदेश	जबलपुर, इन्दौर, ग्वालियर, भोपाल, रायपुर
आंध्रप्रदेश	हैदराबाद, सिकन्दराबाद, औरंगाबाद, गंटूर
हरियाणा	भिवानी, हिसार
दिल्ली	दिल्ली
बिहार	गया
केरल	क्विलोन
कर्नाटक	मैसूर और बंगलौर
असम	सिल्चर

7. **तैयार वस्त्रों का निर्यात**—विगत कुछ वर्षों में तैयार-वस्त्रों के निर्यात में तेजी से वृद्धि हुई है। 1970-71 में तैयार वस्त्रों के निर्यात का मूल्य 86 मिलियन रुपये था जो बढ़कर 1981-82 में 5479 मिलियन रुपये हो गया। वर्तमान में भी तैयार-वस्त्रों के निर्यात पर सरकार विशेष बल दे रही है।

8. **विश्व में स्थान**—सूती वस्त्र उद्योग की दृष्टि से भारत का विश्व में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान में करघों की दृष्टि से भारत का द्वितीय स्थान है। प्रथम स्थान चीन का है। कपास के उपभोग की दृष्टि से भारत का स्थान चौथा है। प्रथम द्वितीय व तृतीय स्थान क्रमशः चीन, रूस व संयुक्त राज्य अमेरिका है।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग की मुख्य समस्याएँ

इस समय हमारे सूती वस्त्र उद्योग के सम्मुख निम्नलिखित समस्याएँ हैं, जिनके समाधान से ही इस उद्योग की आशातीत उन्नति की जा सकती है।

1. **पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन की समस्या**—द्वितीय महायुद्ध काल में सूती वस्त्र मिलों में दो-दो अथवा तीन-तीन पालियों तक काम हुआ जिससे अधिकांश मशीनें प्रायः जीर्ण-शीर्ण हो गईं। अतः मिलों की सबसे बड़ी समस्या मशीनों के पुरानेपन की है।

2. **वैज्ञानिकीकरण और आधुनिकीकरण**—हमारी वर्तमान मशीनें न केवल पुरानी ही हैं, बल्कि पुराने ढंग की भी हैं। 'विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए पुरानी मशीनों का आधुनिकीकरण अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रीय औद्योगिक

विकास निगम द्वारा नियुक्त अध्ययन दल का मत था कि मिलों के पूर्ण आधुनिकीकरण के लिए 800 करोड़ रुपए की आवश्यकता होगी। परन्तु इस सम्बन्ध में तीन कठिनाइयाँ हैं : पहली तो यह कि मिलों के पास आधुनिकीकरण के लिए पर्याप्त कोष नहीं है। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की ओर से नई मशीनें लगाने के लिए पूँजी की व्यवस्था की जा रही है। दूसरी बड़ी कठिनाई सूती वस्त्र उद्योग सम्बन्धी मशीनों की उपलब्धि है। निर्यात सहायता योजना के अधीन आधुनिकीकरण के लिए सूती कपड़ा उद्योग मशीनरी के आयात के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। तीसरी बड़ी कठिनाई यह है कि वैज्ञानिकीकरण तथा आधुनिकीकरण कार्यक्रम का विरोध स्वयं संगठित श्रम द्वारा किया जा रहा है, क्योंकि इससे बेरोजगारी बढ़ जाने की सम्भावना है। जोशी समिति की सिफारिश पर मिलों को इस शर्त पर स्वचालित करघे लगाने की स्वीकृति दी गई है कि इन नए करघों का समस्त उत्पादन निर्यात किया जाएगा।

3. **विदेशी प्रतियोगिता तथा निर्यात**—विदेशी बाजार में स्पर्धा बढ़ रही है। गत कुछ वर्षों से जापान, हांगकांग, पाकिस्तान और ब्रिटेन से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। भारतीय कपड़ा हांगकांग, ताइवान, पाकिस्तान, कोरिया आदि की तुलना में 40 प्रतिशत मँहगा होने से विदेशों में उसकी माँग घटती जा रही है। निर्यात जिस तेजी से घट रहे हैं उससे उद्योग व सरकार दोनों ही चिंतित हैं। निर्यात में कमी का मुख्य कारण है उत्पादन की लागत में निरंतर वृद्धि, रुई की कीमत व ईंधन आदि की लागत में लगातार वृद्धि।

4. **कच्चे माल का अभाव**—कपास के सम्बन्ध में आज भी हमारा देश स्वावलम्बी नहीं हो पाया है। देश-विभाजन के कारण भारत में कपास का अभाव हो गया है, जिससे भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को कपास के अभाव का सामना करना पड़ रहा है। सन् 1965 के अन्त तथा सन् 1966 के प्रारम्भ में कपास के पर्याप्त स्टाक न होने के कारण बम्बई और गुजरात की मिलें कुछ काल के लिए बन्द करनी पड़ीं अथवा उनमें काम कम कर दिया गया। इस समय हम लगभग 20 करोड़ रुपये से लेकर 80 करोड़ रुपये का कपास बाहर से आयात करते हैं।

5. **हाथ करघा एवं मिल उद्योग के समन्वय की समस्या**—भारत में कुल सूती वस्त्र के उत्पादन का प्रायः 45 प्रतिशत भाग विकेन्द्रित क्षेत्र, विशेषतः हाथ करघा व बिजली से चलने वाला करघा उद्योग द्वारा उत्पन्न किया जाता है। हाथ करघा उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार द्वारा मिल उद्योग के कपड़े के मूल्य, उत्पादन तथा किस्म पर कई प्रकार से प्रतिबन्ध लगाये गये, जिससे प्राप्त आय का उपयोग हाथ करघा उद्योग के विकास के लिए किया जाता है। हाथ करघा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित है। परन्तु मिल मालिकों का कहना है कि मिलों के उत्पादन की सीमा निर्धारित करके व कर लगाकर हाथ करघा उद्योग का विकास करना उचित नहीं है। मिल उद्योगों के हितों की भी रक्षा की जानी चाहिए। अतः सूती कपड़ा उद्योग विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है।

11. **अन्य समस्याएँ व कठिनाइयाँ**—(अ) सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन शुल्क में निरन्तर वृद्धि करती जा रही है जिससे इसके मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। 1963 और अगस्त 1974 के बीच उत्पादन-लागत में 50 प्रतिशत वृद्धि हुई है, परन्तु इसके विरुद्ध कपड़े की कीमत में लगभग 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। परिणामतः लाभ की मात्रा और भी कम हो गयी (ब) भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के **श्रमिकों की उत्पादकता** अत्यन्त न्यून है। उदाहरण के लिए अमेरिका में एक हजार तकुओं की देखभाल के लिए दो श्रमिकों की आवश्यकता होती है, जबकि भारत में इसी कार्य के लिए 10 श्रमिक रखे जाते हैं। (स) भारतीय सूत्री वस्त्र के सामने एक समस्या **प्राविधिक** जानकारी की कमी है। इसके लिए नयी प्राविधिक उद्योग प्रशिक्षण संस्थायें स्थापित की जानी चाहिए। (द) सूती कपड़ा उद्योग को पर्याप्त तथा निरन्तर **बिजली व शक्ति** न मिलने के कारण भी बहुत-सी कठिनाइयाँ होती हैं। (य) सूती वस्त्र उद्योग को कृत्रिम रेशा वस्त्रोद्योग जैसे टैरीकाट, टैरीलीन इत्यादि से काफी प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही है, क्योंकि कृत्रिम रेशों का उपयोग और उत्पादन बढ़ रहा है (र) **श्रमिक संकट** मँहगाई के कारण दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। (ल) इस उद्योग को ऋण देने की नीति बहुत कठोर बना दी गई है। ऋणों की मार्जिन और ब्याज की दरें काफी बढ़ गई हैं। फलतः उद्योगों के सामने वित्तीय कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई हैं। (व) वर्तमान समय में राष्ट्रीयकृत मिलों के पास अर्थात् राष्ट्रीय वस्त्र निगम के पास बिना बिके कपड़े का अम्बार लगा हुआ है।

समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

1. **आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन**—प्रत्येक सुदृढ़ मिल के लिए कानूनी रूप से यह आवश्यक कर दिया जाना चाहिए कि वह अगले दस वर्षों में अपनी आधुनिकीकरण करने की योजना बनाए और सरकार से स्वीकार करा कर इस सन्दर्भ में उचित कदम उठाए। इसके लिए केन्द्र व राज्यों में आवश्यक सरकारी मशीनरी की व्यवस्था सरकार द्वारा की जानी चाहिए।

2. **बीमार मिलों का निदान**—बीमार मिलों को सुदृढ़ मिलों में मिलाने की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि वे भी सुदृढ़ मिलों के साथ मिलकर अपना कार्य कर सके। इनकी व्यवस्था सरकार को भी अपने हाथों में ले लेना चाहिए ताकि इनकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि की जा सके और उत्पादन को लाभदायक बना सके।

3. **लागत में कमी**—ऊँची लागत को कम करने और उद्योग की लाभदायकता को बढ़ाने के लिए उद्योग को आधुनिकीकरण के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ जैसे मशीनरी आयात, विदेशी मुद्रा, वित्तीय प्रबन्ध आदि उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

4. **कपास उत्पादन हेतु प्रोत्साहन**—कपास की पूर्ति में वृद्धि करने के लिए किसानों को अधिक कपास उत्पादन की प्रेरणा दी जानी चाहिए इसके लिए समर्पित

मूल्यों (Support Prices) में वृद्धि की जानी चाहिए। देश में कपास की सामान्यतया कमी रहती है अतः उसको समय से पूर्व आयात करके, भण्डारण के रूप में रखने की व्यवस्था 'भारतीय कपास निगम' के द्वारा प्रभावी ढंग से की जानी चाहिए जिससे कि मिलों को कपास निरन्तर अपनी आवश्यकतानुसार मिलती रहे।

5. **शक्ति की पर्याप्त मात्रा में व्यवस्था**—उद्योगों के लिए शक्ति की पर्याप्त मात्रा में व्यवस्था की जानी चाहिए। ईंधन और विद्युत समयान्तर्गत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जाना चाहिए। विद्युत कटौती की प्रथा समाप्त की जानी चाहिए।

6. **उत्पादन करों से छूट**—सूती वस्त्रों पर उत्पादन करों का बोझ अधिक है अतः उन्हें उत्पादन करों से भी छूट प्रदान की जानी चाहिए जिससे कि सूती कपड़ा सस्ता हो सके और माँग में वृद्धि होने से उद्योग भी अपनी उत्पादकता व लाभदायकता में वृद्धि कर सके।

7. **विनियोग एवं विकास में छूट प्रदान करना**—जो मिल आधुनिकीकरण करने में जितना धन लगाये उस पर उसके आयकर अधिनियम के अन्तर्गत ऊँची दर से विनियोग या विकास छूट दी जानी चाहिए।

8. **निर्यात वृद्धि हेतु प्रोत्साहन**—निर्यात में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। विदेशों में सर्वेक्षण कराया जाना चाहिए ताकि रुचियों एवं माँग के अनुरूप उत्पादन को समायोजित किया जा सके।

भविष्य—भारत में सूती वस्त्र उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में वस्त्र की बढ़ती हुई माँग के अतिरिक्त देश की बढ़ती हुई जनसंख्या, सस्ती जल-शक्ति की उपलब्धि, लम्बे रेशे के कपास की खेती में वृद्धि, विदेशी निर्यात को बढ़ावा आदि के कारण सूती वस्त्र उद्योगों का विस्तार एवं विकास स्वाभाविक है।

3. चीनी उद्योग
(Sugar Industry)

संक्षिप्त इतिहास—देश के संगठित उद्योगों में चीनी उद्योगों का स्थान तीसरा है। चीनी उद्योग भारत का अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। परन्तु आधुनिक ढंग से चीनी का उत्पादन वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से ही शुरू हुआ। प्रथम चीनी मिल तो सन् 1903 में स्थापित हुई, परन्तु भारतीय चीनी उद्योग के विकास का इतिहास वस्तुतः 1921 से ही आरम्भ होता है, जबकि इस उद्योग को सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया। संरक्षण मिलने के पश्चात् चीनी मिलों तथा उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। सन् 1931-32 ई० में भारत में चीनी के केवल 32 कारखाने थे, जिनका उत्पादन केवल 1.6 लाख टन था। देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति के लिए लगभग 6 लाख टन चीनी आयात की जाती थी। परन्तु सन् 1939-40 में कारखानों की संख्या बढ़कर 145 और उत्पादन 12.4 लाख टन हो गया। इससे स्पष्ट है कि चीनी उद्योग को संरक्षण से पर्याप्त लाभ हुआ। संरक्षण के कारण चीनी उद्योग के विकास को देखते हुए कहा जाता है कि भारतीय चीनी उद्योग संरक्षण का शिशु है। सन् 1950 में यह संरक्षण समाप्त कर दिया गया है। संक्षेप में, चीनी उद्योग सन् 1932

से 1950 तक 18 वर्षों तक संरक्षण के अधीन रहा और इस काल में उद्योग ने बहुत उन्नति की।

द्वितीय महायुद्ध तथा इसके पश्चात्—सन् 1939 से द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ। तब से लेकर प्रथम योजना के प्रारम्भ होने तक माँग और पूर्ति को ध्यान में रखकर चीनी के वितरण के सम्बन्ध में सरकार ने कभी नियन्त्रण कभी विनियन्त्रण और कभी पुनः नियन्त्रण की नीति अपनाई।

सन् 1941-42 से लेकर 1950-51 तक चीनी उद्योग की स्थिति निम्न प्रकार रही—

चीनी उद्योग प्रगति

वर्ष	चीनी का उत्पादन	(लाख टनों में) उपभोग
1941-42 नियन्त्रण	7.63	7.72
1942-43 ,,	10.69	8.37
1943-44 ,,	12.20	8.47
1944-45 ,,	9.36	7.87
1945-46 ,,	9.57	8.60
1946-47 ,,	9.16	7.08
1947-48 विनियन्त्रण	10.92	10.62
1948-49 ,,	10.27	12.01
1949-50 नियन्त्रण	9.91	12.03
1950-51 आंशिक नियन्त्रण	11.18	12.14

युद्धकाल की स्थिति को सम्हालने के लिये सरकार ने चीनी नियन्त्रण आदेश के अन्तर्गत 15 अप्रैल सन् 1942 को उद्योग पर नियन्त्रण लगा दिया, जिसके अधीन गन्ने और चीनी की कीमत के अलावा वितरण को भी नियन्त्रित कर दिया गया। उपभोक्ताओं के लिए सफेद चीनी का राशन कम कर दिया गया। चीनी के मूल्यों पर नियन्त्रण तथा इसका राशन सन् 1947 तक चलता रहा। सन् 1947 में, जबकि देश स्वतन्त्र हुआ, महात्मा गाँधी के प्रयत्न से चीनी के मूल्य तथा वितरण पर से नियन्त्रण हटा लिया गया, परन्तु इससे मूल्य बहुत बढ़ गये और अन्य कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं। अतः सन् 1949 में चीनी पर पुनः नियन्त्रण लगाया गया तथा चीनी मूल्य निर्धारण व वितरण का दायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। चीनी का उत्पादन सन् 1943-44 में 12 लाख टन से कम होकर सन् 1946-47 में केवल 9 लाख टन रह गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में प्रगति

प्रथम योजना में चीनी उद्योग—प्रथम योजना की अवधि में चीनी उद्योग में,

बहुत अधिक प्रगति हुई। प्रथम योजना प्रारम्भ करते समय (1950-51) चीनी का उत्पादन 11 लाख टन था, जबकि चीनी के कारखानों की उत्पादन-क्षमता 15.4 लाख टन थी। प्रथम योजना के अन्त में चीनी का उत्पादन बढ़कर 18.6 लाख टन हो गया। अर्थात् योजना में निर्धारित लक्ष्य से भी उत्पादन अधिक था। इसका प्रमुख कारण योजना के अन्तिम दो वर्षों में गन्ने की बहुत अच्छी फसल का होना था।

द्वितीय योजना में चीनी उद्योग - इस योजना में चीनी उद्योग के विकास पर पर्याप्त जोर दिया गया। योजना काल में चीनी के उत्पादन को बढ़ाकर 22.5 लाख टन करने का आयोजन था। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरानी मिलों के विकास तथा उनकी मशीनों के नवीनीकरण के लिए योजनाएँ बनाई गयीं और सहकारिता के आधार पर 35 नई मिलें स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में चीनी उद्योग—चूंकि तृतीय योजना आरम्भ होने के समय मिलों के पास जमा चीनी का स्टाक बहुत अधिक था, इसलिए तृतीय योजना में चीनी के उत्पादन का लक्ष्य कम रखा गया अर्थात् 30 से 35 लाख टन तक। तृतीय योजना काल में, 1965-66 में चीनी का उत्पादन 35 लाख टन हुआ था।

तीनों वर्षीय योजनाओं में—तीसरी योजना के बाद चीनी उद्योग की स्थिति खराब हो गई। सन् 1966-67 और 1967-68 में चीनी का उत्पादन क्रमशः 21.47 लाख टन और 22.27 लाख टन था। सन् 1968-69 के अन्त में मिलों के पास स्टाक की अनुमानित मात्रा 13 लाख टन थी।

चतुर्थ योजना में चीनी का उत्पादन लक्ष्य 47 लाख टन निर्धारित किया गया था लेकिन योजना के अन्तिम वर्ष में चीनी का उत्पादन 39.48 लाख टन हुआ था।

पाँचवीं योजना— 1978-79 में चीनी का उत्पादन 57 लाख टन करने का लक्ष्य रखा गया था। सन् 1977-78 में चीनी का उत्पादन 74·50 लाख टन हुआ। 1977-78 में 0·70 लाख टन चीनी का निर्यात किया गया।

छठी योजना— 1984-85 तक चीनी की घरेलू माँग 6·64 मिलियन टन व निर्यात हेतु माँग 1 मिलियन टन होने की सम्भावना है। योजना के अन्त तक चीनी उत्पादन क्षमता व वास्तविक उत्पादन क्रमशः 8 मिलियन टन व 7·64 मिलियन टन होने की आशा है।

वर्तमान स्थिति

(i) मिलों की संख्या—सन् 1982 में देश में कुल 320 मिलें थीं जिसमें से 154 मिलें सहकारी क्षेत्र में थीं जिनका उत्पादन कुल चीनी उत्पादन का 56 प्रतिशत था।

(ii) पूंजी और रोजगार—इस उद्योग में लगभग 500 करोड़ रुपये की

पूँजी विनियोजित है और लगभग 300 लाख व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है।

(iii) **उत्पादन** --विश्व के प्रमुख चीनी उत्पादकों में भारत का पंचम स्थान हैं। चीनी का उत्पादन 1950-51 में 11.3 लाख टन ही था जो 1981-82 में बढ़कर 84·38 लाख टन हो गया है जैसा कि नीचे सारणी में दर्शाया गया है :—

वर्ष	1950-51	60-61	70-71	77-88	80-81	81-82	84-85	2001
उत्पादन (लाख टन)	11·3	30·3	37·4	64·6	51·4	84·4	76·4	190·0

(iv) **निर्यात** --भारत से चीनी का भी पर्याप्त मात्रा में निर्यात किया जाता है। 1975-76 में चीनी की सर्वाधिक मात्रा में निर्यात किया गया। इसके पश्चात् चीनी के निर्यात में निरन्तर कमी हुई है। निम्नलिखित तालिका में चीनी के निर्यात को दर्शाया गया है।

वर्ष	1965-66	75-76	77-78	80-81	81-82	84-85
निर्यात (लाख टन)	1·1	12·0	·7	·9	1·0	1·0

(v) **प्रतिव्यक्ति उपभोग**—भारत में चीनी के प्रतिव्यक्ति उपभोग में निरन्तर वृद्धि हो रही है लेकिन फिर भी अन्य राष्ट्रों की तुलना में यह बहुत कम है। 1979 में विश्व का औसत चीनी उपभोग 2·1 किलोग्राम था जबकि भारत का प्रतिव्यक्ति उपभोग केवल 10·2 किलोग्राम था।

(vi) **विश्व में स्थान**—भारत ने 1981-82 में 84 लाख टन से भी अधिक चीनी का उत्पादन करके विश्व में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है। रूस, ब्राजील व क्यूबा भी प्रमुख चीनी उत्पादक राष्ट्र हैं।

(vii) **चुकन्दर से चीनी बनाना**—भारत में मुख्यतः गन्ने से चीनी बनाई जाती है लेकिन देश में सर्वप्रथम श्री गंगा नगर सुगर मिल, राजस्थान ने चुकन्दर से चीनी बनाना प्रारम्भ किया। 1978-79 में इस मिल ने चुकन्दर से 21,613 क्विण्टल चीनी का उत्पादन किया।

(viii) **सरकारी नियन्त्रण**—16 अगस्त 1978 से 16 अगस्त 1979 की

संक्षिप्त अवधि के लिए चीनी पर पूरी तरह से नियन्त्रण हटा लेने के बाद सरकार 17 दिसम्बर 1979 से फिर चीनी पर आंशिक नियन्त्रण लागू कर दिया और दोहरी मूल्य नीति अपनाई। इस नीति के अन्तर्गत चीनी मिलों के कुल उत्पादन का 65 प्रतिशत सरकार नियन्त्रण मूल्य पर लेवी के रूप में खरीद लेती है और शेष 35 प्रतिशत उत्पादन को बिना किसी प्रकार के मूल्य नियन्त्रण के खुले बाजार में बेचने की अनुभूति दी जाती है।

(ix) **वितरण**—चीनी उद्योग की विभिन्न राज्यों में स्थिति निम्नलिखित प्रकार है—

(अ) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर प्रदेश चीनी उद्योग में सबसे आगे है। यहाँ भारत की कुल उत्पादित चीनी का लगभग 72 प्रतिशत उत्पन्न होता है। इस प्रदेश में चीनी के कारखाने प्रमुख रूप से दो क्षेत्रों में हैं—प्रथम गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र और द्वितीय तराई क्षेत्र। गंगा-यमुना दोआब के मुख्य जिले मेरठ और सहारनपुर हैं और तराई क्षेत्र के अन्तर्गत गोरखपुर तथा रुहेलखंड के क्षेत्र आते हैं, जिसके मुख्य जिले गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, गोंडा, शाहजहाँपुर, रामपुर, बरेली, सीतापुर, सलेमपुर और बिजनौर हैं। इसके अतिरिक्त, मध्यवर्ती क्षेत्र कानपुर, मुरादाबाद तथा लखनऊ में भी चीनी की मिलें हैं।

(ब) **बिहार**—चीनी के उत्पादन में दूसरा स्थान बिहार का है। इस राज्य में भारत की लगभग 15 प्रतिशत चीनी बनाई जाती है। बिहार में इस उद्योग से मुख्य केन्द्र चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा हैं।

(स) **महाराष्ट्र**—चीनी के उत्पादन में महाराष्ट्र का तीसरा स्थान है। इस प्रदेश में उत्तम प्रकार का गन्ना उत्पन्न किया जाता है अतः यह प्रस्ताव रखा गया है कि चीनी उद्योग को इस क्षेत्र में बढ़ाया जाय। यहाँ के प्रमुख केन्द्र मनमाण्ड, अहमदनगर, नासिक और पूना हैं।

(द) **पश्चिम बंगाल**—यहाँ चीनी के कारखाने बेलडाँगा, नदिया तथा चौबीस परगना जिलों में स्थित है।

(य) **तमिलनाडु**—इस प्रदेश के उत्तरी अरकाट, दक्षिणी अरकाट, कोयम्बटूर, मदुरा और तिरुचिरापल्ली जिलों में यह उद्योग स्थित हैं।

(र) **आन्ध्र-प्रदेश**—यहाँ चीनी के अधिकतर कारखाने विशाखापटनम, विजयवाड़ा हास्पेट, कोट, टाबुक, सामलकोट, हैदराबाद आदि में स्थित हैं।

(ल) **पंजाब**—अमृतसर, जगाधरी, फगवाड़ा, हमीरा, भोगपुर जिलों में चीनी की अनेक मिलें हैं।

चीनी उद्योग की समस्याएँ और उनका समाधान

1. **गन्ने सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—भारत में चीनी मिलों का भाग्य गन्ने के उत्पादन पर आधारित है। गन्ने के अभाव के कारण चीनी का उत्पादन कम होता है और कारखानों को हानि होती है। भारत में गन्ना कम होने के कारण, गन्ने की प्रति हेक्टेयर उपज का कम होना है। भारत में गन्ने की प्रति एकड़ उपज ही कम नहीं है

यहाँ गन्ने का गुण अत्यन्त न्यून हैं जिससे गन्ने से उपलब्ध चीनी का अनुपात अपेक्षाकृत कम होता है।

उपाय—गन्ने के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए वैज्ञानिक आधार पर कृषि की जानी चाहिए। इसके लिए उत्तम खाद और बीज तथा पर्याप्त पानी का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मिलों के भी अपने गन्ना उत्पादन फार्म होने चाहिये।

2. **उप-उत्पादकों की समस्या**—चीनी बनाते समय कई सहायक उत्पादन प्राप्त होते हैं जैसे छोई (Bagasses) तथा शीरा (Molasses)। इनका प्रयोग कई उपयोगी वस्तुएँ बनाने के लिए किया जा सकता है जैसे—छोई से कागज, गत्ता आदि बनाया जा सकता है तथा शीरे से अल्कोहल व उर्वरक।

उपाय—चीनी उद्योग में उत्पादन-व्यय कम से कम करने के लिए गन्ने की छोई और शीरे जैसी उपोत्पत्ति का कागज, सोख्ता, खाद, गत्ता एवं अल्कोहल आदि वस्तुएँ बनाने में उपयोग करना चाहिए।

3. **गुड़ तथा खांडसारी से प्रतियोगिता**—चीनी की गुड़ तथा खाँडसारी से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इनमें प्रतियोगिता का मुख्य कारण उनके मूल्यों में अन्तर पाया जाना है।

उपाय—प्रतिस्पर्द्धा की समाप्ति—चीनी, गुड़, एवं खांडसारी की प्रतियोगिता को समाप्त किया जाना चाहिए जिससे उत्पादन में अनिश्चितता न रहे। इसके लिए गुड़ खांडसारी एवं चीनी मिल क्षेत्र के विकास हेतु एक संग्रहीत योजना तैयार किया जाना चाहिए।

4. **आधुनिकीकरण की समस्या**—भारत में चीनी मिलों में मशीनें काफी पुरानी हो गई हैं तथा घिस चुकी हैं, इससे उत्पादन व्यय अधिक होता है। अतः उत्पादन लागत को कम करने के लिए इस उद्योग के आधुनिकीकरण की आवश्यकता के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होगी जिसका सर्वथा अभाव है।

उपाय—पुरानी चीनी मिलों का शीघ्रातिशीघ्र आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए।

5. **अनार्थिक कठिनाइयाँ**—भारत में बहुत-सी चीनी मिलें ऐसी हैं जिनका आकार छोटा है और आर्थिक दृष्टि से वे अलाभप्रद इकाइयाँ मानी जाती हैं।

उपाय—सरकार को इन अलाभप्रद इकाइयों को या तो इनका आकार बढ़ाकर इन्हें लाभप्रद बनाने का प्रयत्न करना चाहिए अथवा इन्हें समाप्त कर देना चाहिए।

6. **कम उत्पादन क्षमता**—भारतीय चीनी मिलों की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। अतः अन्य देशों की अपेक्षा चीनी का उत्पादन भारत में बहुत कम है।

उपाय—कारखानों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाया जाना चाहिए और नवीन

मिलों को अनुमति देते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि उनकी क्षमता 1500 टन प्रति-दिन से कम न हो।

7. **कारखानों का दूर होना** - भारत में चीनी के अधिकांश कारखाने गन्ने के खेतों से दूर हैं। अतः गन्ने को कारखानों तक पहुँचाने में बहुत व्यय होता है और मार्ग में गन्ने का रस काफी सूख जाता है।

उपाय—चीनी की नयी मिलों की स्थापना उन्हीं क्षेत्रों में की जानी चाहिए जहाँ गन्ने के खेत हैं।

8. **कम अवधि**—भारत में चीनी के कारखाने नवम्बर से फरवरी तक लगभग 120 दिन कार्य करते हैं। अर्थात् वर्ष में अधिकांश समय वे बेकार रहते हैं। अतः गन्ने की जल्दी तथा देर से पकने वाली किस्तों को बोने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

9. **परिवहन सम्बन्धी असुविधा**—भारत में गन्ना उत्पादन क्षेत्र और चीनी की मिलों के बीच काफी दूरी है। इस दूरी को तय करने के लिए परिवहन के सस्ते और उपयुक्त साधनों का अभाव है।

उपाय—परिवहन के सस्ते और उपयुक्त साधनों को जुटाना चाहिए तथा ग्रामीण सड़कों की मरम्मत की जानी चाहिए।

10. **अनुसन्धान सम्बन्धी अभाव** - भारत में अनुसन्धान सम्बन्धी अभाव के कारण गन्ने की किस्म में सुधार नहीं हो पाता। अतः इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि गन्ना मोटा, मीठा और रसदार उत्पन्न किया जा सके।

4. पटसन या जूट उद्योग
(Jute Industry)

संक्षिप्त इतिहास—भारतवर्ष में आधुनिक जूट उद्योग लगभग 100 वर्ष पुराना है देश में जूट उद्योग सन् 1855 में आरम्भ हुआ जब **जार्ज आकलेंड** ने पश्चिमी बङ्गाल में जूट मिल स्थापित की। इसके पश्चात् इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् 1913-14 में भारत में कुल 64 जूट मिलें थीं जिनमें 43.3 लाख गाँठ कच्चे जूट की खपत हुई थी तथा 28.3 करोड़ रुपये के जूट का सामान निर्यात किया गया था।

प्रथम महायुद्ध एवं उसके बाद की प्रगति—प्रथम महायुद्ध तक जूट उद्योग की प्रगति काफी धीमी रही। परन्तु प्रथम महायुद्ध ने, अन्य उद्योगों की तरह जूट उद्योग को भी प्रोत्साहित किया और इसने अच्छी उन्नति की। यह समृद्धि काल, युद्ध के उपरान्त भी जारी रहा। परन्तु सन् 1929 की आर्थिक मन्दी का प्रभाव इस उद्योग पर पड़ा और इस उद्योग को काफी क्षति पहुँची। आर्थिक मन्दी के कारण जूट की वस्तुओं का निर्यात बहुत घट गया। मन्दी के कारण जूट के कारखानों में प्रति सप्ताह काम के घण्टों को घटा दिया गया तथा कुछ करघों को बन्द भी कर दिया गया। सन् 1936 में जूट के उत्पादन में वृद्धि करने के उद्देश्य से एक भारतीय केन्द्रीय जूट

समिति की स्थापना हुई। सन् 1938 ई० में विदेशी व्यापार की अनिश्चितता तथा मिलों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण जूट उद्योग को भीषण संकट का सामना करना पड़ा। यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक बनी रही।

द्वितीय महायुद्ध काल—द्वितीय महायुद्ध ने पुनः इस उद्योग को जीवन प्रदान किया, क्योंकि युद्ध के कारण सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जूट की वस्तुओं की माँग अत्यधिक बढ़ गई जिससे जूट और जूट की वस्तुओं के मूल्य में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। फलतः उत्पादन एवं निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सन् 1939-40 में जूट की वस्तुओं का उत्पादन 12·8 लाख टन तथा निर्यात 11 लाख टन था। सन् 1940 के पश्चात् विदेशी माँग में बहुत कमी हुई। सन् 1942 में भारत में अकाल पड़ा और कोयला तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण जूट उद्योग के सामने पुनः संकट उपस्थित हुआ। इस प्रकार, द्वितीय महायुद्ध काल में जूट उद्योग अच्छी तथा विपत्तिपूर्ण दोनों ही अवस्थाओं से गुजरा।

देश-विभाजन का प्रभाव—सन् 1947 में भारत के विभाजन से इस उद्योग को भारी क्षति हुई। विभाजन के फलस्वरूप 75% कच्चा जूट उत्पादित करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया किन्तु लगभग सभी मिलें भारतीय क्षेत्र में रहीं। अतः जूट उद्योग को कच्चे माल की समस्या का सामना करना पड़ा। समस्या का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् 1950-51 में जहाँ कच्चे जूट की माँग 70 लाख गाँठों की थी वहाँ पूर्ति केवल 31 लाख गाँठों की थी। सन् 1949 से सन् 1951 तक भारत तथा पाकिस्तान में तनावपूर्ण वातावरण के कारण स्थिति बहुत गम्भीर रही। सन् 1949 में भारत ने, पाकिस्तान के विपरीत, रुपये का अवमूल्यन कर दिया जिससे कच्चे माल के आयात में और भी कठिनाई हुई क्योंकि पाकिस्तानी जूट भारत के लिए 44% मँहगा हो गया। ऐसी परिस्थिति में देश के भीतर ही जूट का उत्पादन बढ़ाने की दिशा में विविध प्रयास किए गए और नये क्षेत्रों में जूट की खेती का विस्तार किये जाने लगा और वास्तव में इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी मिली है।

पंचवर्षीय योजनाओं में जूट उद्योग

प्रथम पंचवर्षीय योजना—जिस समय प्रथम पंचवर्षीय योजना कार्यान्वित की जा रही थी उस समय जूट उद्योग के सामने सबसे गम्भीर समस्या कच्चे जूट के अभाव की थी। इसलिए प्रथम योजना में कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ाने पर विशेष जोर दिया गया था। प्रथम योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व, सन् 1950-51 में कच्चे जूट का उत्पादन 33 लाख गाँठ था। इस योजना काल में इसे बढ़ाकर 53·7 लाख करने का लक्ष्य था। किन्तु वास्तविक उत्पादन 42 लाख गाँठ के बराबर ही हो सका। इस प्रकार, प्रथम योजना काल में निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी। जूट के सामान को निर्यात करने का लक्ष्य 10 लाख टन करने का था, किन्तु वास्तविक रूप में सन् 1955-59 में जूट के निर्यात की मात्रा 8·75 लाख टन के बराबर ही थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना काल में कच्चे जूट के सम्बन्ध में देश को आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य 55 लाख गाँठ रखा गया। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति भी नहीं हो सकी। वास्तविक उत्पादन लगभग 33 लाख गाँठ के बराबर ही था। इस प्रकार, द्वितीय योजना पूर्ण होने पर भी हमारा देश कच्चे जूट में आत्मनिर्भर नहीं हो सका। योजना-काल में उत्पादन व्यय कम करने, मशीनों का आधुनिकीकरण करने तथा निर्यात के प्रयत्नों पर जोर दिया गया। सन् 1957 में भारत सरकार ने एक जूट जाँच समिति नियुक्त की। जूट के उत्पादन की मात्रा एवं गुण को सुधारने के लिए इस समिति ने सुझाव दिया कि किसानों को बहूद्देशीय सहकारी समितियों का निर्माण करना चाहिए तथा उन्हें अच्छे बीज व अच्छी खाद का भी उपयोग करना चाहिए।

तृतीय योजना—तृतीय योजना में उद्योग के विकास के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बनाया गया। केवल वर्तमान उत्पादन क्षमता के पूर्ण उपयोग के लक्ष्य प्राप्त करने व कच्चे जूट के उत्पादन को बढ़ाने पर जोर दिया गया। जूट की वस्तुओं का उत्पादन लक्ष्य 13 लाख टन रखा गया। सौभाग्यवश वह लक्ष्य 1960-65 में ही प्राप्त कर लिया गया। परन्तु इसके पश्चात् उत्पादन में गिरावट आयी।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना—चतुर्थ योजना में जूट वस्तुओं के उत्पादन का लक्ष्य 14 लाख टन रखा गया। सन् 1971-72 मे उत्पादन स्तर 12·29 लाख टन तक पहुँचा, लेकिन 1973-74 में उत्पादन केवल 9·49 लाख टन ही रह गया।

पाँचवीं योजना—योजनाकाल के वर्ष 1976-77 में कच्चे जूट का उत्पादन 70·9 लाख टन था जो योजना के अन्तिम वर्ष (1977-78) में 71·2 लाख गाँठें हो गया। जूट के सामान का उत्पादन लक्ष्य 15 लाख टन रखा था जबकि वास्तविक उत्पादन 1977-78 में 11·78 लाख टन हुआ। योजना के आरम्भ में निर्यात 5·80 लाख टन का था जो 1977-78 में घट कर 5·21 लाख टन रह गया।

छठीं योजना—छठीं योजना के अन्त तक 1·5 मिलियन टन जूट निर्माण का लक्ष्य रखा गया है; इसमें से ·55 मिलियन टन निर्यात किये जाने की सम्भावना है। वर्तमान में जूट निर्माण उत्पादन क्षमता 1·32 मिलियन टन ही हैं, अतः उत्पादन क्षमता में 0·2 मिलियन टन की और वृद्धि की जायेगी। ऐसा अनुमान है कि त्रिपुरा व उड़ीसा में स्थापित होने वाली दो मिलों से उत्पादन क्षमता में 0·25 मिलियन टन की वृद्धि हो जायेगी।

वर्तमान स्थिति

(i) मिलों की संख्या और रोजगार—जूट उद्योग में 115 मिलें हैं जिनमें लगभग 8 लाख श्रमिकों को रोजगार मिला हुआ है।

(ii) उत्पादन—पटसन की वस्तुओं का वास्तविक उत्पादन 1950-51 में 837 हजार टन था जो बढ़कर 1981-82 में 13·3 लाख टन हो गया। निम्नलिखित तालिका में जूट उत्पादन को दर्शाया गया है।

वर्ष	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1981-82	1984-85
निर्मित माल (लाख टन)	8·3	10·9	9.5	13·8	13·3	15·0
कच्चा जूट (लाख गाँठें	34	41	41	65	68	90

(iii) **निर्यात**—जूट उद्योग विदेशी मुद्रा के अर्जन का एक प्रमुख स्रोत है। विश्व में जूट की वस्तुओं का निर्यात 30 प्रतिशत है। निम्नलिखित तालिका में जूट के निर्यात् को दर्शाया गया है—

भारत से जूट का निर्यात

	1965-66	73-74	77-78	80-81	81-82	84-85
निर्यात् (लाख टन)	9·0	5·6	5·2	6·6	4·1	5·5

(iv) **विश्व में स्थान**—कच्चा जूट उत्पादन की दृष्टि से विश्व में भारत का द्वितीय स्थान है। प्रथम स्थान बंगला देश का है। जूट का सामान बनाने में निर्यात् करने की दृष्टि से भारत का प्रथम स्थान है।

(v) **जूट उद्योग का स्थानीयकरण**—जूट उद्योग पश्चिम बंगाल में हुगली नदी के दोनों किनारों पर केन्द्रित है। देश की 115 मिलों में 101 जूट मिलें प० बंगाल राज्य में ही है। अतः जूट उद्योग का भौगोलिक वितरण अत्यधिक असमान है।

जूट उद्योग के विकास कार्यक्रम

जूट उद्योग के विकास के लिए समय-समय पर अनेक कार्यक्रम अपनाए गए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

1. **बाजार विकास कार्यक्रम**—निर्यात बनाए रखने व बढ़ाने की दृष्टि से बाजार विकास कार्यक्रम अपनाया गया है। भारतीय जूट मिल संघ ने अमेरिका व इंग्लैण्ड में अपना शाखा कार्यालय खोल रखा है। इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण बाजारों में समय-समय पर शिष्ट मण्डल भेजे जाते रहे हैं।

(2) **शोध एवं विकास**—भारतीय जूट मिल सङ्घ द्वारा संचालित एक शोध केन्द्र कलकत्ता में कार्य कर रहा है। इस केन्द्र में बीजों को सुरक्षित रखने, वैज्ञानिक बुनाई, रेशा निकालने की नवीन विधियों इत्यादि पर शोध कार्य हो रहा है।

(3) **किस्म नियंत्रण**—निर्यात (किस्म नियन्त्रण और निरीक्षण) अधिनियम 1905 के अन्तर्गत सभी प्रकार की सैकिंग और हेसियन का निर्यात से पूर्व परीक्षण होना आवश्यक है।

(4) **जूट टैक्सटाइल्स परामर्श परिषद्**—इस परिषद् की स्थापना जुलाई सन्

1969 में विदेशी व्यापार मन्त्री की अध्यक्षता में हुई । यह परिषद् भारत सरकार को जूट उद्योग की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श देती है ।

(5) **जूट निगम की स्थापना**—फरवरी सन् 1971 में जूट निगम की स्थापना 5 करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से की गई । इस निगम के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं :—निश्चित मूल्यों पर कच्चा जूट क्रय करना, बफर स्टाक बनाना, जूट वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित करना तथा विदेशों से कच्चे जूट का आयात करना ।

(6) **स्थायी मार्ग दर्शक समिति**—जूट उद्योग की विभिन्न समस्याओं के समाधान व विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से सरकार ने एक "स्थायी मार्गदर्शक समिति" के गठन का निर्णय किया है । यह समिति जूट उद्योग सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु प्रभावशाली उपायों पर विचार करेगी तथा उचित निर्णय लेगी ।

(7) **प्रशिक्षण सुविधा**—इन्स्टीट्यूट ऑफ जूट टेक्नोलोजी, कलकत्ता (Institute of Jute Technology Calcutta) यहाँ जूट उद्योग सम्बन्धी प्रशिक्षण जूट की कताई व बुनाई, जूट प्रदान करता है । से निर्मित सामान के किस्म नियन्त्रण तथा मशीनों के रख-रखाव सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है ।

(8) **राष्ट्रीय जूट उत्पादक निगम**—हाल ही में भारत सरकार ने इस निगम की स्थापना की है और इसके नियन्त्रण में 6 जूट मिलें हैं । इन मिलों के पुनर्स्थापन व आधुनिकीकरण की योजना बनाई जा रही है । इस उद्देश्य से छठीं योजना 1980-85 में 5·60 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है ।

1. **विकास परिषद**—जूट के सामानों पर 1 मार्च 1976 से एक वर्ष की अवधि के लिए शुल्क लगा दिया गया है । जूट के सामानों के लिए एक विकास परिषद् की स्थापना की गई है जो इस शुल्क से प्राप्त राशि का उपयोग अनुसन्धान तथा विकास कार्यक्रमों में करेगी । यह परिषद् उत्पादन लक्ष्य निर्धारित करने के साथ ही उत्पादन कार्यक्रमों में तालमेल स्थापित करेगी तथा समय-समय पर इसमें हुई प्रगति की समीक्षा करेगी ।

जूट उद्योग की प्रमुख समस्याएँ

वर्तमान समय में भारतीय जूट उद्योग की निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ हैं :—

1. **कच्चे जूट का अभाव**—देश के विभाजन के बाद जूट उद्योग के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या कच्चे माल के अभाव की रही है । कच्चे माल के अभाव के कारण भारत में उत्पादन कुशलता को क्षति पहुँची है और विश्व बाजार में भारत की प्रतियोगिता सामर्थ्य घट गई है ।

जूट के उत्पादन को पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए । इस दिशा में असम, बिहार व उड़ीसा की राज्य सरकारें प्रयत्नशील हैं । हाल ही में उत्तर प्रदेश व आन्ध्र-प्रदेश भी इस प्रयास में सम्मिलित

हो गए हैं। साथ ही हमें अपने देश में उत्पन्न जूट की किस्म में भी सुधार करना चाहिए।

2. **जूट उद्योग के आधुनिकीकरण की समस्या**—भारतीय जूट उद्योग काफी पुराना होने के कारण इस उद्योग में अधिकांश मशीनें काफी पुरानी हैं, जिससे उत्पादन लागत बहुत अधिक है। विदेशी प्रतियोगिता में टिकने के लिए उत्पादन लागत को कम करना आवश्यक है, जो तब तक सम्भव नहीं है जब तक पुरानी और जीर्ण-शीर्ण मशीनों की जगह नई मशीनें नहीं लगाई जाती हैं। मिलों के आधुनिकीकरण के मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा वित्त की कमी है।

भारत सरकार ने पटसन उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए आरम्भ में राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम की स्थापना की। हाल ही के वर्षों में सुव्यवस्थीकरण (Rationalisation) और आधुनिकीकरण में प्रगति हुई है और लगभग सभी पटसन कारखानों ने यह कार्य पूरा कर लिया है।

3. **स्थानापन्न वस्तुओं की समस्या**—अनेक पश्चिमी देशों ने जूट के स्थानापन्न पदार्थों का उपयोग आरम्भ कर दिया है। संयुक्त राज्य अमेरिका, फिलीपाइन्स, ब्राजील इत्यादि देशों में पैकिंग के लिए बरलप (Burlap) तथा विशेष प्रकार का कागज प्रयोग में लाया जा रहा है। अभी कुछ समय पूर्व ही पोली प्रोफिलिन (Polyprophylene) नाम का नया रेशा निकाला गया है जो गलीचे के नीचे (जूट वस्त्र के स्थान पर) लगाया जा सकता है। अतः इस उद्योग के लिए स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग भी बड़ा खतरा है। इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है जब जूट की वस्तुओं की कीमत सस्ती की जाय। जब तक भारतीय जूट की बनी हुई वस्तुएँ सस्ते मूल्यों पर बिकती रहेंगी तब तक इसे स्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता का कोई भय नहीं हैं।

4. **निर्यात की समस्या**—भारत का जूट उद्योग मुख्य रूप से एक निर्यातक उद्योग है। परन्तु यह एक चिन्ता की बात है कि इसका निर्यात निरन्तर घटता जा रहा है। सिंथेटिक पदार्थों एवं बंगला देश से तीव्र प्रतियोगिता के कारण उद्योग की बिक्री से आय बहुत घट गई है।

सिंथेटिक रेशे और बंगला देश से प्रतियोगिता वास्तव में 'मूल्य युद्ध' है। मूल्य को प्रतियोगितात्मक स्तर पर बनाए रखने के लिए उत्पादन व्यय को कम करने के प्रयास करने होंगे।

5. **असन्तोषजनक वित्तीय स्थिति** – भारतीय जूट उद्योग के लाभ व वित्तीय स्थिति 1950 और 1965 के मध्य सामान्य रहे। परन्तु उसके बाद इस उद्योग को निम्न लाभ के कारण असंतोषजनक वित्तीय स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। जूट मिलों की कमजोर आर्थिक स्थिति इस तथ्य से स्पष्ट हो रही है कि यह उद्योग लाभों का पुर्नविनियोजन नहीं कर पा रहे हैं। इन मिलों द्वारा पटसन के स्टाक करने तथा माँग के अभाव में निर्मित माल को रोके रखने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है।

6. **बीमार मीलों की समस्या**—जूट उद्योग में कच्चे माल की समस्या और लागत विधि की कठिनाई के कारण बीमार मिलों की समस्या भी उत्पन्न हो गई है। सन् 1980-81 में ऐसी बीमार मिलों की इकाइयाँ 36 थीं जिनमें से दो इकाइयों को सरकार ने अधिग्रहीत कर लिया है।

सरकार को चाहिए कि ऐसी इकाइयों को जीवित रखने के लिए उचित ब्याज दर पर वित्त उपलब्ध करायें तथा वर्ष भर इन्हें उचित कीमतों पर जूट निगम से पटसन उपलब्ध कराया जाय।

7. **श्रम असन्तोष**—भारत की अधिकांश जूट मिलें पश्चिमी बंगाल में ही हैं जहाँ पर श्रम समस्या काफी गम्भीर है जिसका श्रमिकों की उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

8. **अनुसंधान की समस्या**—देश में जूट उद्योग से सम्बन्धित अनुसंधान के लिए पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं। इण्डियन जूट इण्डस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन के नाम से एक संस्था की स्थापना कुछ वर्षों पूर्व की जा चुकी है किन्तु यह देश की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है। इस संस्था ने संयुक्त राज्य अमरीका में फैवरिफ रिसर्च लेबोरेटरीज आफ डैडहम की अनुसंधानशाला में शोध सम्बन्धी समझौता किया है।

9. **अतिरिक्त क्षमता तथा बन्द मिलों की समस्या**—जूट उद्योग में अतिरिक्त क्षमता तथा बन्द मिलों की समस्या भी विद्यमान है। सन् 1966-67 में जूट मिलों की कुल उत्पादन-क्षमता का लगभग 92 प्रतिशत उपयोग में लिया गया था, परन्तु सन् 1979-80 में यह उपयोग घटकर 82 प्रतिशत रह गया।

10. **दोषपूर्ण कर नीतियाँ**—इस उद्योग में आने वाले ज्वार-भाटे का उत्तरदायित्व सरकार की कर नीतियों पर भी है। जब-जब हमारे जूट उत्पादन का निर्यात बढ़ा है, सरकार ने इतना अधिक निर्यात कर लगाया कि उद्योग के विस्तार को धक्का पहुँचा है। परन्तु अब भारत सरकार ने जूट से बनी सभी वस्तुओं पर से निर्यात शुल्क हटाकर भारतीय पटसन को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में व्याप्त कठोर प्रतिद्वन्द्विता के सामने टिक सकने योग्य बनाने के लिये रचनात्मक कदम उठाया है।

जूट उद्योग की समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

जूट उद्योग की समस्याओं के समाधान हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं :—

1. **कच्चे जूट के उत्पादन को प्रोत्साहन**—कच्चे माल की पूर्ति हेतु कृषकों को कच्चा जूट अधिक उत्पादित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। गत दशक में प्रति एकड़ जूट का उत्पादन लगभग 2·79 गाँठ था जिसको 4·61 गाँठ तक बढ़ाया जा सकता है। इसके लिये अच्छे किस्म के बीज एवं उन्नत खादों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

2. **मण्डी विकास कार्यक्रम**—जूट निर्मित माल के निर्यात के प्रोत्साहन हेतु

मण्डी विकास कार्यक्रम अपनाया जाना चाहिए। भारतीय जूट मिल्स संघ ने इस उद्देश्य से ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका में अपनी शाखाएँ स्थापित की हैं। जूट के सामान के बाजारों में भी समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाता है। इस कार्यक्रम को और अधिक सक्रिय बनाया जाना चाहिए।

3. **बीमार मिलों को आर्थिक सहायता**—सरकार को चाहिए कि बीमार मिलों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें पुनः कार्यशील बनाये।

4. **पर्याप्त मात्रा में शक्ति की व्यवस्था**—जूट उद्योग की पर्याप्त मात्रा में शक्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कि मिलें अधिक से अधिक इन कार्यशील रहकर अपने उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकें।

5. **आवश्यक साख की व्यवस्था**—जूट के उत्पादन में वृद्धि, जूट वस्तुओं के निर्माण एवं निर्यात में वृद्धि के लिए आवश्यक है कि उन्हें आवश्यक साख की सुविधा प्रदान की जाय।

6. **शोध एवं विकास**—कृत्रिम रेशों के प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिये जूट उद्योग द्वारा अनुसंधान एवं विकास पर अधिक व्यय करके ऐसी तकनीक का विकास करना चाहिए जिससे जूट की वस्तुएँ कृत्रिम रेशे की वस्तुओं से टिकाऊ एवं सस्ती पड़ें जिससे कि प्रतिस्पर्धा का मुकाबला किया जा सके।

7. **आन्तरिक माँग की वृद्धि**—आन्तरिक माँग में वृद्धि हेतु इस उद्योग में लगने वाले कर को सरकार यदि पूर्णतया समाप्त न कर सके तो इसमें कमी अवश्य करनी चाहिए।

8. **आधुनिकीकरण एवं अभिनवीकरण**—जूट उद्योग के विकास हेतु आधुनिकीकरण एवं अभिनवीकरण के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था की जानी चाहिए। अभी तक इस क्षेत्र में जो प्रगति हुई है वह लाभकर हो रही है, अतः इस दिशा में और भी महत्वपूर्ण प्रयास किये जाने चाहिये।

9. **आन्तरिक बचतों में वृद्धि**—जूट की वस्तुओं की बढ़ती हुई लागत व गिरते हुए लाभों के नियन्त्रण हेतु आन्तरिक बचतों को बढ़ाने हेतु प्रयास किये जाने चाहिए।

10. **गुणात्मक नियन्त्रण**—जूट की वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि के लिए इस उद्योग में किस्म नियन्त्रण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

भविष्य—यद्यपि जूट उद्योग वर्तमान समय में संकट से गुजर रहा है परन्तु इसका भविष्य उज्ज्वल है। भारत का जूट उद्योग कृत्रिम धागों व बंगला देश से सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्द्धा कर सकता है, यदि अनुसंधान व विकास के द्वारा जूट के माल का मूल्य विश्व के बाजार में उचित स्तर पर रखा जावे। पश्चिमी यूरोपीय देशों और संयुक्त राज्य अमरीका में वर्तमान समय में मुक्त प्रसार की प्रवृत्ति विस्तृत हो रही है। है। अतः भारत के जूट के सामान विक्रय के लिए अच्छा क्षेत्र है। सोवियत रूस आस्ट्रेलिया व सूडान भारत के लिए नये महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं।

5. कोयला उद्योग
(Coal Industry)

कोयला उद्योग भारत का एक आधारभूत उद्योग है। किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए कोयले एवं लोहे की आवश्यकता पड़ती है। कोयले का प्रयोग औद्योगिक शक्ति के साधन के रूप में किया जाता है। कुल मिलाकर देश में 13900 करोड़ टन कोयले के भण्डार का अनुमान लगाया गया है।

संसार के कोयला उत्पादन में भारत का आठवाँ स्थान है। कोयले के प्रधान केन्द्र बङ्गाल व बिहार राज्य में हैं। कोयले का क्षेत्र दामोदर घाटी में फैला हुआ है। रानीगंज व झरिया की खानों से देश के कुल उत्पादन का क्रमश: 30 या 40 प्रतिशत कोयला निकाला जाता है। कोयले की छोटी-छोटी खानें असम, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, आंध्र-प्रदेश, तमिलनाडु, राजस्थान, गुजरात, जम्मू व काश्मीर में भी पायी जाती हैं।

संक्षिप्त इतिहास

भारत में कोयला उद्योग का आरम्भ सन् 1814 में हुआ, जबकि सर्वप्रथम रानीगंज की खानों में कोयला निकाला गया। परन्तु 1853 तक इस उद्योग का विकास नहीं किया जा सका। सन् 1853 के पश्चात् भारत में रेलों का विकास किया जाने लगा। जब रेलें बनी तो पहले कोयला इंगलैण्ड से मँगाया गया। वह कोयला बहुत मँहगा पड़ता था। अत: ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में खानों का पता लगाया और कोयला खोदना आरम्भ किया। कोयले का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ा। भारतीय कोयला सस्ता होने के कारण विदेशों जैसे लंका, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह आदि को भी भेजा जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने के पूर्व कोयले का वार्षिक उत्पादन एक करोड़ सैंतालीस लाख टन तक पहुँच गया। प्रथम महायुद्ध में विदेशों से कोयला आना बन्द हो जाने के कारण इस उद्योगों ने पर्याप्त प्रगति की। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर अफ्रीका का सस्ता कोयला भारत में आने लगा और भारतीय कोयले को अफ्रीका के कोयले से प्रतियोगिता करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सन् 1927-30 के बीच अफ्रीका के कोयले की माँग कम हो जाने के कारण भारतीय कोयला उद्योग ने अपने खोए हुए बाजार को पुन: प्राप्त कर लिया और कोयले के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। इसके पश्चात् मन्दी का युग आया और कोयले की माँग में अत्यधिक कमी आ गयी, फलत: कोयले की बहुत-सी खानों में काम बन्द हो गया।

सन् 1934 से कोयला उद्योग ने पुन: उन्नति करना शुरू किया। बन्द हुई खानें पुन: चालू की गईं और कोयले की माँग पुन: बढ़ जाने के कारण कोयले का उत्पादन फिर बढ़ गया। विदेशों को भी कोयला निर्यात होने लगा। द्वितीय महायुद्ध काल में माल के डिब्बे की कमी ने एक समस्या उत्पन्न कर दी। उधर लोहा इस्पात उद्योग की सरकारी माँग पूरा करने के लिए अधिक कोयले की आवश्यकता थी। सन् 1944 में कोयले पर नियन्त्रण लगा दिया गया, परन्तु कोयले का उत्पादन

बढ़ता रहा। सन् 1945 में पिछले वर्षों की अपेक्षा कोयला का उत्पादन 30 लाख टन अधिक हुआ। उस समय कई खानों से घटिया किस्म का कोयला निकाला जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त इस उद्योग की दशा में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

योजना काल में कोयला उद्योग

प्रथम योजना काल के आरम्भ में भारत में अनेक कोयले का उत्पादन लगभग 344 लाख टन था, जो सन् 1955-56 में बढ़कर 384 लाख टन हो गया।

द्वितीय योजना के लिए कोयले उत्पादन का लक्ष्य 6 करोड़ टन रखा गया था, किन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण कुल कोयले का उत्पादन 5·6 करोड़ टन ही हुआ। घटिया कोयले को धोकर अच्छा कोयला बनाने के लिये योजना अवधि में चार केन्द्रीय धुलाई के कारखाने खोले गए और एक धुलाई केन्द्र दुर्गापुर के इस्पात के कारखाने में खोला गया। दूसरी योजना काल में ही राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना की गई।

तीसरी योजना के लिए कोयले के उत्पादन का लक्ष्य 9·7 करोड़ टन था, लेकिन वास्तविक उत्पादन 6·7 करोड़ टन ही हुआ। 1968-69 तक योजना अव-काश के तीन वर्षों की अवधि से कुल मिलाकर कोयला निकालने में 40 लाख टन की वृद्धि हुई और इससे कुल प्राप्ति 7·1 करोड़ टन हो गई।

चौथी योजना की अवधि में कोयला प्राप्ति का लक्ष्य तीसरी योजना के लक्ष्य से भी कम 9·35 करोड़ टन रखा गया। 1973-74 में लगभग 800 लाख टन कोयला प्राप्त किया गया। इस मात्रा में लगभग 50 लाख टन की वह वृद्धि भी शामिल है जो सांख्यिकीय हिसाब-किताब से अपेक्षित है।

पाँचवीं योजना इस योजना के अन्तिम वर्ष 1978-79 में कोयला के उत्पादन लक्ष्य 1240 लाख टन निर्धारित किया गया था। लेकिन योजना की समाप्ति (1977-78) पर कोयला का उत्पादन 1010 लाख टन था।

छठवीं पंचवर्षीय योजना—इस पंचवर्षीय योजना के अंत तक भारत में कोयले की माँग 1505 लाख टन हो जाने का अनुमान है। माँग में इस तीव्र वृद्धि का कारण खनिज तेल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में बेतहाशा वृद्धि हो जाना है। इस योजना में 1650·0 लाख मीट्रिक टन कोयले के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विशेष प्रयास करने होंगे। विद्यमान खानों तथा निर्माणाधीन खानों की क्षमता के पूर्ण उपयोग के अतिरिक्त नवीन खानें भी खोली जायेंगी जिससे अति-रिक्त उत्पादन का 50 प्रतिशत कोयला निकाला जायेगा।

वर्तमान स्थिति

1. **उत्पादन**—प्रथम योजना के प्रारम्भ में भारत में कोयले का उत्पादन 3·2 करोड़ टन था जो 1981-82 में बढ़कर 13·0 करोड़ टन हो गया। जैसा कि सारणी के अंकों से स्पष्ट है :—

वर्ष	1950-51	60-61	70-71	80-81	81-82	84-85	94-95	2000
उत्पादन करोड़ टन	3·2	5·5	7·4	11·8	13·0	16·5	32·5	40·0

2. **भंडार**—भारतीय कोयले के भण्डारों के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रस्तुत किये गये हैं लेकिन यहाँ 'राष्ट्रीय योजना समिति' के अनुमान दिये जा रहे हैं—

क्षेत्र—(1) रानीगंज-झरिया क्षेत्र	2565 करोड़ टन
(2) गिरिडीह-देवघर क्षेत्र	75 ”
(3) सोन घाटी क्षेत्र	1000 ”
(4) महानदी घाटी क्षेत्र	500 ”
(5) वर्धा घाटी क्षेत्र	1850 ”
(6) सतपुड़ा क्षेत्र	100 ”
(7) पूर्वी हिमालय क्षेत्र	10 ”
योग	6000 ”

वर्तमान अनुमानों के अनुसार कोयले के भण्डार 8643 करोड़ टन से भी अधिक हैं।

3. **खान की संख्या व रोजगार**—देश में 843 कोयला खानें हैं जिसमें 6 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है।

4. **क्षेत्र**—भारत में प्रमुख कोयला क्षेत्र बंगाल तथा बिहार राज्य में है। रानीगंज (पश्चिमी बंगाल) तथा झरिया (बिहार) की खानों से देश के कुल उत्पादन का क्रमशः 30 प्रतिशत या 40 प्रतिशत कोयला निकाला जाता है।

5. **विदेशी व्यापार**—भारत के निकटवर्ती देशों में कोयले की कमी के कारण भारतीय कोयले की माँग रहती है। दूसरी ओर, यूरोप के औद्योगिक देश भी इसकी माँग करते हैं, अतः भारत कोयले का निर्यात भी करता है। नीचे की तालिका में भारत से कोयले के निर्यात की मात्रा बतलाई है—

भारत से कोयले का निर्यात

वर्ष	मात्रा
1975-76	4·4 लाख टन
1976-77	6·2 लाख टन
1977-78	6·3 लाख टन
1982-83	1 लाख टन

भारतीय कोयले का सबसे बड़ा आयातकर्ता बङ्गला देश (लगभग 33 प्रतिशत)

है। श्री लंका, बर्मा अन्य आयातकर्ता देश हैं। फ्रांस भी भारतीय कोयले का बड़ा आयातकर्ता है। पश्चिमी जर्मनी, इटली व बेल्जियम अन्य देश हैं जो भारतीय कोयले का आयात करते हैं।

6. **कोयले का प्रयोग**—कोयला उत्पादन का सबसे अधिक भाग (लगभग 35 प्रतिशत) रेलें काम में लाती हैं और दूसरा इस्पात उद्योग का है। इनके अतिरिक्त, विद्युत उत्पादन व अन्य उद्योगों में इनका प्रयोग होता है।

7. **कोयला उद्योग का संगठन**—पिछले पाँच दशकों में कोयला खान उद्योग के सम्बन्ध में गठित अनेक समितियों ने इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने की सिफारिश की जिसको ध्यान में रखते हुये भारत सरकार ने राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना 1956 में की।

कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित निम्न वर्ष महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं—

17 अक्टूबर, 1971—निजी कोकिंग कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण
30 जनवरी, 1973—निजी गैर-कोकिंग कोयला खान का राष्ट्रीयकरण
1 नवम्बर, 1975—राष्ट्रीय कोयला उद्योग का प्रबन्ध कोल इण्डिया लिमिटेड के अधीन

इस प्रकार 1971 और 1973 में लगभग सभी कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकृत कोयला खानों के संचालन और नियन्त्रण के लिये 14 जून, 1973 को 'कोयला खान अथॉरिटी लिमिटेड' नाम की सरकारी, संस्था बनाई गई। राष्ट्रीयकृत कोयला खानों के अतिरिक्त कुछ कोकिंग कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया है जो कि टिस्को (TISCO) और इसको (IISCO) इस्पात कारखानों की आवश्यकतायें पूरी कर रही हैं।

8. **विश्व में स्थान**—कोयले के विश्व उत्पादन में भारत का सातवाँ स्थान है। 1975 में अन्य राष्ट्रों की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट है—

राष्ट्र	अमेरिका	रूस	चीन	पोलैण्ड	इंगलैंड	प०जर्मनी	भारत
उत्पादन (प्रतिशत)	24·0	20·5	19·9	7·2	5·4	4·1	4·1

कोयला उद्योग की समस्याएँ एवं उपचार

9. **खानों का अनार्थिक आकार**—भारत में अनेक कोयला खानों का आकार अनार्थिक है। इसके कारण इन खानों में आधुनिक मशीनों के प्रयोग की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं।

उपाय—अतः यह आवश्यक है कि छोटी-छोटी आर्थिक आकार की इकाइयों

का एकीकरण करके उन्हें आर्थिक इकाई का रूप दिया जाय तथा इनका आधुनिकीकरण किया जाय। ऐसा करने से उत्पादन लागत कम होगी तथा उद्योगों को सस्ते मूल्य पर कोयला उपलब्ध हो सकेगा जो देश के औद्योगीकरण में सहायक होगा।

2. **यातायात की समस्या**—कोयला उद्योग के विकास में सस्ते, सुगम एवं द्रुतगामी साधनों का कोयले के समान वितरण के लिए विशेष महत्त्व है। देश में इन साधनों के अभाव के कारण एक ओर तो कोयला खानों पर खुदा पड़ा रहता है तथा दूसरी ओर देश के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक उद्योग या तो बन्द हो जाते हैं या अपनी क्षमतानुसार उत्पादन करने में असमर्थ रहते हैं। इसका प्रभाव विदेशी व्यापार पर भी पड़ता है।

उपाय—वर्तमान कोयले की ढुलाई का अधिकांश कार्य रेलवे उद्योग करता है किन्तु आवश्यकतानुसार रेलवे उद्योग सफलतापूर्वक कोयले की ढुलाई का कार्य करने में पूर्णतः सफल नहीं हो रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कोयला ढुलाई की व्यवस्था में सड़क परिवाहन व जल परिवहन का भी सहयोग लिया जाये।

3. **दोषपूर्ण प्रबन्धकीय ढांचा**—दोषपूर्ण प्रबन्धकीय ढाँचा भी उद्योग की पर्याप्त प्रगति न हो पाने के लिए जिम्मेदार है। कोल इण्डिया लिमिटेड कोयला खानों का प्रबन्ध अपनी विभिन्न सहायक कम्पनियों के माध्यम से करता है। इस प्रबंधकीय ढाँचे का सबसे बड़ा दोष यह है कि सहायक कम्पनियों के कार्य निष्पादन हेतु कोल इण्डिया लि० उत्तरदायी होता है जबकि इन कम्पनियों के अध्यक्षों या प्रबन्ध संचालकों की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। फलस्वरूप, सहायक कम्पनियों पर कोल इण्डिया का सुदृढ़ नियंत्रण नहीं हो पाता।

इस व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कोयला उत्पादक कम्पनियों के पुनर्गठन की आवश्यकता काफी समय से महसूस की जा रही थी ताकि उत्पादन कार्यों की ओर अधिक गति प्रदान कर कोयला वितरण प्रणाली को विवेकपूर्ण बनाया जा सके।

4. **अलाभकारी मूल्य**—इस उद्योग के समक्ष एक समस्या अलाभकारी मूल्यों की है जिसके कारण यह उद्योग निरन्तर घाटे में चलता रहा है यद्यपि विगत वर्षों में कोयले के कीमतों में कई बार वृद्धि की गई है किन्तु उत्पादन लागत में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होने के कारण मूल्य वृद्धि निष्प्रभावी रही है उदाहरण के लिए—साफ्ट कोक जो देश का घरेलू ईंधन है का मूल्य फरवरी, 1981 में 150 रु० प्रति टन से बढ़ाकर 1982 में 175 रुपये प्रति टन कर दिया गया। इसके बावजूद केन्द्रीय सरकार को साफ्ट कोक की उत्पादन लागत 215 रुपये प्रति टन है।

इस समस्या का समाधान थोड़ी सी सतर्कता से किया जा सकता है। एक आकलन के अनुसार कोयला उत्पादन लागत का लगभग 65% मजदूरी ही होता है। वर्तमान में कोयला खानों में 50,000 से भी अधिक अतिरिक्त श्रमिक हैं जिन्हें लाभकारी काम देने की समस्या उद्योग के सम्मुख हैं। यदि इन श्रमिकों को पर्याप्त एवं लाभकारी कार्यों

में लगा दिया जाये तो उत्पादन में वृद्धि होने के साथ-साथ प्रति टन उत्पादन लागत में भी कमी लायी जा सकती है।

5. **कोयला क्षेत्रों का असमान वितरण**—देश के अधिकांश कोयले के भंडार बिहार व पश्चिम बंगाल में केन्द्रित हैं। कुछ कोयला मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास और असम से भी प्राप्त होता है। अन्य राज्यों में कोयले का उत्पादन बहुत कम है किन्तु कोयले की माँग देश के प्रत्येक क्षेत्र में है। अतः कोयले के वितरण में अत्यधिक ढुलाई व्यय आता है।

उपाय—इस समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि कोयले की ढुलाई के लिए यातायात के सस्ते साधन उपलब्ध होने चाहिए तथा उद्योग को प्रादेशिक आधार पर संगठित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोयले के भण्डारों की खोज अन्य प्रदेशों में भी की जानी चाहिए।

6. **आधुनिकीकरण की समस्या**—भारत में कोयले की लागत अधिक है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण खानों में मशीनीकरण की कमी है, जिसके फलस्वरूप खानों के निचले भाग से कोयला नहीं निकाला जा सकता। भारत में केवल 25 प्रतिशत कोयला मशीनों द्वारा निकाला जाता है, जबकि पश्चिमी जर्मनी में रूस की खानों में 80 प्रतिशत कोयला मशीनों से निकाला जाता है।

7. **कोयला भण्डारों का दुरुपयोग**—भारत में कोयले के भण्डार सीमित हैं और आशा की जाती है कि 150 वर्ष में समाप्त हो जायेंगे। इसके बावजूद भी खादान मालिक केवल ऊपरी सतहों से कोयला निकालकर छोड़ देते हैं। क्योंकि नीची खुदाई करने पर उत्पादन लागत बढ़ने लगती है। कोयला निकालने की रीति भी अवैज्ञानिक व त्रुटिपूर्ण है।

8. **खान दुर्घटनाओं पर नियन्त्रण**—कोयला उद्योग में दुर्घटनाएँ अन्य उद्योगों की अपेक्षा अधिक रही हैं, किन्तु सुरक्षा के उचित उपाय अपना कर दुर्घटनाओं को पर्याप्त कम किया जा सकता है। अब विभिन्न सुरक्षा समितियों द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर खानों में दुर्घटनाओं की रोक-थाम के लिए निरन्तर देख-रेख किये जाने की व्यवस्था की गई है।

9. **घटिया किस्म का कोयला**—भारत में जो कोयला खनन किया जाता है वह अत्यधिक राख वाला है।

10. **श्रमिक समस्या**—इस उद्योग में लगे श्रमिकों की दशा सोचनीय है एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव है। सरकार इनकी दशा सुधारने के लिए काफी प्रयत्नशील है। इनके लिये सरकार ने वेतन बोर्ड भी बना दिया है।

भविष्य

वस्तुतः भारतीय कोयले के निर्यात की सम्भावना काफी अधिक है। तेल की कीमतें बेतहाशा बढ़ जाने से 'काले हीरे' का भविष्य पुनः उज्ज्वल हो गया है। केवल भारत ही नहीं समृद्ध देश भी तेल पर निर्भरता कम करके कोयले के उपयोग की ओर झुक रहे हैं। यूरोपीय साझा बाजार के देश ऊर्जा की कुल खपत में तेल का अंश

1974 के 58 प्रतिशत से घटाकर 1980 में 51 प्रतिशत और 1985 तक 48 प्रतिशत ले आना चाहते हैं। जाहिर है कि उन्हें कोयले का इस्तेमाल बढ़ाना होगा। तेल के उपयोग का तरजीह देने की अब तक की नीति के कारण पश्चिम योरोप के कोयला उद्योग के विकास की अब तक उपेक्षा सी की गयी, यहाँ तक कि कितनी ही खानें बन्द कर दी गयीं। ऐसी हालत में इन देशों को आयात करना ही पड़ेगा। पोलैंड आवश्यक मात्रा में कोयला दे नहीं सकेगा। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका का कोयला मँहगा पड़ेगा। भारतीय कोयले के पक्ष में एक बात यह भी है कि उसमें गन्धक की मात्रा कम है। पर्यावरण दूषण के प्रति अत्यधिक सचेत हो गए ये देश इस कारण से भी भारतीय कोयले की तरजीह देंगे। भारतीय कोयले में राख तत्त्व अधिक होता है, परन्तु पश्चिम योरोप के बिजली कारखानों को इससे कोई असुविधा नहीं होती। घटिया किस्म के भारतीय कोयले के लिए अच्छा बाजार मिल जायेगा।

हमारी खानों में लगभग 9,196 करोड़ टन कोयला है। तेल के बढ़ते हुए मूल्य के विकल्प के रूप में कोयला का महत्वपूर्ण स्थान है। आगामी 200 वर्षों तक यह ऊर्जा के विकल्प के रूप में कार्य करने में सक्षम है। औद्योगिक का विकास भी इसी पर आधारित है। जब तक बिजली, सौर ऊर्जा आदि के उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है तब तक हमें कोयले के उत्पादन में ही निर्भर करना होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कोयला उत्पादन की माँग के अनुरूप बढ़ाया जाए।

6. सीमेंट उद्योग
(Cement Industry)

ऐतिहासिक विकास—भारत में सीमेन्ट उद्योग का विकास 1904 में हुआ जबकि मद्रास में **साउथ इण्डिया इन्डस्ट्रियल लिमिटेड** की स्थापना हुई लेकिन शीघ्र ही यह प्रयास असफल हो गया। इसके एक दशक पश्चात् अक्टूबर 1914 में सीमेंट उद्योग की भारत में नींव पड़ी, जबकि **इण्डियन सीमेंट कम्पनी लिमिटेड** (एजेन्ट्स-टाटा सन्स एण्ड कम्पनी) ने पोरबन्दर के कारखाने में पहला सीमेंट का थैला पैक किया। दो वर्ष के अन्दर ही (1914-19 के बीच) खटाऊ कटनी में तथा किलिक निक्सन ने लखेरी (बूँदी, राजस्थान) में सीमेन्ट के कारखाने स्थापित किए। इन तीनों कारखानों की उत्पादन-क्षमता 1918 में जबकि प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ 25,000 टन वार्षिक थी। 1919-24 के मध्य गुजरात, मध्यप्रदेश और बिहार में तीन नवीन सीमेन्ट इकाइयों की स्थापना की गई तथा पुरानी तीन इकाइयों का विस्तार किया गया। 1924 में देश में सीमेन्ट उद्योग की उत्पादन क्षमता 56 लाख टन थी, परन्तु वास्तविक उत्पादन इसके आधे से भी कम रहा। माँग की कमी और देशी सीमेन्ट के प्रति उपभोक्ताओं की उदासीनता के कारण सीमेंट की बिक्री लागत से कम दाम पर होने लगी। फलतः अनेक कम्पनियाँ बन्द हो गयीं। ऐसी दशा में भारत सरकार ने हस्तक्षेप किया तथा सीमेंट उद्योग की जाँच टैरिफ बोर्ड द्वारा करायी गई। टैरिफ बोर्ड ने संरक्षण देने के अतिरिक्त उद्योग की विद्यमान इकाइयों में आपसी सहयोग की आवश्यकता पर जोर दिया। परिणामस्वरूप 1925 में **भारतीय सीमेंट निर्माता संघ**

की स्थापना की गई जिसका कार्य सीमेन्ट की कीमतों का नियन्त्रित करना था, 1927 में कंकरीट एसोसियेशन ऑफ इन्डिया का गठन हुआ, जिसका प्रमुख कार्य सदस्यों के उत्पादन का विज्ञापन एवं वितरण करना था। विपणन व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए 1930 में सीमेन्ट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड की स्थापना की गई जिससे नियन्त्रित कीमत पर सीमेन्ट की बिक्री तथा वितरण को प्रोत्साहन दिया जा सके। सीमेन्ट उद्योग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना सन् 1936 में एसोसियेटेड कम्पनी की स्थापना होना है। संगठन एवं वितरण सम्बन्धी विवेकीकरण की दशा में यह महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस कम्पनी की स्थापना के बाद देश का सीमेन्ट उद्योग दो समूहों—ए० सी० सी० ग्रुप और डालमिया-जैन ग्रूप में बँट गया। सन् 1936 में ही राजस्थान में सवाई माधोपुर नामक स्थान पर जयपुर उद्योग लिमिटेड की स्थापना हुई। सन् 1937 में डालमिया-जैन ग्रुप द्वारा बिहार में कल्यान नामक स्थान पर लाइम और सीमेन्ट वर्क्स लिमिटेड की स्थापना की गई। सन् 1938 में मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के भद्रावती के कारखाने में सीमेन्ट का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र में यह पहला सीमेन्ट कारखाना था। सन् 1938-39 में डालमिया-जैन ग्रुप द्वारा बिहार में डालमिया नगर, मद्रास में डालमियापुरम और हरियाणा में दादरी नामक स्थान पर एक नवीन सीमेन्ट इकाई स्थापित हो गई। ए० सी० सी० ग्रुप ने भी इसी अवधि में सीमेन्ट उद्योग में तीन इकाइयों की वृद्धि की जो कि हरियाणा, बिहार और आन्ध्र प्रदेश में स्थापित की गई।

सन् 1947 में देश का विभाजन हुआ और फलस्वरूप सीमेंट के कुल 24 कारखानों में से 6 कारखाने पाकिस्तान में चले गए और शेष 18 भारत में रहे। डालमिया समूह और ए० सी० सी० ग्रुप में सन् 1938 की तरह 1948 में पुनः आन्तरिक प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई, जिसका उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा।

पंचवर्षीय योजनाओं में सीमेंट उद्योग

प्रथम योजना—प्रथम योजना के आरम्भ में सीमेण्ट का उत्पादन लगभग 30 लाख टन था। प्रथम योजना में सीमेण्ट उद्योग के 45 लाख टन से अधिक की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, परन्तु 45 लाख टन की क्षमता ही स्थापित की जा सकी।

द्वितीय योजना—इस योजना में सीमेंट की माँग काफी थी जिससे लक्ष्य को बढ़ाकर 160 लाख टन कर दिया गया, परन्तु वास्तविक उत्पादन क्षमता 92 लाख टन ही रही।

तृतीय योजना—इस योजना में 150 लाख टन की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया, परन्तु 116 लाख टन की ही उत्पादन क्षमता स्थापित की जा सकी।

चतुर्थ योजना—इस योजना में 1973-74 तक 215 लाख टन की उत्पादन क्षमता स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया था, परन्तु 197·5 लाख टन की ही उत्पादन क्षमता स्थापित की जा सकी। इस प्रकार इस उद्योग के विकास का क्रम सदैव ही लक्ष्य से पीछे रहा है।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक सीमेंट उत्पादन का लक्ष्य 20·8 मिलियन टन निर्धारित किया गया। वर्तमान सीमेंट मिलों की क्षमता में विस्तार करने के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र में भारतीय सीमेंट निगम द्वारा 6 नई इकाइयाँ स्थापित करने की योजना थी।

छठी योजना—छठी योजना के आरम्भ में सीमेण्ट उत्पादन क्षमता 24·3 मिलियन टन थी जो 1984-85 तक 43 मिलियन टन हो जायेगी। सीमेण्ट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया योजना के अन्तर्गत एक-एक मिलियन टन क्षमता के तीन कारखाने क्रमशः तन्दूर, नीमच व येरागुण्टाला में स्थापित करना चाहता है। योजना के अन्त में सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों की क्षमता 3·6 मिलियन टन से बढ़कर 9·3 मिलियन टन और कुल उत्पादन क्षमता में उनका भाग 15% से बढ़कर 22% हो जाने की सम्भावना है। योजना के अन्त तक सीमेंट उत्पादन 34·5 मिलियन टन हो जायेगा।

वर्तमान स्थिति

1. **उत्पादन**—1950-51 में सीमेण्ट का उत्पादन 27 लाख टन था जो 1982-83 में बढ़कर 235 लाख टन हो गया जैसा कि सारणी में दर्शाया गया है—

वर्ष	1950-51	60-61	70-71	80-81	82-83	84-85	94-95
उत्पादन (लाख टन)	27	80	144	193	235	345	650

2. **कारखानों की संख्या**—इस समय भारत में सीमेण्ट के 90 कारखाने हैं जिनमें से 19 कारखाने सरकारी क्षेत्र में तथा शेष निजी क्षेत्र में हैं।

3. **पूंजी विनियोग एवं रोजगार**—इस उद्योग में लगभग 300 करोड़ रुपये की पूँजी लगी है तथा 85 हजार श्रमिक कार्यरत हैं।

4. **उत्पादन क्षमता**—सीमेण्ट कारखानों की कुल प्रस्थापित क्षमता 2·58 करोड़ टन वार्षिक है।

5. **निर्यात**—भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं में सीमेन्ट अभी कुछ वर्षों से ही शामिल हुआ है। यहाँ से पाकिस्तान, बांगलादेश, श्रीलंका, अफगानिस्तान व ईरान आदि देशों को सीमेण्ट भेजा जाता है।

6. **प्रतिव्यक्ति उपभोग**—अन्य राष्ट्रों की तुलना में भारत में सीमेण्ट की प्रतिव्यक्ति खपत बहुत कम है। भारत में सीमेण्ट की प्रतिव्यक्ति वार्षिक खपत 32 कि० ग्राम है। जबकि बेल्जियम, इटली, जापान, फ्रांस, प० जर्मनी, रूस, कनाडा, व कोरिया में सीमेण्ट की प्रति व्यक्ति खपत क्रमशः 588, 656, 689, 506, 520, 483, 389 तथा 403 कि० ग्राम है। प्रति व्यक्ति खपत की दृष्टि से भारत का विश्व में 14 वाँ स्थान है।

7. **विश्व में स्थान**—सीमेण्ट उत्पादन की दृष्टि से भारत का विश्व में 8वाँ

स्थान (1975) है। प्रथम सात देश क्रमशः रूस, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, इटली, फ्रांस तथा इंगलैंड हैं।

8. **वर्तमान मूल्य नीति**—27 फरवरी 1982 को सरकार ने सीमेण्ट उद्योग के लिये "दोहरी मूल्य नीति" की घोषणा की है। नवीन नीति के अनुसार सीमेण्ट कारखानों को अपनी उत्पादन क्षमता के $\frac{1}{3}$ भाग के बराबर सीमेण्ट लेवी के रूप में देनी पड़ेगी जिसका वितरण सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा किया जाता है। शेष सीमेण्ट की बिक्री खुले बाजार में (Open Market) में की जाती है।

9. **वितरण**—भारतवर्ष में अधिकांश सीमेण्ट कारखाने बिहार में हैं। ये कारखाने सिन्द्री, खलारी, डालमियानगर, कल्याणपुर, जापला, झाझर, चायबासा में हैं। बिहार में सीमेण्ट उद्योग केन्द्रित होने के निम्नलिखित कारण हैं—(1) जिप्सम, राजस्थान के जोधपुर और बीकानेर जिलों से उपलब्ध हो जाता है। (2) कोयले की खानें बिहार में पायी जाती हैं। सीमेण्ट के उत्पादन के लिए इसका विशेष महत्त्व है। (3) चूने का पत्थर सीमेण्ट के कारखाने के समीप मिल जाता है।

सीमेण्ट के अन्य कारखाने निम्नलिखित राज्यों में हैं—

राज्य	प्रमुख क्षेत्र
मध्य प्रदेश	कटनी, सतना, कैमोर
उड़ीसा	राजगंगपुर
राजस्थान	जयपुर, लखेरी, सवाई माधोपुर
गुजरात	द्वारका, ओखामण्डल, जामनगर, सेवालिया
पंजाब	सूरजपुर, भूपेन्द्र नगर
तमिलनाडु	डालमियापुरम, तिन्नेवली, मधुकराय
कर्नाटक	भद्रावती, बागलकोट
पश्चिमी बंगाल	चौबीस परगना
आन्ध्र प्रदेश	कृष्ण, वेजवाड़ा, शाहबाद
उत्तर प्रदेश	चुर्क
केरल	कोटयाम
असम	उमती नगर

सीमेंट उद्योग की समस्याएँ

भारत के सीमेण्ट उद्योग के समक्ष निम्नलिखित समस्याएँ हैं जिनका तत्काल समाधान आवश्यक है—

1. **उद्योग के विकास की धीमी गति**—भारत एक विकासोन्मुख देश है और यहाँ आर्थिक विकास के लिए सीमेण्ट का बहुत महत्त्व है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जिस गति से बहुमुखी योजनाओं तथा भवनों का निर्माण कार्य कार्यान्वित किया जाता

है, उसको देखते हुए सीमेण्ट का उत्पादन अत्यन्त तेजी से बढ़ाया जाना आवश्यक है, परन्तु भारत में सीमेण्ट उद्योग का विकास निम्नलिखित कारणों से तीव्र गति से नहीं हो सका है—

(अ) निम्न लाभदायकता—सीमेण्ट उद्योग में लाभ अन्य उद्योगों की अपेक्षा काफी कम है। लाभों की कमी के कारण उद्योग आन्तरिक कोषों का सृजन नहीं कर पाता है सीमेण्ट एक पूँजी सघन उद्योग है और जब तक समुचित प्रत्याय का आकर्षण नहीं होगा तब तक इसे समुचित मात्रा में पूँजी भी प्रप्त नहीं हो सकेगी।

उद्योग की निवेश पर पर्याप्त आय सुनिश्चित करनी होगी जिससे कि विकास को प्रोत्साहन मिल सके। सरकार की वर्तमान नीति के अनुसार नई क्षमता पर 14 प्रतिशत आय प्राप्त होती है। लेकिन सीमेण्ट उद्योग का कहना है कि यह आय पर्याप्त इसलिए नहीं है क्योंकि संयंत्र की स्थापना पर व्यय प्रति टन 650 रुपये हो गया है जबकि पहले व्यय 250 रुपये ही था। ऐसे समाचार हैं कि सरकार इस तरह के प्रस्ताव पर विचार कर रही है कि सीमेण्ट उद्योग को कर के बाद 12 से 14 प्रतिशत तक लाभ मिल सके। लेकिन नई सरकार नए निवेश पर आय सुनिश्चित करने में सिर्फ सीमेण्ट उद्योग ही नहीं वरन् अन्य उद्योगों के लिए भी कुछ समय लेगी। यदि तत्काल कोई निर्णय ले भी लिया जाता है तो नयी इकाइयों के लिए माँग और पूर्ति के बीच की खाई को पूरा कर पाना सम्भव नहीं हो पायेगा क्योंकि इनमें उत्पादन आरम्भ करने में समय लगेगा।

(ब) अत्यधिक नियन्त्रण—उद्योग की मन्द-गति से प्रगति होने का एक मूल कारण यह भी है कि इस उद्योग पर सरकार का अत्यधिक नियंत्रण रहा है। इसकी स्थापना, इसकी कीमत, ईंधन, वितरण और यहाँ तक इसकी पैकिंग भी सरकार द्वारा नियन्त्रित की जाती है। इन अत्यधिक एवं अनावश्यक प्रतिबन्धों ने उद्योग के विकास को रोका है तथा नए उपक्रमों की स्थापना को हतोत्साहित किया है।

(स) अव्यावहारिक औद्योगिक लाइसेन्स प्रथा—सरकार की औद्योगिक लाइ-सेन्स देने की प्रथा सीमेन्ट उद्योग के सम्बन्ध में बड़ी अव्यावहारिक रही है। लाइसेन्स के साथ अनेक शर्तें लगा दी जाती हैं, विदेशी विनिमय कम मात्रा में दिया जाता है जिसके कारण उद्यमी इस उद्योग की स्थापना में अधिक रुचि नहीं लेते।

(2) कच्चे माल की कमी—सीमेण्ट उद्योग की एक अन्य समस्या कच्चे माल की कमी है। सीमेण्ट के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चा माल कैलकेरिया पदार्थ (चूने का पत्थर, कैलकेरियस रेत तथा सामुद्रिक शेल) तथा अन्य पदार्थ (क्ले, शेल, बाक्साइट, जिप्सम तथा कोयला या फर्नेस तेल) है। वास्तविकता यह है कि उच्च कोटि का कच्चा माल देश के सभी प्रदेशों में उचित रूप में बिखरे होने के बजाय कुछ ही क्षेत्रों में केन्द्रित है। इसके कारण यातायात व्यय अधिक पड़ता है। अतः घटिया किस्म के कच्चे माल का प्रयोग होता है।

(3) क्षमता का अल्प उपयोग—देश में सीमेण्ट की पर्याप्त माँग होने पर भी

सीमेण्ट उद्योग में स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है। सीमेण्ट उद्योग की 88 प्रतिशत स्थापित क्षमता का उपयोग हो रहा है।

(4) **प्रादेशिक असंतुलन**—सीमेण्ट उद्योग प्रादेशिक असंतुलन अर्थात् दोषपूर्ण क्षेत्रीय वितरण की समस्या से भी ग्रस्त है। यह उद्योग मुख्य रूप से दक्षिणी एवं पश्चिमी क्षेत्र में केन्द्रित है जिससे इन दो क्षेत्रों में उत्पादन का आधिक्य है लेकिन पूर्वी क्षेत्र तथा उत्तरी क्षेत्र में सीमेण्ट का अभाव है। सीमेण्ट जैसे भारी यातायात व्यय वाले उद्योग में इन क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने की आवश्यकता है।

(5) **परिवहन की कठिनाइयाँ**—सीमेण्ट उद्योग एक भारी कच्चे पदार्थ वाला उद्योग होने के साथ-साथ भारी निर्मित पदार्थ उद्योग है जिसके कारण इस उद्योग में परिवहन की पर्याप्त सुविधाओं का होना बहुत आवश्यक है। लेकिन भारतीय सीमेण्ट उद्योग में परिवहन की कठिनाई एक महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका प्रभाव उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों पर ही पड़ता है। वैगनों की कमी तो सदैव ही रहती है और कभी-कभी यातायात की सुविधा न मिलने के कारण फैक्ट्री को अपने उत्पादन में कटौती करनी पड़ती है। यद्यपि हाल में इस दिशा में काफी सुधार हुआ है किन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। यह आवश्यक है कि रेल भाड़ा नीति ऐसी हो जिससे कि सभी स्थानों पर सीमेन्ट को बिना मूल्य बढ़ाए आसानी से पहुँचाया जा सके। यह भी आवश्यक है कि सीमेन्ट उद्योग की भावी विस्तार की सभी योजनाएँ परिवहन के विस्तार की योजनाओं के साथ ही बनाई जायँ।

(6) **ऊँची उत्पादन लागत**—भारत में सीमेण्ट की प्रति टन उत्पादन लागत अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है। बढ़ती हुई उत्पादन लागत से सीमेण्ट उत्पादकों के लाभ में कमी आयी है क्योंकि सीमेन्ट का और अधिक मूल्य बढ़ाना सम्भव नहीं हो सकता है।

(7) **सीमेण्ट मशीनरी का अभाव**—सीमेण्ट उद्योग का विकास करने हेतु अभी भी अधिकांश मशीनरी का हमें विदेशों से आयात करना पड़ता है। इस हेतु विदेशी मुद्रा की उपलब्धि में कठिनाई होती है। देश में सात स्वदेशी फर्में इस मशीनरी का उत्पादन करती हैं परन्तु घरेलू मशीनरी की न केवल कीमत अधिक है बल्कि इसका उत्पादन भी माँग की अपेक्षा कम है, फिर भी सीमेण्ट मशीनरी के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो रही है।

(8) **अनुसंधान एवं तकनीकी सेवाओं की आवश्यकता**—सीमेण्ट उद्योग के लिए अनुसंधान और तकनीकी सेवाओं का भी पर्याप्त महत्त्व है। सभी प्रमुख उत्पादन इकाइयों में शोध की व्यवस्था है जिसमें सीमेण्ट के उत्पादन सम्बन्धी बातों के सम्बन्ध में अनुसंधान किया जाता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि एक '**केन्द्रीय सीमेण्ट शोध संथान**' की स्थापना की जानी चाहिए जो सीमेन्ट के नए-नए कच्चे माल तथा उत्पादन तकनीक अनुसंधानों की व्यवस्था करे।

(9) **अन्य समस्याएँ**—(अ) भारतीय सीमेण्ट उद्योग पर कर भार बहुत अधिक है जिसको घटाया जाना चाहिए।

(ब) सीमेण्ट की लागत अधिक होने के कारण इसका पर्याप्त निर्यात नहीं हो पा रहा है।

उद्योग के विकास के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाने के सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. वर्तमान संस्थापित क्षमता के अप्रयुक्त भाग का अधिक से अधिक प्रयोग करके उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए।

2. विद्यमान इकाइयों के विस्तार को प्राथमिकता के आधार पर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

3. कार्यक्षमता में वृद्धि करने तथा लागत व्यय को कम करने के उद्देश्य से उद्योग को अपनी मशीनों का आधुनिकीकरण करना चाहिए।

4. राज्य सरकारों को चाहिए कि दीर्वकालीन पट्टे देकर इस उद्योग की उन्नति में सहायता दें।

5. अभी तक सीमेण्ट निर्माण में चूना पत्थर का ही प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसके लिए अन्य कच्चे माल जैसे स्लैग (लोहा एवं इस्पात उद्योग का अवशिष्ट भाग) आदि के प्रयोग को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

6. उचित मूल्य-नीति द्वारा उपलब्ध तकनीकी ज्ञान का उपयोग नए कार-खानों की स्थापना में किया जाना चाहिए।

7. विद्युत-शक्ति के प्रसार एवं प्रयोग से दक्षिण में इस उद्योग के प्रसार की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। अतः इस उद्योग को सस्ती कीमत पर बिजली उपलब्ध करायी जानी चाहिए।

8. सीमेण्ट का उत्पादन बढ़ाने के लिए मिनी इस्पात संयंत्रों की भाँति मिनी सीमेन्ट संयंत्रों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। रीजनल रिसर्च लेबो-रेटरी, जोरहट में छोटे आकार के सीमेण्ट संयंत्र का डिजाइन तैयार किया गया है जिसे विकसित करके उपयोग में लाया जा सकता है। अनुमान लगाया गया है कि छोटे आकार के संयंत्रों में प्रतिटन मशीनरी लागत कम होगी। प्रयोग के रूप में इस प्रकार के कुछ मिनी सीमेण्ट संयंत्रों की स्थापना की जा सकती है।

9. सरकार की लाइसेन्स नीति को अधिक व्यावहारिक बनाना चाहिए।

10. देश में सीमेण्ट मशीनरी का उत्पादन बढ़ाया जाय इसके बावजूद भी यदि सीमेण्ट मशीनरी का आयात करना पड़े तो उसके लिए उदारता से विदेशी मुद्रा उपलब्ध करायी जाय।

भविष्य—भारत में सीमेण्ट उद्योग का भविष्य उज्ज्वल है क्योंकि (अ) पक्के मकानों के निर्माण के लिए सीमेण्ट की माँग बढ़ेगी, (ब) सड़कों व बाँधों के निर्माण हेतु भी सीमेण्ट की अधिकाधिक जरूरत होगी, (स) विदेशों में भी भारतीय सीमेण्ट की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

इंजीनियरिंग उद्योग
(Engineering Industry)

किसी राष्ट्र से औद्योगीकरण में इंजीनियरिंग उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज विश्व में समृद्ध कहे जाने वाले राष्ट्रों की तीव्र प्रगति का रहस्य उनके इंजीनियरिंग उद्योग की आश्चर्यजनक क्षमता में छिपा हुआ है। वस्त्र, पटसन, सीमेंट, कागज, कोयला, लोहा व इस्पात, चीनी आदि सभी उद्योग मशीनों पर निर्भर हैं। इन उद्योगों में प्रायः बहुत बड़े आकार की मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। पाश्चात्य देशों में कृषि की सम्पूर्ण क्रियाएँ मशीनों द्वारा की जाती हैं। इंजीनियरिंग उद्योग तो एक ऐसा उद्योग है जिसके विकास के बिना देश में मशीन का एक पहिया भी नहीं चल सकता। भारत में भी इंजीनियरिंग उद्योग को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संक्षिप्त इतिहास

इंजीनियरिंग उद्योग का प्रारम्भ मुख्य रूप से कलकत्ता में हुआ, जहाँ **बर्न एण्ड कम्पनी**, जैसप एण्ड कम्पनी, बेथवेट एण्ड कम्पनी इत्यादि ब्रिटिश फर्में स्थापित हुईं। 1924 में देश में 40 इन्जीनियरिंग फर्में थीं जिसमें 75,000 व्यक्ति कार्यरत थे। 1929 व 1934 में सामान्य मन्दी के समय सरकार एवं रेलवे की माँग में कमी होने से इस उद्योग को भारी हानि सहन करना पड़ा। लेकिन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण उद्योग को प्रोत्साहन मिला, जिससे इकाइयों की संख्या बढ़कर 58 व श्रमिकों की संख्या 84,000 हो गयी। 1943 में यह संख्या क्रमशः 87 व 15,000 थीं। इनमें से अधिकांश इकाइयाँ कलकत्ता, मद्रास व बम्बई के चारों ओर ही केन्द्रित थीं। स्वतन्त्रता के पश्चात् उद्योग में तीव्र प्रगति हुई। भारत ने विभिन्न प्रकार के उपकरण एवं मशीनरी पिन से वायुयान तक का उत्पादन किया। द्वितीय महायुद्ध की अवधि, इस योजना के लिए एक वरदान सिद्ध हुई और उसके पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं में इस आयोग को प्राथमिकता प्रदान की गई।

योजनावधि में विकास

प्रथम योजना में कृषि विकास पर अधिक ध्यान देने से इन्जीनियरिंग उद्योग के विकास पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। सूती वस्त्र मशीनरी के उत्पादन में कुछ प्रगति अनुभव की गई जिसका उत्पादन मूल्य 1950-51 में 4 करोड़ रु० से बढ़कर 1955-56 में 11 करोड़ रु० हो गया। सीमेंट, जूट एवं शक्कर मशीनरी का निर्माण भी व्यापक स्तर पर होने लगा।

द्वितीय योजना में भारी व आधारभूत उद्योगों के विकास पर भारी महत्त्व देने के कारण इस उद्योग को भी प्राथमिकता दी गई। इस अवधि में वर्कशाप भारी फाउण्डरी, ढाँचा दुकानों की स्थापना की गयी। मशीनीकरण एवं विद्युत इंजीनियरिंग उद्योग में तीव्र प्रगति हुई। डीजल इन्जिन के उत्पादन में तीव्र वृद्धि हुई।

तृतीय योजना में ढाँचा इंजीनियरिंग उद्योग के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। निजी क्षेत्र के विकास पर जोर दिया गया और सार्वजनिक क्षेत्र में अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गयीं जैसे कि हिन्दुस्तान केबिल्स लि० हैवी प्रेशर एवं पम्प,

बॉल एवं रॉलर, बीयरिंग, महत्त्वपूर्ण इन्स्ट्रुमैंट फैक्टरी व सर्जीकल उपकरण आदि। योजना काल में मशीनीकरण, इंजीनियरिंग व विद्युत इंजीनियरिंग उद्योग के उत्पादन में अपार वृद्धि हुई।

चतुर्थ योजना में विद्यमान क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के प्रयास किये गये। प्रमुख रूप से योजनाओं को पूर्ण करने में विनियोग किये जायेंगे तथा शेष विनियोग कुछ विद्यमान इकाइयों का विवर्तन करने में किया जायेगा जैसे कि हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, खदान एवं सहायक मशीनरी निगम एवं भारत हैवी विद्युतीकरण आदि। मशीन टूल्स उत्पादन, परिवहन एवं संवहन, उपकरण एवं कृषि मशीनरी का भी विस्तार किया गया।

पाँचवीं योजना—पाँचवीं योजना में इंजीनियरिंग उद्योग में स्थापित क्षमता का पूर्ण उपयोग करने उत्पादनों का विविधीकरण करने तथा मशीन निर्माण क्षमता की कमी को पूरा करने पर जोर दिया गया। पाँचवीं योजना के अन्त तक इस उद्योग के निर्यात लगभग 400 करोड़ रु० करने का लक्ष्य रखा गया था।

छठवीं योजना—छठवीं योजना में इंजीनियरिंग उद्योग के सामान की पूर्ति हेतु अप्रयुक्त क्षमता के पूर्ण उपयोग पर जोर दिया गया है। यन्त्रों के नवीनीकरण, भारत हैवी इलेक्ट्रीकल्स के विस्तार और हिन्दुस्तान मशीन टूल्स को घड़ी निर्माण करने वाली एक नवीन इकाई की स्थापना के अतिरिक्त शेष परिव्यय, राजकीय क्षेत्र की चालू योजनाओं को पूरा करने में लगाया जायेगा। इस क्षेत्र का निर्यात वृद्धि में विशेष योगदान रहेगा। विशाखापट्टनम एवं कोचीन के जहाज बनाने वाले कारखानों का विस्तार किया जायेगा तथा इलेक्ट्रोनिक्स उद्योगों का विकास किया जायेगा।

इन्जीनियरिंग उद्योग का स्थानीयकरण[1]

इंजीनियरिंग उद्योग का स्थानीयकरण मुख्यतः बड़े नगरों में हुआ है। इंजीनियरिंग उद्योग के मुख्य केन्द्र एवं वहाँ के विशिष्टीकरण निम्न प्रकार हैं—

1. **बम्बई (महाराष्ट्र)** वस्त्रोद्योग मशीनरी, स्वतःचालित वाहन, पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण, पोत निर्माण, सूक्ष्म उपकरण, विद्युत वस्तुएँ एवं छोटी मशीनें।

2. **बंगलोर (कर्नाटक)**—वायुयान मशीन टूल्स, रेलवे डिब्बे, दूर सन्देश उपकरण एवं इलैक्ट्रानिक्स।

3. **कलकत्ता (पश्चिम बंगाल)**—स्वतः चालित वाहन, पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण। विद्युत वस्तुएँ, सूक्ष्म उपकरण एवं वस्त्रोद्योग मशीनें।

4. **देहली**—विद्युत एवं छोटी मशीनरी।

5. **मद्रास (तमिलनाडु)**—स्वतः चालित वाहन पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्ती-

1. Based on Economic Geography of India by V. S. Gananathan P. 77-78

कारण, ट्रक्स पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण, मोटर साइकिल, रेलवे, डिब्बे, साइकिल, डीजल इंजन, विद्युत वस्तुएँ, छोटी मशीनरी, शल्य चिकित्सा उपकरण।

6. **अहमदाबाद (गुजरात)**—वस्त्र उद्योग मशीनें।

7. **बड़ौदा (गुजरात)**—वस्त्रद्योग मशीनरी।

8. **भोपाल (मध्यप्रदेश)**—भारी विद्युत (ब्रिटिश सहयोग से स्थापित केन्द्रीय सरकार की परियोजना)

9. **चितरंजन (पश्चिमी बंगाल)**—स्टीम एवं विद्युत इंजन।

10. **जमशेदपुर (बिहार)**—स्टीम इंजन, डीजल ट्रक्स पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण।

11. **कानपुर (उत्तर प्रदेश)**—सुरक्षा साज सामान।

12. **मैसूर (कर्नाटक)**—मोटर साइकिल पार्ट्स निर्माण एवं संयुक्तीकरण।

13. **नाहन (हिमाँचल प्रदेश)**—कृषि उपकरण विद्युत मोटर्स

14. **पिंजोर (पंजाब)**—मशीन टूल्स

15. **पूना (महाराष्ट्र)**—डीजल इंजिन और पम्प, आटोमोबाइल्स जीपें, मशीन टूल्स, इलैक्ट्रीकल्स, सुरक्षा साज सामान।

16. **राँची (बिहार)**—भारी इंजीनियरिंग।

17. **रूपनारायणपुर (पश्चिमी बंगाल)**—केबिल्स और वायर्स।

18. **सिकन्दराबाद (आन्ध्र प्रदेश)**—औजार और सुरक्षा साज सामान।

19. **त्रिपुरापल्ली (तमिलनाडु)**—बॉयलर्स और रेलवे साज सामान।

20. **विशाखापट्टनम (आन्ध्र प्रदेश)**—पोत निर्माण।

वर्तमान स्थिति

1. **रोजगार एवं पूंजी**—भारत में इन्जीनियरिंग उद्योग में लगभग 20 लाख व्यक्ति कार्यरत हैं और इसमें लगभग 8,000 करोड़ रुपये की उत्पादक पूँजी लगी है देश के निर्माणी उद्योग में इन्जीनियरिंग उद्योग का भाग पूँजी में लगभग 35% और रोजगार में लगभग 30% है।

2. **उत्पादन**—1950-51 में इन्जीनियरिंग उद्योग का उत्पादन केवल 50 करोड़ रुपये का था जो 1974-75 वर्ष में बढ़कर 3,603 करोड़ रुपये का हो गया था जिसके 1981-82 में लगभग 8,000 करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान है।

3. **निर्यात**—1955-56 में इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात केवल 5·16 करोड़ था जो बढ़कर 1980-81 में लगभग 1060 करोड़ रु० हो गया। नीचे सारिणी में इन्जीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात को दर्शाया गया है—

इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात

वर्ष	निर्यात (करोड़ रु० में)	गतवर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
1975-76	408	16·93
1976-77	552	35·14
1977-78	624	13·00
1978-79	717	14·89
1979-80	700	—
1981-82	1060	30·0

इन्जीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि के साथ-साथ निर्यात की जाने वाली वस्तु संरचना में भी अन्तर आया है। उदाहरण के लिए 1956-57 में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में पूँजीगत वस्तुओं का प्रतिशत केवल 12 था जो बढ़कर 1980-81 में लगभग 38 प्रतिशत हो गया। निर्यात संरचना में पूँजीगत वस्तुओं का निर्यात बढ़ाना हमारे बढ़ते हुए औद्योगीकरण का संकेतक है। इन्जीनियरिंग वस्तुओं की निर्यात संरचना नीचे सारणी से दर्शायी गयी है।

उत्पाद समूह	निर्यात 1956-57 में		निर्यात 1980-81 में (अनुमानित)	
	कीमत (मिलियन रु० में)	कुल निर्यात में प्रतिशत	कीमत (मिलियन रु० में)	कुल निर्यात में प्रतिशत
1. पूँजीगत वस्तुएँ	6·20	12·08	3450·00	38·44
2. प्राथमिक इस्पात एवं लौह आधारित वस्तुएँ	17·00	32·87	1700·00	18·88
3. अलौह उत्पादन	11·00	21·31	330·00	3·60
4. उपभोक्ता वस्तुएँ	17·40	33·74	3520·00	39·19
कुल	51·60	100·00	9000·00	100·00

निर्यात किए जाने वाली वस्तुओं में परिवर्तन के साथ-साथ निर्यात के दिशा में भी परिवर्तन हो रहा है। धीरे-धीरे हमारा निर्यात यूरोप और अमरीका को बढ़ता जा रहा है। जैसा कि अग्रलिखित सारणी के अंकों से स्पष्ट हो जायेगा।

निर्यात की दिशा

क्षेत्र	निर्यात 1956-57 में कीमत (मिलियन रु० में)	निर्यात 1956-57 में कुल निर्यात में प्रतिशत	निर्यात 1980-81 में कीमत (मिलियन रु० में)	निर्यात 1980-81 में (अनुमानित) कुल निर्यात में प्रतिशत
1. एशिया	37·60	72·86	3477·70	48·50
2. अफ्रीका	12·00	23·23	1501·50	20·97
3. यूरोप	negligible	0·21	1426·80	19·90
4. अमेरिका	negligible	0·36	581·80	8·11
5. ओसीनिया	1.00	1·96	77·10	1·07
6. आस्ट्रेलिया	negligible	1·38	104·40	1·45
कुल	51·60	100·00	7169·30	100·00

समस्याएँ

वर्तमान में भारतीय इन्जीनियरिंग उद्योग की निम्नलिखित प्रमुख समस्याएँ हैं :

1. **कच्चे माल का अभाव**—इस्पात तथा अलौह धातुएँ इन्जीनियरिंग उद्योग की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं परन्तु भारत में विभिन्न कारणों से इन धातुओं का अभाव बना हुआ है। फलतः इन आधारभूत वस्तुओं के अभाव में हमारे निर्यात भी कम हो जाते हैं।

2. **आन्तरिक माँग में अनियमितता**—भारत में मानसून की अनिश्चितता के कारण कृषि एवं उद्योगों की इन्जीनियरिंग माल की माँग में अनियमितता बनी रहती है। जिस वर्ष वर्षा ठीक नहीं होती तो कृषि उत्पादन में कमी के कारण कृषकों की आय भी कम हो जाती है फलतः कृषि उपकरणों जैसे ट्रैक्टर्स, थेसर्स आदि की माँग कम हो जाती है और इन्जीनियरिंग उद्योग में माँग मन्दी उत्पन्न हो जाती है। ऐसे समय में निर्यात ही उद्योग को बढ़ावा दे सकते हैं।

3. **ऊँची उत्पादन लागत**—भारत में विगत वर्षों में इस्पात एवं अलौह धातुओं के कीमतों में तीव्र गति से वृद्धि हुई है इसके अतिरिक्त विद्युत व कच्चे माल के अभाव में इन्जीनियरिंग इकाइयाँ अपनी पूर्ण क्षमता का उपयोग कर पाने में असमर्थ रहती है। फलतः इनकी उत्पादन लागत ऊँची हो जाती है। जो हमारे निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

4. **पूँजी का अभाव**—भारी इन्जीनियरिंग उद्योग की स्थापना एवं उसके विकास के लिए अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है जबकि भारत में पूँजी का अभाव है।

5. **अत्यधिक कर भार**—इस उद्योग पर भारी मात्रा में कर लगाए जाते हैं। करों से इस उद्योग की वस्तुओं की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है जिससे इन वस्तुओं को देश में बेचने तथा निर्यात करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

6. **यातायात की कठिनाई**—भारत में अधिकांश इन्जीनियरिंग केन्द्रों तक रेल लाइनें हैं, परन्तु वे अत्यन्त अपर्याप्त हैं। सरकार को चाहिए कि इन उद्योगों के उत्पादन केन्द्रों तक दोहरी लाइनें बिछायें तथा इन उद्योगों को रेल के डिब्बे उपलब्ध कराने में कुछ प्राथमिकता देने की व्यवस्था करें।

7. **बिजली तथा अन्य शक्तियों की समस्या**—इन्जीनियरिंग उद्योगों के लिए कोयला व सस्ती बिजली की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि होना जरूरी है परन्तु देश में अधिकांश भागों में इनका अभाव होने के कारण भारी औद्योगिक इकाइयों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः सरकार को चाहिये कि सभी भारी मशीन उद्योगों को बिजली तथा कोयले की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में करे।

8. **निर्यात में कठिनाई**—विगत वर्षों में भारत से डीजल इन्जिन्स और माल के डिब्बे इत्यादि अनेक वस्तुओं का निर्यात आरम्भ हुआ है, परन्तु इनमें से बहुत-सी वस्तुओं का निर्यात राज्य व्यापार निगम के माध्यम से होता है जिससे माल की बिक्री में अनावश्यक देरी होती है व उद्योगपतियों को समय पर भुगतान नहीं मिलता। अतः यह आवश्यक है कि राज्य व्यापार निगम अपनी कार्य प्रणाली को अधिक कुशल बनाये।

उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त (अ) इन्जीनियरिंग उद्योग में काफी क्षमता प्रयुक्त पड़ी है इसका उचित उपयोग किया जाना चाहिये। तथा (ब) इस उद्योग में अनेक अनार्थिक इकाइयाँ हैं। जिनको आर्थिक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिये।

उद्योग की दशा सुधारने के लिए उपाय

उद्योग के सुधार के लिए सुधार इस प्रकार दिए जा सकते हैं।

(i) चूँकि इन्जीनियरिंग उद्योग एक निर्यात प्रधान उद्योग है, सरकार को इस उद्योग की निर्यात प्रधान इकाइयों को नियन्त्रित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में इस्पात व अलौह धातुओं को उपलब्ध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ii) सरकार को चाहिए कि कर भार में कुछ कमी कर दे जिससे कि देश के अन्दर उन वस्तुओं की माँग बढ़ सके व निर्यात व्यापार में वृद्धि हो सके।

(iii) इनके पूर्ण उत्पादन क्षमता पर कार्य करने के लिए शक्ति व कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए।

(iv) पूँजी की कमी की पूर्ति के लिए वित्तीय संस्थाओं व सरकार द्वारा मिलकर प्रबन्ध करना चाहिए।

(v) विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला उन्नत तकनीक, कम मूल्य, क्वालिटी नियन्त्रण एवं गारण्टी से किया जा सकता है।

10. **अन्य सुझाव—**

(अ) बड़े उपक्रमों में वित्तीय मामलों के अधिकार अपेक्षाकृत अधिक होने चाहिए। वित्तीय सलाहकार की परिषद् बनाई जाय जो प्रबन्धकों को वित्तीय परामर्श दे।

(ब) नये उपक्रमों को खोलने के पहले विद्यमान उपक्रमों को संगठित किया जाना चाहिए।

(स) कुछ सरकारी उपक्रमों को कम से कम 25 से 30 वर्षों की अवधि के लिए निजी उद्योगपतियों के पट्टे पर देना चाहिये।

(द) कुछ सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों के 40% अंशों को जनता में बेच देना चाहिए। जनता अंशधारियों के रूप में सतर्क रहेगी और इस तरह प्रबन्धकों को कार्य कुशल बने रहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

(य) इन उद्योगों के प्रमुख संचालक के रूप में रिटायर्ड अधिकारियों तथा डेपुटेशन के आधार विभिन्न मन्त्रालयों के लोगों का भेजना बन्द किया जाना चाहिए।

(र) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में जहाँ पर श्रमिकों की सुख-सुविधा आदि के बारे में पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उद्योगों में हड़ताल आदि को अवैधानिक घोषित कर दिया जाय।

समय-समय पर विभिन्न समितियों और आयात आयोगों ने जैसे छागला आयोग 1945, कृष्ण मेनन समिति 1949, प्राकलन समिति 1960, योजना आयोग, भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग सरकारी उपक्रमों को अधिक कुशल बनाने के लिए सुझाव दिए हैं जिनके सारांश कुछ सुझाव के रूप में दिए गए हैं।

परीक्षा प्रश्न

1. भारतवर्ष में सार्वजनिक उद्योगों की समस्याओं की विवेचना कीजिए और उनकी कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए सुझाव दीजिए।

2. क्या आप इस पक्ष में हैं कि भारत में सार्वजनिक क्षेत्र को बढ़ाया जाय? सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को किन आधारों पर अक्षम बताया गया है?

3. भारत में सार्वजनिक उद्योगों का संगठन किन ढंगों से हुआ है? संक्षेप में प्रकाश डालिए।

4. 'भारत में सार्वजनिक क्षेत्र इतना सफल नहीं रहा है, जितना निजी क्षेत्र।' व्याख्या कीजिए तथा सार्वजनिक क्षेत्र की कमियों पर प्रकाश डालिए।

5. 'सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों को राष्ट्र हित में एक दूसरे से सहयोग करना चाहिए, प्रतिस्पर्द्धा नहीं।' विवेचना कीजिए।

24

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of the Government of India)

औद्योगिक नीति का अर्थ—औद्योगिक नीति एक व्यापक विषय है। इसके अन्तर्गत उन सभी सिद्धांतों, सरकारी नीतियों एवं नियमों को सम्मिलित किया जाता है जो औद्योगिक विकास के लिए सरकार द्वारा कार्यान्वित किए जाते हैं। उचित औद्योगिक नीति से ही आज के अर्द्धविकसित राष्ट्र आर्थिक विकास में क्षेत्र में आगे बढ़ सके हैं। अतः भारत जैसे अर्द्धविकसित देश के लिए औद्योगिक नीति का अत्यधिक महत्त्व है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति—15 अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। उस समय देश में औद्योगिक संकट बढ़ा हुआ था। देश-विभाजन के कारण औद्योगिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी और औद्योगिक दशा गिरती जा रही थी। देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनिश्चितता का वातावरण बना हुआ था। इस अनिश्चितता और अशान्ति को दूर करने के लिए दिसम्बर सन् 1947 में एक औद्योगिक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन ने यह राय दी कि भारत सकार को शीघ्रता से स्पष्ट औद्योगिक नीतिक की घोषणा करनी चाहिए, ताकि देश का औद्योगिक विकास सुव्यवस्थित ढङ्ग से हो सके। अनेक राजनैतिक उलझनों के होते हुए भी, 6 अप्रैल सन् 1948 को तत्कालीन उद्योग मंत्री **डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी** ने भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा की।

सन् 1948 की औद्योगिक नीति

सन् 1948 की औद्योगिक नीति में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया उसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न थीं :—

1. **उद्देश्य**—इस औद्योगिक नीति के उद्देश्य थे—(1) सबके लिए न्याय एवं अवसरों की समानता वाली सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना, (2) देश के संसाधनों के सदुपयोग द्वारा उत्पादन में वृद्धि करके जीवन-स्तर ऊँचा उठाना, (3) सभी को समाज की सेवा में काम करने का अवसर उपलब्ध कराना।

2. **औद्योगिक वर्गीकरण**—उद्योगों को निम्न चार भागों में बाँटा गया :—

(i) **एकमात्र सरकारी एकाधिकार वाले उद्योग**—इस श्रेणी में 3 उद्योग रखे

गए—अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन और रेलवे एवं यातायात तथा डाक-तार। यह निश्चित किया गया कि इसकी स्थापना और विकास का दायित्व पूर्णरूप से सरकार के एकाधिकार में ही रहेगा।

(ii) **सरकार नियन्त्रित क्षेत्र**—इस श्रेणी के अन्तर्गत 6 उद्योग रखे गए—कोयला, लोहा व इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज-निर्माण, टेलीफोन तथा बेतार उपक्रमों का निर्माण। इन उद्योगों के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थीं :—

(अ) इस श्रेणी के उद्योगों में नयी इकाइयों की स्थापना केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों अथवा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा की जा सकती है।

(ब) इन उद्योगों से सम्बन्धित वर्तमान इकाइयों को दस वर्ष तक विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया जाएगा। दस वर्षों के पश्चात् ही इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार किया जाएगा। यदि राज्य किसी औद्योगिक इकाई को अपने अधिकार में लेगा तो उसका उचित मुआवजा दिया जाएगा।

(स) सिद्धान्त के रूप में सरकारी उपक्रम राज्य के नियन्त्रण में सार्वजनिक निगमों के रूप में चलाए जाएँगे।

(iii) **सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन के अन्तर्गत उद्योग**—इन श्रेणी में 15 अधारभूत महत्त्व के उद्योग सरकार के नियन्त्रण तथा निर्देशन में रखे गए, तथा इस श्रेणी में रखे गए प्रमुख उद्योग ये थे : नमक, मोटर, ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिकल्स इंजीनियरिंग भारी रसायन, भारी मशीन, अल्कोहल, सूती तथा ऊनी वस्त्र, सीमेंट, चीनी, कागज, जल तथा वायु-यातायात आदि। ये उद्योग निजी क्षेत्र में रहेंगे और इनको राष्ट्रीयकरण का कोई भय नहीं रहेगा। परन्तु इन उद्योगों में भी सरकार नई इकाइयाँ स्थापित कर सकती है।

(vi) **अन्य उद्योग**—शेष सभी उद्योग सामान्यत: निजी सहकारी उपक्रम के लिए छोड़ दिए गए। यदि किसी उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नहीं रही तो सरकार को हस्तक्षेप का अधिकार है।

3. **कुटीर तथा लघु उद्योग**—औद्योगिक नीति में इन उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया गया। क्योंकि इनमें व्यक्तिगत, ग्रामीण तथा सहकारी उपक्रम सम्भव होते हैं। ऐसे उद्योग स्थानीय साधनों के पूर्ण उपभोग तथा कुछ उपभोग-योग्य वस्तुओं के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि विशाल उद्योगों के साथ इनका समन्वय किया जाना चाहिए।

4. **श्रमनीति**—औद्योगिक विकास के लिए श्रम के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया और कहा गया कि सरकार श्रमिको की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करेगी। उद्योगों के लाभ में श्रमिकों को भी हिस्सा मिलेगा। उद्योगों में संचालन के लिए श्रमिकों को भागीदार बनाने का प्रयत्न किया जाएगा। औद्योगिक झगड़ों के फैसले के लिए उचित व्यवस्था की जाएगी तथा श्रमिकों की गृह-समस्या के समाधान के लिए आगामी 10 वर्षों में 10 लाख मकान बनाए जाएँगे।

(4) **अन्य कारण**

(अ) द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग-धन्धों के विकास को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गई, जिसके अनुरूप ही औद्योगिक नीति का होना आवश्यक था।

(ब) निजी क्षेत्र में प्रथम औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप कुछ अनिश्चितता औ आशंकाएँ उत्पन्न हो गई थीं जिनको दूर करना भी आवश्यक हो गया, ताकि सरकारी क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र भी औद्योगीकरण में पूरा सहयोग दे सकें।

उपर्युक्त परिवर्तन के फलस्वरूप देश के लिए एक नई औद्योगिक नीति की घोषणा अनिवार्य हो गई और 30 अप्रैल सन् 1956 को एक औद्योगिक नीति प्रस्ताव द्वारा देश की नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा कर दी गई।

सन् 1956 की नवीन औद्योगिक नीति की विशेषताएँ—सन् 1956 की नवीन औद्योगिक नीति की कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

(1) **नीति का उद्देश्य**—इस नीति के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—

(अ) आर्थिक विकास की गति की तीव्र करना,
(ब) अधारभूत उद्योगों और मशीन-निर्माण उद्योगों का विकास करना,
(स) एक विशाल एवं प्रगतिशील सहकारी क्षेत्र की स्थापना करना,
(द) आय तथा सम्पत्ति की असमानता को घटना,
(य) निजी अधिकारों को रोकना और आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर अंकुश लगाना।

(2) **उद्योगों का वर्गीकरण**—इस नीति के अन्तर्गत उद्योगों को निम्न तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया—

(अ) वे उद्योग जो पूर्णरूप से राज्य के एकाधिकारी में रहेंगे—उद्योगों की सूची अ (Schedule A) में रखे गए 17 महत्त्वपूर्ण और आधारभूत उद्योग पूर्णरूप से राज्य के एकाधिकार में रहेंगे। ये उद्योग इस प्रकार हैं—अस्त्र-शस्त्र एवं सैनिक उपकरण, अणुशक्ति, लोहा और इस्पात, इस्पात के पिंडों की ढलाई, भारी मशीनरी निर्माण, भारी विद्युत् मशीनें, कोयला और भूरा कोयला, खनिज-तेल, खनिज लोहे की खुदाई, गंधक, मैंगजीन एवं कुछ अन्य खनिज तथा उनकी सफाई जैसे हीरा, सोना, ताँबा, सीमा आदि, आक्षविक खनिज, वायुयान निर्माण, वायु यातायात, रेल यातायत, जहाज निर्माण, टेलीफोन एवं दूर-संचार उपकरण, विद्युत् उत्पादन व वितरण। इस श्रेणी के सभी नए उद्योग सरकार द्वारा स्थापित किए जाएँगे, परन्तु इस नीति में सन् 1948 की नीति की भाँति वर्तमान इकाइयों के लिए राष्ट्रीयकरण की कोई चर्चा नहीं थी।

(ब) वे उद्योग जिनके विकास में सरकार भविष्य में उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी—उद्योगों की द्वितीय सूची में 92 उद्योग रखे गए जिन पर धीरे-धीरे सरकार का स्वामित्व हो जाएगा, तथा इस श्रेणी में नए कारखाने स्थापित करने में सरकार ही अगुआ रहेगी। परन्तु साथ-साथ निजी क्षेत्र भी चालू रहेगा और इस श्रेणी में निजी

साहसियों को भी विकास का अवसर दिया जायेगा, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सरकार की साझेदारी में। द्वितीय सूची के प्रमुख उद्योग अल्यूमिनियम तथा लौह धातुएँ, मशीन औजार निर्माण एवं औजारीय धातुएँ, जीवनदायक तथा अन्य दवाएँ, रासायनिक खाद, कृत्रिम रबड़, कोयले का कोक बनाना, रासायनिक लुगदी, सड़क और परिवहन तथा अन्य खनिज पदार्थ जो सूची अ में न हों।

(स) **अन्य समस्त उद्योग जो सामान्यत: निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रहेंगे**—शेष सब उद्योग तृतीय श्रेणी में रखे गए जिनका विकास निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया। इस श्रेणी में विशेषत: सभी उपभोक्ता उद्योग आ जाते हैं। यद्यपि इन उद्योगों का क्षेत्र पूर्णत: निजी उद्यमियों के लिए खुला रहेगा, परन्तु सरकार पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित कार्यक्रमों के अनुसार इन उद्योगों के विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान करेगी। साथ ही निजी क्षेत्र के लिए यह आवश्यक है कि वह पंचवर्षीय योजनाओं के निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चले और उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम सन् 1951 के अन्तर्गत लगाए गए नियन्त्रणों का अनुसरण करे।

(3) **कुटीर तथा लघु उद्योग** (Cottage and Small-scale Industries)—इस नीति में भी कुटीर तथा लघु उद्योग के विकास पर पुन: जोर दिया गया और बेकारी को दूर करने, स्थानीय साधनों का पूर्ण उपभोग करने व राष्ट्रीय आय के अधिक समान वितरण के लिए इनका महत्त्व स्वीकार किया गया। यह व्यवस्था की गई कि सरकार इन उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को सुधारने वाले उपायों पर जोर देगी। इसके लिए वह मुख्यत: निम्न कदम उठाएगी। कठिनाइयों का निवारण, उत्पादन तकनीकी सुधार, औद्योगिक बस्तियों और ग्रामीण सामूहिक वर्कशापों की स्थापना, बिजली की सुविधाओं का विस्तार और सस्ती दर पर बिजली प्रदान करना, वित्तीय एवं विक्रय सुविधाएँ उपलब्ध करना और औद्योगिक सहकारी समितियों का संगठन करना।

(4) **क्षेत्रीय विषमताओं को दूर करना**—नवीन औद्योगिक नीति में यह निश्चय किया गया कि सरकार पिछड़े हुए क्षेत्र के औद्योगिक विकास पर विशेष ध्यान देगी, ताकि देश में औद्योगिक विकास की दृष्टि से क्षेत्रीय विषमताएँ दूर हो जायँ। इस उद्देश्य से औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों के लिए सरकार बिजली, पानी तथा परिवहन की सुविधाओं में वृद्धि करेगी; विशेषकर, ऐसे क्षेत्रों में जहाँ रोजगार बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है।

(5) **सहकारी सिद्धान्त**—यथासम्भव सहकारिता का सिद्धान्त लागू किया जाएगा तथा निजी क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्यों को सहकारी ढंग पर विकसित करने का प्रयास किया जाएगा।

(6) **श्रम नीति**—औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए श्रमिकों और उद्योग-पतियों के बीच सम्बन्धों को सुधारा जाएगा और इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा कि दोनों पक्ष अपने-अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझें। इस दृष्टि से

श्रमिकों के रहन-सहन में सुधार, श्रमिकों और तकनीकी कर्मचारियों के औद्योगिक प्रबन्ध में सहयोग तथा इनकी कुशलता में सुधार होना आवश्यक है।

(7) **कर्मचारियों का प्रशिक्षण**—इस नीति में तकनीकी और प्रबन्ध सम्बन्धी कर्मचारियों की बढ़ती माँग की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ाने तथा विश्व-विद्यालयों और अन्य संस्थाओं में प्रबन्ध विशेषज्ञों की शिक्षा की सुविधा प्रदान करने का सुझाव दिया गया।

(8) **राष्ट्रीयकरण न करने का आश्वासन**—सन् 1956 की औद्योगिक नीति के अन्तर्गत, प्रथम औद्योगिक नीति जो द्वितीय श्रेणी के निजी उद्योगों के स्पष्टीकरण के बारे में, 10 वर्ष बाद पुनः विचार करने का प्रावधान था, उससे मुक्ति प्रदान कर दी गई।

(9) **सत्ता का विकेन्द्रीयकरण**—यह भी कहा गया है कि सरकारी उपक्रमों की सफलता के लिए सत्ता का विकेन्द्रीयकरण किया जाएगा और प्रबन्ध कार्य व्याव-सायिक आधार पर चलाया जाएगा।

सन 1956 की औद्योगिक नीति का आलोचनात्मक विश्लेषण

यद्यपि इस नीति ने सरकारी और निजी क्षेत्र का स्पष्टीकरण कर दिया है, तथापि निजी क्षेत्र के समर्थकों ने इस नीति की आलोचना की है। कुछ प्रमुख आलो-चनाएँ इस प्रकार हैं :—

(अ) **निजी क्षेत्र के प्रतिकूल**—ऐसा कहा गया है कि सरकार के विस्तृत कार्य-क्षेत्र तथा उसके बढ़ते हुए नियन्त्रण तथा नियमन अधिकारों में परोक्ष रूप से राष्ट्रीय-करण का संकेत मिलता है, जिससे निजी क्षेत्र में पूँजी-संचय कार्यक्रमों को कुछ क्षति पहुँचेगी। **श्री० सी० एच० भाभा** (C. H. Bhabha) के मतानुसार "यह नीति देश में राजकीय पूँजीवाद का आरम्भ और निजी उद्योगियों की समाप्ति की शुरुआत है।" विश्व बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री **यूजीन ब्लैक** ने बताया है कि "इस नीति में निजी क्षेत्र के विकास के लिए पर्याप्त अवसर नहीं दिया गया, सरकार के काम अधिकाधिक बढ़ रहे हैं। अतः निजी क्षेत्रों को अपना भविष्य निराशाजनक प्रतीत होता है।"

(ब) **अनिश्चित प्रावधान**—यह भी कहा जाता है कि इस नीति में अनेक प्राव-धान अनिश्चित और अस्पष्ट हैं। प्रत्येक वर्ग के उद्योगों में कुछ ऐसे वाक्यांश जोड़ दिए गए हैं जिनसे उद्योगों के वर्गीकरण की रेखा स्पष्ट नहीं है। जैसे, द्वितीय वर्ग के सम्बन्ध में यह लिखा गया है "निजी क्षेत्रों से यह आशा की जायेगी कि वह राज्य के प्रयत्नों को आगे बढ़ाने में सहयोग देगा।" इसी प्रकार तीसरी श्रेणी के उद्योगों के लिए कहा गया है कि "सामान्यतः इस वर्ग के उद्योगों का विकास निजी क्षेत्र के उप-क्रम द्वारा भी किया जाएगा।" फिर भी इस वर्ग में उद्योगों का विकास सरकारी उपक्रम द्वारा भी किया जाएगा। इस तरह के वाक्यांशों से निश्चितता नहीं आ पाती।

(स) **सहकारिता के नाम पर राजकीय पूँजीवाद**—इस नीति में सहकारी क्षेत्र-के विस्तार की जो बात प्रस्ताव में कही गयी है वह भ्रामक है, क्योंकि वास्तव में

सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा। इस प्रकार भारत में सह-कारिता के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(द) विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं---इस औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई, जबकि प्रथम नीति में ऐसा किया गया था। आलोचकों का कहना है कि यदि विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित किया गया होता तो विदेशी पूँजीपति निःशंक होकर भारत में अपनी पूँजी विनियोजित करते और निजी विदेशी विनियोग बहुत अधिक बढ़ सकता था।

(य) कठिन दायित्व---सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए उद्योगों का एक विशाल क्षेत्र इस नीति के अन्तर्गत सुरक्षित कर लिया है, किन्तु सीमित साधनों और प्रबन्ध-कुशलता के अभाव में सहकारी उद्योग निजी उद्योगों की अपेक्षा अधिक उत्तम सेवा प्रदान नहीं कर सकेंगे।

(र) अस्थिर नीति---आलोचकों का यह भी कहना है कि देश की औद्योगिक नीति में शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होने चाहिए। केवल 8 वर्ष की अल्प अवधि के बाद नवीन नीति का निर्माण, सरकारी नीतियों की अस्थिरता को प्रकट करता है और निजी क्षेत्र के लोगों में अविश्वास उत्पन्न करता है।

औद्योगिक नीति 1977
(Industrial Policy)

1956 की औद्योगिक नीति की कमियों को दूर करने और जनता की आर्थिक विकास सम्बन्धी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए तत्कालीन उद्योग मंत्री श्री जार्ज फर्नांडीज ने 23 दिसम्बर, 1977 को एक नई औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार थे :—(i) एकाधिकारवादी प्रवृत्ति और कुछ हाथों में आर्थिक शक्ति के जमाव को रोकना। (ii) उद्योगों को सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना। (iii) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना। (iv) मानवीय तथा राष्ट्रीय साधनों का पूर्ण उपयोग करना। (v) रोजगार प्रदान करने वाले उद्योगों का तीव्रता से विकास करना।

औद्योगिक नीति 1977 के प्रमुख तत्त्व
(Main Features of Industrial Policy 1977)

औद्योगिक नीति 1977 के प्रमुख तत्त्वों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

1. लघु एवं कुटीर उद्योगों को अत्यधिक महत्त्व—इस नीति में लघु उद्योगों द्वारा देश के औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा किए जाने पर जोर दिया गया। सरकार ने अपनी नीति में यह स्पष्ट कर दिया था कि अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन इस क्षेत्र के लिए पूर्णतया आरक्षित किया जाएगा। इस उद्देश्य की पूर्ति

हेतु लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित वस्तुओं को 108 से बढ़ाकर 504 कर दिया गया। (वर्तमान में इन वस्तुओं की संख्या 708 हो गई है।)

2. **बहुत छोटे अर्थात् टाइनी क्षेत्रों (Tiny Sectors) को औपचारिक मान्यता**—इस औद्योगिक नीति में लघु उद्योगों की विद्यमान परिभाषा को ही स्वीकार किया गया। लेकिन इसमें भी टाइनी क्षेत्र की इकाइयों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। टाइनी क्षेत्र के अन्तर्गत ऐसी इकाइयों को रखा गया जिससे मशीनों और उपक्रमों में विनियोग की राशि एक लाख रुपये से अधिक नहीं है और जो गाँवों या ऐसे कस्बों में स्थित हैं जिनकी जनसंख्या 1971 की जनगणना के अनुसार 50,000 से कम है।

3. **कुटीर उद्योग (Cottage Industries)**—कुटीर एवं गृह उद्योगों के संरक्षण के लिए एक विशेष कानून बनाए जाने का आश्वासन दिया गया ताकि अधिक संख्या में व्यक्तियों को स्वयं रोजगार तथा औद्योगिक विकास में उचित स्थान प्राप्त हो सके।

4. **बृहत् औद्योगिक घराने**—औद्योगिक नीति में बड़े औद्योगिक घरानों और गैर आनुपातिक विकास को रोकने में सरकारी नीति की असफलता पर चिन्ता व्यक्त की गई और भविष्य में इन घरानों के विकास पर निम्न प्रतिबन्ध लगाए जाने के लिए कहा गया—

(i) विद्यमान उपक्रमों का विस्तार एवं नए उपक्रमों की स्थापना एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम (M R T P Act) के अधीन की जा सकेगी परन्तु अब इस अधिनियम के प्रावधान कड़ाई से लागू किए जाएँगे।

(ii) विद्यमान उपक्रमों द्वारा नई वस्तुओं के उत्पादन तथा नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिए बड़े औद्योगिक घरानों को केन्द्रीय सरकार की विशेष स्वीकृति प्राप्त करनी होगी।

(iii) औद्योगिक इकाइयों की स्थापना अथवा विस्तार के लिए इन बड़े औद्योगिक घरानों को अपने आन्तरिक वित्तीय साधनों पर आश्रित होना होगा। सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं द्वारा इन घरानों को प्रदत्त ऋण की सुविधाएँ कम की जाएगी। उर्वरक, कागज, सीमेण्ट, जहाजी यातायात, पेट्रो-रसायन आदि पूँजी गहन उद्योगों को छोड़कर शेष अन्य उद्योगों में ऋण पूँजी अनुपात इस प्रकार निश्चित किया गया जिससे अन्य औद्योगिक घरानों को आन्तरिक वित्तीय साधनों को अपेक्षाकृत अधिक जुटाना पड़े।

(iv) सरकार द्वारा यह प्रयास किया जाएगा कि कोई भी व्यावसायिक समूह एकाधिकारिक शक्ति प्राप्त न कर सके। लाइसेंस नीति के अन्तर्गत इन घरानों के उद्योगों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखा जाएगा।

5. **स्वदेशी और विदेशी तकनीक (Indigenous and Foreign Technology)**—इस नीति में कहा गया कि देश का भावी औद्योगिक विकास स्वदेशी तकनीक पर आधारित होना चाहिए और इसे विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। जिन

जटिल तथा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों, में भारतीय दक्षता एवं तकनीक पर्याप्त नहीं है, उनके लिए सरकार सर्वश्रेष्ठ तकनीक दक्षता का आयात इस नीति में रखा गया।

6. **विदेशी विनियोग** (Foreign Investment)---इस औद्योगिक नीति में यह कहा गया कि विद्यमान **विदेशी कम्पनियों पर विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम** (Foreign Exchange Ragulation Act) की शर्तों को कठोरता से लागू किया जाएगा। यदि विदेशी कम्पनियों की समता अंश पूँजी 40% से अधिक होगी तो उनके साथ भारतीय कम्पनियों के समान व्यवहार किया जाएगा अर्थात् इन कम्पनियों पर विस्तार के वही सिद्धान्त लागू होंगे जो भारतीय कम्पनियों के विस्तार के लिए है। विदेशी विनियोग एवं तकनीक की अनुमति सरकार द्वारा राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से निर्धारित शर्तों पर दी जाएगी। जहाँ विदेशी जानकारी एवं तकनीक की आवश्यकता नहीं है वहाँ चालू समझौतों का पुनः नवीनीकरण नहीं किया जाएगा।

7. **संयुक्त उपक्रम** (Joint Ventures)---भारतीय उद्योगपतियों ने विदेशों में वहाँ के स्थानीय उद्योगपतियों के सहयोग से बहुत सारे उद्योग स्थापित किए हैं। इस सम्बन्ध में इस औद्योगिक नीति में यह स्पष्ट किया गया कि ऐसे संयुक्त उपक्रमों की दशा में मशीन, साज-सज्जा तकनीकी ज्ञान, प्रबन्धकीय ज्ञान आदि का निर्यात तो सम्भव होगा परन्तु रोकड़ विनियोग की सिर्फ कुछ आवश्यक दशाओं में एक निश्चित सीमा तक ही अनुमति प्रदान की जाएगी क्योंकि भारत जैसे विकासशील, देश से अत्यधिक पूँजी का निर्यात न तो सम्भव है और न वांछनीय।

8. **आयातों में उदारता की नीति**—इस नीति में इस बात पर जोर दिया गया कि जिन परियोजनाओं को कार्यान्वित करने में रुकावटें आ रही हैं अथवा जिन क्षेत्रों में घरेलू उत्पादक मूल्य बढ़ाकर अनुचित लाभ कमा रहे हैं वहाँ आयात प्रतिबन्ध में छूट दी जाएगी। यह छूटें ऐसे क्षेत्रों में दिए जाने की योजना थी जहाँ विद्यमान मात्रात्मक नियन्त्रण भावों विकास में सहायक होने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो रहे हैं।

9. **उद्योगों के लिए स्थान निर्धारण**—सरकार द्वारा सम्पूर्ण देश के सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की आवश्यकता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में विषमताओं को धीरे-धीरे कम किया जा सके। इस दृष्टि से सरकार ने यह निश्चय किया कि 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले महानगरों तथा 5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले शहरी क्षेत्रों में एक निश्चित परिधि तक औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के लिए नया लाइसेंस निर्गमित न किया जाय। सरकार द्वारा बड़े पैमाने की ऐसी विद्यमान इकाइयों को सहायता देने के प्रश्न पर विचार किया गया जो महानगरों से पिछड़े क्षेत्रों में स्थानान्तरण चाहेंगी।

10. **मूल्य नीति**—देश में ऐसी सुदृढ़ मूल्य नीति अपनाए जाने पर बल दिया गया जिससे मूल्यों में वांछनीय स्थायित्व कायम रह सके और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादों के मूल्यों में उचित समता (Fair Parity) रखी जा सके। इसके लिए यह

निश्चय किया गया कि नियंत्रित कीमत में पूँजी पर उचित प्रतिफल जोड़ा जाय परन्तु सरकार द्वारा अत्यधिक लाभ अर्जित करने की अनुमति न प्रदान की जाय।

11. **श्रमिकों की सहभागिता**—इस नीति में बड़े औद्योगिक घरानों के प्रबन्ध के व्यवसायीकरण पर बल दिया गया। श्रमिकों को अपने कारखानों की अंश पूँजी में हिस्सा लेने के साथ-साथ उन्हें प्रबन्ध में भी भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

औद्योगिक नीति की 1977 **की प्रमुख आलोचनाएँ**—निम्नलिखित हैं—

1. **लघु उद्योगों से सम्बन्धित नीति की आलोचनाएँ**—यद्यपि इन औद्योगिक नीति में लघु उद्योगों को स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। और सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक सुदृढ़ बनाने की बात की गई है परन्तु यह सब दिखावा और ढकोसला मात्र ही है।

2. **विदेशी कम्पनियों को छूट**—इस औद्योगिक नीति के अनुसार विदेशी कम्पनियों की भारत में शत-प्रतिशत स्वामित्व के आधार पर भी पूँजी लगाने की छूट रहेगी और भारत से लाभ, रायल्टी लाभांश और पूँजी अपने देश भेजने की पूर्ण छूट रहेगी। औद्योगिक नीति में विदेशी कम्पनियों के लिए जो अत्यन्त उदारतापूर्ण नीति अपनायी गई है, इससे हो सकता है कि आरम्भ के एक-दो वर्षों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिले लेकिन 5-7 वर्षों के अन्दर ही संकट पैदा हो जाएगा, देश की अपनी कोई मौलिक औद्योगिक पद्धति नहीं बन पाएगी। बुनियादी उत्पादन में विदेशी कम्पनियों की घुसपैठ बढ़ जाएगी व देश की पूँजी भी बाहर जाने लगेगी।

इस औद्योगिक नीति में कहा गया है कि पूँजी की रकम पर सीमा लगायी जायेगी लेकिन सीमा क्या होगी? यह नहीं बताया गया है। विदेशी कम्पनियों के प्रभाव से सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व और घटेगा। इन सबका मिला-जुला परिणाम देश की अर्थव्यवस्था के लिए बहुत घातक होगा। देश की राजनीति पर भी विदेशी प्रभाव और देश के व्यापारियों का प्रभाव बढ़ेगा।

3. **सार्वजनिक क्षेत्र की अस्पष्ट भूमिका**—इस औद्योगिक नीति में सार्वजनिक उद्योगों की भूमिका के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। सरकार ने इन सार्वजनिक उद्योग के क्षेत्र को सीमित कर दिया है जो कि अनुचित है।

4. **मध्य स्तर के उद्योगों की अनिश्चित भूमिका**—इस नीति में मध्य स्तर के उद्योगों के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि इनके द्वारा देश के कुल उत्पादन का समुचित भाग उत्पादित किया जा रहा है। यदि बड़े पैमाने का उद्योग मान कर इन पर ही वे नियन्त्रण लगाए जाएँगे तो वह अनुचित होगा।

5. **छोटी औद्योगिक तकनीक सम्भव नहीं**—छोटे उद्योगों की परिभाषा के अन्तर्गत छोटी औद्योगिक तकनीक का विकास सम्भव नहीं है। यद्यपि यह कहा गया है कि हम किसी खास प्रकार की तकनीक से बचेंगे नहीं, जो भी उपयोगी साबित होगी उसी से काम लेंगे लेकिन हम यह जानते हैं कि प्रचार, घूस और आकर्षण की

शक्तियाँ हमेशा बड़ी तकनीक की ही उपयोगी साबित करती हैं। छोटे उद्योगों के विकास के लिए छोटी तकनीक के प्रति प्रेम और लगन की आवश्यकता है।

6. **छोटे उद्योगों की उपेक्षा**—इस नीति में ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों को ही कानूनी संरक्षण दिया गया है, छोटे उद्योगों को नहीं। छोटे उद्योग सहकारी क्षेत्र में होंगे या निजी क्षेत्र में। इसके सम्बन्ध में नीति स्पष्ट नहीं है।

नई औद्योगिक नीति, 1980
(New Industrial Policy, 1980)

24 जुलाई 1980 को सरकार द्वारा नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। नयी औद्योगिक नीति का निर्माण औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के आधार पर किया गया है।

1. **नीति के उद्देश्य**—औद्योगिक नीति वक्तव्य 1980 में निम्नलिखित सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों का समावेश किया गया है—

(i) उद्योगों की वर्तमान उत्पादन क्षमता का अधिकतम सम्भव उपयोग करना;

(ii) उद्योगों की उत्पादकता एवं उत्पादन क्षमता बढ़ाना;

(iii) अर्थव्यवस्था में अधिकतम सम्भव रोजगार के अवसर उत्पन्न करना;

(iv) एकाधिकार और आर्थिक केन्द्रीयकरण का विरोध करना;

(v) ऊँची कीमतों तथा खराब किस्म की वस्तुओं से उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करना;

(vi) निर्यात-उन्मुख और आयात-प्रतिस्थापना उद्योगों का तेजी से विकास करना;

(vii) कृषि जन्य उद्योगों को प्राथमिकता प्रदान करके कृषि-आधार को मजबूत बनाना और अन्तर-क्षेत्रीय सम्बन्धों का विकास करना।

(viii) औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास को प्राथमिकता प्रदान करके क्षेत्रीय असन्तुलनों को दूर करना।

2. **नीति में निर्दिष्ट उपाय**—उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए औद्योगिक नीति 1980 में कई उपाय सुझाए गए हैं जिनमें से प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—

1. **सार्वजनिक क्षेत्र पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण**—सार्वजनिक क्षेत्र के पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण—सार्वजनिक क्षेत्र के पुनर्पूर्वाभिमुखीकरण के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए गए हैं—

(क) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का इकाई-दर इकाई गहन अध्ययन किया जाएगा तथा जहाँ भी उनकी क्षमता को विकसित करने की आवश्यकता होगी वहाँ समय बद्ध कार्यक्रमों का आयोजन किया जायेगा।

(ख) कार्यात्मक क्षेत्रों जैसे कि कार्य विधि, वित्त, विपणन तथा सूचना प्रणाली में प्रबन्धकीय व्यवस्था के विकास के लिए समुचित कदम उठाये जायेंगे।

(ग) जो सार्वजनिक उद्यम हानि में चल रहे हैं उनको व्यवहार्य बनाने के

लिए उनका पुनर्संगठन किया जायेगा और उनको गतिशील एवं कुशल प्रबन्ध प्रदान किया जायेगा।

2. **लघु-स्तरीय उद्योगों को प्रोत्साहन**—औद्योगिक नीति 1980 में लघु एवं बड़े उद्योगों के कृत्रिम वर्गीकरण को समाप्त कर दिया गया है। लघु उद्योगों के विकास के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए गये हैं—

(क) लघु उद्योगों में विनियोग की जाने वाली पूँजी की अधिकतम सीमा 10 लाख रुपये से बढ़ाकर 20 लाख रुपये कर दी गयी है।

(ख) अति लघु उद्योगों में लगायी जाने वाली पूँजी की अधिकतम मात्रा 1 लाख रुपये से बढ़ाकर 2 लाख रुपये कर दी गई है।

(ग) सहायक उद्योगों में विनियोजित पूँजी की अधिकतम राशि 15 लाख रुपये से बढ़ाकर 25 लाख रुपये कर दी गई है।

3. **निजी क्षेत्र के विकास के लिए सहायता**—औद्योगिक नीति 1980 में निजी क्षेत्र के विकास में सहयोग के लिए निम्नलिखित क्षेत्रों का अभियान किया गया है—

(क) उद्योगों को दिए गए विभिन्न प्रोत्साहनों का नियमित रूप से मूल्यांकन किया जायेगा ताकि निर्दिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके।

(ख) उद्योगों की बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता को स्वीकार करके उसे नियमित कर दिया जायेगा तथा प्रतिवर्ष 5 प्रतिशत क्षमता के विस्तार की अनुमति प्रदान की जायेगी।

(ग) प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए "आधुनिकीकरण के उपायों" को अपनाया जायेगा।

(घ) निर्यात-उन्मुख उद्योगों में उच्चतर तकनीकों का उपयोग किया जायेगा।

4. **बीमार इकाइयाँ**—बीमार इकाइयों के सम्बन्ध में निम्नलिखित उपायों का सुझाव दिया गया है—

(क) यदि जानबूझकर कुप्रबन्ध और वित्तीय कुव्यवहारों को अपनाने से बीमार इकाइयों की समस्या उत्पन्न होती है तो ऐसे मामलों को सख्ती से निपटाया जायेगा।

(ख) जैसे ही किसी औद्योगिक इकाई में बीमारी के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं तो तत्काल ही इसके उपचार के लिए प्रयास किए जायेंगे।

(ग) जिन बीमार इकाइयों में पुनर्जागृति की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं उनको कुशल इकाइयों के साथ मिला दिया जायेगा ताकि इनको पुनः कार्यशील इकाइयों में परिणित किया जा सके।

5. **आर्थिक अवस्थापना**—1980 की औद्योगिक नीति में यह स्वीकार किया गया है कि आर्थिक अवस्थापना की असफलता के कारण देश में ऊर्जा, कोयला तथा परिवहन का संकट उत्पन्न हो गया है। अतः इस नीति में आर्थिक अवस्थापना के

समुचित विकास के प्रयत्नों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ऊर्जा के साधनों के अनुकूलतम प्रयोग और ऊर्जा के विभिन्न साधनों के विदोहन में प्रयुक्त होने वाली तकनीक के विकास के लिए विशेष सहायता दी जायेगी तथा सरल शर्तों पर वित्त प्रदान करने की व्यवस्था भी की जायेगी। ऊर्जा संरक्षण ऊर्जा के गैर परम्परागत साधनों की खोज तथा जलवायु प्रदूषण के नियन्त्रण से सम्बद्ध तकनीकों के समुचित विकास हेतु सरल शर्तों पर ऋण प्रदान करने की सम्भावना पर भी सरकार द्वारा विचार किया जायेगा।

6. **नाभिकीय संयन्त्रों की स्थापना** (Nucleus Plants)—सरकार का यह प्रयत्न होगा कि लघु तथा मध्यम उद्योगों के बीच इस गलत धारणा से कि वे परस्पर विरोधी हैं। कृत्रिम विभाजन पैदा करने के गत तीन वर्षों के रूप को बदला जाय। औद्योगिक विकास की दशा में भी आवश्यक प्रयत्न करते रहने के साथ यह प्रस्ताव है कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रत्येक जिले में नाभिकीय संयन्त्रों की स्थापना द्वारा अधिक से अधिक सहायक तथा लघु एवं कुटीर उद्योगों को अपनाने का अवसर देकर आर्थिक संघीयता (Economic Federalism) की विचारधारा को घोषित किया जाय।

ये नाभिकीय संयन्त्र वृहत् आकार के उपक्रम होंगे और ये अधिकांशतः संयोजन (Assembling) का कार्य करेंगे जैसे मोटरकार, स्कूटर, मशीन निर्माण उद्योग आदि। इस प्रकार ये संयन्त्र छोटे-छोटे पुर्जे निर्माण करने वाली विभिन्न लघु इकाइयों को जन्म दे सकेंगे। इसके अतिरिक्त नाभिकीय संयन्त्रों की स्थापना में इस बात का भी ध्यान रखा जायेगा कि वे इन लघु उद्योगों में काम आने वाली वस्तुओं (Inputs) का निर्माण करें ताकि आयातीय उपक्रमों व सामग्री पर आश्रितता कम हो सके। उदाहरण के लिए मशीन, निर्माण सन्यन्त्र जहाँ एक ओर विभिन्न कल पुर्जे लघु उद्योग क्षेत्र से प्राप्त करेगा वहीं वह लघु इकाइयों की मशीनरी की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करेगा।

7. **आधुनिकीकरण** (Modernisation)—इस नीति में आवश्यकतानुसार आधुनिकीकरण कार्यक्रम निरूपित किया जाएगा जिसमें उद्योगों में मशीनीकरण करते समय ऊर्जा के अनुकूलतम उपयोग, टेक्नॉलॉजी तथा उत्पादन के आकार की उपयुक्तता आदि से सम्बन्धित तथ्यों को भी ध्यान में रखा जाएगा। बड़े उपक्रमों के साथ-साथ लघु क्षेत्र की इकाइयों को भी आधुनिकीकरण की ओर प्रेरित किया जाएगा। इस प्रकार नवीन प्रक्रिया एवं टेक्नॉलॉजी के प्रयोग तथा सुधरे हुए यन्त्रों व औजारों के प्रयोग द्वारा इन लघु एवं ग्राम उद्योगों की उत्पादकता में सुधार किया जाएगा।

8. **शोध एवं विकास कार्य** (Research and Development Activities)—नवीन औद्योगिक नीति में इस बात पर जोर दिया गया है कि भारतीय उद्योगों को टेक्नॉलॉजी सम्बन्धी शोध एवं विकास के कार्यों के लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था की जानी चाहिए। भारत सरकार ऐसे कुशल एवं बृहत उपक्रमों को

विदेशी प्रविधि आयात करने की भी अनुमति प्रदान करेगी जिनके पास सुव्यवस्थित स्रोत एवं विकास सङ्गठन है और जिन्होंने आधुनिक प्रौद्योगिकी को ग्रहण करने, अपनाने, तथा प्रसार करने के सम्बन्ध में अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी है। इस प्रक्रिया से साधनों का पूर्ण उपयोग, उपभोक्ता की अच्छी सेवा तथा निर्यातों में वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

9. **औद्योगिक सम्बन्ध** (Industrial Relations)—इस औद्योगिक नीति में अर्थव्यवस्था के विकास के लिए मधुर औद्योगिक सम्बन्ध जिसमें श्रम एवं प्रबन्ध उत्तरदायित्व पूर्ण तरीके से सहयोग कर सके पर जोर दिया गया है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही सरकार ने त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन को फिर से चालू करने का निर्णय लिया है।

10. **मूल्य नीति** (Price Policy)—इस नीति में यह घोषणा की गई है कि जहाँ एक ओर सरकार उद्योगों को आवश्यक सुविधाएँ व छूट प्रदान करेगी वहीं उनसे यह भी अपेक्षा रखेगी कि वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाएँ तथा वे जमाखोरी व सट्टेबाजी को हतोत्साहित कर मूल्यों में स्थायित्व बनाए रखने में सहयोग प्रदान करें। सरकार मूल्यों को उपभोक्ता के हित में बनाए रखने हेतु शीघ्र ही उद्योग-पतियों के साथ परामर्श करेगी।

11. **क्षेत्रीय असन्तुलन** (Regional Imbalances)-देश में क्षेत्रीय असंतुलनों को दूर करने के लिए नवीन नीति में उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा औद्योगिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में नाभिकीय सन्यन्त्रों (Nucleus Plants) की स्थापना पर जोर दिया गया है। पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों को विशेष रियायतें व सुविधाएँ प्रदान की जाती रहेंगी तथा इनका समय-समय पर आकलन भी किया जाएगा कि वे अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करने में कहाँ तक सफल हो पा रही हैं।

12. **लाइसेन्स क्रिया विधि** (Licensing Procedure) – यद्यपि सन् 1973 में लाइसेन्स क्रिया विधि को काफी सरल एवं सुप्रवाही बना दिया गया है। फिर भी इसमें अभी सुधार की आवश्यकता है जिनके द्वारा नवीन क्षमता के सृजन, क्षमता के विस्तार तथा नवीन वस्तुओं के उत्पादन की अनुमति के लिए प्राप्त प्रार्थना पत्रों के निपटारे के समय में कमी की जा सकती है। सरकार प्रार्थना-पत्रों की जाँच के कार्य को गति प्रदान करने तथा लाइसेन्स क्रिया विधि को सरल एवं विवेकपूर्ण बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण निर्णय लेगी।

इस नीति में एक समंक बैंक (**Data Bank**) स्थापित करने का भी प्राव-धान है, जो समय-समय पर लाइसन्सों के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में सूचना प्रेषित करेगा।

औद्योगिक नीति 1980 का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Industrial Policy 1980)—औद्योगिक नीति 1980 के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के पश्चात इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि इसका

आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाय। वैसे 1977 की औद्योगिक नीति की भाँति यह औद्योगिक नीति भी आर्थिक जगत में अधिक सफल नहीं रही है फिर भी जो भी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं वे इस नीति के गुण एवं दोषों को काफी सीमा तक स्पष्ट करने में समर्थ हैं। इस नीति का आलोचनात्मक अध्ययन हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत कर सकते हैं---

1. **नाभिकीय सन्यन्त्रों की स्थापना (Establishment of Nucleus Plants)**---पिछड़े जिलों के विकास के लिए नाभिकीय सन्यन्त्रों के स्थापना के विचार की सफलता भी संदिग्ध है। इस सम्बन्ध में हमें अपने पिछले अनुभव से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आसाम में तीन तेल शोधनशालाएँ (Refineries) व दो उर्वरक सन्यन्त्र होते हुए वहाँ लघु उद्योगों का विकास नहीं हो सका है। राउरकेला व भिलाई इस्पात सन्यन्त्रों का भी हमारा यही अनुभव है। इसके अलावा पिछड़े एवं दूरस्त इलाकों में वृहत सन्यन्त्रों की स्थापना उसकी पूँजीगत लागत में भी काफी वृद्धि कर देती है।

2. **अतिरिक्त क्षमता का वैधानीकरण (Regularisation of Additional Capacity)**—भारत में विभिन्न उपक्रमों में उद्योगपतियों ने लाइसेन्स क्षमता से अधिक उत्पादन क्षमता स्थापित कर रखी थी। यद्यपि यह लाइसेंसिग नियमों का उल्लंघन है फिर भी सरकार ने इस नीति में साधनों के अपव्यय को रोकने के नाम पर ऐसी अतिरिक्त क्षमता को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी है। सरकार यही कदम 1975 में भी एक बार उठा चुकी है। यद्यपि यह कदम ऊपरी तौर पर लाभप्रद प्रतीत होता है परन्तु इसके दूरगामी प्रभाव अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होंगे। यह कदम जहाँ एक ओर उद्योगपतियों को कानून की अवहेलना करने का प्रोत्साहन प्रदान करता है वहाँ दूसरी ओर यह बहु राष्ट्र निगमों, बड़े औद्योगिक घरानों तथा बृहत् उपक्रमों को चोर दरवाजे से बिना लाइसेन्स के प्रतिबन्धित क्षेत्रों में भी उत्पादन को बढ़ाने की छूट प्रदान करता है।

3. **राजनीति से प्रेरित**—यह औद्योगिक नीति राजनीति से प्रेरित मालूम पड़ती है। इस नीति के वक्तव्य में विभिन्न स्थानों पर जनता के पार्टी शासन काल के तीन वर्षों का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि इस अवधि में ही अर्थव्यवस्था अपंग हुई, औद्योगिक सम्बन्ध बिगड़े, साधनों का अपव्यय हुआ आदि। यद्यपि इन वक्तव्यों में वास्तविकता हो सकती है फिर भी औद्योगिक नीति में इन बातों को कहने का औचित्य प्रतीत नहीं होता।

4. **स्वतः विकास**—यद्यपि नई औद्योगिक नीति में देश का त्वरित विकास करने की आतुरता तो परिलक्षित होती है परन्तु नई नीति स्वतः औद्योगिक वातावरण में सुधार नहीं कर सकती। केवल निजी क्षेत्र को अधिक महत्त्व दे देने से यह आशा करना व्यर्थ है कि विनियोग में बहुत अधिक वृद्धि हो जाएगी।

5. **सैद्धान्तिक**—नई औद्योगिक नीति की प्रमुख बातें—(i) स्थापित क्षमता

का अधिकतम उपयोग, (ii) औद्योगिक क्षेत्र में 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर, (iii) लघु उद्योगों के मामले में विनियोग की सीमा बढ़ाना और (vi) औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास को वरीयता देकर क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करना आदि हैं। परन्तु औद्योगिक नीति वक्तव्य में इस प्रकार के प्रावधान का सर्वथा अभाव है जो कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावशाली हो सके।

6. **विनियोग सीमा**—लघु उद्योग क्षेत्र को बढ़ावा देने के लिए विनियोग की जो सीमा बढ़ाई गई है उसका कोई ठीक प्रभाव लघु उद्योगों के भौतिक आकार पर नहीं पड़ेगा क्योंकि बढ़ती हुई कीमतों के कारण मशीनों और उपकरणों की लागत अत्यधिक बढ़ गई है फलतः रुपए का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो गया है। इस प्रकार विनियोग की सीमा बढ़ने पर भी लघु उद्योग क्षेत्र की इकाइयों के आकार में वृद्धि नहीं होगी।

7. **अधिकतम उत्पादन पर जोर**—वक्तव्य में उत्पादन अधिकतम करने पर जोर दिया गया है किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि किस किस्म का उत्पादन अधिकतम किया जाय। कहीं भी इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया कि उत्पादन की विभिन्न दिशाओं में से सरकार किनको ऊँची प्राथमिकता देना चाहेगी। ऐसी स्थिति में कम महत्त्व वाले उत्पादन को पीछे हटाना सरल कार्य न होगा।

8. **संयुक्त क्षेत्र की अवहेलना**—नवीन वक्तव्य में निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को कम करने के लिए 'संयुक्त क्षेत्र' की कोई चर्चा नहीं की गई जब कि संयुक्त क्षेत्र का विकास निजी क्षेत्र में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। इस प्रकार संयुक्त क्षेत्र की धारणा का महत्त्व काफी कम कर दिया गया है।

M R T P **अधिनियम व आयोग की अवहेलना**—वक्तव्य में M R T P अधिनियम व आयोग पर कोई चर्चा नहीं की गई जिससे लगता है कि सरकार इसे कोई महत्त्व नहीं देना चाहती। उससे निजी क्षेत्र के नियन्त्रण व नियमन में बाधा उत्पन्न होगी। सरकार ने बीमार औद्योगिक इकाइयों का प्रबन्ध निजी क्षेत्र की स्वस्थ्य इकाइयों द्वारा अपने हाथ में लिये जाने का तो समर्थन किया है लेकिन इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि इससे आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार सरकार द्वारा M R T P अधिनियम के उद्देश्यों को भुला दिया गया है, जब कि एक समय ऐसा था कि सरकार ने इस अधिनियम को अपनी एक बड़ी उपलब्धि माना था।

10. **वृहत् उद्योग एवं विदेशी कम्पनियों को अधिक लाभ**—नए वक्तव्य से बड़े औद्योगिक घरानों व विदेशी कम्पनियों को अधिक लाभ प्राप्त होगा, क्योंकि अधिकांश अतिरिक्त लाइसेन्स मुद्रा क्षमता पर उनका ही अधिकार रहा है। क्योंकि पूँजीगत व अनिवार्य उपभोक्ता माल के उद्योगों की अपेक्षा रेफ्रिजरेटर, पंखे, लैम्प व ट्यूब आदि के उद्योगों को अधिक लाभ मिलेगा। इससे देश में आम जनता के हितों का

उतना पोषण नहीं होगा जितना कि उच्च वर्ग का होगा और औद्योगिक ढाँचा अधिक विकृत हो जाएगा।

11. **उदार शर्तों पर ऋण-व्यवस्था**—नए वक्तव्य के अनुसार प्रदूषण नियंत्रण की आड़ में बड़ी औद्योगिक इकाइयों के लिए उदार शर्तों पर ऋण की व्यवस्था की जाएगी। अच्छा तो यह होता कि अमेरिका की तरह ही प्रदूषण नियन्त्रण की लागत का अधिकांश भार औद्योगिक इकाइयों पर डाला जाता।

12. **औद्योगिक जगत् की विभिन्न समस्याओं का समुचित समाधान नहीं**—नवीन औद्योगिक नीति संबंधी वक्तव्य में औद्योगिक जगत् की विभिन्न समस्याओं का समुचित समाधान नहीं प्रतीत होता है। व्यावहारिक नीति के नाम पर तथा निर्यात प्रोत्साहन एवं अधिकतम उत्पादन आदि की आड़ में निजी उद्यम व बड़े व्यावसायिक घरानों को ही अधिक सुविधाएँ दी गई हैं जिससे आम जनता का कल्याण होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। वक्तव्य में कहीं भी इस बात पर विचार नहीं किया गया कि आखिर 1956 की औद्योगिक नीति के 27 वर्षों के बाद भी निजी हाथों में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण क्यों बढ़ रहा है, औद्योगिक विकास की दर नीची क्यों है, औद्योगिक क्षेत्र रोजगार बढ़ाने में अधिक सक्षम क्यों नहीं हो पाया है, पिछड़े क्षेत्रों में कारखाने क्यों नहीं पनप रहे हैं, आदि। जब तक इन मूल प्रश्नों के वांछित उत्तर नहीं दिए जाते तब तक मात्र नीति वक्तव्यों को दोहराते जाने से विशेष लाभ नहीं होगा।

13. **राष्ट्रीयकरण**—इस नीति में यह घोषित नहीं किया गया है कि अमुक-अमुक उद्योगों का अमुक-अमुक काल तक राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायगा। ऐसी स्थिति में जिन उद्योगों पर सरकार का विश्वास शून्य पर आ गया है उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे सरकार पर विश्वास जमाए रहें।

14. **कीमत नीति** कीमतों का प्रभाव उद्योगों पर पड़ता है लेकिन नई औद्योगिक नीति में इसके सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई है कि वस्तुओं की कीमतें घटने से उत्पादन वृद्धि में क्या योगदान हो सकता है।

15. **नए क्षेत्र व नए उद्योगों से सम्बन्धित आलोचनाएँ**-इस नीति में यह उल्लेख नहीं किया गया है कि नए क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों को किस प्रकार लाभदायक बनाया जाय और उन्हें परिवहन एवं राष्ट्रीयकृत बैंकों के द्वारा रिजर्व बैंक की साख सहायता किस प्रकार प्रदान की जाय।

औद्योगिक लाइसेंस व्यवस्था
(Industrial Licensing Policy)

भारत में प्रमुख उद्योग के लाइसेंस एवं नियमन की व्यवस्था देश की औद्योगिक नीति के प्रमुख अंग हैं। औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 के अन्तर्गत ही भारत में उद्योगों के लाइसेंस नियमन की व्यवस्था की जाती है।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951

औद्योगिक नीति 1948 को व्यावहारिक रूप देने के लिए 1951 में औद्यो-

गिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम पारित किया गया, जिसे 8 मई, 1952 से लागू किया गया। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार है : (i) औद्योगिक विकास का नियमन करना एवं योजना प्राथमिकताओं तथा तथ्यों के अनुसार साधनों के प्रवाह को मोड़ देना (ii) एकाधिकार को दूर रखना एवं धन के केन्द्रीयकरण को रोकना (iii) वृहत-स्तरीय उद्योगों की अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से लघु-स्तरीय उद्योगों को संरक्षण देना (iv) आर्थिक इकाइयों की स्थापना करना एवं आधुनिक विधियों के प्रयोग से उद्योगों में तकनीकी एवं आर्थिक सुधार का प्रयत्न करना (v) नये उद्यमियों को उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना (vi) विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक विकास का वितरण अधिक व्यापक रूप से करना।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 की मुख्य बात को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(1) प्रतिबन्धात्मक (2) सुधारात्मक (3) रचनात्मक।

(1) **प्रतिबन्धात्मक**—पहले इस अधिनियम में 38 उद्योगों के नाम दिए थे जिनमें 6 उद्योग 30 दिसम्बर 1978 के अध्यादेश से बढ़ा दिए गए हैं। इन उद्योगों को बिना केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस प्राप्त किए स्थापित नहीं किया जा सकता है और न वर्तमान इकाइयों द्वारा अपना विस्तार किया जा सकता है। लेकिन यदि इकाई की स्थायी सम्पत्तियों (भूमि, मकान एवं सम्पन्न मशीनरी में विनियोग) का मूल्य 3 करोड़ रुपये से अधिक नहीं है तो ऐसी इकाई को लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं होगी। केन्द्रीय सरकार लाइसेंस देते समय उद्योग की स्थापना के स्थान एवं निर्माण की जाने वाली वस्तु के आकार आदि के बारे में शर्तें लगा सकती है।

(2) **सुधारात्मक प्रावधान**—किसी औद्योगिक इकाई का प्रबन्ध यदि असंतोषजनक हो अथवा वह सरकारी निर्देशों का पालन नहीं करती हो तो सरकार ऐसे उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है। सन् 1953 के संशोधन के अनुसार सरकार बिना जाँच कराए भी उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले सकती है। सरकार को यह अधिकार है कि वह अनुसूचित उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति, वितरण एवं मूल्य पर नियंत्रण रखे।

(3) **रचनात्मक प्रावधान**—(अ) विधान द्वारा एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की स्थापना का भी प्रावधान है जो सरकार को अनुसूचित उद्योगों से सम्बन्धित उद्योगों तथा तथ्यों पर परामर्श देगा।

(ब) नए-नए उद्योगों तथा इकाइयों को लाइसेन्स देने के लिए एक लाइसेन्स समिति (Licensing Committee) के निर्माण करने की व्यवस्था की गई।

(स) अनुसूचित उद्योगों तथा सम्बन्धित उद्योगों की उन्नति तथा विकास के लिए पृथक्-पृथक् विकास परिषदों (Developmental Councils) की स्थापना का व्यवस्था की गई।

सरकार की लाइसेन्स नीति पर खुली चर्चा की गई है, तथा इसका सरकारी स्तर पर भी अध्ययन किया गया है। योजना आयोग के द्वारा नियुक्त डा० आर०

के० हज़ारी ने अपने अध्ययन में बताया है कि बड़े एवं माध्यम आकार के व्यावसायिक समूहों को अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक लाइसेन्स प्राप्त हुए हैं और इनके द्वारा निवेश के लिए किए गए आवेदन एवं स्वीकृत राशि की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हुई हैं।

इस अध्ययन को ध्यान में रखकर सरकार ने 1967 में औद्योगिक लाइसेन्स नीति जाँच समिति का गठन किया।

इस समिति के अध्यक्ष दत्त ने अपनी रिपोर्ट के 1967 में प्रेरित की। दत्त समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर 1970 तथा 1973 में लाइसेंस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन किए गए।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1970

औद्योगिक लाइसेन्स नीति प्रस्ताव 1970 में औद्योगिक नीति को एक नया रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया। लेकिन इसके लिए औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 को ही आधार बनाया गया। इस प्रकार औद्योगिक लाइसेन्स नीति प्रस्ताव 1970 को औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1956 का पूरक ही कहा जा सकता है। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **लाइसेंसिंग की छूट सीमा में वृद्धि**—इस नीति के अनुसार लाइसेन्स प्राप्त करने की छूट सीमा जो पहले 25 लाख रुपये थी, अब बढ़ाकर एक करोड़ रुपये कर दी गई है।

2. **उद्योगों का विभाजन**—इस नीति के अन्तर्गत उद्योगों को निम्न क्षेत्रों में बाँटा गया—

(अ) कोर क्षेत्र या प्रमुख क्षेत्र—इस क्षेत्र में उन सभी उद्योगों को सम्मिलित किया गया है जिनमें पूँजी का कुल निवेश 35 करोड़ रुपये से अधिक है। इस क्षेत्र में 19 उद्योगों को सम्मिलित किया गया है। इस क्षेत्र में केवल राज्य द्वारा ही उद्योगों की स्थापना की जा सकती है अर्थात् निजी क्षेत्र को इसमें प्रविष्ट नहीं होने दिया जायेगा।

(ब) भारी निवेश क्षेत्र—इस क्षेत्र में उन सभी उद्योगों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें कुल पूँजी का निवेश 5 करोड़ रुपये से अधिक किन्तु 35 करोड़ रुपये से कम होता है। इस क्षेत्र में निजी उद्यमियों को उद्योग स्थापित करने की स्वतंत्रता है। इस क्षेत्र में विदेशी कम्पनियाँ भी उद्योग की स्थापना कर सकती हैं।

(स) मध्य क्षेत्र—इस क्षेत्र में ऐसे उद्योग शामिल किए जाते हैं जिनकी पूँजी 1 करोड़ रुपये से अधिक किन्तु 5 करोड़ रुपये से कम है। इस क्षेत्र में उद्यमियों को उद्योग स्थापित करने के लिए प्राथमिकता प्रदान की जायेगी।

(द) लघु उद्योगों का अरक्षित क्षेत्र—लघु उद्योगों में उन औद्योगिक इकाइयों को शामिल किया जाता है जिनमें पूँजी का निवेश 7·5 लाख रुपये से अधिक नहीं होता। (वर्तमान समय में यह सीमा 20 लाख रुपये कर दी गई है)।

3. **पूर्व स्थापित उपक्रमों का महत्त्वपूर्ण विस्तार**—लाइसेन्स प्राप्त किए या रजिस्टर्ड ऐसे पूर्व स्थापित औद्योगिक उपक्रम जिनकी स्थायी सम्पत्ति 5 करोड़ रुपये से अधिक नहीं है बिना लाइसेन्स लिए महत्त्वपूर्ण विस्तार कर सकते हैं बशर्ते कि ऐसे मूल्य का विस्तार 1 करोड़ रुपये से अधिक न हो।

4. **उत्पादन का विविधीकरण**—लाइसेन्सिग नीति के अन्तर्गत उत्पादन के विविधीकरण की छूट सुविधा पहली बार 27 अक्टूबर 1966 को प्रदान की गई थी। समय-समय पर किए गए संशोधनों के बाद इस नीति के अनुसार ऐसी इकाइयाँ जो रजिस्टर्ड हैं या जिनको औद्योगिक एवं नियमन अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेन्स मिला हुआ है भविष्य में बिना लाइसेन्स लिये अपनी रजिस्टर्ड क्षमता के 35 प्रतिशत तक नयी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ा सकती हैं। 19 फरवरी, 1972 को जारी किए गए एक नोटीफिकेशन के अनुसार 25 प्रतिशत की सीमा को बढ़ाकर अब 100 प्रतिशत कर दिया गया है।

5. **उद्योगानुसार लाइसेंस मुक्ति व्यवस्था की समाप्ति**—औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम सन् 1951 के अन्तर्गत 41 उद्योगों के लिए लाइसेंसिग व्यवस्था से मुक्ति के प्रावधान को अब समाप्त कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में—जब लाइसेन्स मुक्ति की व्यवस्था उद्योगानुसार न रहकर विनियोग की मात्रा के अनुसार रहेगी। इस प्रावधान का परिणाम यह होगा कि इन 41 उद्योगों में ऐसी पूर्व स्थापित इकाइयाँ जिनका विनियोग 1 करोड़ रुपये से अधिक नहीं है बिना लाइसेन्स प्राप्त किए हुए ही कार्य करती रहेंगी परन्तु उन इकाइयों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य होगा जिनका विनियोग एक करोड़ रुपये से अधिक है।

6. **प्रतिबन्धित उद्योगों की सूची की समाप्ति**—पहले ऐसे उद्योगों की सूची समय-समय पर प्रकाशित की जाती थी जिससे सम्बन्धित प्रार्थना पत्र सामान्यतया लाइसेंसिग समिति को दिए बिना ही अस्वीकृत कर दिए जाते थे। इस नीति के अन्तर्गत प्रतिबन्धित उद्योगों की सूची की घोषणा का कार्यक्रम 11 मई सन् 1971 से पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है।

7. **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार**—इस नीति में बताया गया है कि औद्योगिक नीति 1956 की तालिका में दिए गए उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखने की नीति को जारी रखा जाएगा और सरकार सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार करेगी। इस नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग भी अब निजी क्षेत्र की भाँति विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकेंगे।

8. **निर्यात प्रधान उद्योगों का विकास**—इस नीति के अन्तर्गत उन उपक्रमों को लाइसेन्स सम्बन्धी विशेष प्राथामिकता दी जायगी जो निर्यात प्रधान उद्योगों को स्थापित करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त लघु और मध्यम क्षेत्र के साहसियों से सम्बन्धित उपक्रमों की निर्यात क्षमता का अधिकतम संभव सीमा तक विकास किया जायेगा। लघुउद्योग क्षेत्र में सुरक्षित रक्खी वस्तुओं के निर्यात पर भी विशेष स्थान दिया जायगा।

9. **विशाल औद्योगिक गृहों पर प्रतिबन्ध**—इस नीति के अन्तर्गत विशाल

औद्योगिक गृह, विदेशी कम्पनियाँ या उनकी सहायक कम्पनियाँ अब केवल महत्त्वपूर्ण क्षेत्र, भारी विनियोग क्षेत्र तथा निर्यात प्रधान क्षेत्र में ही प्रवेश कर सकती हैं और यह भी कुछ शर्तों के पूरा करने पर ही ।

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति सन् 1973

फरवरी 1970 में घोषित औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति की कमियाँ और विरोधाभासों को दूर करने के लिए फरवरी 1973 में संशोधित औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की गई । यह नीति पंचवर्षीय योजनाओं के मूलभूत लक्ष्यों जैसे विकास, सामाजिक न्याय और आत्मनिर्भरता के अनुरूप है । इस नीति में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण पर पहले से अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण रखने की संकल्पना की गई है लेकिन साथ ही पाँचवीं योजना की अवधि में महत्त्वपूर्ण प्राथमिक क्षेत्र के वित्तीय विकास पर भी ध्यान रक्खा गया है । यह नीति 1950 में पारित औद्योगिक नीति प्रस्ताव में अपनाए गए रुख के प्रति दृढ़ विश्वास व्यक्त करती है । इस नीति में सार्वजनिक क्षेत्र को अधिकाधिक सम्पन्न बनाने का सुझाव है । साथ ही संयुक्त क्षेत्र सम्बन्धी मूल-धाराओं को स्पष्ट किया गया है । इस नीति के मुख्य तत्व निम्न-लिखित हैं :—

1. **संयुक्त क्षेत्र**—इसमें विकास के एक पक्ष के रूप में संयुक्त क्षेत्र की धारणा को स्वीकार किया गया है । जब तक संयुक्त क्षेत्र के पक्ष और विपक्ष में काफी चर्चाएँ होती रही हैं । लेकिन इसका आकार-प्रकार क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं था । लेकिन अब औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ ही संयुक्त क्षेत्र की तस्वीर उभर कर सामने आई है । संयुक्त क्षेत्र पर सरकारी नियंत्रण कितना होगा इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि यह भिन्न-भिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में यह इस बात पर निर्भर करेगा कि सम्बद्ध इकाई के शेयरों में सरकार का अंश कितना है ।

संयुक्त क्षेत्र ऐसे उद्योगों में जहाँ राज्य सरकार नये और मध्यम दर्जे के उद्योगों में साझीदार होगी, प्रोत्साहन देने वाला होगा ताकि प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के विकास में यह उनका मार्ग दर्शन कर सके ।

संयुक्त क्षेत्र के ऐसे उद्योगों में बड़े औद्योगिक घरानों मे प्रमुख अधिकरणों और विदेशी कम्पनियों के प्रवेश की अनुमति नहीं दी जायेगी, जिनमें उनका प्रभुत्व पहले से है ।

संयुक्त क्षेत्र की सभी इकाइयों के संचालन, प्रबन्ध-व्यवस्था और नीति निर्धारण में सरकार का प्रमुख हाथ रहेगा । संयुक्त क्षेत्र के इस तरह के कारखानों का, जिनका अस्तित्व भंग हो गया है, गठन कुछ खास क्षेत्रों में उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जारी रखा जाएगा । संयुक्त क्षेत्र में इस तरह की किसी औद्योगिक इकाई का गठन सरकार के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य के सन्दर्भ में किया जायेगा ।

2. **बड़े घराने**—बड़े औद्योगिक घराने की चल अचल सम्पत्ति की सीमा 35 करोड़ रुपए से घटा कर 20 करोड़ रुपये कर दी गई है जैसी कि एकाधिकारी और

प्रतिबन्धकारी व्यापार अधिनियम, 1970 (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act of 1970) में व्यवस्था है। यह परिवर्तन सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से औद्योगिक लाइसेन्स नीति में किया गया है।

लाइसेंसिंग की व्यवस्थाओं से एक करोड़ रुपये तक की पूँजी से संगठित किए जाने वाले उद्योगों को मुक्त रखने की व्यवस्था जारी रहेगी परन्तु यह छूट बड़े औद्योगिक घरानों, विदेशी कम्पनियों व उनकी साझेदारी की कम्पनियों को नहीं मिलेगी।

3. **आधारभूत उद्योगों की सूची का विस्तार**—सरकार ने एक ओर बड़े औद्योगिक गृहों की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया है, और दूसरी ओर इन गृहों के लिए उपलब्ध उद्योगों की सूची का काफी विस्तार भी किया है। अब इस सूची में 19 शीर्षकों के अन्तर्गत अनेक नए उद्योगों के नाम हैं—

(1) धातु कर्म उद्योग (2) बायलर तथा बाह्य जनित संयंत्र (3) प्राइम मूवर्स, औद्योगिक टरबाइन, इन्टरनल कमबशन इंजन (4) विद्युतीय उपकरण (5) परिवहन उपकरण—जलयान तथा वाणिज्यिक गाड़ियां (6) मशीन टूल्स (7) औद्योगिक मशीनें (8) अर्थ मूविंग मशीनें (9) कृषि मशीनें, ट्रैक्टर, टिलर आदि (10) औद्योगिक उपकरण (11) वैज्ञानिक उपकरण (12) नाइट्रोजन तथा फास्फेट पर आधारित उर्वरक (13) दवाइयाँ तथा मूल औषधियाँ (14) कागज और लुग्दी (15) रासायनिक पदार्थ (16) मोटर गाड़ियों के टायर-ट्यूब (17) प्लेट ग्लास (18) सिरेमिक उद्योग तथा (19) सीमेण्ट उत्पादन।

सरकारी नीति के अनुसार बड़े औद्योगिक गृहों को भी इन 19 उद्योगों को, यदि इनमें से कोई औद्योगिक नीति के अधीन केवल सार्वजनिक क्षेत्र या छोटे उद्योगों के क्षेत्र के लिए सुरक्षित नहीं किया जाता है तो अन्य आवेदकों की तरह लगाने की अनुमति होगी। बड़े औद्योगिक गृह इन उद्योगों के अतिरिक्त वे उद्योग भी लगा सकते हैं जहाँ उत्पादन प्रधान रूप से निर्यात के लिए किया जाता हो।

4. **लघु क्षेत्र**—लघु उद्योग क्षेत्र के लिए 1970 की विद्यमान नीति ज्यों की त्यों बनी रहेगी। अतिरिक्त सुविधा के रूप में यह क्षेत्र किसी भी प्रकार के उद्योग में प्रवेश कर सकता है, विशेष रूप से इस क्षेत्र को वृहद् उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित किया जायगा। इन उद्योगों में अन्य उपक्रमियों को केवल तभी अनुभूति दी जायगी जब बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से कीमतों में कमी या तकनीकी सुधार की सम्भावना हो, बड़े पैमाने पर पूँजी लगानी पड़ती हो या बड़े पैमाने पर निर्यात संभव हो या आधुनीकीकरण के लिए जरूरी हो।

5. **सहकारी क्षेत्र का विकास**—सरकार कृषि सम्बन्धी उद्योगों में सहकारी संस्थाओं के विकास के लिए विशेष प्रयत्न करेगी। कृषि सम्बन्धी उद्योगों में से उल्लेखनीय उद्योग हैं—गन्ना, जूट, कपास के खेतीबारी सम्बन्धी कृषि उपकरण जैसे उर्वरक, ट्रैक्टर आदि का निर्माण। सार्वजनिक उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित उद्योगों के लिए भी सहकारी क्षेत्र अधिक श्रेष्ठ रहता है।

6. **नए उपक्रमियों को प्रोत्साहन**—इस नीति में नये उपक्रमियों को प्रोत्साहन

देने की बात सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर ली गई है और इन उपक्रमियों को प्रत्येक प्रकार की सहायता उपलब्ध कराने में राज्य सरकारें विशेष रूप से प्रयास करेंगी ऐसी व्यवस्था भी कर दी गई। नए उपक्रमियों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र अर्थात् 1956 को औद्योगिक नीति की अनुसूची 'अ' के उद्योगों को छोड़कर शेष सभी क्षेत्र खुले रहेंगे।

7. **महत्वपूर्ण विस्तार एवं नये उपक्रम**—सन् 1970 की औद्योगिक नीति में एक करोड़ रुपये तक की कीमत के बराबर उत्पादन में महत्त्वपूर्ण विस्तार की जो छूट दी गई थी उसे बनाये रखा जाएगा परन्तु यह छूट बड़े औद्योगिक गृहों, विदेशी कम्पनियों, प्रभुत्व वाले उपक्रमों तथा 5 लाख रुपये से अधिक सम्पत्तियाँ रखने वाले विद्यमान पंजीकृत उपक्रमों पर लागू नहीं होगी।

8. **उत्पादन का विविधीकरण**—इस नीति के अनुसार ऐसी इकाइयाँ जो पंजीकृत हैं या जिनको औद्योगीकरण अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत लाइसेंस मिला हुआ है भविष्य में कुछ निश्चित शर्तों सहित बिना लाइसेंस लिए अपनी पंजीकृत क्षमता के 25% तक नई वस्तु या वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ा सकती है।

9. **निर्यात प्रधान उद्योगों को प्रोत्साहन**—निर्यात करने वाली वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को लाइसेन्स देने में प्राथमिकता दी जाएगी। लघु तथा मध्यम आकार वाले उद्योगों की निर्यात क्षमता में विकास करने में सहायता दी जाएगी।

10. **उद्योगानुसार लाइसेन्स मुक्ति व्यवस्था की समाप्ति**—औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 की 41 उद्योगों को लाइसेंसिंग व्यवस्था को समाप्त करके 1 करोड़ से अधिक विनियोग वाली इकाइयों के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य कर दिया गया। इस प्रकार इस नीति में लाइसेन्स मुक्ति की व्यवस्था उद्योगों के आधार पर न रहकर पूँजी विनियोग की प्रस्ताविक मात्रा के आधार पर रखी गई।

11. **मध्य क्षेत्र**—जिन उद्योगों में पूँजी का विनियोग 1 करोड़ रु० से 5 करोड़ रु० तक होगा वे मध्य क्षेत्र के उद्योग कहलाएँगे। उस क्षेत्र में नवीन इकाइयों को लाइसेन्स उदारतापूर्वक दिए जाएँगे।

12. **सरल पूँजीयन विधि**—जिन औद्योगिक इकाइयों को लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं है उनका रजिस्ट्रेशन केन्द्रीय तकनीकी सत्ताओं में स्वतः ही हो जाया करेगा और उन्हें अब रजिस्ट्रेशन फीस भी नहीं देनी पड़ेगी।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति 1975

अक्टूबर 1975 में सरकार ने औद्योगिक लाइसेन्स नीति को अधिक उदार बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की घोषणा की। औद्योगिक लाइसेंस नीति 1975 में 21 उद्योगों को लाइसेन्स मुक्त कर दिया गया तथा 30 प्रमुख उद्योगों में विदेशी कम्पनियों एवं बड़े औद्योगिक घरानों को लाइसेन्स क्षमता से भी अधिक उत्पादन करने की असीमित छूट प्रदान की गई। विदेशी कम्पनियाँ तथा बड़े औद्योगिक घराने

केवल उसी अवस्था में क्षमता का असीमित विस्तार कर सकेंगे जबकि इस अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात किया जायेगा, अथवा सरकारी निर्देशों के अनुसार इसे बेचा जायेगा।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1978

31 अक्टूबर 1977 को उद्योग मन्त्रालय द्वारा श्री जी० वी० रामकृष्ण की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल की नियुक्ति की गई जिसका कार्य औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 1951 के कार्यों एवं संबंधित नीतियों और कार्य प्रणालियों का अध्ययन करने तथा इसकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए सुझाव देने का था।

अध्ययन दल ने फरवरी सन् 1978 में अपने सुझाव सरकार को दिए जिनमें से प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे :—

1. **लाइसेन्स से छूट की सीमा में वृद्धि**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि लाइसेन्स लेने की अनिवार्यता से छूट की सीमा को एक करोड़ रु० से बढ़ाकर 5 करोड़ रु० कर दिया जाना चाहिए। वर्तमान में यह सुझाव सरकार द्वारा लागू कर दिया गया है।

2. **पर्याप्त संशोधनों की आवश्यकता**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम 25 साल पुराना हो चुका है अतः सरकार को नयी औद्योगिक नीति तथा औद्योगिक जगत् में नए परिवर्तनों के सम्बन्ध में अधिनियम में पर्याप्त संशोधन किए जाने चाहिए।

3. **क्षेत्रीय कार्यालयों का महत्व**—अखिल भारतीय सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं के क्षेत्रीय कार्यालयों को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाएँ तथा इन संस्थाओं के कार्यों में पूर्ण समन्वय स्थापित किया जाए।

4. **मॉनीटरिंग व्यवस्था**—यह जानने के लिए कि आशय-पत्रों (Letters of Intent) की शर्तें पूरी की जा रही हैं अथवा नहीं, मॉनीटरिंग सेलों की भी स्थापना की जानी चाहिए।

5. **विकास परिषद के कार्यों में सुधार**—ऐसी सभी विकास परिषद् जिन्हें औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत स्थापित किया गया है उनके कार्यों में सुधार कर उन्हें सशक्त बनाना चाहिए।

6. **प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण**—उद्योगों की स्थापना हेतु आवश्यक अनुमति पत्रों एवं पूँजीगत माल के आयात के लाइसेन्सों की स्वीकृतियों तथा विदेशी सहायता के समझौते के अनुमोदनों की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए।

7. **लघु उद्योग क्षेत्र के लिए संरक्षण**—अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि सरकार को चाहिए कि वह लघु उद्योग क्षेत्र के संरक्षण के लिए उपयुक्त नियमों की व्यवस्था करें।

8. **नियमन और विकास पहलू पर जोर**—अध्ययन दल द्वारा यह सुझाव दिया

गया कि अनधिकृत अथवा अति उत्पादन को रोकने के लिए अधिनियम के नियमन एवं विकास पहलू पर अधिक जोर देना चाहिए।

9. राज्यों के मुख्यालयों पर औद्योगिक अनुमोदनों के ब्यूरो के कार्यालय स्थापित किए जाने चाहिए।

सरकार ने लगभग इन सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया है। 31 मार्च 1978 को नई औद्योगिक लाइसेंसिग नीति की घोषणा की गई। औद्योगिक नीति 1978 में लाइसेन्स की सीमा को 1 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 3 करोड़ रुपये करके लाइसेन्स प्रणाली को अधिक उदार बना दिया गया।

औद्योगिक लाइसेन्स से छूट केवल उसी अवस्था में प्रदान की जायगी जबकि प्रस्तावित उत्पादित वस्तुएँ, सार्वजनिक तथा लघुस्तरीय क्षेत्र से सम्बन्धित न हों। इसी के साथ M R T P कम्पनियों, प्रभावशाली कम्पनियों तथा 40 प्रतिशत से अधिक विदेशी हिस्से वाली कम्पनियों को लाइसेन्स व्यवस्था में कोई छूट नहीं दी जायेगी।

औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1980

23 जुलाई 1980 को नई औद्योगिक लाइसेन्स नीति की घोषणा की गई। इस नीति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कुछ चुने हुए उद्योगों के स्वचालित विकास की अनुमति प्रदान की गई। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लघु पैमाने के उद्योगों के विकास की गति को तीव्र बनाने के लिए यह निर्णय किया गया है कि इनमें निवेश की सीमा को 10 लाख रुपये से बढ़ाकर 20 लाख रुपये कर दिया जाये इस उपाय के द्वारा विद्यमान लघु उद्योगों में आधुनिकीकरण की कार्य सरलता से सम्पन्न हो सकेगा।

(ख) श्रमिकों की उत्पादिता अथवा तकनीकी विकास के कारण उद्योगों की उत्पादन क्षमता में परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए नई नीति में निम्न सुझाव रखे गए हैं—

प्रथम—उद्योगों में बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता को स्वीकार करना, तथा दूसरा-प्रतिवर्ष 5 प्रतिवर्ष की दर से स्वचालित विस्तार अथवा 5 वर्ष में 25% क्षमता के विस्तार को औद्योगिक अधिनियम के परिशिष्ट 1 के सभी उद्योगों पर लागू करना।

परीक्षा-प्रश्न

1. स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की औद्योगिक नीति के क्या उद्देश्य रहे हैं? औद्योगिक नीति से सार्वजनिक उद्देश्यों का विकास किस प्रकार हुआ है।

(आगरा, बी० कॉम० 1976)

2. 1956 के भारत सरकार की औद्योगिक नीति का विवेचन कीजिए और देश के औद्योगीकरण पर उसके प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

(आगरा, बी० कॉम० 1974)

3. भारत सरकार की 1956 की औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्वों की विवेचना

कीजिए। (पंजाब बी० कॉम० 1974, इन्दौर बी० ए० 1969, मेरठ बी० ए० 1968, कुरुक्षेत्र बी० कॉम० 1965)

4. भारत की 1956 की औद्योगिक नीति में परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं। इस नीति की उपलब्धियों की समीक्षा कीजिए। (जोधपुर बी० ए० आनर्स 1975)

5. 1977 की भारत सरकार की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

6. भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। आपके विचार में यह नीति इसमें निर्दिष्ट आर्थिक व सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में कहाँ तक सफल रही है। इस नीति को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए सुझाव दीजिए।

7. भारत में औद्योगिक लाइसेन्स नीति, 1973 की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। 1980 की औद्योगिक लाइसेंसिग नीति में क्या परिवर्तन किए गए हैं।

25

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

औद्योगिक वित्त से अभिप्राय उस पूँजी से होता है, जिसकी आवश्यकता उद्योगों की उत्पादन क्रियाओं के संचालन हेतु पड़ती है । संक्षेप में औद्योगिक वित्त से तात्पर्य उद्योगों की धन या वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं से है ।

औद्योगिक वित्त व्यवस्था की विशेषताएँ

औद्योगिक वित्त व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. औद्योगिक वित्त की प्रकृति स्थायी होती है, क्योंकि इसमें दीर्घकालीन विनियोग, भवन, मशीन, संयन्त्र आदि में किये जाते हैं ।

2. औद्योगिक वित्त में अधिकांश पूँजी का विनियोग उत्पादन कार्यों के लिए किया जाता है ।

3. नवीन उद्योगों की स्थापना एवं स्थापित उद्योगों को वित्त व्यवस्था की समस्या इतनी क्लिष्ट होती है कि उन्हें वित्त प्रदान करने के लिए विशिष्ट संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है ।

उद्योगों की वित्तीय (पूँजी) सम्बन्धी आवश्यकताएं

उद्योगों को सामान्यतया दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है—

1. **स्थायी पूँजी**—यह वह पूँजी है जिसका प्रयोग व्यवसाय में ऐसी सम्पत्तियों को खरीदने के लिए किया जाता है जिन्हें दीर्घकाल तथा निरन्तर उपयोग किया जा सके ।

सामान्यतया स्थायी पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित जरूरतों के लिए पड़ती है—

(i) स्थायी सम्पत्तियों जैसे भूमि, भवन, संयन्त्र व मशीनरी, फर्नीचर व फिटिंग आदि को क्रय करने के लिए, (ii) घिसी हुई अप्रचलित स्थायी सम्पत्तियों की प्रति-स्थापना एवं उनका पुनरुद्धार के लिए, (iii) आधुनिकीकरण शोध एवं अनुसन्धान के लिए, (iv) विविधीकरण विस्तार एवं विकास की आवश्यकताओं के लिए, तथा (v) नियमित व स्थायी कार्यशील पूँजी के लिए ।

(2) **कार्यशील पूँजी**—प्रत्येक व्यवसाय के दैनिक कारोबार को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस पूँजी की आवश्यकता पड़ती है उसे कार्यशील पूँजी कहते हैं। कार्यशील पूँजी का उपयोग सामान्यता कच्चा माल, निर्मित व अनिर्मित माल का स्टाक, चल सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय, कर्मचारियों के वेतन, परिवहन व्यय, मजदूरी एवं दैनिक कार्यों में किया जाता है। कार्यशील पूँजी का कार्यकाल स्थायी पूँजी की अपेक्षा कम होता है, अतएव इसे अल्पकालीन पूँजी भी कहा जाता है।

औद्योगिक वित्त के साधन

भारत में औद्योगिक वित्त को प्राप्त करने के साधनों में (i) अंशों का निर्गमन, (ii) ऋण-पत्रों का निर्गमन, (iii) जन-निपेक्ष, (iv) लाभों का पुर्ननियोजन, (v) बैंकों द्वारा ऋण, (vi) देशी बैंकर, (vii) वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण, आते हैं।

(1) **अंशों का निर्गमन**—औद्योगिक संस्थाओं को स्थायी वित्त प्रदान करने का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोतम साधन है। 'कम्पनीज अधिनियम, 1956' के अनुसार किसी कम्पनी के अंश दो प्रकार के हो सकते हैं। (क) समता अंश, (ख) पूर्वाधिकार अंश।

समता या साधारण अंश—एक कम्पनी की औद्योगिक वित्त व्यवस्था में समता या साधारण अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं, इसीलिये इनको आधार-स्तम्भ माना जाता है। अधिकांश कम्पनियाँ अपनी पूँजी का बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार के अंशों को निर्गमित करके प्राप्त करती है।

विशेषताएँ—समता अंश पूँजी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं—

(i) यह पूँजी स्थायी होती है क्योंकि इसकी वापसी उद्योग के जीवन-काल में नहीं होती है।

(ii) इस प्रकार की अंश पूँजी पर लाभांश उसी समय मिलता है जबकि कम्पनी या उद्योग को लाभ होता है।

(iii) साधारण अंश पूँजी से उद्योग को प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त होती है उसे ही उद्योग का जोखिम वहन करना पड़ता है।

(iv) इन अंशों के धारक ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं और कम्पनी के संचालन एवं प्रबन्ध पर उनका पूर्ण नियन्त्रण होता है।

लाभ—इस अंश के कई लाभ होते हैं—

(क) पूँजी का स्थायित्व रहता है, क्योंकि उसके भुगतान की आवश्यकता नहीं पड़ती है। (ख) इसके लिए कोई जमानत नहीं दी जाती है। (ग) लाभांश देना बहुत जरूरी नहीं होता है क्योंकि जब लाभ होंगे तभी उनके वितरण का प्रश्न उठता है। इसके अलावा सामान्य अंशधारी प्रमण्डल पर पूरा अधिकार रखते हैं, उनकी अज्ञानता के कारण प्रमण्डल को धोखा हो सकता है।

एक कम्पनी की समता या साधारण अंश पूँजी को 'जोखिम पूँजी' या 'साहस पूँजी' भी कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'स्वामित्व पूँजी' भी है।

(ख) **पूर्वाधिकार अंश**—पूर्वाधिकार अंश वे अंश हैं जिनके धारकों को एक निश्चित दर पर लाभांश देने या कम्पनी के समापन की स्थिति में पूँजी को वापस करने का पूर्वाधिकार दिया जाता है। ये अंश अनेकों प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—

पूर्वाधिकार अंशों के प्रकार—पूर्वाधिकार अंश निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं—

(i) **संचयी और असंचयी पूर्वाधिकार अंश**—कम्पनी को लाभ न होने पर यदि लाभांश संचय होता रहे और लाभ होने वाले वर्ष में पिछले वर्षों का लाभांश भी दिया जाय तो अंशों को संचित पूर्वाधिकार अंश कहते हैं। इसके विपरीत असंचयी पूर्वाधिकार अंश वे होते हैं जिन पर लाभांश प्राप्त करने का अधिकार संचय नहीं होता। यदि किसी वर्ष लाभांश दिया जाता है तो उन्हें पहले लाभांश दिया जायेगा और अन्य अंशधारियों को बाद में।

(ii) **शोध और अशोध पूर्वाधिकार अंश**—यदि पूर्वाधिकारी अंश जारी करते समय कम्पनी यह घोषित कर दे कि इन अंशों का एक निश्चित अवधि की समाप्ति पर भुगतान अथवा शोधन कर दिया जायेगा तो ऐसे अंशों को शोध पूर्वाधिकारी अंश कहते हैं। इसके विपरीत अशोध पूर्वाधिकार अंश वे होते हैं जिनका भुगतान कम्पनी के कार्यकाल में नहीं लिया जाता।

(iii) **परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अंश**—ये वे अंश होते हैं जिनको एक निश्चित समयावधि के पश्चात् साधारण अंशों में बदलने की स्वेच्छा दी जाती है।

(iv) **भागीदार पूर्वाधिकार अंश** यदि इन अंशधारियों को अपना निश्चित लाभांश प्राप्त कर लेने के उपरान्त साधारण अंशधारियों को भी एक निश्चित प्रतिशत लाभांश देने के बाद शेष लाभ में हिस्सा बाँटने का अधिकार दे दिया जाय तो इन्हें भागीदार पूर्वाधिकार अंश कहेंगे जिन अंशों पर यह अधिकार नहीं होता उन्हें अभागीदार पूर्वाधिकार अंश कहा जायेगा।

(v) **मताधिकार वाले पूर्वाधिकारी अंश**—कम्पनी अपने अन्तर्नियमों में स्पष्ट व्यवस्था करके पूर्वाधिकारी अंशों के स्वामियों को भी कम्पनी की बैठक में साधारण अंशधारियों की भाँति उपस्थित होने तथा मत देने का अधिकार दे सकती है। ऐसे अंशों को मताधिकार वाले पूर्वाधिकारी अंश कहते हैं।

इन अंशों को निर्गमित करने का उद्देश्य यह है कि स्थापना के समय अधिक पूँजी प्राप्त की जा सके और जब पूँजी का बाहुल्य हो जाय, अर्थात् कम्पनी सुदृढ़ हो जाय तो उन्हें वापस कर दिया जाय। ये अंश उस दशा में भी निर्गमित किये जाते हैं जब ऋण-पत्र निर्गमन के लिए पर्याप्त जमानत नहीं रहती है।

(2) **ऋण-पत्रों का निर्गमन**—औद्योगिक संस्थाओं के लिए वित्त प्राप्त करने का दूसरा साधन ऋण-पत्र या बॉण्ड का निर्गमन है। ऋण-पत्र या बॉण्ड से अर्थ उस प्रलेख से हैं जिसके आधार पर उसमें लिखित राशि प्राप्त की जाती है। इसका निर्गमन कम्पनी द्वारा अपने पार्षद सीमा नियम के आधार पर ही किया जाता है।

ऋण-पत्रों द्वारा एकत्रित की गई पूँजी की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(i) **दीर्घकालीन पूंजी**—साधारणतया ऋण-पत्रों के माध्यम से दीर्घकालीन ऋण प्राप्त किये जा सकते हैं।

(ii) **विक्रय योग्य**—ऋण-पत्र अंशों की भाँति अंश बाजार में आसानी से खरीदे और बेचे जाते हैं।

(iii) **ऋण पूंजी**—ऋण-पत्र कम्पनी की ऋण पूँजी के अंग होते हैं। अतः इन पर ब्याज देना आवश्यक होता है। चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि।

ऋण-पत्रों के प्रकार—ऋण-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(i) **रक्षित तथा अरक्षित ऋण-पत्र**—यदि ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को बन्धक रखकर किया जाता है तो ऐसे ऋण-पत्रों को रक्षित ऋण-पत्र कहते हैं। इसके विपरीत यदि ऋण-पत्रों का निर्गमन बिना किसी ऐसी जमानत या प्रतिभूति को किया जाता है तो उनको आरक्षित ऋण-पत्र कहते हैं।

(ii) **शोध्य या अशोध्य ऋण-पत्र**—वे ऋण-पत्र जिनकी राशि एक निश्चित अवधि के उपरान्त वापस कर दी जाती है शोध्य, ऋण-पत्र कहलाते हैं। इसके विपरीत यदि ऋण-पत्र की राशि कम्पनी के जीवन-काल में कभी वापस नहीं की जाती तो उन्हें अशोध्य ऋण-पत्र कहते हैं।

(iii) **रजिस्टर्ड तथा वाहक ऋण-पत्र**—उन ऋण-पत्रों को जिनके स्वामियों का नाम पता तथा अन्य विवरण कम्पनी के पास रखे गये ऋण-पत्रधारियों के रजिस्टर में अंकित किया जाना आवश्यक होता है, रजिस्टर्ड ऋण-पत्र कहलाते हैं। इसके विपरीत वाहक ऋण-पत्र वे ऋण-पत्र होते हैं जिनका धारक ही स्वामी होता है, जिनका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को केवल हस्तान्तरण करने से ही हस्तान्तरित हो जाता है।

(iv) **परिवर्तनशील ऋण-पत्र**—ये वे ऋण-पत्र होते हैं जिनमें ऋण-पत्रधारियों को अंशों में परिवर्तन करने का अधिकार होता है।

(v) **प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी के ऋण-पत्र**—वे ऋण-पत्र जिनका भुगतान अन्य ऋण-पत्रों से पहले किया जाना अनिवार्य होता है प्रथम श्रेणी के ऋण-पत्र कहलाते हैं जबकि उन ऋण-पत्रों का जिनका भुगतान पहले ऋण-पत्रों के बाद किया जाता है द्वितीय श्रेणी के ऋण-पत्र कहलाते हैं।

उपयुक्तता—ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनियाँ या तो अपनी प्रारम्भिक दीर्घ-कालीन पूँजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए या व्यवसाय के विस्तार व आधु-निकीकरण की योजनाओं के लिए मध्यकालीन ऋण प्राप्त करने के लिए करती हैं। ऋण-पत्र निर्गमित करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋण-पत्रों पर दिया जाने वाला ब्याज साधारणतया कम्पनी की अनुमानित आय के 20% से अधिक नहीं होना चाहिए।

तुलनात्मक मूल्यांकन

आधार	असाधारण अंश	पूर्वाधिकार अंश	ऋण-पत्र
1. वित्त की प्रकृति	इनसे कम्पनी की दीर्घ-कालीन एवं स्थायी पूँजी प्राप्त की जाती है।	इनसे दीर्घकालीन और मध्यकालीन दोनों प्रकार की पूँजी एक-त्रित की जा सकती है।	इनके निर्गमन से अस्थायी दीर्घकालीन और मध्यकालीन ऋण प्राप्त किये जाते हैं।
2. लागत	इन पर कम्पनी को सामान्यत: अधिक लाभांश देना पड़ता है।	इनका लाभांश प्राय: साधारण अंश से कम होता है।	इनको दिया जाने वाला ब्याज सबसे कम होता है। यही नहीं क्योंकि ब्याज को एक खर्च माना जाता है इसलिए इस पर आय कर की भी बचत होती है।
3. प्रबन्ध में हस्तक्षेप	इन्हें कम्पनी के प्रबंध में हस्तक्षेप करने का अधिकार होता है।	इन्हें कम्पनी के प्रबंध में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता।	इनका भी कम्पनी के प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं होता।
4. प्रतिफल	इन पर लाभांश उसी समय मिलता है जब कम्पनी को लाभ मिलता है। इनका लाभांश कम्पनी की समृद्धि के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।	लाभांश पूर्व निर्धारित दर से दिया जाता है। लाभांश तभी दिया जायेगा जब लाभ हो लेकिन संचयी पूर्वा-धिकार अंशों की स्थिति में लाभांश संचित होता रहता है।	इनके ब्याज की दर पूर्व निर्धारित रहती है और इन पर ब्याज देना ही पड़ेगा चाहे कम्पनी को लाभ हो या हानि।
5. लचीलापन	पूँजी के अधिकांश भाग को साधारण अंशों के रूप में प्राप्त करने पर पूँजी की संरचना लोचपूर्ण नहीं होती।	पूर्वाधिकार अंश पूँजी संरचना में थोड़ी लोचता प्रदान करते हैं। शोध्य पूर्वाधिकार अंशों की राशि आव-श्यकता न होने पर	ऋण-पत्र चूँकि ऋण-पत्र हैं इन्हें आवश्यकता नुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। यदि कम्पनी को इनकी

आधार	असाधारण अंश	पूर्वाधिकार अंश	ऋण-पत्र
		वापस की जा सकती है तथा परिवर्तनीय पूर्वाधिकार अंशों को आवश्यकता पड़ने पर साधारण अंशों में बदला जा सकता है।	आवश्यकता नहीं रहती तो कम्पनी स्वयं अपने ऋण-पत्र वापस खरीदकर उन्हें निर्धारित तिथि पर रद्द कर सकती है।
6. ऋण लेने की क्षमता का प्रभाव	कम्पनी जितनी अधिक पूँजी साधारण अंशों से एकत्र करती है उसकी ऋण लेने की क्षमता उतनी ही अधिक बढ़ जाती है।	इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव कम्पनी की साख तथा उसके ऋण लेने की क्षमता पर नहीं पड़ता।	यदि कम्पनी ऋण-पत्रों के माध्यम से ऋण प्राप्त करती है तो उसे अपनी संपत्ति ऋण-पत्र-धारियों के पास बन्धक के रूप में रखनी पड़ती है इस पूँजी बाजार में कम्पनी की साख कम हो जाती है।
7. विनियोजकों के लिए आकर्षण	वे विनियोजक जो साहसी होते हैं और अच्छी आय के साथ-साथ कम्पनी के प्रबंध में सक्रिय भाग लेना चाहते हैं, उनके लिए साधारण अंश सर्वश्रेष्ठ रहता है।	ये उन विनियोजक के लिए श्रेष्ठ है जो निश्चित तथा अच्छी आय चाहते हैं और प्रबन्ध की तरफ उदासीन होते हैं लेकिन कुछ जोखिम उठाने के लिए तत्पर रहते हैं।	निश्चित व स्थायी आय के साथ पूँजी की सुरक्षा चाहने वाले विनियोजकों के लिए ऋण-पत्रों में रुपया विनियोजित करना सर्वश्रेष्ठ होता है।

(3) **जन-निक्षेप**—भारत में औद्योगिक वित्त के साधनों में जन-निक्षेप का भी उल्लेखनीय महत्त्व रहा है। जनता द्वारा अपने धन को व्यापारियों या उद्योगपत्तियों के पास निश्चित ब्याज के बदले में इसलिए रखा जाता था कि बैंकिंग विकास की प्रारम्भिक स्थिति में जनता का विश्वास बैंकों में इतना अधिक नहीं था। प्रारम्भ में इस जन-निक्षेप का उपयोग केवल आत्मकालीन पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता था लेकिन समय बीतने पर बम्बई,

अहमदाबाद और कुछ सीमा तक शोलापुर की सूती मिलों तथा बंगाल और आसाम के चाय बगानों में इनको मध्यकालीन वित्त के लिए भी उपयोग किया जाने लगा।

जन-निक्षेप से लाभ

(i) पूँजी प्राप्त करने का यह सरल और मितव्ययी साधन है।

(ii) कम्पनी को अपनी सम्पत्तियों को बंधक के रूप में नहीं रखना पड़ता।

(iii) निक्षेपों के कारण कम्पनियों का पूँजी कलेवर लोचदार रहता है।

(iv) अंशधारियों को ऊँचे लाभांश दिये जाते हैं।

(v) कम्पनी की ऋण लेने की क्षमता बढ़ जाती है।

(4) **लाभों का पुर्नविनियोजन**—लाभ का पुर्नविनियोजन कम्पनी की वित्त व्यवस्था की वह पद्धति है जिनके द्वारा कोई कम्पनी अपनी आय के कुछ भाग को बचाकर उसका प्रयोग भावी विकास योजनाओं में करती है। वास्तव में किसी भी पूर्व स्थापित संस्था का भावी विकास उसके आन्तरिक साधनों पर निर्भर करता है। प्राय: देखा जाता है कि किसी भी औद्योगिक संस्था को जितना लाभ होता है, उस समस्त लाभ को उस कम्पनी के अंशधारियों में वितरित नहीं किया जाता वरन् उसका कुछ भाग बचाकर रख लिया जाता है। संस्था को जब अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होती है तब इस बचत का प्रयोग किया जा सकता है।

लाभ

(i) यदि कोई औद्योगिक संस्था अपनी समस्त आय को अंशधारियों में वितरित न करके कुछ भाग को बचा लेती है तो यह बचत भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

(ii) संचित कोष व्यवस्था के आधार पर कम्पनी द्वारा संतुलित लाभांश की नीति अपनायी जा सकती है।

(iii) संचित लाभों में से कम्पनी के विस्तार व आधुनिकीकरण की योजनाएँ आसानी से कार्यान्वित की जा सकती है।

(iv) एक ऐसी औद्योगिक संस्था को जिसके पास संचित कोष की अच्छी पूँजी है, व्यवसाय में साहसपूर्ण निर्णय लेने में संकोच नहीं होता।

(v) अंशधारियों की दृष्टि से आय के पृष्ठ विनियोग की योजना से उनके विनियोग अत्यन्त सुरक्षित रहते हैं।

(vi) अंशधारियों को मिलने वाले लाभांश की दर भी समान बनी रहती है। मंदी के दिनों में भी लाभांश मिलता रहता है।

(5) **बैङ्कों द्वारा ऋण**—व्यापारिक बैंकों द्वारा उद्योगों को जो वित्त प्रदान किये जाते थे, वे अब तेजी से बढ़ रहे हैं। व्यापारिक बैंकों से साथ-साथ औद्योगिक बैंकों तथा मिश्रित बैंकों द्वारा भी औद्योगिक साख दिये जाते हैं। औद्योगिक बैंकों का मुख्य कार्य दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। भारत में औद्योगिक विकास बैंक तथा इकाई प्रन्यास इनमें मुख्य है। मिश्रित बैंक वे हैं जो लघुकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं।

6. **देशी बैंकर**—देशी बैंकरों ने भी उद्योगों के लिए और विशेषकर कठिनाई के समय लाभदायक कार्य किया है। बड़े पैमाने के उद्योग इन पर निर्भर नहीं करते किन्तु छोटे तथा मध्यम पैमाने के उद्योग देशी साहूकारों से अपनी अचल एवं कार्यकारी पूँजी के लिए काफी हद तक सहायता लेते हैं।

7. **वित्तीय संस्थाओं द्वारा ऋण**—भारत में औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली मुख्य संस्थाओं इस प्रकार हैं—(i) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, (ii) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, (iii) राज्य वित्त निगम, (iv) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम, (v) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया।

1. भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India)

इस बैंक की स्थापना जुलाई, 1964 में की गई। इसका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त वित्त प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं की क्रियाओं का समन्वय करना भी है। औद्योगिक ढाँचे की कमियों का पता लगाकर उनका निवारण करना भी इसका उद्देश्य है। यह रिजर्व बैंक की एक मात्र शाखा थी। लेकिन 1975 में इसको रिजर्व बैंक से पृथक् करने का अधिनियम पारित किया गया और 16 फरवरी, 1976 को इसको एक स्वतन्त्र एवं स्वायत्त संस्था के रूप में पुनः संगठित किया गया है।

विकास बैंक के कार्य—विकास बैंकों के कार्यों का हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

1. **पुनर्वित्त (Refinance) व्यवस्था**—यह वित्तीय संस्थाओं को निम्न कार्यों के लिए पुनर्वित्त प्रदान कर सकता है—

(अ) वित्तीय संस्थाओं को 3 से 25 वर्ष के लिए।

(ब) राज्य सहकारी बैंकों तथा अनुसूचित बैंकों द्वारा उद्योगों को दिये गये ऋणों पर 10 वर्ष के लिए।

(स) बैंकों अथवा वित्त संस्थाओं द्वारा निर्यात के हेतु दिये गये ऋणों पर 9 माह से 10 वर्ष के लिए।

2. **प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता**—विकास बैंक औद्योगिक उपक्रमों को अकेले ही या अन्य वित्त संस्थाओं के साथ मिलकर प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता करता है। यह सहायता निम्न रूपों में प्रदान की जाती है—(अ) प्रत्यक्ष ऋण देकर, (ब) अंश, बाण्ड्स, ऋण-पत्र खरीदकर एवं इनका अभिगोपन कर, (ग) औद्योगिक संस्थानों द्वारा अन्य साधनों से प्राप्त ऋणों के स्थगित भुगतानों की गारण्टी कर, एवं (द) व्यापारिक बिलों की कटौती या पुनर्कटौती कर।

3. **विकास सम्बन्धी कार्य**—(अ) उद्योगों के विकास से सम्बन्धित विनियोग व तकनीकी आर्थिक अध्ययन के बारे में अनुसंधान कार्य एवं सर्वेक्षण करना, (ब) किसी भी उद्योग के प्रवर्त्तन, प्रबन्ध अथवा विस्तार हेतु तकनीकी एवं प्रशासकीय

सेवाएँ उपलब्ध करना, (स) देश की औद्योगिक संरचना की कमियों को पूरा करने हेतु उद्योगों का नियोजन, प्रवर्त्तन एवं विकास करना।

बैंक के वित्तीय साधन—यह बैंक अपने वित्तीय साधनों की व्यवस्था निम्न प्रकार करेगा—

1. **अंश पंजी**—भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की अधिकृत पूँजी 500 करोड़ रुपये और प्रदत्त पूँजी 200 करोड़ रुपये है।

2. **भारत सरकार के ऋण**—बैंक ने केन्द्रीय सरकार से भी ऋण लिया है।

3. **ऋण-पत्रों का निर्गमन**—बैंक अपने ऋण-पत्रों अथवा बाण्डों को बेचकर भी अपने कोष को बढ़ा सकता है। ऐसे ऋणों की कोई सीमा निर्धारित नहीं है।

4. **रिजर्व बैङ्क के ऋण**—औद्योगिक विकास बैंक को अपनी प्रतिभूतियों की जमानत पर रिजर्व बैंक से 90 दिन तक ऋण लेने का अधिकार होगा।

5. **जन-निक्षेप**—विकास बैंक जनता से 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए जमा भी स्वीकार कर सकता है।

6. **विदेशी मुद्रा में ऋण**—भारत सरकार की पूर्वानुमति लेकर बैंक विदेशी बैंकों अथवा वित्तीय संस्थाओं अथवा अन्य साधनों से विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है।

7. **अनुमान एवं सहायता**—बैंक अनुदान, सहायता, भेंट अथवा दानस्वरूप प्राप्त होने वाली सहायता को भी स्वीकार कर सकता है।

विकास बैंकों के कार्यों की प्रगति

जून 1982 में बैंक ने अपने कार्यकाल के 18 वर्ष पूरे कर लिए हैं। इस अवधि में बैंक द्वारा विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत स्वीकृत कुल सहायता और साथ ही वितरित कुल सहायता में काफी वृद्धि हुई है, जिसका विवरण निम्नलिखित हैं—

(i) **ऋण**—31 दिसम्बर 1982 तक बैङ्क कुल 8813 करोड़ रु० की वित्तीय सहायता (गारण्टी को छोड़कर) स्वीकृत कर चुका था जिसमें से 6062 करोड़ रु० वितरित किये जा चुके थे।

(ii) **अभिगोपन**—बैंक ने जून 1982 तक 3000 करोड़ रु० की पूँजी का अभिगोपन किया था।

(iii) **पुनर्वित्त**—बैंक द्वारा औद्योगिक ऋणों के लिए वित्तीय संस्थाओं को 1900 करोड़ रु० का पुनर्वित्त दिया गया।

(iv) 1964-82 तक कुल स्वीकृत सहायता में महाराष्ट्र का अंश 15·63%, गुजरात का 15·22% व तमिलनाडु का 11·40% रहा। इस प्रकार इन तीन राज्यों को सहायता का लगभग 42% अंश प्राप्त हुआ। राजस्थान का हिस्सा लगभग 4·9% रहा।

(v) **निर्यात वित्त**—औद्योगिक विकास बैंक द्वारा 390 करोड़ रु० के मूल्य की गारन्टी दी गई।

(vi) **तकनीकी विकास कोष योजना**—तकनीकी उन्नत और निर्यात विकास

तथा क्षमता के पूरे उपयोग को बढ़ावा देने के लिए भारत सरकार ने मार्च 1976 में एक तकनीकी विकास कोष स्थापित किया। इसके अन्तर्गत बैंक सक्रिय भूमिका निभा रहा है।

(vii) **पिछड़े हुए क्षेत्रों में रियायती शर्तों पर सहायता**—भारतीय औद्योगिक विकास बैंक सरकार द्वारा घोषित पिछड़े हुए क्षेत्रों के उपक्रमों को रियायती शर्तों पर वित्तीय सहायता प्रदान कर रहा है। कुल वितरित सहायता में से पिछड़े क्षेत्रों को 2252 करोड़ रु० तथा लघु क्षेत्र को 16·3 करोड़ रुपए प्राप्त हुए।

(viii) **उद्योगानुसार सहायता**—बैङ्क ने कुल स्वीकृत ऋणों का आधे से अधिक भाग (51·5%) आधारभूत व उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को दिया है। उपभोक्ता माल उद्योग में भी सर्वाधिक सहायता (15·1%) वस्त्रोद्योग को प्रदान की गयी।

(ix) **लघु उद्योग और लघु सड़क परिवहन कार्य के लिए ऋण**—भारतीय औद्योगिक विकास बैङ्क लघु उद्योगों और लघु सड़क परिवहन कार्यों के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—औद्योगिक विकास बैङ्क के कार्यों से स्पष्ट होता है कि इसने देश के औद्योगीकरण के असन्तुलन की स्थिति को सम्भालने के लिए सरकार की ओर से सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बहुत से प्रयास किए हैं। बैंक ने निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिए कोई खास प्रयास नहीं किए हैं।

बैंक ने आधुनिकीकरण के लिए ऋण अल्पमत मात्रा में वित्तीय सुविधाओं के अभाव के कारण दिए हैं। सरकारी हस्तक्षेप के कारण बैंक अपने व्यापारिक सिद्धान्तों पर कार्य नहीं कर पाते हैं।

2. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

स्थापना तथा कार्य—निगम की स्थापना औद्योगिक अधिनियम 1948 के अन्तर्गत 1 जुलाई, 1948 में हुई। निगम को निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार दिए गए हैं—

1. **ऋण की गारन्टी देना**—निगम औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिए जाने वाले ऋणों की गारन्टी देता है, यदि ऐसे ऋण 25 वर्ष के भीतर शोधनीय हैं।

2. **ऋण एवं अग्रिम कार्य**—निगम औद्योगिक संस्थाओं को अधिक से अधिक 25 वर्षों में चुकता होने वाले ऋण देता है।

3. **अभिगोपन कार्य**—औद्योगिक संस्थाओं द्वारा निर्गमित अंशों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना भी निगम का एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो।

4. **औद्योगिक संस्थाओं के अंश व ऋण-पत्र खरीदना**—निगम औद्योगिक संस्थाओं के अंश व ऋण-पत्र खरीदता है।

5. **ऋण-पत्र जारी करना तथा विश्व बैङ्क से ऋण लेना**—निगम अपनी

कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के लिए ऋण-पत्रों को निर्गमित कर सकता है और विश्व बैंक से ऋण ले सकता है।

6. **जमा स्वीकार करना**—निगम जनता से जमा स्वीकार करने का भी कार्य करता है, परन्तु जमाओं की कुल राशि 30 करोड़ रुपये से अधिक नहीं हो सकती है।

7. **अन्य कार्य**—निगम के कुछ अन्य कार्य इस प्रकार हैं—

(i) ऋण लेने वाली कम्पनियों की संचालक सभाओं में प्रतिनिधि भेजना और देखना कि कम्पनियाँ ऋण राशि का दुरुपयोग तो नहीं कर रही हैं।

(ii) ऋण लेने वाली किसी भी औद्योगिक कम्पनी को समय-समय पर प्राविधिक (Technical) परामर्श देना।

(iii) उद्योगों द्वारा विदेशी बैंकों आदि से प्राप्त किए गए ऋणों को गारण्टी देना।

(iv) उपरोक्त कार्यों से सम्बन्धित अन्य कार्य करना जो समय-समय पर सामने आएँ।

ऋण देय की शर्तें—निगम किसी सीमित पब्लिक कम्पनी तथा सहकारी समिति को निम्न शर्तों पर ऋण दे सकता है—

1. ऋण मुख्यतः जमीन, मकान, यंत्र, औजार आदि स्थायी सम्पत्तियों के प्रथम रेहन (First mortgage) पर दिया जाता है।

2. ऋण को लौटाने के सम्बन्ध में कम्पनी के संचालकों या प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से व्यक्तिगत हैसियत से एवं सामूहिक रूप से गारण्टी ली जाती है।

3. निगम ऋण लेने वाली कम्पनी के संचालक बोर्ड में अपने दो संचालकों की नियुक्ति कर सकता है।

4. ऋण की शर्तों के पालन न करने अथवा अन्य किसी प्रकार की अनुचित कार्यवाही करने पर निगम उस कम्पनी का प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है।

5. किसी एक संस्था को एक करोड़ रुपये से अधिक ऋण नहीं दिया जाता है।

6. निगम 25 वर्ष की अवधि से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकता।

7. जिस सम्पत्ति की जमानत पर ऋण दिया जाता है उसका बीमा करना आवश्यक है।

8. जब तक कम्पनी ऋण का भुगतान नहीं कर देती, लाभांश दर 6% प्रतिवर्ष के हिसाब से सीमित रहती है, परन्तु दोनों की सहमति से इस दर में परिवर्तन सम्भव है।

9. ऋण का भुगतान सामान्यतः समान किस्तों में किया जाता है, परन्तु किस्तों की राशि दोनों की सहमति से निश्चित होती है।

अगस्त 1970 में सरकारी क्षेत्र के औद्योगिक उपक्रमों को सम्मिलित कर लेने से निगम का कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो गया है। 1973 में औद्योगिक वित्त निगम अधि-

नियम में हुए संशोधन के आधार पर अब यह नियम प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों को भी ऋण प्रदान करता है ।

ऋण स्वीकृति के मापदण्ड—निगम किसी भी उद्योग को ऋण देने से पूर्व निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देता है—

(अ) प्रार्थी संस्था की आर्थिक स्थिति । (ब) जिस योजना के लिए ऋण की माँग की गई है उसकी उपयुक्तता । (स) प्रबन्ध-व्यवस्था की कुशलता । (द) लाभ कमाने की शक्ति । (य) ऋण की समय पर अदायगी की सम्भावना ।

निगम का प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है—संचालक मंडल (Board of Directer) केन्द्रीय समिति (Central Committee) । संचालक मण्डल में 13 सदस्य होते हैं, जिनमें एक प्रबन्ध संचालक होता है । केन्द्रीय समिति का कार्य दिन प्रतिदिन के कार्यों में संचालक मंडल को सहायता देना है । इसमें पाँच सदस्य होते हैं । इन दोनों के अतिरिक्त पाँच परामर्शदायी समितियाँ, जिनमें 29 सदस्य हैं । ये समितियाँ इंजीनियरिंग, वस्त्र, रसायन, चीनी तथा विविध उद्योगों के लिए स्थापित की गई हैं । इन उद्योगों को ऋण देने से पूर्व उससे संबंधित व्यक्तियों का परामर्श लिया जाता है ।

निगम के आर्थिक साधन—निगम निम्नलिखित साधनों से पूँजी प्राप्त करता है :—

(i) **शेयर पूंजी**—1982 के संशोधन—अधिनियम के अनुसार निगम की अधिकृत पूँजी 20 करोड़ रु० से बढ़ाकर, केन्द्रीय सरकार के द्वारा निर्धारित करके, 100 करोड़ रु० तक की जा सकती है । प्रत्येक शेयर पाँच हजार रुपये का होता है । 30 जून 1982 को इसकी अधिकृत पूँजी 50 करोड़ रु० तथा प्रदत्त पूँजी 20 करोड़ रु० की जा चुकी थी ।

(ii) **बांड व ऋणपत्र**—निगम को प्रदत्त पूंजी व रिजर्व कोष के 10 गुने तक बांड व ऋणपत्र निर्गमित करने का अधिकार है । निगम द्वारा निर्गमित बांड के मूलधन व ब्याज पर केन्द्रीय सरकार की गारन्टी होती है ।

(iii) **रिजर्व बैंक से उधार**—1982 के संशोधन के अनुसार निगम अब भारतीय रिजर्व बैंक से 18 महीने तक के लिए 15 करोड़ रुपये तक की रकम उधार ले सकता है ।

(iv) **जमाएँ**—अब निगम IDBI द्वारा स्वीकृत शर्तों पर कम से कम 12 महीनों की अवधि के बाद चुकाने की शर्त पर जमाएँ स्वीकार कर सकता है ।

(v) **केन्द्रीय सरकार से उधार**—निगम भारत सरकार से भी कर्ज ले सकता है । 30 जून, 1982 के अन्त में भारत सरकार से लिए गये ऋणों की बकाया राशि 8·40 करोड़ रुपये थी ।

(vi) **IDBI से उधार**—यह भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से भी उधार ले सकता है । 30 जून 1982 को IDBI से ली गई उधार की बकाया राशि 72·50 करोड़ रु० थी ।

(vii) **विदेशी मुद्रा**—निगम विदेशी मुद्रा में उधार लेने का अधिकारी है। ऐसे ऋणों पर भारत सरकार की गारण्टी होती है।

वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाली इकाइयाँ निजी क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र, सार्वजनक क्षेत्र एवं सहकारी क्षेत्र में थीं। सबसे अधिक सहायता निजी क्षेत्र को मिली है।

(viii) **संचित कोष**—निगम की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए विशेष संचित कोष बनाया गया है। इस कोष में रिजर्व बैंक, केन्द्रीय बैंक तथा सरकार द्वारा खरीदे गए अंशों का लाभांश जमा किया जाता है।

निगम के कार्यों की प्रगति

1. 30 जून 1982 को समाप्त होने वाले 34 वर्षों में इसने 1553·51 करोड़ रुपए की विशुद्ध वित्तीय सहायता स्वीकार की। वास्तविक वितरित की गई सहायता की राशि 1122·10 करोड़ रुपए थी। यह स्वीकृत राशि का 72·2% थी।

2. शुद्ध स्वीकृत सहायता का 36% कम विकसित राज्यों/क्षेत्रों जैसे, असम, बिहार, मध्य प्रदेश, मेघालय, उड़ीसा, राजस्थान व उत्तर प्रदेश आदि को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार निगम में सन्तुलित प्रादेशिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में भी योगदान दिया है। शुद्ध वित्तीय सहायता को राशि में सर्वाधिक राशि 17·3% महाराष्ट्र को स्वीकृत हुई थी। उत्तर प्रदेश को 10·6% व गुजरात को 10·1% राशि मंजूर की गई थी।

3. कुल स्वीकृत सहायता का 31·6% अंश आधारभूत उद्योगों को दिया गया जिसमें बेसिक मेटल उद्योग, बेसिक औद्योगिक रसायन, उर्वरक, सीमेण्ट, खनन, व विद्युत सृजन व वितरण शामिल है। पूँजीगत माल वाले उद्योगों जैसे मशीनरी, विद्युत मशीनरी, परिवहन उपकरण को 10·9% अंश स्वीकृत हुआ, मध्यवर्ती उद्योगों को 14·4% तथा उपभोक्ता माल के उद्योगों को जैसे चीनी, वस्त्र, कागज आदि को 41% एवं शेष 2·1% सेवा क्षेत्र में होटल-परियोजनाओं को स्वीकृत किया गया।

4. 34 वर्षों में कुल शुद्ध वित्तीय सहायता की राशि 1553·51 करोड़ रु० 1572 प्रोजेक्टों के लिए स्वीकृत की गई जिनमें कुल पूँजीगत परिव्यय की राशि लगभग 12693 करोड़ रु० आँकी गई है। 1981-82 में लाभांश की दर 7½% रही।

5. निगम ने एक जोखिम पूँजी प्रतिष्ठान (**Risk** Capital Foundation or R C F) जनवरी 1975 से चालू किया है जो नए उद्यम कर्त्ताओं को उदार शर्तों पर कर्ज देता है ताकि वे शेयर-पूँजी में संस्थापक का अंश दे सके। मार्च 1974 से निगम के द्वारा स्थापित प्रबन्ध-विकास-संस्थान (Management Development institute or M D I) व इसके प्रकोष्ठ विकास बैंकिंग केन्द्र (D B C) ने कई पाठ्यक्रम सम्पन्न किए हैं जिनमें प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं पर आवश्यक प्रशिक्षण दिया गया है।

आलोचना—निगम के गत वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निगम ने ऋणदाता के साथ-साथ एक विकसित बैंक का भी काम किया है। फिर समय-समय पर देश के अर्थशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों एवं उद्योगपतियों ने निगम की कार्य-प्रणाली की निम्न आलोचना की है—

1. **अविकसित क्षेत्रों की उपेक्षा**—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि निगम ने विकसित क्षेत्रों की अपेक्षा अविकसित क्षेत्रों को कम सहायता दी है।

2. **पक्षपातपूर्ण नीति**—निगम केवल उन संस्थाओं को सहायता प्रदान करता है जिसमें उनके संचालक किसी विशेष प्रकार की रुचि रखते हैं।

3. **केवल बड़े उद्योगों की सहायता**—निगम केवल बड़े-बड़े उद्योगों को ही सहायता देता है जिससे पूँजी के केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलता है।

4. **अल्प सहायता**—निगम द्वारा वित्त वर्षों में केवल 406 करोड़ रुपए की आर्थिक सहायता दी गई, जो देश की औद्योगिक आवश्यकता को देखते हुए कम है।

5. **ऊँची ब्याज दर**—निगम द्वारा ली गई ब्याज दर काफी ऊँची है, जिसके कारण बहुत ही कम कम्पनियाँ इससे ऋण लेने की इच्छुक रहती हैं।

6. **रूढ़िवादी कार्य प्रणाली**—निगम ने अपना कार्य रूढ़िवादी नीति से चलाया है और ऋण की इच्छुक कम्पनियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया है। छोटे-छोटे टेकनिकल कारणों पर आवेदन-पत्र रद्द कर देना उचित नहीं था।

7. **फिजूलखर्ची**—निगम के कार्यालय सम्बन्धी खर्च बहुत अधिक हैं।

8. निगम ने योजनाओं में निर्धारित प्राथमिकताओं के विपरीत उपभोक्ता पदार्थों को अधिक ऋण प्रदान किये हैं।

3. राज्य वित्त निगम
(State Financial Corporation)

स्थापना—प्रान्तीय स्तर पर छोटे एवं मध्यम आकार के उद्योगों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने 28 सितम्बर 1951 को राज्य अर्थ प्रबन्ध अधिनियम (State Financial Act) पास किया जिसके अनुसार राज्य सरकारों को अपने-अपने राज्य में अर्थ प्रबन्धन निगम स्थापित करने का अधिकार मिल गया। इस समय हमारे देश में 18 राज्य वित्त निगम कार्य कर रहे हैं।

निगम के कार्य—यह निगम निम्नलिखित कार्य कर सकता है—

1. औद्योगिक संस्थाओं के लिए अधिक से अधिक 20 वर्ष के लिए ऋण देना अथवा ऋणपत्रों को खरीदना।

2. औद्योगिक संस्थाओं के निर्गमित अंशों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन अधिक से अधिक 20 वर्षों के लिए करना।

3. औद्योगिक संस्थाओं द्वारा लिए गए ऋणों की गारण्टी देना।

(अ) अंश पूंजी—किसी भी राज्य वित्त निगम की अधिकृत पूँजी 50 लाख रुपए से कम और 5 करोड़ रुपए से अधिक नहीं हो सकती। जनता को निगम से अधिक से अधिक 25% अंश बेचे जा सकते हैं।

अभाव पाया जाता है तथा कुछ के पास कोज व्यर्थ पड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे निगमों को आपस में ऋणों का आदान-प्रदान करना चाहिए। उधार देने वाला निगम एक-दो वर्ष में अपने साधन बढ़ा सकता है। इस प्रकार यह व्यवस्था काफी सन्तोषप्रद सिद्ध हो सकती है।

3. **लाभांश वितरण की शर्त**—इन निगमों को लाभांश अनिवार्यत: बाँटना होता है जबकि कुछ निगम इस कार्य के लायक आय प्राप्त नहीं कर पाते। अत: कम से कम सहकारी व सरकारी ऐजेन्सियों से प्राप्त पूँजी पर लाभांश वितरण की शर्त हटा देनी चाहिए।

4. **मध्यम श्रेणी के उद्योगों को अधिक सहायता**—इन निगमों के माध्यम से मध्यम श्रेणी के उद्योगों को अधिक सहायता मिली है जैसे सूती वस्त्रोद्योग, बिजली की पूर्ति, तेल निकालने का उद्योग एवं चाय व रबड़ के बगान आदि। लघु उद्योगों को अपेक्षाकृत कम पूँजी उपलब्ध हो पाई है।

5. **अभिगोपन**—इन निगमों ने अभी तक अभिगोपन के कार्य में विशेष प्रगति नहीं की है अत: भविष्य में इस कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए।

6. **साधनों के अभाव की समस्या**—राज्य वित्त निगमों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या साधनों के अभाव की होती है। सरकार द्वारा IFCI, ICICI एवं कृषि पुनर्वित्त निगम को उदार शर्तों पर ऋण प्रदान किए हैं लेकिन राज्य वित्त निगमों को यह सुविधा बहुत कम सीमा तक मिल पाई है। यद्यपि IDBI ने इस कमी को दूर करने का प्रयास किया है।

4. भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
(Industrial Credit and Investment Corporation of India)

इस निगम की स्थापना विश्व बैंक के मिशन की सिफारिश पर की गई ताकि निजी क्षेत्र में लघु व मध्यम आकार के उद्योगों का विकास हो सके। यह निगम जनवरी 1955 में एक निजी सीमित कम्पनी के रूप में स्थापित किया गया।

2. **उद्देश्य**—निगम के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

(1) उपक्रमों के निर्माण, विस्तार एवं आधुनिकीकरण में आर्थिक सहायता देना;

(2) उपक्रमों में देश एवं विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना; तथा

(3) विनियोग विपणि को विस्तृत करने एवं औद्योगिक विनियोगों के व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहन देना।

3. **सहायता का स्वरूप**—निगम द्वारा प्रदत्त सहायता के निम्नलिखित स्वरूप हो सकते हैं :

(1) दीर्घकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण प्रदान करना, जो 15 वर्ष की अवधि के हो सकते हैं।

(2) निर्गमित अंश एवं ऋणपत्रों की बिक्री करना तथा उनका अभिगोपन करना;

(3) विदेशों से आयात की जाने वाली पूँजीगत वस्तुओं के लिए विदेशी मुद्रा में ऋण प्रदान करना;

(4) स्थगित भुगतान के आधार पर रुपयों में चुकाये जाने वाले ऋणों के लिए गारण्टी देना; तथा

(5) व्यक्तिगत उपक्रमों को प्रबन्ध सम्बन्धी तकनीकी एवं प्रशासनिक सलाह देना तथा इस हेतु उन्हें आवश्यक विशेषज्ञ प्रदान करना।

4. **आर्थिक साधन**—निगम की अधिकृत पूँजी 50 करोड़ रुपये है जो सौ-सौ रुपये के 50 लाख अंशों में विभाजित है।

अंश-पूँजी के अलावा निगम को अन्य विभिन्न सूत्रों से वित्तीय साधन जुटाने का अधिकार है। जनवरी 1982 में निगम के कुल वित्तीय साधन इस प्रकार थे :

निगम के वित्तीय संसाधन

वित्तीय साधन	राशि	कुल साधनों में अनुपात (प्रतिशत)
1. चुकता अंशपूँजी	27·00	2·36
2. संचित कोष	62·89	5·47
3. देशी ऋण	709·86	61·80
4. विदेशी ऋण	348·76	30·37
कुल	1148·51	100·00

निगम के कार्यों की प्रगति

प्रारम्भ से 31 दिसम्बर, 1982 तक की 27 वर्षीय अवधि में निगम ने अपने कार्यकाल में उद्योगों को कुल 2211·43 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता स्वीकृत की है तथा इसमें से 1618·76 करोड़ रुपये की सहायता वितरित की है। स्वीकृत एवं वितरित सहायता का स्वरूप नीचे तालिका में प्रदर्शित किया गया है—

तालिका

(राशि करोड़ रु०)

सहायता का स्वरूप	स्वीकृत सहायता	वितरित सहायता
1. ऋण	1972·89	1515·02
2. गारंटियाँ	36·99	0·27
3. विनियोग	201·55	103·47
कुल	2211·43	1618·76

तालिका से स्पष्ट है कि निगम द्वारा वितरित की गई आर्थिक सहायता कुल स्वीकृत सहायता का 73·20% है।

2. **उद्योगानुसार सहायता**—निगम के द्वारा स्वीकृत की जाने वाली वित्तीय सहायता सबसे अधिक मात्रा में मशीनरी सूती वस्त्र, धातु उद्योग, दवाइयाँ व रसायन उद्योग को मिली है जिनका प्रतिशत क्रमशः 13·0, 12·7, 9·5, 8·4 व 7·4 है। इसी प्रकार वितरित सहायता में सबसे बड़ा भाग सूती वस्त्र, मशीनरी, धातु, दवाई व रसायन को मिला है जिनका प्रतिशत क्रमशः 12·9, 12·1, 10·6, 7·8 व 7·5 है।

3. **राज्यानुसार सहायता**—इसी प्रकार निगम द्वारा स्वीकृत की जाने वाली वित्तीय सहायता का सबसे अधिक भाग महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक व उत्तर प्रदेश को मिला है जिनका प्रतिशत क्रमशः 28·7, 13·4, 9·1, 7·3 व 6·0 है। वितरित की जाने वाली वित्तीय सहायता का अनुपात भी इन्हीं राज्यों को ज्यादा मिला है।

4. निगम ने कई परियोजनाओं में पूँजी-विनियोग को प्रोत्साहन दिया है। यह पूँजी-बाजार का महत्वपूर्ण स्तम्भ रहा है। यह औद्योगिक उपक्रमों को विदेशी विनिमय प्रदान करने की दृष्टि से अग्रणी रहा है।

निगम ने पिछड़े क्षेत्रों में विकास सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए—(अ) तकनीकी आर्थिक सर्वेक्षण, (ब) योग्य प्रायोजनाओं का सम्भाव्यता अध्ययन, (स) प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित किए हैं। इस कार्य हेतु निगम ने बम्बई कार्यालय में पृथक् से एक प्रायोजना प्रवर्तन एवं विकास विभाग खोला है।

भारतीय औद्योगिक वित्त की वर्तमान विषम परिस्थिति में हम यह आशा कर सकते हैं कि सरकार तथा वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से यह निगम अपने उद्देश्य में सफल होगा।

5. यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया
(Unit Trust of India)

भारत के सामान्य विनियोजकों को उद्योगों में धन लगाने की सुविधा प्रदान करने के लिए, 1 फरवरी 1964 को यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया की स्थापना की गई।

यूनिट ट्रस्ट की प्रारम्भिक पूँजी 5 करोड़ रुपये है, जिसमें 25 करोड़ रुपए रिजर्व बैंक, 75 लाख रुपए जीवन बीमा तथा 75 लाख रुपये स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंक तथा शेष 1 करोड़ की पूँजी अनुसूचित बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा खरीदी गई है।

उद्देश्य—यूनिट ट्रस्ट के दो प्राथमिक उद्देश्य हैं—

1. मध्यम तथा निम्न आय वर्ग की बचत को प्रोत्साहित करना और फिर इन बचतों को एकत्र करना।

2. देश के तीव्र औद्योगिक विकास के लाभों में उन्हें भी भाग लेने के योग्य बनाना।

3. **प्रबन्ध (Management)**—ट्रस्ट के कार्यों का प्रबन्ध एवं सामान्य निर्देशन ट्रस्ट मण्डल द्वारा होता है। इसके अध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को है। चार अन्य ट्रस्टी (जिन्हें वाणिज्य, उद्योग, बैंकिंग एवं अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होता है) की नियुक्ति भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा की जाती है। इसी प्रकार एक-एक ट्रस्टी की नियुक्ति 'जीवन बीमा निगम' तथा 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' द्वारा तथा दो ट्रस्टियों की नियुक्ति अनुसूचित बैंकों व अन्य संस्थाओं द्वारा की जाती है। उपर्युक्त सदस्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक एक अधिशासी ट्रस्टी (Executive Trustee) भी नियुक्त करता है।

4. **विनियोजन नीति (Investment Policy)**—पूँजी विनियोजन हेतु ट्रस्ट की नीति स्थापित किये गये उद्देश्यों के अनुरूप है। इस सम्बन्ध में मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं :

1. यह किसी एक कम्पनी में अपनी कुल विनियोजन योग्य निधि के 5% अथवा उस कम्पनी द्वारा जारी की गयी और बकाया (outstanding) प्रतिभूतियों के 10% (जो भी कम हो) से अधिक धन का विनियोग नहीं कर सकता।

2. नये उद्योगों द्वारा निर्गमित प्रारम्भिक प्रतिभूतियों में विनियोजन योग्य निधि के 5% से अधिक धन जमा नहीं कर सकता।

5. **यूनिटों की बिक्री की योजना**—भारतीय यूनिट ट्रस्ट विभिन्न प्रकार के उद्यमियों की विशिष्ट निवेश आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समय-समय पर विभिन्न योजनाएँ लागू करता है। वर्तमान में चल रही ऐसी आठ योजनाएँ हैं : (1) यूनिट योजना, 1964; (2) पुनर्निवेश योजना, 1966; (3) बाल उपहार योजना, 1970; (4) यूनिटबद्ध बीमा योजना, 1971; (5) दातव्य तथा धार्मिक न्यासों तथा पंजीकृत सोसायटियों (सी० आर० टी० एस०) के लिए यूनिट योजना; (6) आय यूनिट योजना, 1982; (7) मासिक आय यूनिट योजना 1981 तथा 1983; (8) वृद्धि तथा आय यूनिट योजना, 1983।

6. **कार्य की प्रगति**—30 जून, 1983 को ट्रस्ट ने अपने व्यवसाय के 18 वर्ष पूरे कर लिए। गत वर्ष जमा, यूनिट धारक, विनियोग योग्य धन, आय, लाभांश व कोष-हस्तांतरण राशि आदि सभी क्षेत्रों में ट्रस्ट के द्वारा नये कीर्तिमान स्थापित किये गये थे और यह सुखद आश्चर्य का विषय है कि अभी हाल ही में समाप्त हुए वर्ष (1 जुलाई, 1982-30 जून, 1983) के दौरान ट्रस्ट ने अभूतपूर्व उपलब्धियाँ दर्ज करते हुए गत वर्ष के भी सभी कीर्तिमानों को पीछे छोड़ दिया।

नीचे सारणी में ट्रस्ट द्वारा सभी योजनाओं में यूनिटों का विक्रय व पुनर्क्रय दर्शाया गया है जिसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वर्ष 1982-83 के दौरान जो 168 करोड़ रुपये के यूनिटों की बिक्री हुई, वह गत दशक के प्रारंभिक 7 वर्षों (1970-71 से 1976-77) के कुल विक्रय से भी अधिक है। वास्तव में ट्रस्ट के

लिए यह एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है। लेकिन 'कुल विक्रय का पुनर्क्रय प्रतिशत' घटता-बढ़ता रहा है—1974-75 में तो कुल विक्रय का 119% पुनः क्रय किया गया—अतः इसमें कमी लाने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। तालिका से यह भी विदित होता है कि किसी एक वर्ष में 2 लाख यूनिट-धारकों की वृद्धि केवल वर्ष 1982-83 में ही दर्ज की गई है।

यूनिटों का विक्रय एवं पुनर्क्रय (सभी योजनाओं में)

(धनराशि करोड़ रु० में)

वर्ष (जुलाई-जून)	खातेदारों की संख्या (लाख में)	कुल विक्रय (पुस्तक-मूल्य)	कुल पुनर्क्रय (पुस्तक-मूल्य)	कुल विक्रय का पुनर्क्रय प्रतिशत
1970-71	3·84	18·0	3·2	17·77
1971-72	4·35	15·1	2·6	17·21
1972-73	5·08	23·2	3·0	12·93
1973-74	5·97	30·6	3·7	12·09
1974-75	6·01	17·2	20·4	118·60
1975-76	6·37	29·0	11·0	37·93
1976-77	6·81	34·6	8·0	23·12
1977-78	7·70	73·3	11·2	15·27
1978-79	9·04	101·5	9·6	9·45
1979-80	9·86	57·9	4·4	24·87
1980-81	10·50	52·1	7·6	33·78
1981-82	12·00	157·4	27·3	17·34
1982-83*	14·00	168·0	अप्राप्य	—

* अस्थाई आँकड़े

2. 30 जून, 1983 को ट्रस्ट के कुल विनियोज्य कोष 875 करोड़ रुपयों के थे। यूनिट ट्रस्ट ने अपने कोष सुदृढ़ संस्थाओं में लगाये हैं। ये संस्थाएँ वित्तीय, सार्वजनिक सेवा व निर्माण-उपक्रमों में संलग्न हैं।

3. वर्ष 1979-80 से ट्रस्ट के द्वारा अपनी विभिन्न योजनाओं के यूनिटों पर निरंतर बढ़ती हुई दर से लाभांश दिया गया है। वर्ष 1982-83 में भी इसी प्रवृत्ति को बनाए रखते हुए यूनिट योजना, 1964 के अन्तर्गत 13·5% (गत वर्ष 12·5%), यूनिट बीमा योजना, 1971 के लिए 10·5% (गत वर्ष 9·5%) और दान एवं धार्मिक ट्रस्ट योजना, 1981 के लिए 12·75% (गत वर्ष 12·50 प्रतिशत) लाभांश घोषित किया गया। उच्च दर से लाभांश देने के अतिरिक्त 24 करोड़ रुपये की विशाल राशि

विभिन्न कोषों एवं निधियों में हस्तांतरित की गई जिससे ट्रस्ट की वित्तीय स्थिति में और सुदृढ़ता आ गई।

भविष्य के लिए सुझाव

गत कई वर्षों की निरन्तर प्रगति से प्रभावित होकर ट्रस्ट ने वर्ष 1983-84 के लिए 200 करोड़ रुपये के बचत संग्रह का लक्ष्य रखा है और आशा प्रकट की है कि विनियोजन योग्य कोष 1,000 करोड़ रुपये की सम्मानित सीमा को पार कर जायेगा। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए निम्न प्रमुख सुझाव दिये जा सकते हैं—

1. ट्रस्ट को चाहिए कि वह जीवन बीमा निगम की भाँति पूर्णकालीन एजेन्टों की नियुक्ति करके उन्हें प्रशिक्षित करे।

2. ग्रामीण एजेन्टों, ग्राम-प्रधानों व विज्ञापनों की सहायता से ट्रस्ट की बचत-योजना को गाँवों तक पहुँचाया जाना चाहिए।

3. वर्तमान समय में ट्रस्ट 4 क्षेत्रीय कार्यालयों (बम्बई, कलकत्ता, मद्रास एवं नई दिल्ली) तथा 3 उप-कार्यालयों (लुधियाना, त्रिचुर एवं विजयवाड़ा) की सहायता से कार्य कर रहा है। व्यवसाय एवं ग्राहकों की संख्या में वृद्धि को देखते हुए ट्रस्ट के द्वारा कुछ और उप-कार्यालय विशेषतः राज्यों की राजधानियों में—खोलने पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

4. अधिक से अधिक बचतकर्त्ता अधिक से अधिक समय तक यूनिटों को अपने पास रखें, इस हेतु ऐसे यूनिटधारकों को लाटरी पद्धति से पुरस्कृत करने की योजना आरम्भ की जानी चाहिए जो यूनिटों को 2 या अधिक वर्षों तक अपने पास रखे रहें।

5. विनियोजकों की अभिरुचि के अनुकूल विभिन्न प्रकार की यूनिट योजनाएँ बनानी चाहिए।

6. सरकार को, ट्रस्ट को ब्याज-मुक्त ऋण विपुल मात्रा में देना चाहिए, ताकि वह आकस्मिकताओं का लाभ उठा सके।

7. अन्य वित्त संस्थाओं के सहयोग से ट्रस्ट को जनता की विनियोग सम्बन्धी आदतों का अध्ययन करना चाहिए।

अन्ततोगत्वा ट्रस्ट की भावी सफलता निम्न मध्यवर्गीय विनियोजकों के निरन्तर समर्थन पर ही निर्भर रहेगी।

परीक्षा-प्रश्न

1. आधुनिक उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं को संक्षेप में समझाइए। भारतीय उद्योगों की वित्तीय सहायता के लिए कौन-सी विभिन्न संस्थाएँ हैं ?

2. भारत सरकार ने सन् 1974 के पश्चात् जो साख तथा वित्तीय सुविधाएँ भारतीय उद्योगों के लिए खोली हैं, उनका उल्लेख कीजिए।

अथवा

भारतीय औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम के कार्यों का वर्णन कीजिए।

3. भारत के औद्योगिक वित्त निगम के संविधान तथा उनकी कार्यविधि को समझाइए। इसकी श्रेष्ठ कार्यविधि के लिए सुझाव दीजिए।

[संकेत—औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना एवं उसकी कार्य-प्रणाली का वर्णन देते हुए सुझाव दीजिए ।]

4. भारत में योजनाकाल में स्थापित औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न संस्थाओं के नाम बताइए । औद्योगिक विकास बैंक के उद्देश्यों एवं कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

[संकेत—औद्योगिक वित्त की विभिन्न संस्थाओं के नामों बताते हुए औद्योगिक विकास बैंक के उद्देश्य व कार्यों का वर्णन कीजिए ।]

5. भारत में उद्योगों के लिए संस्थागत वित्त व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिये ।

[संकेत—इसमें विभिन्न वित्त संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण देना है ।

26

भारत की तट-कर अथवा प्रशुल्क नीति

(India's Tariff or Fiscal Policy)

किसी देश के आयात व निर्यात पर लगाये जाने वाले करों से सम्बन्धित नीति को तट-कर नीति अथवा प्रशुल्क नीति कहते हैं। प्रशुल्क करों में प्राय: आयात करों की ही प्रधानता होती है, यद्यपि समय-समय पर निर्यात कर भी लगाये जाते हैं। आयात करों को लगाने के दो उद्देश्य हो सकते हैं—(क) सरकार के लिए आय प्राप्त करना, (ख) घरेलू उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करना।

ऐतिहासिक विकास

भारत की दूसरे महायुद्ध से पूर्व की तट-कर नीति—भारत सरकार की प्रशुल्क नीति प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक व्यापार में हस्तक्षेप न करने की थी। अर्थात् व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था और स्वतन्त्र व्यापार ही पूर्णरूप से चल रहा था। परन्तु युद्धकाल और युद्धोत्तरकाल में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण स्वतन्त्र व्यापार नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। ये परिवर्तन इस प्रकार थे—

(1) युद्ध के समय में भारत सरकार ने अपनी बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आयात-कर में वृद्धि की, परन्तु उत्पादन कर में वृद्धि नहीं की। इससे भारतीय उद्योगों को कुछ अंशों में प्रोत्साहन मिला, फिर भी पर्याप्त औद्योगिक विकास न होने से शासकों को युद्ध-संचालन में कई कठिनाइयाँ प्रतीत हुईं और उन्हें स्वतन्त्र व्यापार-नीति की कमियाँ दिखाई देने लगीं।

(2) सन् 1916 के औद्योगिक आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि "भारत के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भाग लेना चाहिए जिसे भारत मनुष्य एवं सामग्री की दृष्टि से आत्म-निर्भर हो सके।"

(3) इन दिनों स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अंग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति की बड़ी निन्दा होने लगी। भारतीयों ने उन देशों का अनुकरण करना चाहा, जिनकी औद्योगिक प्रगति संरक्षण नीति के द्वारा हुई थी।

उपर्युक्त कारण से भारत में प्रशुल्क-नीति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में संसद में विचार किया जाने लगा। सन् 1917 में इंगलैण्ड की संसद ने यह स्वीकार किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ प्रशुल्क नीति निर्णय में भी भारत को

स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। सन् 1919 के राजकोषीय स्वतन्त्रता प्रस्ताव (Fiscal Autonomy Convention) में भी यह निर्णय हुआ कि भारत के आर्थिक मामलों में भारत सचिव हस्तक्षेप नहीं करेगा। यही ऐतिहासिक प्रशुल्क स्वतन्त्रता प्रस्ताव ऐतिहासिक माना जाता है और यहीं से भारतीय प्रशुल्क नीति की नींव पड़ती है।

विभेदात्मक संरक्षण की नीति
(The Policy of Discriminating Protection)

प्रशुल्क आयोग, सन् 1921 फरवरी सन् 1921 में संसद ने प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया तथा प्रशुल्क नीति पर विचार करने के लिए एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया। इस प्रशुल्क आयोग के अध्यक्ष, इब्राहीम रहमत उल्ला थे। इसके सम्मुख मुख्य रूप में दो प्रश्न रखे गये—

(अ) भारत सरकार की प्रशुल्क नीति का अध्ययन करें, तथा

(ब) साम्राज्य के पक्षपात (Imperial Preference) सिद्धान्त के औचित्य पर विचार करें और तदुपरान्त अपने सुझाव दें।

आयोग की सिफारिशें—इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् 1922 में प्रस्तुत की, जिसमें भारतीय उद्योगों को विभेदात्मक संरक्षण दिये जाने की नीति की सिफारिश की थी। विभेदात्मक संरक्षण की नीति से अभिप्राय यह था कि सभी उद्योगों को बिना सोचे-समझे संरक्षण नहीं देना चाहिए, बल्कि संरक्षण केवल उन्हीं उद्योगों को दिया जाना चाहिए जो तीन शर्तों को पूरा करते हैं—

(अ) **नैसर्गिक लाभ**—उद्योग को प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये, जैसे कच्चे माल की प्राप्ति, सस्ती शक्ति आदि।

(ब) **संरक्षण की अनिवार्यता**—उद्योग ऐसा होना चाहिए कि जिसका विकास बिना संरक्षण के सम्भव नहीं है, परन्तु जिनका विकास देश के हित में अत्यन्त आवश्यक है।

(स) **अस्थायी संरक्षण**—उद्योग ऐसा होना चाहिये जो अन्ततः बिना संरक्षण के विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

आयोग की अन्य सिफारिशें—इस आयोग ने उक्त तीनों शर्तों के अलावा, कुछ अन्य शर्तों का भी सुझाव दिया था, जिसमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) आधारभूत उद्योगों तथा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को संरक्षण अवश्य मिलना चाहिए।

(2) उद्योग इस प्रकार का हो जो कम कीमत पर अधिक मात्रा में उत्पादन कर सके।

(3) उद्योग ऐसा होना चाहिए कि वह निश्चित समय में देश की समूची आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

(4) एक प्रशुल्क-मण्डल (Tariff Board) का संगठन होना चाहिये, जो संरक्षण के लिये प्रार्थी उद्योगों की आवश्यक जाँच कर संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह दे सके।

विभेदात्मक संरक्षण की सफलताएँ—सन् 1923 में भारत में सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और सन् 1924 में प्रथम प्रशुल्क मंडल की स्थापना कर दी गई। यद्यपि विभेदात्मक संरक्षण की नीति बहुत लाभदायक नहीं थी, फिर भी विदेशी सरकार द्वारा इस नीति को अपनाया जाना एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस नीति की मुख्य-मुख्य उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) औद्योगिक विकास—इस नीति के परिणामस्वरूप देश के औद्योगिक विकास को काफी प्रोत्साहन मिला। इस नीति के अधीन भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग तथा कृत्रिम रेशा उद्योग को क्रमश: 1924, 1925, 1926, 1932 और 1934 में संरक्षण दिया गया और इन उद्योगों ने काफी प्रगति की।

सन् 1922-29 से सत्रह वर्षों की अवधि में लोहा-इस्पात का उत्पादन आठ गुना व सूती वस्त्रों का ढाई गुना हो गया। दियासलाई का उत्पादन 38% तथा कागज का 18% बढ़ गया। चीनी का उत्पादन सन् 1922 में केवल 24,000 टन था जो 1938 में बढ़कर 9,31,000 टन हो गया।

(ब) सहायक उद्योगों का विकास—इस नीति के अन्तर्गत उपर्युक्त संरक्षित उद्योगों पर निर्भर कुछ नये उद्योग स्थापित हुए, जैसे—

(i) लौह एवं इस्पात उद्योगों के विकास से टिन-प्लेट, तार एवं कृषि औजार उद्योगों को बढ़ावा मिला।

(ii) सूती-वस्त्र-उद्योग ने केवल स्टार्च उद्योगों को विकसित किया।

(iii) कागज उद्योग के कारण सैलूलोज (Cellulose) उद्योग उन्नत हुआ।

(स) रोजगार मे वृद्धि—संरक्षण-नीति के कारण देश में रोजगार की मात्रा में वृद्धि हुई। सन् 1923 से 1937 तक संरक्षित उद्योगों में रोजगार लगभग ड्योढ़ा हो गया।

(द) मन्दी का कम प्रभाव—जैसा कि विदित है, सन् 1930 में विश्व-व्यापी मन्दी आयी और इसके परिणामस्वरूप जब अन्य उद्योग, जिन्हें संरक्षण का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था, घोर मन्दी की ज्वाला से झुलसते चले जा रहे थे, तब संरक्षित उद्योग अपना विकास कर रहे थे। मन्दी काल में भी उत्पादन में वृद्धि होना, विभेदात्मक संरक्षण नीति की सफलता का पर्याप्त प्रमाण है।

(य) कच्चे माल का उत्पादन बढ़ा—सूती कपड़े तथा चीनी उद्योग को संरक्षण प्राप्त होने के कारण गन्ना और कपास के उत्पादन में वृद्धि हुई क्योंकि कच्चे माल की माँग बढ़ गई थी। इन दोनों वस्तुओं की किस्म में भी सुधार हुआ।

विभेदात्मक संरक्षण-नीति की आलोचना—यद्यपि इस नीति से देश के कुछ उद्योग-धन्धों को विशेष लाभ हुआ, तथापि यह नीति पूर्णत: दोषमुक्त नहीं थी। इस नीति के मुख्य-मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—

(1) असन्तुलित विकास (Lopsiaed development)—संरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का साधन मानकर केवल विशेष उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया गया। इससे देश का औद्योगिक विकास असंतुलित रहा।

(2) **कड़ी शर्तें**—त्रिसूत्रीय सिद्धान्त को बहुत कड़ाई के साथ लागू किया गया, जैसे कच्चे माल की कमी बताकर काँच उद्योग को संरक्षण नहीं दिया गया। इस प्रकार केवल विस्तृत घरेलू बाजार पर ही ध्यान दिया गया और निर्यात की संभावनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया। इसीलिए, इंजन उद्योग (Locomotive Industry) को संरक्षण नहीं मिला।

(3) **नये उद्योगों की उपेक्षा**—विभेदात्मक संरक्षण की नीति केवल चालू उद्योगों पर ही लागू की गई। ऐसे उद्योग जो अभी अंकुरित ही हुए थे, वे इससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सके।

(4) **प्रशुल्क बोर्ड का अस्थायी गठन और उसके सीमित अधिकार**—वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार केवल अस्थायी प्रशुल्क बोर्डों की स्थापना की गई, जिससे प्रशुल्क नीति में नियमितता और समानता नहीं आ सकी और संचित अनुभव का उपयोग नहीं हो सका। बोर्ड के अधिकार भी सीमित थे।

(5) **अन्य दोष**—

(i) संरक्षण-नीति के कार्यान्वित करने में बहुत समय लगता था।

(ii) इस नीति के कारण अनावश्यक करों की भरमार हो गई और करदाता पर जितना करभार लद गया उतना उसे लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

(iii) सिद्धान्त रूप में भारत प्रशुल्क नीति में स्वतन्त्र था, किन्तु व्यवहार में भारत को पूर्णतः विदेशी शासकों पर निर्भर रहना पड़ता था।

(iv) औद्योगिक शिक्षा और अनुसंधान की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

विभेदात्मक संरक्षण नीति के ये सब दोष देखते हुए कहा गया, "विभेद था, संरक्षण नहीं था।" (All discrimination on protection, प्रो० बी० पी० अदारकर के शब्दों में, "इसमें उद्योगों को बड़ी ही अनिच्छा और उदासीनता से अपूर्ण सहायता दी और उन्हें प्रायः अपने पैरों पर ही रहना पड़ा।"

निष्कर्ष—उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी विभेदात्मक संरक्षण करते समय यह औद्योगिक विकास में सहायता मिली। संरक्षण नीति की आलोचना करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि उस समय भारत परतन्त्र था और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक नियोजन सम्भव नहीं होता था। अतः विभेदात्मक संरक्षण केवल दो परस्पर विरोधी विचारों का समायोजन था और इसका उद्देश्य केवल यह था कि विदेशी हितों की रक्षा की जा सके तथा भारत को कुछ उत्तरदायित्व एवं सम्मान प्राप्त हो सके। अतः विभेदात्मक संरक्षण-नीति का उचित मूल्यांकन करने के लिये उपर्युक्त पृष्ठभूमि को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

युद्ध एवं युद्धोत्तरकाल में प्रशुल्क नीति
(War and post-war Tariff policy)

विभेदात्मक संरक्षण नीति द्वितीय महायुद्ध तक चलती रही। युद्धकाल में आयात-नियन्त्रण के कारण संरक्षण देने की आवश्यकता नहीं हुई, लेकिन युद्ध के पहले

जिन उद्योगों को संरक्षण दे दिया गया, वह चालू रहा। युद्ध से नये उद्योगों की स्थापना की प्रेरणा मिली और सरकार ने सन् 1940 में पुनः घोषणा की जो उद्योग दृढ़ व्यापारिक नीति का पालन करेंगे उन्हें संरक्षण प्रदान किया जायेगा। इससे भारत में टैरिफ संरक्षण का क्षेत्र विस्तृत हो गया। लेकिन, क्योंकि एक दीर्घकालीन टैरिफ नीति का निर्माण तथा एक स्थायी मशीनरी की व्यवस्था करने में बहुत देर लग जाती है, इसीलिए भारत सरकार ने 3 नवम्बर, सन् 1945 ई० को एक अन्तरिम प्रशुल्क बोर्ड (InterimTariff Board), युद्धकाल में स्थापित हुए उद्योगों संरक्षण देने के दावों की जाँच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया।

संरक्षण के लिए चुनाव करते समय अन्तरिम बोर्ड ने निम्न बातों पर विशेष ध्यान दिया—

(अ) उद्योग उचित व्यापारिक ढंग पर चलाया जा रहा है या नहीं।

(ब) उद्योग उचित समय के भीतर पर्याप्त विकास कर सकेगा या नहीं, जिससे संरक्षण के बिना भी कार्य चल सके।

(स) उद्योग को सहायता देना राष्ट्रीय हित में होगा या नहीं।

इस बोर्ड ने मार्च सन् 1949 से अगस्त सन् 1947 तक लगभग 42 उद्योगों के दावों की जाँच की।

पुनर्गठित प्रशुल्क बोर्ड—(1947 ई०) देश के विभाजन के पश्चात् नवम्बर, सन् 1947 में उपर्युक्त प्रशुल्क बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया। इसका कार्यकाल 3 वर्ष का रखा गया। अन्तरिम प्रशुल्क के कार्यों के अतिरिक्त, इसे निम्न कार्य और दिये गये—

1. आवश्यकता पड़ने पर सरकार को यह बताना कि आयात की कई वस्तुओं की अपेक्षा संरक्षण प्राप्त वस्तुओं की लागत क्यों तथा किस समय से बढ़ रही है?

2. सरकार को ऐसे उपाय बताना जिनसे आन्तरिक संरक्षण कम से कम व्यय करके दिया जा सके।

3. संरक्षित उद्योगों की प्रगति पर निरन्तर निगाह रखना।

पुनर्गठित प्रशुल्क बोर्ड के कार्य-कलापों की विशेषताएँ—

1. बोर्ड ने इस्पात, वस्त्र, कागज, सुपरफासफेट, लोहे की चद्दर इत्यादि उद्योगों की लागत व्यय एवं बिक्री मूल्य की छानबीन की।

2. संरक्षण देते के लिए मूल्यानुसार-कर और परिणाम-कर, दोनों ही का उपयोग किया गया।

3. इस अवधि में जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया, उनमें अल्यूमिनियम, एण्टीमनी, कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, सोडा, ऐश, साइकिल, सिलाई की मशीन क्लोराइड आदि प्रमुख हैं।

4. बोर्ड ने सूती कपड़ा व सूत, इस्पात, कागज तथा चीनी उद्योग पर से संरक्षण हटाने का सुझाव दिया, फलस्वरूप इन उद्योगों पर से संरक्षण हटा लिया गया।

5. बोर्ड ने न केवल आयात करों द्वारा, वरन् आर्थिक सहायता तथा अन्य सरकारी मदद के द्वारा संरक्षण देने का सुझाव दिया।

भारत की नवीन तट-कर नीति

अथवा

भारत की वर्तमान तट-कर नीति

भारत की वर्तमान प्रशुल्क-नीति, प्रशुल्क आयोग (1949-50) ने निर्धारित की थी। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद अप्रैल, सन् 1948 में औद्योगिक नीति का प्रस्ताव रखा गया, जिसमें सरकार की प्रशुल्क नीति के बारे में कहा गया कि सरकार अनुचित विदेशी प्रतियोगिता रोकेगी और उपभोक्ताओं पर अनुचित बोझ डाले बिना आर्थिक साधनों का उपयोग करने में मदद देगी। अतः, अप्रैल सन् 1949 में एक प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गई, जिसको बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रख कर सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। श्री टी० टी० कृष्णमाचारी इस आयोग के अध्यक्ष थे। इसे द्वितीय प्रशुल्क आयोग भी कहते हैं।

आयोग को निम्नलिखित विषयों पर सिफारिशें प्रस्तुत करनी थीं—

(i) संरक्षण के विषय में सरकार की भावी नीति क्या होगी तथा जिन उद्योगों को संरक्षण दिया जाय उनके क्या उत्तरदायित्व होंगे।

(ii) नवीन प्रशुल्क नीति को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार के संगठन की आवश्यकता होगी।

(iii) इस नीति को प्रभावशाली बनाने वाली कोई अन्य बात।

आयोग ने जुलाई, सन् 1950 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने सरकारी नीति को ध्यान में रखकर यह मान लिया था कि भारत में योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था होगी। इस आधार पर आयोग ने अपनी सिफारिशें की हैं।

प्रशुल्क आयोग की सिफारिशें (नई प्रशुल्क नीति की विशेषताएँ)—प्रशुल्क आयोग ने उद्योगों द्वारा प्रस्तुत आवेदन-पत्रों की जाँच करने तथा उन्हें संरक्षण और सहायता देने के लिए कुछ सिद्धान्त बनाये। इन सिद्धान्तों के अनुसार उद्योगों को तीन भागों में बाँटा गया—

1. **सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—इस वर्ग के उद्योगों को उनके राष्ट्रीय महत्त्व को ध्यान में रखते हुए संरक्षण दिया जाना चाहिये, चाहे इस संरक्षण अथवा सहायता का भार कितना ही हो।

2. **आधारभूत तथा मूल उद्योग**—इस श्रेणी के उद्योगों को भी संरक्षण दिया जाना चाहिये। संरक्षण की प्रकृति, मात्रा तथा शर्तों का निश्चय प्रशुल्क बोर्ड द्वारा किया जाना चाहिए।

3. **अन्य उद्योग**—अन्य उद्योगों को संरक्षण देने के लिए दो बातों पर विचार किया जाना चाहिए—

(अ) वास्तविक व सम्भाव्य लागत का, जिससे उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

(ब) समाज पर उनका भार अत्यधिक नहीं पड़ना चाहिये ।

संरक्षण की शर्तें—आयोग ने संरक्षण के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर जोर दिया, जो इस प्रकार हैं—

1. **कच्चे माल की उपलब्धि**—संरक्षण देते समय कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता पर जोर नहीं देना चाहिए । यदि उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ, जैसे आंतरिक्त बाजार तथा श्रम की प्राप्ति हो, तो संरक्षण दिया जा सकता है ।

2. **भावी निर्यात की संभावनाएँ**—संरक्षण देते समय भावी निर्यात की सम्भावनाओं पर भी ध्यान देना चाहिए ।

3. **घरेलू माँग-पूर्ति की क्षमता**—किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि वह सम्पूर्ण देशी माँग की पूर्ति करेगा ।

4. **क्षतिपूरक संरक्षण**—संरक्षित उद्योगों द्वारा तैयार किये गये माल की, कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करने वाले उद्योगों को क्षतिपूरक संरक्षण (Compensating Protection) दिया जाना चाहिए ।

5. **कृषि संरक्षण**—राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-पदार्थों को भी संरक्षण दिया जाना चाहिए, परन्तु संरक्षण की अवधि 5 वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए ।

6. **नये उद्योग को संरक्षण**—ऐसे नये उद्योगों को भी संरक्षण दिया जाय, जिनमें भारी पूँजी लगानी होती है, लेकिन विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय बना रहता है ।

7. **उत्पादन कर**—संरक्षित उद्योगों पर यथासम्भव सरकार को उत्पादन कर (Excise duties) नहीं लगाना चाहिये ।

8. **विकास निधि**—संरक्षण करों से प्राप्त होने वाली आय के कुछ अंश को प्रति वर्ष एक विकास-कोष (Development Fund) में जमा करना चाहिए । इस निधि से उद्योगों को आर्थिक सहायता दी जा सकती है ।

संरक्षित उद्योगों के कर्त्तव्य—उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की दृष्टि से आयोग ने संरक्षित उद्योगों के लिए कुछ विशेष दायित्वों का भी उल्लेख किया, जो इस प्रकार हैं—

(अ) संरक्षित उद्योगों को अपने उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढ़ाते रहना चाहिये ।

(ब) वस्तु की किस्म, निश्चित किये गये नमूने के अनुसार होनी चाहिए ।

(स) उद्योगों की नवीनतन मशीनों व पद्धतियों का प्रयोग करना चाहिए ।

(द) संरक्षण प्राप्त उद्योगों में शोधकार्य व टेकनीकल शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए ।

(य) जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय कच्चे माल का ही प्रयोग करना चाहिए ।

(र) संरक्षित उद्योगों द्वारा समाज विरोधी नीतियों को नहीं अपनाया जाना चाहिए ।

स्थायी प्रशुल्क आयोग—इस आयोग ने एक प्रशुल्क-आयोग (Tariff Com-

mission) की स्थापना की सिफारिश की। प्रशुल्क आयोग एक स्थायी संस्था होगी जो अर्द्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) आधार पर कार्य करेगी।

प्रशुल्क आयोग
(Tariff Commission)

भारत सरकार ने तट-कर आयोग की लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर लीं और उन्हें कार्यरूप देने के लिए सन् 1952 में एक स्थायी प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया गया।

प्रशुल्क आयोग के कार्य—

1. किसी उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण मंजूर करना।
2. आयात-निर्यात कर एवं अन्य करों में परिवर्तन प्रस्तावित करना।
3. राशिपातन के विरुद्ध कार्यवाही एवं संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण के दुरुपयोग की जाँच करना।
4. जीवन-स्तर तथा सामान्य मूल-स्तर पर संरक्षण का प्रभाव देखना।
5. संरक्षण से उत्पन्न होने वाले अन्य प्रश्नों पर विचार करना।

प्रशुल्क आयोग के कार्यकलापों का विवरण— (नयी संरक्षण नीति की कार्यशीलता)—प्रशुल्क आयोग देश के उद्योग-धन्धों के विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। इसने बहुत-सी जाँच-पड़ताल करके उचित सिफारिशें की हैं।

आयोग की सिफारिशों पर जिन उद्योगों को पहली बार संरक्षण मिला है, उनमें निम्न महत्वपूर्ण उद्योग सम्मिलित हैं—आटोमोबाइल्स एवं तत्सम्बन्धी पुर्जे, बाल बियरिंग, आटोमोबाइल हैंड टायर इन्फलेटर्स, शक्ति और वितरण परिवर्तक, टिटेनियम डायोक्साइड, रंग, कास्टिक सोडा, रंग उड़ाने का चूर्ण आदि।

सरकार ने आयोग की यह सिफारिश स्वीकार कर ली है कि अल्युमिनियम और रङ्ग सामग्री के उद्योगों का संरक्षण 31 दिसम्बर, सन् 1971 तक बढ़ाया जाय और रङ्ग बनाने के काम आने वाली 50 मध्यवर्ती वस्तुओं को भी संरक्षण दिया जाय।

राव समिति की रिपोर्ट—डॉ० वी० के० आर० वी० राव की अध्यक्षता में तट-कर आयोग के काम के बारे में समीक्षा करने के लिए जो समिति बनाई गई थी, उस समिति की सिफारिशों के बारे में सरकार ने निर्णय ले लिए हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय निम्नलिखित प्रकार हैं—

(i) जिन उद्योगों पर से संरक्षण हटा लिया गया है, उसके दो-तीन वर्ष बाद उनकी स्थिति की समीक्षा नियमित रूप से होनी चाहिए।

(ii) वैधानिक मूल्य नियन्त्रण (Statutory Price Control) लागू करने के लिए मूल्यों की जांच का काम आमतौर पर प्रशुल्क आयोग को सौंपा जाना चाहिए।

(iii) आयोग को किसी उद्योग की जाँच करते समय यह पता लगाना चाहिए कि उद्योग की लागत अधिक क्यों है और उसे कम करने के लिए क्या उपाय अपनाये

जा सकते हैं ।

प्रशुल्क या तट-कर पुनर्विचार समिति—इस समिति की तीसरी और अन्तिम रिपोर्ट 28 फरवरी, सन् 1978 को प्रस्तुत की गई । इसकी मुख्य सिफारिशें निम्न थीं—

(i) आयात व्यापार नियन्त्रण अनुसूची, मुख्य मदों के संशोधित सीमा-शुल्क तट-कर पर आधारित होनी चाहिए ।

(ii) नये उपशीर्षक खोलते समय 'परिशोधित भारतीय व्यापार वर्गीकरण' को ध्यान में रखना चाहिए ।

(iii) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, सीमा-शुल्क और तट-कर अनुसूचियाँ यथासम्भव एक-सी होनी चाहिये ।

इस समिति ने अपना ध्यान मुख्यतः इस बात पर दिया कि आयात व्यापार नियन्त्रण की व्यवस्था किस तरह की जाये और आयात लाइसेन्स किस तरह लिखे जायँ, जिससे कस्टम में माल छुड़ाते समय कम-से-कम असुविधा हो और समय भी कम लगे ।

प्रशासकीय सुधार आयोग का विश्लेषण

प्रशासकीय सुधार आयोग के द्वारा प्रशुल्क आयोग के बारे में कुछ उपाय बताये गये हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **तट-कर आयोग के स्थान पर नया आयोग**—मूल्य लागत और तट-कर आयोग को गठित करना चाहिये जिसे निम्न कार्य दिया जाना चाहिए—(अ) मूल्य की उचित नीति निर्धारण में सरकार को मदद करने के लिए औद्योगिक उत्पादनों, कच्चे पदार्थों व मध्यवर्तीय वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना, (ब) कुछ औद्योगिक उत्पादनों की लागत का अध्ययन कर लागत में कमी करने के लिए सुझाव देना तथा (स) तट-कर संरक्षण के बारे में जाँच करना और सरकार को परामर्श देना ।

2. नये आयोग में पूर्णकालिक सदस्यों की संख्या 6 होनी चाहिए और अध्यक्ष के चयन में गैर अधिकारी, योग्य और सक्षम व्यक्ति को प्राथमिकता देनी चाहिए ।

सरकार ने लागत और मूल्यों की समस्या सुलझाने के लिए 'औद्योगिक लागतें और मूल्य ब्यूरो' स्थापित करने का फ़ैसला किया है लेकिन तट-कर आयोग को प्रतिस्थापित करने को मंजूर नहीं किया ।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत की विभेदात्मक संरक्षण नीति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए ।

2. भारत की वर्तमान प्रशुल्क नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए ।

3. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की भारत की प्रशुल्क नीति पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए ।

27

भारत का विदेशी व्यापार

(Foreign Trade of India)

संक्षिप्त इतिहास

1. **सन् 1930 के पहले भारत का विदेशी व्यापार**—अति प्राचीन काल से ही भारत अपने विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारत की बनी हुई वस्तुओं, जैसे सूती कपड़े, धातु के बर्तन, सुगन्धित वस्तुएँ, इत्र, गरम मसाला आदि की माँग मिस्त्र, यूनान, रोम तथा ईरान आदि स्थानों में बहुत अधिक थी। इसी व्यापार के लिए भारत ने स्याम, जावा, सुमात्रा और मलाया में अपने उपनिवेश बनाए थे। देश का विदेशी व्यापार उन दिनों जल और स्थल, दोनों ही मार्गों से होता था। भारत में प्राचीन काल में आयात से अधिक निर्यात होता था। विदेशी हमारे व्यापार का भुगतान सोना-चाँदी में करते थे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ष हमारे देश में करोड़ों रुपये का सोना आ जाता था।

विदेशी व्यापार का परिमाण और विस्तार मुगल शासन काल में और भी बढ़ा। अंग्रेजी शासन स्थापित होने पर हमारे विदेशी व्यापार में वृद्धि तो हुई, लेकिन उसका सारा ढाँचा ही बदल गया। विदेशी सरकार ने ऐसी नीति अपनायी कि देश के उद्योग धन्धे शनैः शनैः नष्ट होने लगे और भारत एक कृषि प्रधान देश बन गया। भारत, इंगलैंड के निर्मित माल का आयात करने वाला तथा कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया। संक्षेप में, भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ इस प्रकार हो गयीं :—

(अ) हम सामान्यतः निर्मित वस्तुओं का आयात करते थे और कच्चे माल का निर्यात करते थे।

(ब) भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर इंगलैंड और कामनवेल्थ देशों (Commonwealth Countries) से होता था।

(स) हमारे निर्यात, सदैव ही आयात से अधिक होते थे जिसके फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन हमेशा ही हमारे पक्ष में रहता था।

(द) विदेशी व्यापार तेजी से बढ़ रहा था। इस वृद्धि के प्रमुख कारण थे स्वेज नहर का निर्माण और परिवहन साधनों में उन्नति।

2. **विश्व व्यापी आर्थिक मन्दी (1929-30) एवं भारत का विदेशी व्यापार**—भारत के विदेशी व्यापार पर सन् 1929-30 की भयानक आर्थिक मन्दी का बहुत ही विपरीत प्रभाव पड़ा। निर्यात की मात्रा में बहुत कमी आ गई। आयात की जाने वाली वस्तुओं में निर्यात वस्तुओं का प्रतिशत धीरे-धीरे कम होने लगा तथा कच्चे पदार्थों तथा खाद्यान्नों का प्रतिशत बढ़ने लगा। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा, कच्चे पदार्थों व खाद्यान्नों की प्रधानता बनी रही। नीचे की सारणी के अंकों से भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में हुए परिवर्तन का स्पष्ट पता चलता है—

वस्तुएँ	कुल आयात के प्रतिशत में		कुल निर्यात के प्रतिशत में	
	1920-21	1938-39	1920-21	1938-39
खाद्यान्न, पेय एवं तंबाकू	11·0	15·7	28·0	27·8
कच्चा माल	5·0	21·7	35·0	34·1
निर्मित माल	84·0	62·6	37·0	38·1
	100·0	100·0	100·0	100·0

भारत के आयात व्यापार में इंगलैंड का हिस्सा सन् 1913-14 में 64% था, जो घटकर सन् 1933-34 में 42% और सन् 1938-39 में 25% रह गया। निर्यात व्यापार में भी इंगलैंड का हिस्सा धीरे-धीरे घट रहा था। सन् 1923-24 के बाद जर्मनी के साथ भारत के व्यापार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

3. **द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) में भारत का विदेशी व्यापार**—सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इस महायुद्ध ने भारत के विदेशी व्यापार में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) **विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन**—निर्मित वस्तुओं के निर्यात के परिमाण में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और हमारे निर्यातों में कच्चे मालों का प्रतिशत घट गया। अब रुई के स्थान पर सूती वस्त्र, जूट के स्थान पर निर्मित माल, तिलहन के स्थान पर वनस्पति तेल एवं खालों के स्थान पर चमड़े की बनी हुई वस्तुओं का निर्यात होने लगा। इस प्रकार कच्चे पदार्थों का निर्यात सन् 1924-25 में जो कुल निर्यात व्यापार का 50% था, घटकर सन् 1941-42 में केवल 28% ही रह गया।

(ब) **विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन**—अमेरिका एवं ब्रिटिश कामनवेल्थ देशों के साथ हमारा व्यापार पूर्ववत् रहा लेकिन शत्रु राष्ट्रों से व्यापार बिल्कुल बन्द हो गया। तटस्थ राष्ट्रों के साथ व्यापार में भी कई तरह की रुकावटें आ गई। मध्य पूर्वी एशियाई देशों को भारत के निर्यात बहुत बढ़ गए थे, क्योंकि जर्मनी, इंगलैंड व जापान से आयात बन्द हो गया था।

(स) **व्यापार सन्तुलन की अनुकूलता में वृद्धि**—चूंकि युद्ध-काल में, निर्यात में आयात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई, इसलिए व्यापार सन्तुलन भारत के अनुकूल रहा और पौंड पावने (Sterlin Balances) की राशि बहुत अधिक जमा हुई।

4. युद्धोत्तर काल (1945-50) में विदेशी व्यापार—द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद भारत के विदेशी व्यापार की रूपरेखा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। संक्षेप में, युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं—

(अ) विदेशी व्यापार के मूल्य में काफी तेजी से वृद्धि हुई। सन् 1945 में विदेशी व्यापार का मूल्य 461 करोड़ रुपए था, जो फिर 1950 में बढ़कर 966 करोड़ रुपये हो गया।

(ब) व्यापार सन्तुलन जो अभी तक हमारे पक्ष में था, अब विपक्ष में रहने लगा और वह भी उत्तरोत्तर तीव्र गति से बढ़ा।

(स) व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए भारत को द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (bilateral trade agreements) करने पड़े तथा विनिमय नियन्त्रण आदि उपायों को अपनाना पड़ा। परन्तु इसके बावजूद भी व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता में कमी नहीं हो सकी।

(द) सन् 1947 में देश के विभाजन ने विदेशी व्यापार को प्रभावित किया। विभाजन के फलस्वरूप देश में खाद्यान्नों तथा जूट और कपास की बहुत कमी हो गयी थी। अतः इन वस्तुओं का विदेशों से आयात करना आवश्यक हो गया था। देश के विभाजन ने निर्यात व्यापार पर भी गहरा प्रभाव डाला। कपास जिसका भाग कुल निर्यात में 10 प्रतिशत था, विभाजन के बाद घट कर (1951 में) केवल 3 प्रतिशत हो गया। जूट का निर्यात, कुल का 7 प्रतिशत था, वह विभाजन के पश्चात् सर्वथा बन्द हो गया। अन्य उद्योगों के निर्यात पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

(य) 19 दिसम्बर, 1949 को विदेशी व्यापार की बढ़ती हुई प्रतिकूलता से विवश होकर, भारत सरकार ने रुपए का डालर के रूप में 30·5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया, परिणामतः भारत के निर्यात में वृद्धि हुई और आयात में कमी। अमेरिका के विशाल स्टाक संग्रह कार्यक्रम ने भी जो कि कोरियाई युद्ध के कारण शुरू हुआ, हमारे निर्यातों में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी। इनसे व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता में कमी हुई। विदेशी व्यापार की प्रतिकूलता, जो सन् 1949-50 में 85 करोड़ रुपए थी, घटकर सन् 1950-51 में 50 करोड़ रुपए हो गई।

भारतीय विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ अथवा पंचवर्षीय योजनाओं में भारत का विदेशी व्यापार

भारत के विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियों का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

1. विदेशी व्यापार का आकार।

2. विदेशी व्यापार का स्वरूप या संरचना ।

3. विदेशी व्यापार की दिशा ।

4. विदेशी व्यापार में सरकार का बढ़ता हुआ योगदान ।

1. विदेशी व्यापार का आकार और मूल्य—व्यापार के आकार से आशय किसी देश द्वारा आयात-निर्यात की गई समस्त वस्तुओं की भौतिक मात्रा से है। 1981-82 में विदेश व्यापार (आयात, निर्यात तथा पुनः निर्यात सभी सम रूप से) 21,474·23 करोड़ रुपये रहा। जो कि 1980-81 के आकड़े 19,271·00 करोड़ से 11·5% अधिक रहा।

विदेशी व्यापार का कुल मूल अस्थायी तौर पर 1982-83 में 22,684·96 करोड़ रु० तक बढ़ गया। 1950-51 से अब तक कुछ चुनी हुई वर्षों की अवधि में आयात तथा निर्यात का मूल्य, विदेश व्यापार की हुई वस्तुओं के कुल मूल्य और व्यापार संतुलन सम्बन्धी आँकड़े नीचे सारिणी में दिये जा रहे हैं—

भारत का विदेश व्यापार

वर्ष	आयात	निर्यात (पुनःनिर्यात सहित)	विदेश व्यापार का कुल मूल्य	व्यापार संतुलन
1950-51	650·21	600·64	1,250·85	—49·57
1970-71	1,634·20	1,535·16	3,169·35	—99·04
1972-73	1,867·44	1,970·83	3,838·27	+103·39
1976-77	5,073·79	5,142·25	10,216·04	+68·46
1980-81	12,560·29	6,710·71	19,271·00	—5849·58
1981-82	13,671·26	7,802·97	21,474·23	—5868·29
1982-83	14,047·28	8,637·78	22,684·96	—5,409·60
1984-85	13,850	9878		—3972

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। यह वृद्धि व्यापार की मात्रा एवं मूल्य दोनों में ही हुई है। सन् 1950-51 में भारत का कुल विदेशी व्यापार 1250·85 करोड़ रुपये था जो बढ़कर सन् 1970-71 में 3169·36 करोड़ रुपये तथा सन् 1982-83 में 22,684·96 करोड़ रुपये हो गया। विदेशी व्यापार की मात्रा 1984-85 ने 23728 करोड़ रुपये की सम्भावना है।

विदेशी-व्यापार के मूल्य में वृद्धि होने के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—(अ) पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अत्यधिक मात्रा में मशीनों तथा पूँजीगत माल के आयात की आवश्यकता है। (ब) विभाजन के बाद कपास और जूट के आयात में वृद्धि। (स) खाद्यान्नों के आयात में वृद्धि (द) आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि।

आयातों में वृद्धि—पंचवर्षीय योजना काल में भारत के आयातों में तीव्र गति से वृद्धि हुई क्योंकि विकास कार्यों के लिए भारी मात्रा में मशीनरी, परिवहन, उपकरण तथा खाद्यान्न आदि वस्तुओं का आयात करना पड़ा। सन् 1950-51 में 650·21 करोड़ रुपये की वस्तुओं का आयात किया गया जो 1982·83 में 14047.28 करोड़ रुपये हो गया। इस प्रकार 1980-81 की अवधि में आयात लगभग बारह गुने से भी अधिक हो गया।

निर्यातों में वृद्धि—योजनाकाल में निर्यात संवर्द्धन हेतु सरकार ने अनेक प्रयास किए जिसके फलस्वरूप निर्यातों में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में 690·64 करोड़ रुपये की वस्तुओं का निर्यात किया गया जो बढ़कर 1982-83 में 8,637·68 करोड़ रुपये हो गया।

व्यापार संतुलन—उपर्युक्त सारणी के अंकों से यह भी स्पष्ट होता है कि 1976-77 को छोड़कर भारत का व्यापार संतुलन सदैव प्रतिकूल रहा है। सन् 1950-51 में व्यापार संतुलन में घाटा 48·57 करोड़ रुपये था जो 1982-83 में बढ़कर 5409·60 करोड़ रुपये हो गया। प्रतिकूल व्यापार संतुलन के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

(i) देश विभाजन के फलस्वरूप जूट कपड़ा एवं खाद्यान्नों का अधिक आयात करना पड़ा जिससे व्यापार संतुलन प्रतिकूल होता गया।

(ii) देश के आर्थिक विकास हेतु अनेक प्रकार की विकास सामग्री का आयात करना पड़ता है, जिससे व्यापार संतुलन प्रतिकूल रहने लगा।

(iii) चीन एवं पाकिस्तान के युद्ध के कारण बड़ी मात्रा में युद्ध सामग्री का आयात करना पड़ा है।

(iv) खाद्य समस्या के निवारण हेतु प्रति वर्ष बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा जिससे व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता बढ़ती रही।

(v) भारत के निर्यात विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण अधिक नहीं बढ़ पाए।

(vi) देश में हड़ताल, तलाबन्दी, आकाल एवं बाढ़ के कारण उत्पादन कम हो जाता है, फलस्वरूप अनेक वस्तुएँ विदेशों से आयात करनी पड़ती है।

2. विदेशी व्यापार का स्वरूप या संरचना—विदेशी व्यापार की संरचना से आशय आयात-निर्यात की वस्तुओं से है।

भारत के प्रमुख निर्यात—स्वतन्त्रता-प्रप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने निर्यात में वृद्धि करने के लिए हर संभव प्रयत्न किए हैं। भारत के प्रमुख निर्यात को हम निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं, जैसा कि आगे चार्ट द्वारा दर्शाया गया है।

(अ) **परम्परागत निर्यात**—भारत से निर्यात की जाने वाली प्रमुख परम्परागत वस्तुएँ निम्नलिखित हैं—

जूट की वस्तुएँ—(1) **परिचय**—जूट भारत का परम्परागत निर्यात है। विदेशी निर्यातिक वस्तुओं में सबसे अधिक विदेशी मुद्रा चाय से मिलती है और इसके बाद जूट का ही स्थान आता है। (2) **निर्मित वस्तुएं**—भारत विदेशों को जूट से बने टाट, बोरे, सुतली-रस्से, गलीचे, जूट का कपड़ा आदि निर्यात करता है। (3) **मुख्य ग्राहक**—भारत से जूट की वस्तुएँ अमेरिका, रूस, कनाडा, अर्जेंटाइना, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया; मिस्र, न्यूजीलैंड, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, जापान, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों को भेजा जाता है। (4) **निष्कर्ष**—जूट की वस्तुओं का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओं में सबसे प्रमुख है। भारत सरकार जूट की वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करने के लिए बहुत प्रयत्नशील है।

2. **चाय**—(1) **परिचय**—हमारे देश के प्रमुख तीन निर्यातों में चाय को प्रथम स्थान प्राप्त है। भारत एक गर्म देश है जिससे यहाँ के लोगों में चाय पीने की आदत कम है। फलत: बहुत अधिक मात्रा में चाय बच रहती है जिससे विदेशों को निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। कुल चाय उत्पादन का लगभग 75 प्रतिशत भाग निर्यात किया जाता है। (2) **प्रमुख ग्राहक**—भारत की चाय इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, ईराक, रूस, पश्चिमी जर्मनी, सूडान, आस्ट्रेलिया आदि देशों को भेजी जाती है। भारत सम्पूर्ण विश्व के कुल चाय के निर्यात का 48 प्रतिशत भाग निर्यात करता है। (3) **निष्कर्ष**—चाय का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओं में प्रमुख है। भारत

से काली चाय (Blak Tea) निर्यात की जाती है। भारत सरकार चाय के उत्पादन एवं व्यापार में वृद्धि करने के लिए हर संभव प्रयास कर रही है।

3. **सूती वस्त्र**—(1) **परिचय**—भारत के प्रमुख निर्यातों में सूती वस्त्र का प्रमुख स्थान है। भारतीय निर्यात व्यापार में इसका तीसरा स्थान है। (2) **प्रमुख ग्राहक**—हमारे देश के सूती वस्त्र के प्रमुख ग्राहक इंग्लैंड, श्रीलंका, आस्ट्रेलिया, मलाया, बर्मा आदि हैं। (3) **निष्कर्ष**—सूती वस्त्र का स्थान डालर प्राप्त करने वाली वस्तुओं में प्रमुख है। यद्यपि भारत में लम्बे व अच्छे किस्म के धागे की कमी है। भारत सरकार उत्तम किस्म के कपास को देश के अन्दर ही पैदा करने की व्यवस्था कर रही है। भारत इसके उत्पादन के लिए बहुत प्रयत्नशील है।

4. **काजू गिरी**—(1) **परिचय**—यह देश के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त करने वाली प्रमुख वस्तुओं में से एक है। भारतीय काजू गिरियों के निर्यात में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। (2) **निर्यातक** देश—भारतीय काजू संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, सोवियत रूस, पूर्वी जर्मनी, जापान, आस्ट्रेलिया आदि देशों को निर्यात किया जाता है।

5. **खली**—(1) **परिचय**—तेल निकालने के बाद खली बचती है। आज देश की निर्यातक वस्तुओं में खली का प्रमुख स्थान है। (2) **ग्राहक**—इसके प्रमुख ग्राहक देश इंग्लैंड, पूर्वी जर्मनी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया तथा जापान आदि हैं।

6. **मसाले**—(1) **परिचय**—भारत में बहुत समय से ही मसालों का निर्यात विदेशों को किया जाता है। मसालों के निर्यात में काली मिर्च, अदरक, हल्दी, लौंग और बड़ी इलायची आदि का प्रमुख स्थान है। (2) **ग्राहक देश**—भारत से मसाला अमरिका, स्वीडेन, ग्रेट ब्रिटेन, पाकिस्तान, अरब आदि देशों को भेजा जाता है।

7. **तंबाकू निर्मित**—(1) **परिचय**—भारत के तम्बाकू का उत्पादन क्षेत्र में संम्पूर्ण विश्व में दूसरा स्थान है। संपूर्ण उत्पादन का 50 प्रतिशत तम्बाकू का निर्यात विदेशों को किया जाता है। (2) **ग्राहक देश**—भारत से तम्बाकू ब्रिटेन रूस, जापान, स्वीडन, मलाया, अदन आदि देशों को निर्यात किया जाता है। भारत तम्बाकू का एक प्रधान निर्यातक देश है। इससे भी काफी मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। भारत तम्बाकू को किस्म में सुधार लाने के लिए प्रयत्नशील है।

(ब) **गैर-परम्परागत निर्यात**—भारत के निर्यात की प्रमुख अपरम्परागत वस्तुएँ इस प्रकार हैं—

1. **शक्कर**—(1) **परिचय**—भारत के शक्कर का पर्याप्त मात्रा में विदेशों को निर्यात किया जाता है। भारत में गन्ने की पैदावार अधिक होने के कारण शक्कर का अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन किया जाता है। (2) **प्रमुख ग्राहक देश**—इंग्लैंड, नेपाल, जापान, कनाडा, मलाया, हांगकांग आदि देश भारतीय शक्कर के प्रमुख ग्राहक हैं। (3) **निष्कर्ष**—भारत में चीनी का निर्यात काफी प्रगति में है। भारत सरकार गन्ने की किस्म सुधारने व गन्ने के मिलों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए अधिकाधिक प्रयत्नशील है।

2. इंजीनियरिंग वस्तुएँ—(1) **परिचय**—आज भारत में अनेक प्रकार के औद्योगिक संयंत्र और मशीनें, भारी परिवहन उपकरण, पंखे, मीटर, साइकिलें बनाई जाती हैं और उन्हें विदेशों को निर्यात किया जाता है। भारत के निर्यात व्यापार में इंजीनियरिंग सामान महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता आ रहा है। (2) **प्रमुख ग्राहक राष्ट्र**—भारत से इंजीनियरी का सामान अफ्रीकी देशों, अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, आदि देशों को निर्यात किया जाता है। (3) **निष्कर्ष** – हमारे राष्ट्र का भविष्य इस क्षेत्र में काफी आशावान है। भारत में कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है और अच्छे इंजीनियर व मैकेनिक भी अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। भारत सरकार इंजीनियरिंग की वस्तुओं के अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन को प्रोत्साहित कर रही है।

3. चमड़ा तथा चमड़े से निर्मित वस्तुएँ—(1) **परिचय**—भारतीय निर्यात व्यापार में चमड़ा तथा चमड़ा निर्मित वस्तुओं को दूसरा स्थान प्राप्त है। भारत के निर्यात व्यापार में करीब 8·9 प्रतिशत भाग चमड़ों की वस्तुओं का है। यहाँ से गाय, भैंस व बकरी के चमड़े का निर्यात होता है। (2) **ग्राहक देश**—इंग्लैंड, रूस, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, पाकिस्तान, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान आदि देशों को इसका निर्यात किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—चमड़े तथा चमड़े से बनी वस्तुओं के निर्यात का भविष्य भी उज्ज्वल है। भारत सरकार इस दिशा में काफी सुधार लाने का प्रयत्न कर रही है।

4. मछली तथा मछली से बनी वस्तुएँ—(1) **परिचय**—भारत के निर्यात व्यापार में मछली तथा इससे बनी वस्तुएँ महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती जा रही हैं। (2) **प्रमुख ग्राहक देश**—भारतीय मछली एवं मछली से बनी वस्तुओं के मुख्य ग्राहक संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, लंका और आस्ट्रेलिया हैं। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार द्वारा मछली और मछली से बनी वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए हर संभव प्रयास किए जा रहे हैं।

5. मोती और हीरे—भारत से विदेशों को मोती-हीरे जैसे मूल्यवान पत्थर भी भेजे जाते हैं। इनका निर्यात अमेरिका, रूस आदि में किया जाता है।

6. लोहा एवं इस्पात—(1) **परिचय**—भारत में कच्चे लोहे का भंडार विश्व में सर्वाधिक है। हमारे देश में लोहा व इस्पात का निर्यात किया जाता है। (2) **ग्राहक देश**—भारत से कच्चा लोहा व इस्पात मुख्यतः ब्रिटेन और जापान को ही निर्यात किया जाता है।

7. रासायनिक पदार्थ—(1) **परिचय**—भारतीय निर्यात में रसायन तथा रासायनिक पदार्थ महत्त्वपूर्ण स्थान लेते जा रहे हैं। (2) **ग्राहक देश**—भारत से रासायनिक का निर्यात मुख्यतः सोवियत रूस, चैकोस्लोवाकिया, अरब देश, पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका आदि में होता है। (3) **निष्कर्ष**—सरकार द्वारा भारतीय रसायन के निर्यात को बढ़ाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

भारत के प्रमुख आयात—भारत की आयातित वस्तुओं में से प्रमुख वस्तुएँ निम्नलिखित हैं—

1. **खाद्यान्न**—(1) **परिचय**—भारत एक कृषिप्रधान देश है, लेकिन इसके बाद भी जनसंख्या-वृद्धि एवं प्राकृतिक बाधाओं के कारण भारत को भारी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। भारत के आयात में आज खाद्यान्नों का प्रमुख स्थान है। खाद्यान्नों में गेहूँ व चावल को ही अधिक मात्रा में आयात किया जाता है तथा कुछ मात्रा में मक्का का आयात होता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत में गेहूँ व चावल का आयात मुख्यतः अमेरिका से पी० एल० 480 के अन्तर्गत किया जाता है। इसके अलावा कनाडा और आस्ट्रेलिया से भी गेहूँ मँगाया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार खाद्यान्नों के क्षेत्र में आत्म-निर्भर होने का प्रयास कर रही है। देश को केवल संकटकाल में ही खाद्यान्नों का आयात करने को बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार भविष्य में खाद्यान्न पदार्थों का आयात बहुत कम हो जाएगा।

2. **मशीनरी**—(1) **परिचय**—स्वतंत्रता के बाद देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए सरकार ने देश में अनेक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की, जिन्हें पूरा करने हेतु देश को काफी मात्रा में मशीनों का आयात करना पड़ता है। भारत के आयात में मशीनों का प्रथम स्थान है। भारत में विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीनें, कृषि संबंधी मशीनें, परिवहन उपकरण, सामान्य मशीनें, बिजली सम्बन्धी औजार व मशीनें आदि का आयात किया जाता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत मशीनों का आयात अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान, रूस तथा फ्रांस से करता है। (3) **निष्कर्ष**—देश के द्रुत आर्थिक विकास के साथ-साथ मशीन पर खर्च होने वाली राशि निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसके आयात को कम करने के लिए सरकार हर संभव प्रयास कर रही है। अब देश में विभिन्न प्रकार की मशीनें तैयार करने वाले कारखाने स्थापित हो गए हैं। अतः आशा है कि भविष्य में मशीनों के आयात पर होने वाला व्यय कम होगा तथा इसके निर्यात से लाभ होगा।

3. **खनिज तेल**—(1) **परिचय**—हमारे देश में खनिज तेल अत्यन्त सीमित मात्रा में पाया जाता है, इसलिए हमें तेल के लिए विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। तीव्र औद्योगीकरण के कारण भारत में खनिज तेल की माँग में वृद्धि हो रही है। अतः भारत के आयातों में खनिज तेल का मुख्य स्थान है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—भारत में खनिज तेल का, जो बिना साफ किया होता है, बड़ी मात्रा में ईरान, बर्मा, कुवैत, रूस व अमेरिका से आयात किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—पिछले कुछ वर्षों से तेल की कीमत में काफी वृद्धि हुई जिससे भारत की विदेशी विनिमय की स्थिति बिगड़ गई है। देश में सरकार ने खनिज तेल के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए व्यापक कार्यक्रम प्रारम्भ किया है, जिससे इसका उत्पादन बढ़ने लगा है।

4. **लोहा एवं इस्पात**—(1) **परिचय**—यद्यपि भारत में लगभग 6 मिलियन टन लोहे व इस्पात का उत्पादन किया जाता है लेकिन औद्योगीकरण के कारण देश की आवश्यकता को देखते हुए इसकी मात्रा कम है। अतः लोहे व इस्पात की माँग उत्पादन से अधिक होने के कारण विदेशों से इसका आयात किया जाता है। (2) **निर्यात**

करने वाले देश—भारत लोहे व इस्पात का आयात ब्रिटेन, अमेरिका तथा पश्चिमी जर्मनी से करता है। (3) **निष्कर्ष**—सरकार पंचवर्षीय योजना के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में लोहे व इस्पात के कारखाने स्थापित कर रही है ताकि इसका आयात कम से कम करना पड़े। आशा है कि निकट भविष्य में देश इस क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो जायेगा।

5. **कपास**—(1) **परिचय**—भारत में कपास अधिकाधिक मात्रा में पैदा की जाती है, लेकिन अच्छे किस्म की लम्बे रेशे वाली कपास बहुत कम होती है। अतः सूती वस्त्र उद्योग को विकसित करने के लिए कपास का आयात करना होता है। (2) **निर्यात करने वाले देश**—देश में बढ़िया किस्म की रुई की गाँठी का आयात पाकिस्तान सूडान, मिस्र, व अमेरिका से किया जाता है। (3) **निष्कर्ष**—भारत सरकार अपने यहाँ भी अच्छे किस्म की कपास उत्पन्न करने का प्रयास कर रही है। आशा है कि भविष्य में देश को कपास की आयात की आवश्यकता नहीं महसूस होगी।

6. **रासायनिक पदार्थ**—(1) **परिचय**—भारत की अपनी औद्योगिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु काफी मात्रा में रासायनिक पदार्थों का आयात करना पड़ता है। भारत में रासायनिक पदार्थों के आयात में क्रमशः वृद्धि होती जा रही है। (2) **पदार्थ**—आयात किए जाने वाले प्रमुख रासायनिक पदार्थ हैं—रासायनिक तत्त्व और यौगिक, रंगने के पदार्थ, औषधि एवं भेषजीय पदार्थ, उर्वरक तथा अन्य रासायनिक पदार्थ। (3) **निर्यात करने वाले देश**—भारत रासायनिक पदार्थों का आयात मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, कनाडा, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, युगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, ईरान, मैक्सिको, फ्रांस, संयुक्त अरब गणराज्य, पोलैण्ड, बल्गारिया आदि देशों से करता है।

7. **खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थ**—(1) **पदार्थ**—औद्योगिक विकास के साथ-साथ भारत में खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थों की माँग में वृद्धि हो रही है। भारत में खनिज का भंडार तथा उत्पादन बहुत ही कम है। अतः भारत को अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु काफी मात्रा में खनिज तेल और खनिज तेल पदार्थों का आयात करना पड़ता है। (2) **प्रमुख निर्यातक देश**—भारत, कुवैत, ब्रह्मा, ईरान, बोर्नियो, इराक, रूस तथा अमेरिका आदि देशों से भारी मात्रा में तेल का आयात करता है।

अन्य आयात—हमारे देश में उपर्युक्त आयातित वस्तुओं के अतिरिक्त घड़ियाँ, शृङ्गार का सामान, कागज, बिजली का सामान, सूती-ऊनी व रेशमी वस्तु, प्रलौह वस्तुएँ, रेलवे इंजनों आदि का भी आयात किया जाता है।

1981-82 में हमारे प्रमुख आयात-निर्यात का मूल्य नीचे सारिणी में दर्शाया जा रहा है।

प्रमुख निर्यात

वस्तुएँ	1981-82	1984-85
1. जूट की वस्तुएँ	250	345
2. चाय	375	440
3. सूती वस्त्र	273	—
4. सूखे मेवे	169	120
5. खली	139	—
6. तम्बाकू	220	155
7. शक्कर	40·3	—
8. इंजीनियरिंग का सामान	817	1273
9. खनिज लोहा	343	515
10. चमड़ा व चमड़े का सामान	374	560
11. मछली व मछली उत्पादक	274	—
12. मोती व हीरे	679·6	—
13. लोहा एवं इस्पात	70	85
14. रासायनिक पदार्थ	347	510
योग (अन्य सहित)	780297	9878

आयात

वस्तुएँ	वर्ष 1981-82	1984-85
1. खाद्य पदार्थ	264	—
2. मशीनरी	1745	—
3. खनिज तेल	5189	4641
4. लोहा एवं इस्पात	1136	—
5. कपास	N. A.	—
6. रासायनिक खाद	548	1187
7. कागज व गन्ना	240	—
8. वनस्पति तेल	378	584
9. रसायन	387	—
योग (अन्य सहित)	1371·26	1

3. भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

विदेशी व्यापार की दिशा से आशय है कि एक राष्ट्र किन-किन देशों से व्यापार सम्बन्ध रखता है कि विभिन्न देशों के साथ भारत के व्यापार की दिशा में स्वतन्त्रता के पश्चात् उल्लेखनीय परिवर्तन आया है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

देश	आयात की दिशा (करोड़ रु०)				निर्यात की दिशा (करोड़ रु०			
	1950-51	70-71	80-81	81-82	50-51	70-71	80-81	81-82
इंग्लैण्ड	135	127	731	849	140	170	395	464
अमेरिका	119	453	1519	1421	116	210	743	882
रूस	2	106	1014	1156	1	210	226	1505
जापान	10	83	749	939	10	203	598	691
प० जर्मनी	—	107	694	917	—	32	385	382
कनाडा	22	117	222	294	4	28	62	65
फ्रांस	11	21	280	247	9	18	147	149
आस्ट्रेलिया	33	37	170	224	30	34	92	106
चैकोस्लावाकिया	3	20	39	51	10	29	55	86
ईरान	37	92	1339	1328	—	27	122	111
योग (अन्य सहित)	650	1634	12523	12589	601	1535	6710	7796

उपर्युक्त सारणी के अंकों से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

1. **इंग्लैण्ड**—इंग्लैण्ड एवं भारत के बीच स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रतिशत में व्यापार धीरे-धीरे कम हो रहा है लेकिन कुल मूल्य में बढ़ रहा है सन् 1950-51 में इंग्लैंड से भारत का कुल आयात 135 करोड़ रु० था जो सन् 1981-82 में बढ़कर 849 करोड़ रु० का हो गया। इसी प्रकार सन् 1950-51 में भारत से इंग्लैंड को 140 करोड़ रु० का निर्यात होता था जो सन् 1981-82 में 464 करोड़ रु० हो गया।

2. **संयुक्त राज्य अमेरिका**—अमेरीका से भारत का प्रतिशत में व्यापार निरन्तर घट रहा है लेकिन मूल्य में बढ़ रहा है। सन् 1950-51 में भारत अमेरिका से कुल 119 करोड़ रु० का आयात करता था जो सन् 1981-82 में 1421 करोड़ रु० हो गया। इसी प्रकार 1950-51 में भारत से अमेरिका को 116 करोड़ रु० का निर्यात होता था जो 1981-82 में 882 करोड़ रु० का हो गया।

3. **सोवियत संघ**—साम्यवादी देशों में भारत का सर्वाधिकार व्यापार सोवियत सङ्घ से होता है। भारत और रूस के बीच आर्थिक सहयोग होने से दोनों देशों में व्यापार तीव्र गति से बढ़ रहा है। सन् 1950-51 में रूस से कुल आयात 2 करोड़ रु० का था जो सन् 1981-82 में बढ़कर 1156 करोड़ रु० का हो गया। इसी अवधि में भारत से रूस का निर्यात 1 करोड़ रु० का था जो बढ़कर 1505 करोड़ रु० का हो गया।

4. **जापान**—भारत एवं जापान के बीच व्यापार निरन्तर बढ़ रहा है। सन् 1950-51 में जापान से भारत का कुल आयात 10 करोड़ रु० का था जो 1981-82 में 939 करोड़ रु० का हो गया। इसी अवधि में भारत से जापान को निर्यात 10 करोड़ रु० से बढ़कर 691 करोड़ रु० का हो गया।

5. **पश्चिम जर्मनी**—यूरोपीय साझा बाजार के देशों में पं० जर्मनी का भारत के विदेशी व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान है यूरोपीय साझा बाजार के देशों में से भारत का सबसे अधिक व्यापार इंग्लैंड के बाद पं० जर्मनी के साथ ही होता है। सन् 1970-71 में भारत पं० जर्मनी से कुल 107 करोड़ रु० का आयात करता था जो 1981-82 में 917 करोड़ रु० का हो गया। इसी प्रकार सन् 1970-71 में भारत से पं० जर्मनी को 32 करोड़ रु० का निर्यात करता था जो बढ़कर सन् 1981-82 में 382 करोड़ रु० हो गया।

6. **फ्रान्स**—फ्रान्स से मुख्यतया मशीनरी विद्युत मशीनरी व यातायात के उपकरण रासायनिक खाद व रसायन आदि का आयात किया जाता है सन् 1981-82 में भारतीय आयात व्यापार का 247 करोड़ रु० तथा निर्यात 149 करोड़ रु० होता है जबकि सन् 1950-51 में आयात व निर्यात क्रमशः 11 व 9 करोड़ रु० थे।

7. **ईरान**—ईरान के साथ भी भारत का व्यापार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। सन् 1950-51 की अपेक्षा आज बहुत अधिक व्यापार होता है सन् 1981-82 में भारत ने ईरान से 1328 करोड़ रु० का आयात किया जबकि सन् 1981-82 में 111 करोड़ रु० का निर्यात किया था।

8. **अन्य**—भारत के व्यापारिक सम्बन्ध विश्व के प्रायः सभी देशों से हैं। उपरोक्त देशों के अतिरिक्त भारत के व्यापारिक सम्बन्ध मुख्यतः अरब गणराज्य, कांगो, यूगाण्डा, ईराक, जोर्डन, सउदी अरब, कुवैत, अफगानिस्तान, हांगकांग, थाईलैंड इण्डोनेशिया, सिंगापुर, मलेशिया, ब्राजील तथा अर्जेण्टाइना आदि देशों से भी है।

विदेशी व्यापार में सरकार का बढ़ता हुआ योगदान
(Increasing Government Participation in Foreign Trade)

विगत वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि विदेशी व्यापार में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। यद्यपि सरकार पहले से ही आयातों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर व निर्यात प्रोत्साहन के अनेक उपायों को कार्य रूप देकर भारत के विदेशी व्यापार में हस्तक्षेप करती रही है परन्तु सरकार का व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना तथा अपने व्यापारिक कार्यक्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि करने की प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षों से विशेष रूप से देखी जाती है।

प्रत्यक्ष रूप से विदेशी व्यापार के क्षेत्र में सरकार का आगमन 1956 में भारतीय राज्य व्यापार निगम की स्थापना से शुरू हुआ। फिर इस निगम को विभाजित करके खनिज एवं धातु व्यापार निगम की स्थापना 1963 में की गई जो कि खनिज

एवं धातुओं के व्यापार में संलग्न है। व्यापार-क्षेत्र में संलग्न जिन प्रमुख सार्वजनिक निगमों की स्थापना की जा चुकी है, उनके नाम नीचे तालिका में दर्शाये गये हैं—

उपक्रम का नाम	स्थापना का वर्ष
1. भारतीय राज्य व्यापार निगम	1956
2. हस्तकला व हथकरघा निर्यात निगम	1958
3. खनिज एव धातु व्यापार निगम	1963
4. भारतीय चलचित्र निर्यात निगम	1963
5. भारतीय खाद्य निगम	1965
6. केन्द्रीय मत्स्य निगम	1965
7. भारत का काजू निगम	1970
8. भारतीय कपास निगम	1970
9. भारतीय दुग्ध निगम	19 0
10. भारतीय जूट निगम	1971
11. परियोजना और उपकरण निगम	1971
12. भारतीय चाय व्यापार निगम	1971
13. धातु अवशिष्ट व्यापार निगम	1972

इस प्रकार भारत सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमों के माध्यम से विदेशी व्यापार में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया है। इस समय देश में जो कुछ भी आयात किया जाता है उसका अधिकांश भाग सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों अथवा सीधे सरकार द्वारा ही किया जाता है। राज्य व्यापार निगम ने, थोक माल खरीदने की सुविधाओं की तथा वास्तविक उपभोक्ताओं एवं पंजीकृत निर्यातकों के लिए माल उपलब्ध कराने की सुनिश्चित व्यवस्था करने के उद्देश्य से, आयातों को सारिणीबद्ध करने के साथ-साथ औद्योगिक कच्चा माल सहायता केन्द्र के माध्यम से अपने कार्यकलापों का और अधिक विस्तार किया गया है।

भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ

भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **अधिकांश समुद्री मार्गों द्वारा व्यापार**—भारत का लगभग 90% व्यापार समुद्री मार्गों द्वारा ही होता है इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत के पड़ोसी देश अत्यन्त निर्धन है फलत: यह देश भारत से न तो अधिक क्रय करते हैं और न विक्रय ऐसी स्थिति में भारत का अपना अधिकांश व्यापार समुद्री बन्दरगाहों द्वारा दूर के रास्तों से ही करना पड़ता है।

2. **विश्व व्यापार में भारत का गिरता हुआ भाग**—यद्यपि वर्तमान में भारत की गिनती विश्व के प्रथम श्रेणी के व्यापारिक देशों में की जाती है किन्तु जिस दर से विश्व का व्यापार बढ़ा है उस दर से भारत का व्यापार नहीं बढ़ा है फलतः विश्व

व्यापार में भारत का प्रतिशत भाग घटता गया है। यह निम्न आँकड़ों से भी स्पष्ट है।

वर्ष	1950	1960	1970	1980
प्रतिशत भाग	2·1	1·2	0·7	0·4

3. **मात्रा व मूल्य में वृद्धि**—भारतीय विदेशी व्यापार की मात्रा सन् 1950-51 में 12051 करोड़ रुपये थी जो 1982-83 में बढ़कर 22685 करोड़ रुपये हो गयी यह वृद्धि मुख्यतया वस्तुओं के अधिक मात्रा के कारण नहीं बल्कि मूल्य वृद्धि के फलस्वरूप हुई है।

4. **कुछ ही देशों से व्यापार**—भारत के विदेशी व्यापार में कुछ ही देशों का अधिक महत्त्व है। भारत का निर्यात आयात व्यापार में इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, पं० जर्मनी और रूस का भाग प्रमुख है।

5. **निर्यात व्यापार में विविधता**— निर्यात की जाने वाली वस्तुओं तथा निर्यात की दशा दोनों ही दृष्टिकोण से भारत के निर्यात व्यापार में विविधता स्थापित हुई है। निर्यात व्यापार में परम्परागत वस्तुओं के स्थान परगैर परम्परागत वस्तुओं विशेषकर औद्योगिक निर्यात व अर्धनिर्मित वस्तुओं तथा इन्जिनियरिंग वस्तुओं का भाग बढ़ गया है।

हमारे व्यापार की दिशा में परिवर्तन हो रहा है जो ब्रिटेन का महत्व भारतीय आयात निर्यात में घट रहा है भारत का व्यापार संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, जापान, जर्मनी, कनाडा आदि से बढ़ रहा है।

6. **सहकारी क्षेत्र का बढ़ता महत्त्व**—विदेशी व्यापार में सरकारी क्षेत्र का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है अब सरकार द्वारा नियमित संस्थाएँ बड़ी मात्रा में विदेशी व्यापार करने लगी हैं।

7. **प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन**—हमारे निर्यातों की अपेक्षा आयातों में अधिक वृद्धि हुई है तथा आयात निर्यातों से कुछ अपवाद वर्षों को छोड़कर सदेव अधिक रहे हैं अतः भारत का व्यापार सन्तुलन 1972-73 तथा 1976-77 के वर्षों को छोड़कर 1951 से 1983-84 तक सदैव प्रतिकूल रहे हैं।

8. **निर्यात प्रोत्साहन एवं आयात नियन्त्रण**— विदेशी व्यापार के भुगतान सन्तुलन भी प्रतिकूलता को समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा निर्यात प्रोत्साहन एवं आयात नियन्त्रण की नीति अपनाई गई है।

अन्य विशेषताएँ— (i) राष्ट्रीय आय में निर्यातों का प्रतिशत भाग 1950-51 से 1971-72 तक निरन्तर गिरता ही गया है 1971-72 के बाद इस प्रतिशत भाग में किंचित वृद्धि होना शुरू हुआ है। वर्तमान में हमारे राष्ट्रीय आय में निर्यातों का प्रतिशत भाग पाँच है।

(ii) स्वतन्त्र भारत में विदेशी व्यापार की एक मुख्य प्रवृत्ति विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत इसका विकास है।

(iii) प्रारम्भ में भारत की आयात व निर्यात नीति में पर्याप्त सामंजस्य नहीं था लेकिन वर्तमान में दोनों में पर्याप्त सामंजस्य है ।

(iv) विदेशी व्यापार से सम्बन्धित अधिकांश क्रियायें बीमा बैंकिंग परिवहन पर आज भी विदेशियों का आधिपत्य है जो भारतीय हितों की दृष्टि से प्रतिकूल कहा जा सकता है ।

1. **राजकीय व्यापार निगम** (State Trading Corporation) (S T C)—राज्य व्यापार निगम भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत 18 मई 1956 को स्थापित किया गया था 31 मार्च, 1980 को इसकी अधिकृत पूँजी, प्रति शेयर 100 रुपये के अनुसार 15 लाख शेयरों में विभक्त थी तथा इसकी कुल राशि 15 करोड़ रुपये थीं ।

2. अक्टूबर, 1963 से इससे एक टुकड़ा पृथक किया गया जिसका नाम 'खनिज व धातु व्यापार निगम' (MMTC) रखा गया था ।

3. **उद्देश्य** इस निगम के निम्न मुख्य उद्देश्य रहे हैं—

(i) बड़ी मात्रा में निर्यात सम्बर्द्धन व विकास करना,

(ii) वर्तमान बाजारों का विस्तार तथा नये बाजारों की खोज

(iii) भारत के निर्यात व्यापार का विविधीकरण (diversibicalion)

(iv) राजकीय—व्यापार करने वाले देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना ।

(v) मूल्यों को स्थिर करने हेतु एवं उचित वितरण हेतु आयात या वितरण अथवा दोनों कार्य केन्द्र सरकार के आदेश पर करना अथवा शासन की इच्छानुसार इन वस्तुओं की आन्तरिक कीमतों में स्थिरता बनाये रखना ।

(vi) देश के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास की आवश्यक वस्तुओं को अस्थायी माँग व पूर्ति के अन्तर को कम करना ।

(vii) भारी पदार्थों के आयातों का सारिणीकरण करना ।

(viii) केन्द्र सरकार के आदेश पर उपर्युक्त पदार्थों से सम्बन्धित 'मूल्य सहायता' एवं बफर स्टाक क्रियाएँ करना ।

(ix) निजी व्यापार को कठिन परिस्थितियों या भारी प्रतियोगिता के समय सहायता करना ।

4. प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध 11 सदस्यीय प्रबन्धक मण्डल (Boarcd of Directours) करता है । जिसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है ।

निगम द्वारा किए गए कार्य

यह निगम भारतीय व्यापार को बहुमुखी बनाने तथा भारत की परम्परागत तथा अपरम्परागत निर्यात वस्तुओं के लिये नए-नए बाजार खोजने के लिए प्रयत्नशील है । मार्च 1980 तक राजकीय व्यापार निगम द्वारा जो कार्य किए गए हैं उनकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(i) **पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ व्यापार**—निगम की स्थापना के समय से ही निगम का यह उद्देश्य रहा है कि पूर्वी योरोपीय समाजवादी देशों के साथ देश के व्यापार का विकास हो। ये देश बल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, जर्मन जनतंत्र गणराज्य, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया, रूस और यूगोस्लाविया हैं। निगम ने इन बाजारों में न केवल परम्परागत वस्तुओं का ही निर्यात बढ़ाया है बल्कि कई नई मदें भी प्रचलित की हैं।

(iii) **निगम के कुल व्यापार में वृद्धि**—1156-57 में राज्य व्यापार निगम ने केवल 5·8 करोड़ रुपये के निर्यात और 3·4 करोड़ रुपये के आयात किये जो बढ़कर 1979-80 में क्रमशः 636 करोड़ और 375 करोड़ रुपये के हो गये।

1956-57 में इसने कुल 9·20 करोड़ रुपये का व्यापार किया था। पिछले वर्षों में निर्यात, आयात व घरेलू व्यापार की राशियाँ इस प्रकार रही हैं:

वर्ष	निर्यात	आयात	घरेलू व्यापार	कुल व्यापार
(अप्रैल मार्च)				
1981-82	555	1291	21	1867
1982-83	647	1162	13	1822

1982-83 में निगम का कुल व्यापार 1,822 करोड़ रुपये का हुआ जो पिछले वर्ष से 2% कम था। 1982-83 में 647 करोड़ रुपये का निर्यात किया जो पिछले वर्ष से 17% अधिक था। आजकल निर्यात की मदों में चीनी, काफी, जूते, चमड़ा, तम्बाकू, पटसन का माल, वस्त्र व पोशाकें तथा हल्की इन्जीनियरी की वस्तुयें होती है।

1982-83 में निगम के आयातों की राशि 1162 करोड़ रु० रही जो पिछले वर्ष से कम थी। निगम के आयातों में खाद्य तेल, अखबारी कागज, सीमेण्ट आदि प्रमुख रहे हैं।

(iii) **पाँच सहायक निगम**—राज्य व्यापार निगम के पाँच सहायक निगम हैं जो इस प्रकार हैं—

1. भारत का राज्य रसायन व दवाई निगम
2. भारत का दस्तकारी व हथकरघा निर्यात निगम लि०
3. भारत का प्रोजेक्ट व उपकरण निगम लि०
4. भारत का काजू निगम लि० तथा
5. भारत का केन्द्रीय व कुटीर उद्योग लि०

1982-83 में निगम के व्यापारिक लाभ 68 करोड़ रुपये रहे जो पिछले वर्ष से कम थे। निगम ने विभिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्ध विकसित किये हैं 1983-84 में निगम ने निर्यात का लक्ष्य 726 करोड़ रु० का रखा है।

(iv) **औद्योगिक कच्चा माल सहायता केन्द्र**—भारतीय व्यापार निगम ने 1970 में (The Industiral Raw Material Assistance Centre—

IRMAC) की स्थापना की है। यह केन्द्र औद्योगिक कच्चे माल का आयात करके उद्योगों में वितरित करता है। यह केन्द्र उद्योगों की लागतों को कम कराने के उद्देश्य से दुर्लभ कच्चे माल का आयात करके वितरित करता है और उद्योगों की प्रतियोगी क्षमता बढ़ाने में सहायता करता है।

(v) **निर्यात व्यापार बढ़ाने हेतु नये बाजारों का निर्माण**—निगम ने देश के निर्यात व्यापार को बढ़ाने के लिए अनेक नये बाजारों की खोज की है और निर्यात व्यापार को बढ़ा लिया है। निगम निर्यात के लिए नई मदों व नये बाजारों की तलाश में लगा रहता है। इसने फिलीपीन, इण्डोनेशिया व वियतनाम से सीमेण्ट के आयात की व्यवस्था की है।

(vi) **निगम द्वारा आयात**—निगम विदेशों से कुछ प्रकार के पूँजीगत सामान, औद्योगिक कच्चा माल और कुछ दुर्लभ वस्तुएँ भी मँगाता है जो देश की अर्थव्यवस्थाओं और औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। निगम द्वारा आयात किये जाने वाले पदार्थों में उर्वरक, रुई, इस्पात व औद्योगिक कच्चा माल, कच्चा रेशम, फिल्में, सोयाबीन का तेल, गन्धक, ट्रैक्टर, मुद्रण सामग्री प्रमुख हैं। सीमेण्ट के वितरण का कार्य भी निगम के जिम्मे रहा है। यह बहुत ही सराहनीय बात है कि अल्पकालीन सूचना पर भी निगम कठिन विश्व बाजार परिस्थितियों के बावजूद पूँजीगत सामान, कच्चे मालों एवं दुर्लभ सामग्रियों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर व्यवस्था करने में समर्थ हुआ है।

(vii) **सम्पर्क अदल-बदल एवं समानान्तर व्यवहार**—निगम विदेशों में अच्छी ख्याति वाली फर्मों के साथ सम्पर्क अदल-बदल तथा समानान्तर व्यवहार भी करता है जिससे निर्यातों में वृद्धि हो इस तरीके से सीमित मुद्रा प्रसाधनों पर भार डाले बिना ही देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात की व्यवस्था हो गई है।

(viii) **मूल्यों में स्थायित्व लाने का प्रयास**—निगम ने सरकार पर मूल्य स्थायित्व एवं बफर स्टाक सम्बन्धी कार्यकलाप को हाथ में लिए हैं। ये कार्यकलाप कच्चा जूट, लाख, तम्बाकू छोटे रेशे वाली कपास आदि के सम्बन्ध में थे और उनमें निगम को यथेष्ट सफलता भी मिली है।

निर्यात संवर्धन के लिए सरकारी प्रयास

निर्यात संवर्धन के लिए सरकार द्वारा जो प्रयास किये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

(अ) जाँच समितियों की नियुक्ति।

(ब) निर्यात प्रोत्साहन संगठन।

(स) निर्यात प्रोत्साहन एवं सहायता योजनाएँ।

(द) निर्यात संवर्द्धन के अन्य कार्य।

(अ) जाँच समितियों की नियुक्ति

निर्यात वृद्धि हेतु निम्न प्रयास किये गये :—

(1) **गोरवाला समिति 1941**—सन् 1949 में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की गई।

(2) **निर्यात प्रोत्साहन समिति**—फरवरी 1957 में डॉ० बी० एल० डिसूजा की अध्यक्षता में एक निर्यात प्रोत्साहन समिति की स्थापना की गई। समिति ने अपनी सिफारिश नवम्बर 1957 में पेश की।

(3) **मुदालियर समिति**—सन् 1961 में श्री ए० रामस्वामी मुदारिया की अध्यक्षता में एक आयात-निर्यात नीति की स्थापना की गई।

समिति की राय में अनिवार्य निर्यात आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समिति ने अन्तर्राष्ट्रीय मेलों में भाग लेने, विदेशी यात्रियों की संख्या में वृद्धि करने, वस्तु विनिमय व्यापार, राजकीय व्यापार, किस्म नियन्त्रण तथा निर्यात जोखिम आदि के बारे में महत्व पूर्ण सुझाव दिये। सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्यान्वित भी किया है।

(ब) निर्यात प्रोत्साहन संगठन

1. **व्यापार मण्डल**—1968 में इस बोर्ड की स्थापना की गई। इसका कार्य व्यापार तथा वाणिज्य के सभी पहलुओं पर विचार करना तथा इसके सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना है।

2. **निर्यात संवर्धन निदेशालय**—इसकी स्थापना अगस्त 1957 में की गयी। इसका मुख्य कार्य निर्यातकों को आवश्यक सहायता तथा सूचनायें देना तथा व्यापार मंडल के आदेशों व सुझावों को लागू करना है। निदेशालय ने चार क्षेत्रीय कार्यालय—दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में स्थापित किये हैं।

3. **निर्यात संवर्धन सलाहकार परिषद**—यह परिषद् केन्द्रीय स्तर पर स्थापित की गई है। इसमें व्यापार के प्रतिनिधि होते हैं। समिति सरकार की निर्यात नीति की समीक्षा करती है तथा सरकार को इस विषय में सलाह देती है।

4. **क्षेत्रीय निर्यात संवर्धन सलाहकार समितियाँ** देश के प्रत्येक हिस्सों से निर्यात की सम्भावनाओं तथा समस्याओं पर ये समितियाँ विचार करती हैं। अपने क्षेत्र की निर्यात विषयक समस्याओं पर ये अपना ध्यान आकर्षित करती हैं। इस समय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अनाकुल बन्दगाहों पर ये समितियाँ कार्य कर रही हैं।

5. **निर्यात संवर्धन परिषद**—निर्यात की मुख्य वस्तुओं के निर्यात वृद्धि हेतु इस परिषद की स्थापना की गई, जिसका मुख्य कार्य मण्डियों के बारे में ज्ञान बढ़ाना, माल को मण्डी में खपाने के तरीके में सुधार लाना आदि है।

6. **वस्तु मण्डल**—वस्तु मण्डल एक वैज्ञानिक संस्था है, जो अपने कार्य क्षेत्र की विशिष्ट वस्तु के उत्पादन, विकास तथा निर्यात के लिए कार्य करते हैं।

7. **निर्यात साख तथा गारण्टी निगम**—इस निगम द्वारा राजनीतिक व व्यापारिक जोखिमों का बीमा किया जाता है तथा बैंकों को निर्यात बिलों पर पुनर्वित्त के रूप साख प्रदान किया जाता है।

8. **राज्य व्यापार निगम**—इस निगम की पृथक से व्याख्या की गई है।

9. **खनिज व धातु व्यापार निगम**—यह निगम सन् 1963 में स्थापित किया गया था और वर्तमान में यह निगम खनिजों के निर्यात विस्तार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार गृह के रूप में कार्य कर रहा है। सन् 1974-75 में इसके माध्यम से 737 करोड़ रु० का व्यापार किया गया था।

10. **निर्यात निरीक्षण परिषद**—भारतीय निर्यात निरीक्षण परिषद् की स्थापना निर्यात अधिनियम 1966 के अन्तर्गत की गई। इसमें व्यापार व उद्योगों के प्रतिनिधि तथा तकनीकी विशेषज्ञ हैं। परिषद् को सरकार के द्वारा अनुदान, ऋण आदि के रूप में आर्थिक सहायता मिलती है।

11. **व्यापार विकास अधिकरण**—सन् 1971 से व्यापार विकास अधिकरण की स्थापना विदेशी व्यापार मन्त्रालय के अधीन की गई है। अधिकरण का प्रमुख उद्देश्य निर्यातकर्ताओं और सरकार को विस्तृत प्रबन्ध सेवाएँ उपलब्ध करना है। व्यापार विकास अधिकरण द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रबन्ध-सेवाओं को हम पाँच मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—(अ) नये बाजार, उत्पाद तथा निर्यातकर्ता के लिये उपलब्ध की जाने वाली सेवाएँ, (स) निर्यातकर्ताओं को प्राप्त वर्तमान सुविधाओं व सेवाओं में तेजी लाना, (द) निर्यात सम्बन्धी सेवाओं तथा सहायता में समन्वय स्थापित करना, (य) निर्यातकों को प्राप्त निर्यात सुविधाओं व सेवाओं में उत्तरोत्तर सुधार करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रारम्भिक अवस्था में तो अधिकरण अपनी क्रियाएँ सीमित ही रखेगा, किन्तु बाद में धीरे-धीरे अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करता जाएगा।

12. **भारतीय निर्यात संगठनों का फैडरेशन**—इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली है। यह निर्यात संगठनों को शीर्षस्थ संस्था के रूप में कार्य करता है। इसका कार्य विभिन्न संगठनों और संस्थाओं को निर्यात सम्वर्द्धन क्रियाओं में समन्वय स्थापित कर उसे गति प्रदान करना है।

13. **निर्यात गृह**—निर्यात व्यापार में विशिष्टीकरण प्राप्त के लिए प्रमुख व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनों के रूप में मान्यता देने के बारे में सरकार ने एक योजना तैयार की है। इन निर्यात गृहों को निर्यात व्यापार के सम्बन्ध में विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। अब तक मान्यता प्राप्त गृहों की संख्या 224 हो चुकी है।

14. **भारतीय पैकेजिंग संस्थान**—इसकी स्थापना मई 1966 में हुई थी। पैकेजिंग के बारे में यह पाठ्यक्रम और गोष्ठियाँ आयोजित करता है।

15. **भारतीय विदेशी व्यापार संस्था**—यह एक स्वशासी संस्था के रूप में समिति रजिस्ट्रेशन अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित किया गया है। इस संस्था का कार्य विदेशी व्यापार से सम्बन्धित प्रशिक्षण, गवेषणा तथा बाजार का अध्ययन करना है।

16. **भारतीय व्यापार मेला तथा प्रदर्शनी परिषद**—यह परिषद एक स्थायी है जो कि बम्बई में स्थित है। इस परिषद का मुख्य उद्देश्य निर्यात संवर्द्धन हेतु विदेशों आयोजित औद्योगिक तथा व्यापारिक मेलों एवं प्रदर्शनियों में भाग लेना तथा प्रचार-प्रसार कार्य करना है।

(स) निर्यात प्रोत्साहन तथा सहायता योजनाएँ

विभिन्न योजनाओं का विवरण इस प्रकार है :—

1. **कच्चे माल व पुर्जों का आयात**—निर्यातित माल का एक निर्धारित प्रतिशत मूल्य उन कच्चे पदार्थों तथा पुर्जों के आयात हेतु उपयोग की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में पड़ती है।

2. **अग्रिम लाइसेंस**—कुछ उद्योगों में अग्रिम लाइसेंस देने की व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार निर्यातकों द्वारा निर्यात हेतु बनने वाले सामान का कच्चा माल मँगाया जा सके।

3. **मशीनों का आयात**—कृषि, खनिज, निर्माण उद्योगों व बागान को उनके कुल निर्यातों के 10 प्रतिशत तक आवश्यक मशीन व पुर्जे आयात करने की अनुमति दी जाती है।

4. **आयातित माल का विक्रय**—निर्यात संवर्द्धन योजना में जो माल आयात किया जाता है वह मुख्य रूप में निर्यातक को अपने कारखाने में ही काम में लाना चाहिए। लेकिन विशेष दशाओं में वह माल उसी क्षेत्र में अन्य निर्यातक को बेचा जा सकता है।

5. **देशी माल की सुविधा**—निर्यात वृद्धि हेतु योजना में कुछ देशी कच्चे पदार्थों को रियायती कीमत में दिया जाता है साथ ही इनके वितरण में प्राथमिकता दी जाती है।

6. **ऋण सुविधाएँ**—निर्यातों के प्रोत्साहन हेतु तरह-तरह की ऋण सुविधाएँ दी गई हैं।

7. **कर सम्बन्धी रियायतें**—परम्परागत वस्तुएँ जैसे—चाय, पटसन आदि के निर्यात पर समय-समय पर कमी की जाती रही है। 1976 में ही पटसन की वस्तु पर निर्यात शुल्क सर्वथा हटा दिया गया है।

8. **निर्यात हेतु परिवहन तथा भाड़े की रियायतें**—निर्यात वृद्धि हेतु अनेक उपायों में से परिवहन की पर्याप्त सुविधाओं का प्राप्त होना भी काफी महत्त्वपूर्ण है। निर्यातकों को इस बारे में कई प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं।

9. **निर्यात पर शुल्क वापसी की सुविधा**—शुल्क वापसी स्कीम के अन्तर्गत निर्यातक निर्यात उत्पादों के निर्माण में प्रयुक्त कच्चे माल तथा संघटकों पर दिए गये सीमा शुल्क तथा उत्पादन शुल्क वापस प्राप्त कर सकते हैं।

(द) निर्यात सम्वर्द्धन के अन्य कार्य

1. **निर्यात सदन**—निर्यात व्यापार में विशिष्टीकरण का विकास करने के उद्देश्य से विख्यात व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनों के रूप में मान्यता देने के बारे में सरकार ने यह योजना बनायी थी।

2. **विपणन विकास निधि**—जुलाई सन् 1963 में भारत सरकार ने विपणन

मिनियम इत्यादि—जिनसे हम अर्द्धनिर्मित अथवा निर्मित वस्तुएँ विदेशों को भेज सकते हैं। अतः इस ओर सरकार को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

निर्यात में विविधता लाने के लिये भारत से खली, चीनी व डिब्बे में बन्द मछलियों का निर्यात बढ़ाया जा सकता है। नई वस्तुओं में साइकिलों, कपड़ा सीने की मशीनों, बिजली की मोटर, मशीन टूल्स, दवायें, औद्योगिक मशीनरी, प्लास्टिक का सामान व अन्य निर्मित माल का निर्यात बढ़ाया जाना चाहिये। भारत से फल-फूल व सब्जी, कच्चा लोहा, समुद्र से प्राप्त होने वाली वस्तुओं आदि का निर्यात बढ़ाना चाहिए। हमें विदेशी पर्यटकों को आकर्षित करना चाहिए क्योंकि अपने वन, पहाड़, नदियों के ऐतिहासिक स्मारकों की वजह से यह देश पर्यटकों के लिये स्वर्ग तुल्य बनाया जा सकता है।

नई वस्तुओं के उत्पादन और विकास के साथ-साथ हमें नये बाजारों की खोज में भी संलग्न रहना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन व पश्चिमी यूरोप के परम्परागत बाजारों में भारत के निर्यातों में महत्वपूर्ण वृद्धि की आशा करना उचित नहीं है।

भविष्य में दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इन देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत सामानों व कच्चे माल की काफी आवश्यकता होगी, भारत, जापान व केन्द्रीय नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में व्यापार बढ़ाने से हमारे निर्यात व्यापार में स्थिरता भी आएगी।

6. **नवीन तकनीक**—कोई देश किन वस्तुओं का निर्यात कर सकता है यह प्राकृतिक साधनों की मात्रा एवं प्रकार के साथ-साथ तकनीकी विकास पर निर्भर करता है। पुरानी व रूढ़िवादी तकनीकों के साथ काम करते हुए किसी भी देश के लिए विश्व व्यापार में अपना स्थान बनाये रखना सम्भव नहीं है। हम पुरानी व परम्परागत तकनीकों का ही उपयोग कर रहे हैं जिसके कारण आज हमारी ऊँची लागत वाली घटिया किस्म की वस्तुएँ विश्व बाजार में आधुनिक तकनीकों द्वारा उत्पादित श्रेष्ठ किस्म की सस्ती वस्तुओं के साथ मुकाबला नहीं कर पा रही हैं। अतः यदि हमें विदेशों में अपनी वस्तुओं के लिए बाजारों का विकास करना है तो यह आवश्यक है कि हम उत्पादन की आधुनिक तकनीकों को अपनाएँ। आधुनिक तकनीकों को तेजी से अपनाने के कारण ही आज जापान विश्व व्यापार में अग्रणी हो गया है।

7. **मूल्यों में स्थिरता**—निर्यात में सुव्यवस्थित ढंग से वृद्धि करने के लिए मूल्यों में स्थिरता लाना आवश्यक है। जब तक आन्तरिक लागत मूल्य स्तरों को काफी सीमा तक कम नहीं किया जाएगा तब तक निर्यातकों की वास्तविक प्राप्तियों में कमी रहेगी और इसका परिणाम यह होगा कि निर्यातकों से प्राप्त साधनों का उत्तरोत्तर अधिक उपयोग देश में बेची जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए किया जाता रहेगा।

8. **कच्चे माल की निरन्तर उपलब्धि**—निर्यात में वृद्धि करने के लिए निर्यात व्यापार संस्थान ने यह सिफारिश की है कि मुख्य कच्चे मालों की भावी माँग को ध्यान में रखकर उनकी मात्राओं का अनुमान लगाया जाना चाहिए और उनकी निरन्तर उपलब्धि की व्यवस्था होनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों से हमारे निर्यात करने वालों की यह एक बड़ी शिकायत रही है कि उन्हें आवश्यकतानुसार कच्चा माल प्राप्त नहीं हो पाता। अतः कच्चे माल का ठीक प्रबन्ध करना आवश्यक है।

निर्यात व्यापार संस्थान का एक सुझाव निर्यातों का क्षेत्रीय विभाजन करने, यहाँ तक कि प्रत्येक देश के लिए निर्यात के लिए अलग-अलग लक्ष्य निर्धारित करने के सम्बन्ध में हैं। इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययनों द्वारा नये बाजारों की खोज की आवश्यकता है।

9. जो लोग **निर्यात क्षेत्र में अच्छे परिणाम** दिखाते हैं उनकी सराहना की जानी चाहिए। सन् 1969 में पहली बार सफल निर्यातकों को पुरस्कार दिये गये।

10. निर्यात बढ़ाने के लिए हमारे प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब विकसित **देश उदार आयात नीति अपनाएं** और विकासोन्मुख देशों की बनी हुई वस्तुओं का स्वागत करें। अन्य शब्दों में, विकासशील देशों का निर्यात संवर्द्धन कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है जब विकसित देश आयात संवर्द्धन कार्यक्रम अपनाएँ।

11. **अन्य सुझाव**—

(i) कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों में निर्यात इकाइयों के विकास को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(ii) हमारा माल विदेशी मण्डियों में बिके और हमें नयी-नयी विदेशी मण्डियाँ मिलें तो सबसे पहले हमें अपना उत्पादन व्यय घटाना होगा ताकि हमारी वस्तुओं का दाम कम हो सके।

(iii) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की किस्मों को सुधारा जाए।

(iv) निर्यात के लिए पर्याप्त भण्डार बनाया जाए ताकि निर्यात माँग की निरन्तर पूर्ति की जा सके।

(v) निर्यात बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि हम अन्तर्राष्ट्रीय नुमाइशों और मेलों में अधिकाधिक भाग लें जिससे हमारे माल का पर्याप्त विज्ञापन हो सके।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित उद्योगों की निर्यात में अधिक अंशदान करना राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत के राजकीय व्यापार निगम के कार्य संचालन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। क्या राजकीय व्यापार घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने का एक सफल ढङ्ग है।

2. सन् 1951 से भारतीय विदेशी व्यापार की प्रमुख प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।

3. भारत के विदेशी व्यापार की वर्तमान प्रवृत्तियों को बताइये । आप प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए क्या सुझाव देंगे ?

4. हमारे निर्यात व्यापार की मदें क्या-क्या हैं ? वर्तमान समय में निर्यातों को प्रोत्साहित करने का क्या महत्त्व है ?

5. निर्यात संवर्द्धन की तकनीकी को समझाइए और कठिनाइयाँ इंगित कीजिए जो कि इस सम्बन्ध में एक आर्थिक रूप से कम विकसित देश को उठानी पड़ती है ।

6. "आर्थिक आत्मनिर्भरता का आशय है कि भारत को अपने निर्यात इस सीमा तक बढ़ा लेने चाहिए कि वह आवश्यक आयातों का भुगतान कर सके ।" विवेचन कीजिए ।

28

औद्योगिक सम्बन्ध : औद्योगिक संघर्ष
(Industrial Relations : Industrial Disputes)

औद्योगिक संघर्ष पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है। औद्योगिक संघर्ष से तात्पर्य सेवायोजकों और श्रमिकों के बीच होने वाले मतभेदों से है जिनके परिणामस्वरूप हड़तालें, तालाबन्दी, काम की धीमी गति, घेराव तथा अन्य इसी प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। **डॉ० राधाकमल मुकर्जी** के शब्दों में "पूँजीवादी उद्योग के विकास ने, जिनका अर्थ उत्पत्ति के साधनों पर थोड़े से साहसियों के वर्ग का नियन्त्रण है, विश्व भर में प्रबन्ध और श्रम के बीच संघर्ष की बड़ी समस्या को हमारे सम्मुख ला दिया है। औद्योगिक अशान्ति, औद्योगिक विवाद व श्रम संघर्ष इत्यादि औद्योगिक संघर्ष के ही पर्यायवाची हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्ष की ऐतिहासिक समीक्षा

भारत में औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में औद्योगिक संघर्ष की समस्या नहीं थी, क्योंकि उद्योगपति संगठित तथा शक्तिशाली थे और श्रमिक संगठित नहीं थे। 19वीं शताब्दी में औद्योगिक सङ्घर्ष का केवल एक उल्लेखनीय उदाहरण मिलता है, जबकि सन् 1877 व सन् 1882 में क्रमशः एम्प्रेस मिल नागपुर तथा बम्बई की एक सूती मिल में औद्योगिक सङ्घर्ष हुए। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही श्रमिकों ने हड़ताल को एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र के रूप में अपनाया। सन् 1920 में 2 हड़तालें हुईं जिनमें 15 लाख श्रमिकों ने भाग लिया। सन् 1922 में 396 हड़तालें हुईं जिनमें 6 लाख श्रमिकों ने भाग लिया। केवल सन् 1928 और 1980 के बीच बहुत-सी हड़तालें और झगड़े हुए, क्योंकि श्रमिक सङ्घ आन्दोलन पर साम्यवादियों का नियन्त्रण था और वे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को हड़तालों द्वारा नष्ट करना चाहते थे। सन् 1929 में शाही श्रम-आयोग नियुक्त हुआ, जिसकी रिपोर्ट ने केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को कुछ वैधानिक कार्यवाहियाँ करने के लिए प्रोत्साहित किया। सन् 1930 से सन् 1937 तक सामान्यतः औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति थी। परन्तु सन् 1937-39 में हड़तालों का ताँता लग गया जिसका प्रमुख कारण कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के कारण श्रमिक वर्ग में चेतना का विकास होना तथा मन्दी काल में कम की गई मजदूरी की दरों में वृद्धि की माँग थी। युद्धकाल में भारत सुरक्षा नियम की धारा 81 (अ) लागू होने के कारण अपेक्षाकृत औद्योगिक शान्ति रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् औद्योगिक सङ्घर्षों में बहुत वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए सन् 1947 में 1,811 बार कार्य बन्द हुआ तथा 1·66 करोड़ दिनों की हानि हुई। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद, विशेषकर आयोजित विकास के बाद इस स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। सन् 1957 तथा उसके बाद मूल्यों में तीव्र वृद्धि के कारण औद्योगिक विवादों की संख्या अत्यधिक हो गई। सन् 1966 में हड़तालों का एक उग्र रूप घेराव सामने आया और साम्यवादियों से प्रेरणा पाकर अनेक घेराव, पश्चिमी बङ्गाल, केरल व अन्य राज्यों में हुए। सन् 1968-69 में तो उग्रवादी मजदूरों ने केन्द्रीय आवास निर्माता फैक्ट्री में आग लगा दी और उसमें अनेक अधिकारी जीवित जलने से बचे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से अब तक भारत में औद्योगिक संघर्ष का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है।

औद्योगिक संघर्ष

वर्ष	सङ्घर्षों की संख्या	श्रमिक (लाखों में)	जन दिन की हानि लाखों में
1966	2556	14·10	138·46
1970	2889	19·28	205·63
1978	2728	14·70	21·51
1981	1926	11·8	226·0

औद्योगिक संघर्ष के कारण

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से औद्योगिक सङ्घर्ष के कारणों को हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं :—

1. आर्थिक कारण
2. प्रबन्ध एवं व्यवस्था सम्बन्धी कारण
3. राजनैतिक कारण

1. आर्थिक कारण

औद्योगिक सङ्घर्षों के आर्थिक कारणों के अन्तर्गत निम्नलिखित कारणों का समावेश किया जा सकता है :—

(i) अधिक मजदूरी की माँग—श्रमिक सङ्घर्षों का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण अधिक मजदूरी की माँग है। पिछले कुछ वर्षों में मजदूरी में मँहगाई के अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है। फलस्वरूप श्रमिकों की क्रय-शक्ति कम हो गई है और उनका जीवन-स्तर भी गिर रहा है। अतः अधिकांश औद्योगिक विवाद श्रमिकों द्वारा अपनी मजदूरी में वृद्धि करने के प्रयत्नों का परिणाम है।

(ii) बोनस की माँग—मजदूरों में अब यह चेतना आ गई है कि उद्योगों के लाभ में उन्हें अधिक-से-अधिक भाग मिलना चाहिए। क्योंकि यह लाभ मुख्यतः उनके

श्रम का फल है। इसलिए कई बार बोनस न मिलने अथवा बोनस कम मिलने के कारण भी हड़तालें हो जाती हैं।

(iii) **काम करने की दशाएँ**—भारत में अनेक औद्योगिक सङ्घर्ष, कारखाने के अस्वस्थ वातावरण, बुरी गृह व्यवस्था, दोषपूर्ण संयंत्र, काम करने के अधिक घंटे आदि बातों को लेकर भी होते रहते हैं।

(iv) **भर्ती पद्धति**—भारत में श्रमिकों की भर्ती प्रायः मध्यस्थों के द्वारा की जाती है। अतः कभी मध्यस्थों की सहानुभूति में या कभी उनके विरोध में हड़तालें की जाती है।

2. प्रबन्ध एवं व्यवस्था सम्बन्धी कारण

(i) **श्रम एवं पूँजी का पारस्परिक सम्बन्ध**—जब कभी श्रमिकों को अनुशासन-हीनता या अन्य बात के लिए काम से निकाला जाता है तो निकाले गए श्रमिकों की सहानुभूति में श्रमिक हड़ताल कर देते हैं। श्रमिकों को पीड़ित करना, श्रमिक सङ्घों को मान्यता देने से इन्कार करना, मशीन में टूट-फूट करना, श्रमिकों की अशिष्टता अथवा अनुशासनहीनता आदि कारण भी औद्योगिक सङ्घर्ष को जन्म देते हैं।

(ii) **श्रमिकों की अशिक्षा**—श्रमिकों की अशिक्षा व भोलापन का कुछ स्वार्थी लोग लाभ उठा कर उनमें पूंजीपतियों के विरुद्ध वैमनस्य व कटुता के बीज बो देते हैं जिसके कारण भी हड़ताल होती है।

(iii) **विवेकीकरण**—औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने तथा मितव्ययिता के दृष्टि-कोण से कारखानों के विवेकीकरण की योजनाएँ कार्यान्वित की गईं, जिनके विरोध में भी हड़तालें हुईं।

(iv) **प्रबन्धकों का दुर्व्यवहार**—जब भारतीय प्रबन्धक एवं निरीक्षक श्रमिकों के साथ अनुचित एवं असम्मानपूर्ण व्यवहार करते हैं तो वे इसके प्रतिरोध के लिए हड़ताल कर देते हैं।

(v) **सामूहिक सौदेबाजी का अभाव**—भारतीय श्रमिकों व सेवायोजकों के बीच प्रायः सम्पर्क का अभाव रहता है, जिसके परिणामस्वरूप छोटी-छोटी बातों पर हड़तालें हो जाती है। क्योंकि ऐसी व्यवस्था का अभी तक अभाव था जिससे सेवायोजकों और मजदूरों में परस्पर शान्तिपूर्ण बात हो सके।

(vi) **छुट्टियों के लिए तंग करना**—जब श्रमिकों को धार्मिक व सामाजिक अवसरों पर छुट्टी नहीं दी जाती या उन्हें वेतन सहित अवकाश नहीं दिया जाता तो वे हड़ताल कर दिया करते हैं।

3. राजनैतिक कारण

भारत में श्रमिक सङ्घों का पथ प्रदर्शन राजनैतिक नेताओं द्वारा किया जाता है और भारतीय श्रमिक अशिक्षित होने के कारण बहकावे में आ जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व श्रमिकों की हड़तालों का मुख्य कारण राजनैतिक विरोध था। परन्तु आजकल नेता प्रायः अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए हड़ताल कराते हैं।

नीचे तालिका में औद्योगिक सङ्घर्षों का कारण (प्रतिशत में) दर्शाया गया है :—

औद्योगिक संघर्षों के कारण (प्रतिशत में)

कारण	1979	1980	1981
1. मजदूरी एवं भत्तें	31·6	28·4	28·7
2. बोनस	8·8	7·3	7·8
3. कार्मिक एवं छटनी	21·7	24·3	21·4
4. छुट्टी एवं कार्य के घण्टे	2·4	2·2	2·2
5. अनुशासनहीनता एवं हिंसा	9·4	8·9	10·2
6. अन्य	26·1	28·9	29·7
कुल	100·0	100·0	100·0

औद्योगिक सङ्घर्षों के कारणों का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि 1981 में 28·7% झगड़े मजदूरी व भत्ते के कारण थे तथा बोनस आधार पर 7·8% झगड़े थे। कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु इससे समय हानि में वृद्धि हुई।

इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट, कलकत्ता में दिसम्बर 1970 में आयोजित एक विचार गोष्ठी में भारत में औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या के निम्नलिखित कारण बताए गए हैं[1]—

1. Chatterjee, N. N. : Interpreting the Industrial Relations Situation in India (Indian Labour Journal, January 1972, p. 23-24.)

सार्वजनिक उपक्रमों के प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा तैयार सूची	निजी क्षेत्र के प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा तैयार सूची	सरकारी विभागों के प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा तैयार सूची
(1) डिपूटेशन पर प्रबन्धकों की नियुक्ति के कारण निश्चित वायदों (commitment) का अभाव।	(1) श्रम सङ्घों में आन्तरिक और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा	(1) निजी क्षेत्र के सेवायोजकों का संकीर्ण दृष्टिकोण।
(2) राजनीति का प्रभुत्व।	(2) श्रम द्वारा समझौता एवं अनुबंधों का उल्लंघन।	(2) श्रम सङ्घों में पारस्परिक एवं आंतरिक प्रतियोगिता।
(3) निजी क्षेत्र द्वारा अधिक मजदूरों दिया जाना।	(3) अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप।	(3) श्रम नीति का हमेशा प्रभावशाली न होना।
(4) आदर्श सेवा योजना की धारण का स्पष्ट न होना।	(4) अतिरेक श्रम को निकालना।	(4) राजनैतिक दलों द्वारा श्रम का शोषण।
(5) सार्वजनिक उपक्रमों में श्रम सम्बन्धी निर्णय लेने में औपचारिकताओं के कारण विलम्ब होना।	(5) श्रम की माँग में निरन्तर वृद्धि।	(5) राजकीय हस्तक्षेप की सीमा का परिभाषित न होना।
(6) सार्वजनिक क्षेत्र में बहुसंयन्त्र उपक्रमों का होना और विभिन्न संयन्त्रों में पृथक् और विरोधी नीतियाँ होना।	(6) श्रम संघों का राजनैतिक उद्देश्यों के लिए योग होना।	(6) कार्य कुशलता और उत्पादकता वृद्धि पर जोर दिया जाना।
(7) अधिकारों का कम भारार्पण (Delegation) होना।	(7) श्रमिकों एवं प्रबंधकों का परस्पर विरोधी दृष्टिकोण।	(7) सरकार द्वारा नियन्त्रित उद्योगों में अनुशासन हीनता।
(8) संचालक मण्डलों में श्रम संघ नेताओं के प्रतिनिधित्व का अभाव।	(8) उत्पादकता को प्राथमिकता न देना।	
(9) संसद या सम्बन्धित मंत्रालय द्वारा अत्यधिक हस्तक्षेप।		
(10) विभिन्न सार्वजनिक उपक्रमों में विभिन्न सेवा दशाएँ।		

(11) नौकरी की अधिक सुरक्षा ।
(12) सरकार द्वारा प्रबन्धन का समर्थन न किया जाना ।
(13) पुरस्कार अथवा दण्ड व्यवस्था का अभाव या अप्रभावशील होना ।

औद्योगिक संघर्षों के प्रभाव या परिणाम

औद्योगिक संघर्षों का सीमा परिणाम हड़ताल या तालाबन्दी होता है जिससे उत्पादकों, श्रमिकों व राष्ट्र सभी को हानि होता है, जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा :—

1. **उत्पादकों के लिए हानि**—औद्योगिक संघर्षों के कारण उत्पादकों को निम्न हानियाँ उठानी पड़ती हैं :—

(i) **उत्पादन घटना**—जब किसी उद्योग में हड़ताल या तालाबन्दी हो जाती है तब उत्पादन कार्य में रुकावट पड़ती है, जिसमें उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है। राष्ट्रीय-लाभांश व प्रति व्यक्ति आय घटती है ।

(ii) **अनुशासनहीनता**—हड़ताल-ग्रस्त उद्योग में अनुशासन व्यवस्था समाप्त हो जाती है । हड़तालों द्वारा उत्पन्न अनिश्चितता के वातावरण में अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है ।

(iii) **अधिक सहायक व्यय**—औद्योगिक संघर्ष के कारण उत्पादक को उत्पादन कार्य बन्द रहने के कारण एक तो सम्भावित लाभ से वंचित रहना पड़ता है दूसरी ओर सहायक खर्च, जैसे—कारखाना भवन का किराया, पूँजी का ब्याज, ऊँचे पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों का वेतन आदि भी देना पड़ता है ।

(iv) **श्रम और पूँजी के बीच घृणा**—हड़तालों के कारण सेवायोजक श्रमिकों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, जिससे श्रम और पूँजी के बीच की खाई और भी गहरी हो जाती है । फलतः औद्योगिक उत्पादन कुप्रभावित होता है ।

2. **श्रमिकों के लिए हानि**—औद्योगिक संघर्ष का सबसे बुरा प्रभाव श्रमिकों पर पड़ता है । हड़ताल हो या तालाबन्दी, श्रमिकों को उतने समय बेकार बैठे रहना पड़ता है । उनकी मजदूरियाँ वैसे ही कम होती हैं और कुछ दिन वेतन न मिलना तो उनके लिए बहुत ही कष्टदायक होता है । मजदूरी के अभाव में श्रमिक व उनके आश्रितों को पूरी खुराक न मिलने के कारण स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है । उनका पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है । श्रमिकों में अनैतिकता, नैराश्य व अन्धकार की भावना जागृत हो जाती है ।

हड़तालों की असफलता में श्रमिकों को और भी विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है । क्योंकि इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों को अपने सङ्गठन के प्रति आस्था

कम हो जाती है और इससे श्रम संघ आन्दोलन को गहरी चोट पहुँचती है। एकता के अभाव में मिल मालिक भी मनमानी करते हैं।

(अ) **समाज व राष्ट्र के लिए हानि, सामाजिक अव्यवस्था**—हड़तालों व तालाबन्दियों के फलस्वरूप सामाजिक वातावरण दूषित हो जाता है और समाज में अनिश्चितता और असुरक्षा छा जाती है।

(ब) **जनसाधारण के लिए संकट**—रेल, डाक, तार, पानी, बिजली आदि से सम्बन्धित संस्थानों में हड़ताल होने की दशा में जनसाधारण को बड़ी असुविधा हो जाती है। क्योंकि ये जीवन की आवश्यक सेवाएँ हैं। कभी-कभी हड़तालों के परिणामस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति कम होने से मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और चोर बाजारी जैसी समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक संघर्षों में श्रमिक, मालिक व राष्ट्र को अपार क्षति होती है, परन्तु इसके कुछ अच्छे परिणाम भी होते हैं, जैसे—(अ) श्रमिकों में पारस्परिक सहयोग बढ़ जाता है। (ब) श्रमिकों को आवश्यक मजदूरी, बोनस व अन्य सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। (स) कार्य करने की दशाओं में सुधार होता है और काम करने के घण्टों में कमी आती है। (द) मिल मालिक जागरूक रहते हैं एवं शोषण के पग बहुत सोच-समझ कर रखते हैं।

औद्योगिक संघर्षों के निपटारे के लिए व्यवस्था

सन् 1947 के औद्योगिक संघर्ष कानून, जिसका संशोधन 1956 में हुआ, के अन्तर्गत औद्योगिक संघर्षों के निपटारे के लिए भारत में निम्न व्यवस्था है :—

1. **कारखाना समिति** (Works Committees)—प्रत्येक कारखाने में अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कारखाना समितियाँ बनाई गई हैं, जिनमें श्रमिकों व सेवायोजकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। इन समितियों का उद्देश्य श्रमिकों एवं मालिकों के मध्य दैनिक जीवन में उत्पन्न होने वाले छोटे-मोटे झगड़ों को रोकना और अच्छे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना है।

2. **समझौता अधिकारी** (Conciliation Officers)—समझौता अधिकारी श्रमिक व मालिक दोनों पक्षों को इकट्ठा लाकर प्रारम्भ में ही झगड़े को निपटाने का प्रयत्न करते हैं। यदि दोनों पक्षों में समझौता हो जाता है तो दोनों पक्ष इस पर हस्ताक्षर कर देते हैं और यह समझौता दोनों पक्षों को मानना पड़ता है। यदि समझौता अधिकारी के प्रयत्न असफल रहते हैं तो वह अपनी रिपोर्ट सरकार को भेज देता है। तत्पश्चात् सरकार झगड़े को समझौता मंडल या जाँच न्यायालय को सौंप देता है।

3. **समझौता का सुलह मंडल** (Board cf Conciliation)—सरकार औद्योगिक संघर्षों को निपटाने के लिए एक मंडल भी नियुक्त कर सकती है जिसमें एक चेयरमैन और दो-चार सदस्य होते हैं। उनकी संख्या सरकार निर्धारित करती है। सदस्यों में मालिकों तथा श्रमिकों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि होते हैं। समझौता मण्डल को दो माह के अन्दर ही समझौते का अपना प्रयत्न समाप्त करना होता है। इसे भी अपनी सफलता या असफलता के सम्बन्ध में सरकार को रिपोर्ट देनी पड़ती है।

4. जाँच न्यायालय (Court of Inquiry)—जब कोई औद्योगिक संघर्ष समझौता अधिकारियों या समझौता मंडल द्वारा नहीं निपटाया जा सकता तो इसे जाँच न्यायालय में भेज दिया जाता है। इस प्रकार के न्यायालय में एक या दो स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। यह जाँच न्यायालय औद्योगिक संघर्ष के बारे में आवश्यक जाँच कर 6 माह के अन्दर अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रेषित कर देता है।

5. ओद्यौगिक न्यायालय (Industrial Tribunal)—अन्त में सरकार झगड़े पर अपना निर्णय देने के लिए अपना मामला औद्योगिक न्यायालय को सौंप सकती है, अर्थात् औद्योगिक न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय होता है। ये न्यायालय दो प्रकार के हैं :—

प्रथम राज्य औद्योगिक ट्रिब्युनल और द्वितीय राष्ट्रीय औद्योगिक ट्रिब्युनल। राज्य औद्योगिक ट्रिब्युनल का अध्यक्ष हाईकोर्ट का एक जज होता है और इसे मजदूरी, बोनस, लाभ-विभाजन आदि सम्बन्धित झगड़ों पर निर्णय देने के लिये कहा जाता है। राष्ट्रीय औद्योगिक ट्रिब्युनल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इसे ऐसे विवाद सौंपे जाते हैं जो या तो राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं या ऐसी औद्योगिक इकाइयों से सम्बन्धित होते हैं जो एक से अधिक राज्यों में स्थिति हों। इनका निर्णय दोनों पक्षों को मानना अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि औद्योगिक संघर्षों को सुलझाने के लिए स्थापित की गई व्यवस्था में ऐच्छिक समझौता (Voluntary Conciliation) तथा मध्यस्थता (Mediation), अनिवार्य समझौता (Compulsory Arbitration) व अदालती निर्णय (Abjudication) सम्मिलित हैं।

पिछले कुछ वर्षों में निम्न दो व्यवस्थाएँ भी औद्योगिक झगड़ों के समाधान के लिए लोकप्रिय हुई हैं :—

1. संयुक्त प्रबन्ध (Join Managment)—सरकार का यह विचार है कि श्रमिकों को प्रबन्ध कार्य से सम्बन्धित करना चाहिए और इसलिए यह सभी उद्योगों में संयुक्त प्रबन्धों की स्थापना की सिफारिश करती है। जहाँ कहीं भी संयुक्त प्रबन्ध परिषदें स्थापित की गई हैं उनसे औद्योगिक सम्बन्ध अच्छे हो गए हैं। तृतीय व चतुर्थ योजना के अन्तर्गत इस योजना को विस्तृत रूप से अपनाए जाने का कार्यक्रम रखा गया। सन् 1960-61 तक यह योजना 23 कारखानों द्वारा अपनाई जा चुकी थी और 15 अन्य कारखाने इसे अपनाने के लिए तैयार थे।

2. रचनात्मक सहयोग (Constructive Co-operation)—इसके अन्तर्गत निम्न सम्मिलित हैं—उद्योग में अनुशासन संहिता (Code of Discipline in Industry), आचरण संहिता (Code of Conduct), औद्योगिक संधि प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) तथा त्रिदलीय कान्फ्रेन्स (Tripartite Conferences)। इसके अनुसार श्रमिक और सेवायोजक कारखाने के अन्दर पारस्परिक सहयोग एवं विश्वास से स्वस्थ वातावरण बनाए रखने का निश्चय कर लेते हैं और आपसी संघर्षों को पारस्परिक परामर्श और समझौते द्वारा निपटाने का

प्रयास करते हैं । जून सन् 1958 में अनुशासन संहिता के अपनाए जाने के उपरान्त औद्योगिक सम्बन्धों में बहुत सुधार हुआ है । अनुशासन संहिता में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :—

(i) बिना उचित नोटिस के तालाबन्दी व हड़ताल नहीं की जा सकती ।

(ii) विभिन्न दलों को बिना एक दूसरे से परामर्श किए कोई एक पक्षीय कार्यवाही नहीं की जा सकती ।

(iii) 'धीरे कार्य करो' की नीति नहीं अपनाई जाएगी और न ही जान-बूझकर सम्बन्ध या सम्पत्ति को क्षति पहुँचाई जाएगी ।

(iv) दोनों पक्षों को कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे कारखाने की औद्योगिक शान्ति भंग हो ।

अनुशासन संहिता के तुरन्त बाद ही औद्योगिक शान्ति प्रस्ताव अपनाया गया जो औद्योगिक संघर्षों को दूर करने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ ।

नवम्बर सन् 1965 में औद्योगिक संघर्ष कानून में संशोधन किया गया, जिसके अन्तर्गत श्रमिकों को नौकरी से अलग किए जाने के सम्बन्ध में अधिक सुरक्षा प्रदान की गई और इसको अवहेलना करने पर जुर्माने को और कड़ा किया गया ।

निष्कर्ष—भारत के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति बनी रहे । श्रमिकों को उचित मजदूरी देकर कार्य की दशा में सुधार करके और प्रबन्ध में भागीदार बनाकर उन्हें उद्योगों में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए । **महात्मा गाँधी** के शब्दों में, "नौकर और मालिक के सम्बन्धों को स्वार्थ की भावना से आबद्ध न होकर एक दूसरे के सुख की भावना पर निर्भर होना चाहिए । लेन-देन की नीति पर स्थिर न होकर पारस्परिक सहानुभूति पर स्थिर रहना चाहिए ।" मजदूर और उद्योगपति दोनों ही एक ही मार्ग के दो राही हैं, एक रथ के दो चक्र हैं और एक साधना के दो साधक हैं । इनके पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे होने चाहिए, ताकि संघर्ष शीघ्रातिशीघ्र समझौते द्वारा निपटाया जा सके । इसी में देश की व श्रमिकों तथा उद्योगपतियों की भलाई निहित है ।

श्रम और पूँजी के मध्य शान्ति पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं ।

1. श्रम प्रबन्ध सम्बन्ध के बारे में सभी प्रमुख सूचनाएँ प्रकाशित करने की नीति अपनानी चाहिए ।

2. सेवायोजकों एवं प्रबन्धकों के बीच समय-समय पर संयुक्त सम्मेलनों की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि यदि सेवायोजकों और श्रमिकों के बीच किसी प्रकार की गलतफहमी है तो वह दूर हो जाय ।

3. श्रमिकों को न्यायोचित मजदूरी देने की दृढ़ नीति अपनानी चाहिए । झगड़ों का एक मुख्य कारण मजदूरी और मँहगाई की विषमता है । मूल्य बढ़ते हैं परन्तु उसके अनुरूप मजदूरी में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती । यदि खास-तौर से

मँहगाई के भत्ते में मूल्य स्तर के आधार पर वृद्धि हो तो यह समस्या हल हो सकती है।

4. श्रमिक के असन्तोष को दूर करने में श्रम-कल्याण के कार्य का बड़ा सहयोग रहता है। श्रम-कल्याण की सुविधाएँ उपलब्ध होने से एक तो मजदूर के चरित्र का विकास होता है और वह अधिक उत्तरदायी तथा अनुशासित होता है और साथ ही उसके मन में उद्योगपति के लिए कटुता भी कम होती है।

5. अखिल भारतीय स्तर पर एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा योजना बनायी जानी चाहिए।

6. मजदूर एक जीवित प्राणी है उसका एक व्यक्तित्व होता है, भावनाएँ और समस्याएँ होती हैं, उनको समझकर ही प्रबन्धकों को उनसे व्यवहार करना चाहिए। आज के युग में औद्योगिक मनोविज्ञान में यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

7. श्रमिकों का जीवन सुखी हो इसके लिए उन्हें कानूनी संरक्षण मिलना चाहिए।

8. जो श्रमिक अपनी दशा में सुधार करने के उत्सुक हैं उन्हें तकनीकी प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

9. औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित सभी विषयों में श्रमिकों का सहयोग लेना चाहिए।

10. जहाँ तक व्यावहारिक हो वहाँ तक श्रमिकों को लाभ में भाग देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

11. श्रमिकों को बढ़ता हुआ रोजगार मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए।

12. स्वतन्त्र संघों के लिए वास्तविक, सामूहिक सौदेबाजी की व्यवस्था होनी चाहिए।

13. शिकायतों के गम्भीर रूप धारण करने के पहले ही उसके लिए उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए। शिकायतों पर कार्यवाही करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए—(अ) शिकायत सुनने का स्थान शान्तिपूर्ण एवं एकाकी होना चाहिए। (ब) श्रमिक को अपने ढङ्ग से अपनी शिकायत करने का अवसर देना चाहिए, (स) शिकायत करने वाले कर्मचारी को शिकायत सुने जाने की अवधि में सन्तुष्ट रखने के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। (द) यदि शिकायत सुनने वाला अधिकारी अपना निर्णय तत्काल नहीं देता तो उसे पीड़ित श्रमिक को यह बतला देना चाहिए कि वह अगला कदम क्या और कब उठाएगा। इससे वह अनुभव करने लगेगा कि प्रबन्ध उसके मामलों में न्यायोचित व्यवहार को तत्पर हैं।

14. समाज की अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन किया जाना चाहिए अर्थात् समाजवाद की स्थापना की जानी चाहिए। समाजवाद में उत्पादन लाभ के लिए नहीं समाज के कल्याण के लिए किए जाते हैं। अतः इसमें व्यक्तिगत लाभ के लिए शोषण का प्रश्न नहीं होता।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में औद्योगिक संघर्षों के प्रमुख कारण क्या हैं ? औद्योगिक शांति की स्थापना के लिए क्या कदम उठाए जा रहे हैं ?

2. औद्योगिक विवादों को तय करने के लिए कानून में क्या उपाय निर्धारित किया गया है ? विस्तार से बतलाइए ।

3. "यदि भारतीय मजदूर कारखानेदारों से मिलकर उत्पादन में वृद्धि नहीं करेंगे तो इससे केवल समाज को ही नहीं, वरन् उनके अपने हितों को भी हानि पहुँचेगी ।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए ।

4. "हड़ताल मजदूरों के शस्त्रालय में अन्तिम शस्त्र होना चाहिए ।" पूर्णतः व्याख्या कीजिए ।

5. भारत में औद्योगित अवनति के क्या कारण रहे हैं ? क्या आप चतुर्थ योजना के अन्तर्गत औद्योगिक सम्बन्धों के अच्छे होने की आशा करते हैं सकारण उत्तर दीजिए ।

29

श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा

(Labour Welfare and Social Security Measures)

श्रम कल्याण का अर्थ—श्रम कल्याण शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। विस्तृत अर्थ में श्रम कल्याण के अन्तर्गत सरकार, उद्योगपति एवं श्रम सङ्गठनों द्वारा कारखाने के अन्दर और बाहर प्रदान की जाने वाली समस्त सुविधाएँ सम्मिलित होती हैं, जिससे श्रमिकों को सामाजिक एवं मानसिक उन्नति होती है। परन्तु संकुचित परिभाषा में केवल सेवायोजकों द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले ऐच्छिक कार्य आते हैं। श्रम कल्याण के अर्थ को अच्छी प्रकार समझने के लिए कुछ विशिष्ट विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **कु० ई० टी० कैली**—"श्रम कल्याण से तात्पर्य किसी फर्म द्वारा श्रमिकों के व्यवहार और कार्य के लिए कुछ नियमों का अपनाया जाना है।"

(ii) **सर एडवर्ड कैटन**—"श्रम कल्याण का अर्थ श्रमिकों के सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए उपलब्ध की जाने वाली दशाओं से है।"

(iii) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ**—"श्रम कल्याण से ऐसी सेवाओं और सुविधाओं को समझा जाना चाहिए जो कारखानों के अन्दर या निकटवर्ती स्थानों में स्थापित की गई हों ताकि उनके काम करने वाले श्रमिक स्वस्थ और शान्तिपूर्ण परिस्थितियों में अपना काम कर सके और अपने स्वास्थ्य तथा नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने वाली सुविधाओं का लाभ उठा सके।"

इस प्रकार श्रम कल्याण का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत सरकार, उद्योगपति तथा श्रम संगठनों द्वारा कारखानों के अन्दर तथा बाहर प्रदान की जाने वाली सुविधाएँ सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य श्रमिकों को शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक उत्थान करना होता है।

श्रम कल्याण का महत्त्व
(भारत में श्रम कल्याण कार्य की आवश्यकता)

1. **औद्योगिक शान्ति की स्थापना**—श्रम कल्याण औद्योगिक शान्ति की स्थापना में सहायक होते हैं क्योंकि जब श्रमिक को इस बात का अनुभव होने लगता है कि सेवायोजक और राज्य उनके ही कल्याण के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित कर रहे हैं

तो उनके मन में एक स्वस्थ भावना पैदा हो जाती है जो औद्योगिक सम्बन्धों को मधुर बनाए रखती है।

2. **श्रमिक के उत्तरदायित्व में वृद्धि**—श्रम कल्याण कार्य की व्यवस्था से श्रमिकों को यह अनुभव होने लगता है कि वे भी उस उद्योग के एक हिस्सेदार हैं, इसलिए वे उस संस्था के विकास में विशेष रुचि लेने लगते हैं।

3. **श्रमिकों की प्रवासी प्रकृति को बदलना और औद्योगिक जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना चाहिए**—भारतीय औद्योगिक श्रमिक नगरों में आकर्षित होकर आयें और स्थायी रूप से रहें, इसके लिए आवश्यक है कि औद्योगिक केन्द्रों में उनके लिए भोजन, मकान व मनोरंजन की सुविधाएँ बढ़ा कर आकर्षण उत्पादन किया जाय।

4. **कुशलता में वृद्धि**—कल्याण-कार्य से श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। क्योंकि अनेक प्रकार से उनका मानसिक और बौद्धिक विकास होता है तथा उनकी कई परेशानियाँ दूर हो जाती हैं।

5. **कल्याण कार्यों का सामाजिक महत्व**—श्रम-कल्याण-कार्यों के द्वारा सामाजिक लाभ भी होते हैं, जैसे कैन्टीन की व्यवस्था, जहाँ श्रमिकों को स्वच्छ और सन्तुलित भोजन मिल सकता हो, श्रमिकों के स्वास्थ्य में सुधार करती है। स्वस्थ मनोरंजन के द्वारा उसकी बुरी आदतें जैसे मदिरापान, जुआ खेलना आदि दूर हो जाती हैं तथा उनमें स्वस्थ व आदर्श चारित्रिक विकास होता है।

6. **अन्य लाभ**—(i) श्रम कल्याण कार्यों से श्रमिकों की अनुपस्थिति की दर कम हो जाती है। (ii) कल्याण कार्य की व्यवस्था, श्रम एवं पूँजी की मानसिन क्रांति के द्वारा उनके हृदय परिवर्तन का एक श्रेष्ठ साधन है। (iii) उन बागान उद्योगों में जो एकान्त स्थानों में स्थिति हैं, विशेष रूप से कल्याण कार्यों की आवश्यकता होती है, जहाँ यातायात व दैनिक उपयोग की वस्तुओं की व्यवस्था करनी होती है।

भारत में कल्याण कार्य

भारत में जो श्रम कल्याण कार्य किए गए हैं, उनका हम चार शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं।

(1) केन्द्रीय एवं राज्य सरकार द्वारा कल्याण कार्य

(अ) केन्द्रीय सरकार द्वारा—द्वितीय महायुद्ध से पहले तक केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण हेतु बहुत ही कम कार्य किये थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त, केन्द्रीय सरकार ने श्रम कल्याण कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेना आरम्भ कर दिया है। केन्द्रीय सरकार के प्रयत्नों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश नीचे डाला जा रहा है—

(i) सन् 1948 ई० के कारखाना अधिनियम, सन् 1952 ई० के खान अधिनियम तथा सन् 1851 के बागान अधिनियम में सेवायोजकों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे अपने संस्थानों में श्रमिकों के लिए कैन्टीन, आराम-गृह, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करें। 500 या अधिक श्रमिकों वाले सभी कारखानों में श्रम कल्याण

अधिकारी की नियुक्ति को भी अनिवार्य बना दिया गया है। इन अधिनियमों में श्रम कल्याण के कार्यों पर अलग से एक अध्याय रखा गया है और उसमें वर्णित कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था करना अनिवार्य बनाया गया है।

(ii) सन् 1946 में कोयले की खानों में कार्य करने वाले मजदूरों के कल्याण के लिए एक कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष स्थापित किया गया, जो श्रमिकों की शिक्षा, चिकित्सा तथा मनोरंजन आदि की सुविधा की व्यवस्था करता है।

(iii) मोटर यातायात में कार्य करने वाले श्रमिकों के कल्याण तथा उनके कार्य करने की दशाओं में सुधार करने के लिए एक मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम बनाया गया।

(iv) सन् 1945 में अबरक खान-श्रम-कल्याण कोष अधिनियम पारित किया गया। इस कोष के द्वारा कई प्रारम्भिक स्कूल खोले गए हैं, बच्चों को छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं तथा पुस्तकें निःशुल्क दी जाती हैं।

(v) लोहे की खानों में कार्य करने वाले मजदूरों के कल्याण के लिए सन् 1961 में The Iron Ore Mines Labour Welfare Cess Act. 1961 बनाया गया।

(vi) बागानों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिए Plantations Labour Act, 1961 में व्यवस्था की गई है।

(vii) सार्वजनिक क्षेत्र उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिए कोष प्रारम्भ किए हैं, जिनके द्वारा श्रम-कल्याण-कार्यों की वित्तीय व्यवस्था की जाती है।

(viii) ग्रेच्युटी भुगतान कानून 1972--इस कानून में श्रमिकों और कर्मचारियों को सेवा निवृत्त होने के बाद एक मुश्त आर्थिक सहायता के रूप में मिलने वाली धन सम्बन्धित श्रमिक और कर्मचारी के लिए एवं उनके परिजनों के लिए बहुत ही उपयोगी साबित होगा।

(ix) कारखानों, बागानों तथा डॉक्स में काम करने वाले श्रमिकों को श्रमवीर की उपाधि से उनके द्वारा, सराहनीय कार्य करने की मान्यता के रूप में, विभूषित किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत 1971-72 में 20 श्रमिकों को श्रमवीर उपाधि दी गई।

(x) प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में 6,8,29,-71·1 तथा 145 करोड़ की व्यवस्था श्रम तथा श्रम कल्याण हेतु की गई है तथा कल्याण के विविध पहलुओं को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रम चलाए गए है।

(xi) भारत सरकार ने एक ऐसी योजना भी शुरू की है जिसके अनुसार श्रमिकों की काम करने की दशाओं का सर्वेक्षण किया जाएगा। इसका उद्देश्य सही स्थिति की जानकारी प्राप्त करके कल्याण कार्य की व्यवस्था करना है।

(ब) राज्य सरकार द्वारा—राज्य सरकारों द्वारा भी श्रम कल्याण के क्षेत्र में

सराहनीय कार्य किये जा रहे हैं। स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार ने श्रम कल्याण के लिए आवश्यक अधिनियम बनाए हैं। अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा श्रम कल्याण केन्द्र स्थापित किए गए हैं जिनमें श्रमिकों को शिक्षा व व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय व मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। कुछ राज्यों के अन्तर्गत कार्य करने वाले श्रम कल्याण केन्द्रों की संख्या व उनके द्वारा आयोजित की गई विभिन्न प्रकार की क्रियाओं का विवरण नीचे सारणी में दिया जा रहा है।

कुछ राज्य सरकारों द्वारा संचालित कल्याण केन्द्र

राज्य का नाम	कल्याण केन्द्र की संख्या	आयोजित किय गये कार्यक्रम
(1) उत्तर प्रदेश	71 श्रम कल्याण केन्द्र तथा दो बाल मनोरंजन केन्द्र	चिकित्सा सहायता, वाचनालय, पुस्तकालय, आन्तरिक व बाह्य खेल, सिलाई, कढ़ाई, बुनाई बनाने का प्रशिक्षण तथा मनोरंजन सुविधाएँ।
(2) महाराष्ट्र	72	वाचनालय व पुस्तकालय, आन्तरिक व बाह्य खेल-कूद, व्यायामशाला, हाथ करघा उद्योग प्रशिक्षण, शिशु शिक्षा।
(3) मध्य प्रदेश	33	वाचनालय व पुस्तकालय, आन्तरिक व बाह्य खेल-कूद, प्रौढ़ शिक्षा, सांस्कृतिक कार्यक्रम, मनोरंजन।
(4) राजस्थान	29	वाचनालय एवं पुस्तकालय, चिकित्सा सम्बन्धी सहायता, मातृत्व एवं शिशु कल्याण सुविधाएँ, प्रौढ़ शिक्षा, हाथ करघा उद्योग का प्रशिक्षण आदि।
(5) गुजरात	28	मनोरंजन एवं शैक्षिक सुविधाएँ।
(6) बिहार	52	मनोरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ, खेल-कूद, शिल्प सम्बन्धी प्रशिक्षण।
(7) पंजाब	21	पुस्तकालय एवं वाचनालय, आन्तरिक व बाह्य खेल-कूद, मनोरंजनात्मक तथा शैक्षणिक सुविधाएँ, स्त्री श्रमिकों के लिए सिलाई बुनाई।
(8) मैसूर	16	वाचनालय, पुस्तकालय, खेल-कूद, व्यायामशाला, हाथ करघा उद्योग का प्रशिक्षण, सिलाई सम्बन्धी प्रशिक्षण।

Source : Report of the National Commission on labour in India pp 143-44

(2) सेवायोजकों द्वारा किया जाने वाला कल्याण कार्य

यद्यपि भारतीय उद्योग श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति उदासीन रहे हैं, परन्तु हाल के वर्षों में कल्याण सुविधाओं का आयोजन करने में सेवायोजकों ने बहुत प्रगति की है। विभिन्न उद्योगों में सेवायोजकों द्वारा सम्पन्न विविध कार्यों की संक्षिप्त व्याख्या नीचे प्रस्तुत की जा रही है।

(i) **सूती वस्त्र मिल उद्योग**—अधिकांश उद्योगपतियों द्वारा सूती वस्त्र मिलों में चिकित्सालय, मनोरंजन केंद्र, वाचनालय, शिशु-गृह तथा कैन्टीन आदि स्थापित किए गए हैं। जिन मिलों में श्रम-हित कार्य अधिक किए गए हैं जिनमें दिल्ली क्लॉथ एण्ड सेंट्रल मिल्स, दिल्ली, बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, मद्रास, एम्प्रेस मिल्स नागपुर, कैलिको मिल्स अहमदाबाद, मद्रास मिल्स कम्पनी, मदुरा तथा बङ्गलौर ऊलन काटन एण्ड सिल्क मिल्स, बङ्गलौर विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ii) **जूट उद्योग**—जूट उद्योग में मिलों की ओर से कल्याण कार्य सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व भारतीय जूट मिल मालिक संघ को है। इस संघ ने 5 स्थानों पर श्रम कल्याण केन्द्र खोले हैं, जहाँ वाचनालय के अतिरिक्त खेल तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध हैं, इसके अतिरिक्त, मिलों ने अपनी ओर से कैन्टीन, शिशु-गृह, प्राइमरी स्कूल, पुस्तकालय तथा औषधालय की व्यवस्था की है। सभी मिलों में श्रम अधिकारी नियुक्त किए गए हैं जो श्रम कल्याण की देख-रेख करते हैं। उन्होंने पाठशालाओं, अस्पतालों, मनोरंजन गृहों आदि की व्यवस्था की है।

(iii) **चीनी उद्योग**—चीनी के सभी बड़े कारखानों में चिकित्सालय की व्यवस्था की गई हैं। इसके अतिरिक्त स्कूल, मनोरंजन केंद्र, कैन्टीन आदि की सुविधाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

भारत के अन्य प्रमुख उद्योग में जिनमें लोहा इस्पात, सीमेण्ट, कागज, रसायन तथा इन्जीनियरिंग उद्योग उल्लेखनीय हैं, आदि में श्रमिकों के लिए कैण्टीन, शिशुगृह, मनोरंजन, वाचनालय तथा चिकित्सालय सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। रेलवे विभाग द्वारा भी कर्मचारियों के कल्याणार्थ चिकित्सालयों, जलपान गृहों तथा एक्स-रे आदि का आयोजन किया गया है। कोलार की सोने की खानों में भी श्रमिकों के लिए बहुत से हितकारी कार्य किए जा रहे हैं।

(3) श्रमिक संघों द्वारा कल्याण कार्य

पश्चात्य देशों में जहाँ श्रमिक संघों का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका है, श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी कार्य हुए हैं। परन्तु भारत में श्रम कल्याण के क्षेत्र में श्रम संघों द्वारा किए गए कार्य नगण्य हैं। फिर भी कुछ श्रम संघों ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए हैं, जिनमें टेक्सटाइल लेबर एसोसियेशन, अहमदाबाद, मजदूर सभा, कानपुर तथा मिल मजदूर संघ, इन्दौर उल्लेखनीय हैं।

(4) स्वायत्त शासन और धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाएँ

भारत में नगरपालिकाओं और नगर निगमों के द्वारा भी श्रम-कल्याण के कार्य किए गए हैं। इनके द्वारा पाठशालों, अस्पतालाओं, वाचनालयों और मनोरंजन गृहों

की स्थापना की गई है, जिनसे श्रमिक लाभ उठाते हैं। कई धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाएँ भी श्रम कल्याण का कार्य करती है। जैसे वाई० एम० सी० ए०, आर्यसमाज, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी आदि।

श्रम कल्याण कार्यों की असफलता के कारण

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रम कल्याण कार्यों के प्रति सरकार व श्रमिक संघों ने उत्तरोत्तर अधिक रुचि ली है लेकिन फिर भी देश के श्रमिकों की दयनीय दशा तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए अब तक होने वाले श्रम कल्याण कार्य बहुत कम हैं। श्रम कल्याण कार्यों की असंतोषजनक प्रगति के कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

1. भारतीय उद्योगपतियों व सेवायोजकों की एक बड़ी संख्या कल्याण कार्य की ओर उदासीन है और वे कल्याण कार्यों को अपने ऊपर एक विशेष प्रकार का भार समझते हैं।

2. हमारे देश में श्रम कल्याण सम्बन्धी अधिनियम अनियोजित एवं अवैज्ञानिक ढङ्ग से पास हुए हैं।

3. भारतीय मिल श्रमिकों अथवा सरकारों द्वारा संगठित किए गए कल्याण कार्यों में नियोजन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है।

4. श्रम कल्याण कार्यक्रमों के प्रशासन के लिए संस्थान के कल्याण अधिकारी तथा इसके बाहर राज्य निरीक्षालय अपनी भूमिका अनेक कारणों से समुचित रूप से नहीं निभा सके हैं।

5. एक तो धनाभाव के कारण श्रमिक संघ अधिक कल्याण कार्य करने में असफल रहे हैं। साथ ही इस देश में यह समझा जाता है कि श्रमिक संघ केवल हड़ताल करवाने या मालिकों से अधिक मजदूरी वसूल करने का एक साधन मात्र है।

सुझाव

श्रम कल्याण कार्यक्रमों की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. वर्तमान समय में श्रम कल्याण कार्य विभिन्न प्रकार के संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। इन सभी प्रयासों को सम्बन्धित करते हुए एकीकृत योजना के निर्माण की आवश्यकता है।

2. श्रम कल्याण कार्यों के लिए बहुत से अधिनियम बनाए गए हैं लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि अधिनियमों को ठीक प्रकार से लागू किया जाय और श्रम के जिस वर्ग पर ये लागू नहीं हुए हैं, उन पर यह लागू किया जाय।

3. कल्याण कार्यक्रम में तीव्र गति से प्रगति लाने के लिए श्रमिकों को कल्याण समितियों में अधिकाधिक भाग लेने का अवसर देना चाहिए।

4. श्रम सम्बन्धी संस्थाओं का और अधिक विकास किया जाना चाहिए।

5. विभिन्न प्रकार के उद्योगों में विभिन्न श्रेणी के कल्याण कार्यों को प्राथ-

मिकता दी जानी चाहिए। जैसे जिन उद्योगों में स्त्रियाँ कार्य करती हैं उनमें मातृत्व एवं शिशु गृहों की व्यवस्था, बागान में श्रमिकों के लिए निवास-व्यवस्था, खानों के श्रमिकों के लिए मकान, शिक्षा एवं दवा की सुविधा में प्राथमिकता देनी चाहिए।

6. केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को श्रम कल्याण कार्यों में अधिकाधिक रुचि लेनी चाहिए।

7. श्रम कल्याण अधिकारी की केवल नियुक्ति ही सरकार द्वारा न की जाय बल्कि उसे अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए उचित सरकारी हस्तक्षेप भी प्राप्त हो। निरीक्षालयों द्वारा निरीक्षण कार्य में ढील दिए जाने पर उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए।

8. उद्योगपतियों को श्रमिकों के हित में अधिक कार्य करना चाहिए।

9. श्रम संगठनों द्वारा भी अपने सदस्यों के कल्याण के लिए रचनात्मक कदम उठाए जाने चाहिए।

10. श्रम कल्याण अधिकारियों तथा कारखाना निरीक्षकों की उचित शैक्षणिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए तथा उन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके समाज कार्य के व्यवसाय में प्रशिक्षित व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए।

श्रमिक कल्याण कानूनों में संशोधन

20 जुलाई 1980 को नई दिल्ली में राज्यों के श्रम मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें निम्न निर्णय लिए गए हैं—

1. सम्मेलन ने एक स्थायी समिति गठित करने का भी निर्णय लिया है, जिसमें सभी राज्यों के श्रम मंत्री सदस्य होंगे। समिति की पहली बैठक अगले महीने होगी, इसमें श्रम सम्मेलन के निर्णय को लागू करने तथा औद्योगिक सम्बन्ध, रोजगार, प्रशिक्षण, वेतन आदि जैसे मामलों पर विचार होगा।

2. 'उद्योग' शब्द की परिभाषा उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार बदली जायेगी, जिससे अस्पतालों, शिक्षण व अनुसंधान संस्थानों, विभिन्न व्यवसायों, क्लबों व सहकारी सोसाइटियों को भी उसमें शामिल किया जा सके।

3. श्रम अदालतों तथा न्यायाधिकरणों में किसी मामले पर चल रही सुनवाई सम्बन्धित कामगार की मृत्यु की बाद भी जारी रखी जायेगी, जिससे उसके परिवार के लोगों को लाभ मिल सके।

4. वेतन की परिभाषा भी बदली जायेगी, जिससे कमीशन पर काम करने वाले लोगों को कानून का संरक्षण मिल सके। साथ ही कुल 1,600 रुपये प्रति महीने वेतन पाने वाले सुपरवाइजर्स को भी औद्योगिक विवाद कानून की परिधि में शामिल कर लिया जायेगा, किन्तु प्रबन्ध कर्मचारी की परिभाषा में परिवर्तन नहीं किया जायेगा।

5. यह भी सिफारिश की गयी है कि मजदूर संघों के पदाधिकारियों में बाहरी लोगों की संख्या 50 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत की जाय।

6. मजदूर संघ कानून में संशोधन कर किसी मजदूर संघ को मान्यता प्रदान करने के लिए वर्तमान सात की जगह 10 कर्मचारियों की सदस्यता अनिवार्य की जायेगी। कृषि तथा अन्य ग्रामीण रोजगार में लगे कामगारों के संघों को भी मान्यता देने को व्यवस्था की जायेगी। मजदूर संघों का चन्दा बढ़ाकर प्रतिमाह प्रति सदस्य एक रुपया किया जायेगा।

7. किसी कर्मचारी को निलम्बित किए जाने पर जीविका के लिए पहले तीन महीनों में वेतन का 50 प्रतिशत तथा उसके बाद 25 प्रतिशत भत्ता के रूप में भुगतान किए जाने की व्यवस्था की जायेगी।

भारत में सामाजिक सुरक्षा
(Social Security in India)

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ—सामाजिक सुरक्षा से आशय उस सुरक्षा व्यवस्था से है जो एक समाज अपने सदस्यों की विभिन्न आकस्मिक जोखिमों के विरुद्ध उपयुक्त संगठन द्वारा प्रदान करता है। सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा विभिन्न व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने इस प्रकार दी है :—

(i) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अनुसार**—"सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज के किसी उपर्युक्त संगठन द्वारा अपने सदस्यों को उन अनिश्चित खतरों के लिए, जिनसे वे कभी भी प्रभावित हो सकते हैं, प्रदान की जाती है।"

(ii) **सर विलियम बेवरिज के शब्दों में**—"सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय पाँच दानव—अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी—पर विजय प्राप्त करना है।"

सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत सामान्यत: निम्न कार्यक्रमों का समावेश किया जाता है—(i) बीमारी के समय चिकित्सा की व्यवस्था करना। (ii) कार्य के समय चोट लगने पर चिकित्सा का प्रबन्ध करना और आर्थिक सहायता देना। (iii) बेकारी की अवधि में सहायता करना। (iv) परिवार के प्रत्येक बच्चे के उचित पालन-पोषण हेतु द्रव्य लाभ देना। (v) अपङ्गता के समय पेन्शन देना। (vi) वृद्धावस्था के लिए पेन्शन देना। (vii) मृत्यु संस्कार की व्यय की व्यवस्था करना। (viii) प्रसूतिकाल में सवेतन छुट्टी, चिकित्सा और आर्थिक लाभ की व्यवस्था करना।

भारत में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था

सामाजिक सुरक्षा की प्रगति की दृष्टि से भारत एक पिछड़ा हुआ देश है। ब्रिटिश काल में सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत केवल मजदूर क्षतिपूर्ति अधिनियम सन् 1923 व कुछ प्रसूति लाभ अधिनियम ही आते हैं। 1943 में सरकार ने **प्रो० बी० पी० अदारकर** को मजदूरों के लिए स्वास्थ्य बीमा योजना तैयार करने के लिए कहा। अदारकर रिपोर्ट तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठनों के सुझावों के अनुसार, केन्द्रीय सरकार ने सन् 1948 में **कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम** पास किया। वास्तव में भारत में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का वास्तविक विकास सन् 1948 में कर्मचारी

राज्य बीमा अधिनियम के बाद ही हुआ है। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में प्रमुख उपलब्धियों पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है।

(1) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1929

यह अधिनियम क्लर्कों के अतिरिक्त अन्य समस्त श्रमिकों पर जो कि कारखानों एवं अन्य निर्दिष्ट व्यवसायों में काम करते हैं और जिन्हें 500 रुपए या इससे कम मजदूरी मिलती है, लागू होता है। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई श्रमिक काम करते समय किसी दुर्घटना या व्यावसायिक रोग का शिकार हो जाय तो उसका मालिक द्राव्यिक क्षतिपूर्ति एवं चिकित्सा की सुविधा प्रदान करता है। चोट के लिए दी जाने वाली क्षतिपूर्ति मजदूर की मासिक मजदूरी तथा चोट की प्रकृति के अनुसार निर्धारित की जाती है। मृत्यु हो जाने पर क्षतिपूर्ति की राशि उसकी औसत मासिक मजदूरी पर निर्भर करती है।

(1) प्रसूति या मातृत्व लाभ अधिनियम

लगभग सभी राज्यों में मातृत्व लाभ अधिनियम पास हो चुके हैं। सभी उद्योगों तथा राज्यों में समान मातृत्व सम्बन्धी लाभ की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1961 में मातृत्व सहायता अधिनियम पास किया गया है। यह अधिनियम उन सभी कारखानों, बागानों तथा खानों आदि में लागू होता है जहाँ कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम लागू नहीं होता। इस अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक स्त्री श्रमिक को, जिसने 160 दिनों से अधिक काम किया हो, बच्चा पैदा होने अथवा गर्भपात के दिन के बाद तथा पहले, 6 सप्ताह का अवकाश मिलता है इसके अतिरिक्त सेवायोजकों द्वारा 25 रुपये, दवा-बोनस के रूप में दिए जाते हैं।

(3) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम

सन् 1948 में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पास किया गया, जिसका उद्देश्य श्रमिकों को अनिवार्य एवं योग्य तथा दक्ष स्वास्थ्य बीमा सेवा उपलब्ध कराना था। इस अधिनियम को 18 फरवरी सन् 1952 में निम्नांकित शर्तों को ध्यान में रखते हुए लागू किया गया—

(i) **क्षेत्र**—यह अधिनियम 20 श्रमिकों से अधिक काम करने वाले शक्ति द्वारा संचालित सभी स्थायी कारखानों में लागू होता है। इसके अन्तर्गत 500 रुपये मासिक वेतन से कम पाने वाले सभी कर्मचारी आते हैं। यह अधिनियम जम्मू व कश्मीर राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण देश में लागू होता है।

(ii) **व्यवस्था**—इस योजना की व्यवस्था के लिए एक निगम की स्थापना की गई है, जिनका नाम कर्मचारी बीमा निगम है। इस निगम में 39 सदस्यों की एक प्रबन्ध समिति है, जिसमें केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, लोकसभा, नियोजकों, सेवा कर्मचारियों तथा चिकित्सा विभाग के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। निगम का कार्य चलाने के लिए दो समितियाँ हैं—**चिकित्सा परिषद्**, जिसमें चिकित्सा सम्बन्धी विशेषज्ञ होते हैं, जिनका कार्य चिकित्सा सम्बन्धी परामर्श देना होता है, तथा स्थायी समिति जो सामान्य प्रशासन व निर्देशन का कार्य करती है।

(iii) **वित्तीय व्यवस्था**—इस अधिनियम के अन्तर्गत कर्मचारी राज्य बीमा कोष स्थापित किया गया है, जिसमें मजदूरों एवं मालिकों का अंशदान तथा अन्य सूत्रों से प्राप्त अनुदान शामिल है। श्रमिकों द्वारा दिए जाने वाला अंशदान उसकी मजदूरी पर निर्भर करता है। जिन श्रमिकों की औसत दैनिक मजदूरी 1 रुपए से कम है उनसे कुछ नहीं लिया जाता है। 1 रुपये से 1·50 तक दैनिक कमाने वालों से 13 पैसे लिए जाते हैं। 8 रुपये या इससे अधिक मजदूरी पाने वालों को 1·15 रुपये अंशदान में देना पड़ता है। यह श्रमिक द्वारा दिए जाने वाले अंशदान की अधिक से अधिक धनराशि है। मालिक सबसे कम वेतन वाले श्रमिक के लिए 44 पैसे और सबसे अधिक वेतन पाने वाले श्रमिक के लिए 1·50 रुपये के हिसाब से चन्दा देता है। केन्द्रीय सरकार ने इस योजना के प्रथम वर्षों में कुल प्रशासन सम्बन्धी व्ययों का 2/3 भाग अनुदान के रूप में दिया। राज्य सरकारें भी इस निगम के व्ययों का कुछ अंश देती हैं।

(iv) **श्रमिकों को लाभ**—इस योजना में श्रमिक और उनके परिवारों के निम्न पाँच प्रकार के लाभों की व्यवस्था है—

(अ) **बीमारी सम्बन्धी लाभ**—बीमार पड़ने पर कर्मचारी को बीमारी की सर्टीफिकेट के आधार पर, एक वर्ष में अधिक-से-अधिक 56 दिन के लिए नकदी सहायता दी जाती है। दैनिक बीमारी सम्बन्धी लाभ की मात्रा, औसत दैनिक मजदूरों के आधे के बराबर होती है। जिस श्रमिक को यह सहायता मिल रही हो, उसकी चिकित्सा कर्मचारी राज्य बीमा निगम द्वारा संचालित अस्पतालों में होनी चाहिए।

(ब) **चिकित्सा लाभ**—बीमा किए हुए श्रमिक व उसके परिवार के सदस्यों को निःशुल्क चिकित्सा सुविधा दी जाती है। साधारण चोट अथवा बीमारी के अतिरिक्त क्षयरोग, कुष्ठ रोग, मानसिक रोग, आदि की भी चिकित्सा सुविधा प्राप्त होती है।

(स) **मातृत्व सम्बन्धी लाभ**—इसके अनुसार औसत दैनिक मजदूरी से आधी व कम से कम 75 पैसे दैनिक की दर से 11 सप्ताहों के समय के लिए बीमा की गई स्त्रियों को नक़दी सहायता दी जाती है।

(द) **अयोग्यता लाभ**—यह लाभ दुर्घटना या चोट लगने की स्थिति में प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार की अयोग्यताओं के लिए लाभ की राशि अलग-अलग है। स्थायी असमर्थता की दशा में बीमित मजदूर को उसकी औसत साप्ताहिक मजदूरी का 7·12 भाग जीवन पर्यन्त दिया जाता है। अस्थायी अयोग्यता के लिए श्रमिक को उसकी अवधि पर्यन्त साप्ताहिक मजदूरी का 7·12 भाग मिलता है। आंशिक अयोग्यता की अवस्था में लाभ, अयोग्यता के स्वभाव के अनुसार क्षतिपूर्ति अधिनियम दरों के अनुसार दिया जाता है।

(य) **आश्रितों को लाभ**—औद्योगिक दुर्घटना के कारण मृत्यु होने पर श्रमिकों को यह लाभ मिलता है। इस सहायता की राशि स्वर्गवासी श्रमिक तथा आश्रित व्यक्ति के सम्बन्ध पर निर्भर करती है। मृतक की विधवा को अपने जीवन भर के लिए या पुनः शादी करने तक पूर्ण दर (7·12) का 2/5 भाग दिया है। प्रत्येक आश्रित पुत्र व पुत्री को पूर्ण दर का 2/3 भाग आश्रित लाभ के रूप में दिया जाता है।

योजना की प्रगति—सर्वप्रथम यह योजना फरवरी सन् 1952 में कानपुर और दिल्ली में प्रारम्भ की गई। 31 दिसम्बर 1982 को 83 कर्मचारी राज्य बीमा अस्पताल और 39 उप अस्पताल थे जिनमें बिस्तरों की संख्या 17,665 थी और औषधालयों की संख्या 1,117 थी। इस योजना को 64·29 लाख कर्मचारियों तक पहुँचाया जा चुका है।

कर्मचारी राज्य बीमा योजना भारत में विस्तृत सामाजिक सुरक्षा की दिशा में प्रथम चरण है। परन्तु इस बीमा योजना में कई दोष पाए जाते हैं, जैसे—(i) इसका क्षेत्र सीमित है। (ii) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं। (iii) अवकाश लाभ की अवधि कम है। (iv) योग्य डाक्टरों का अभाव है। (v) छोटे उद्योग प्राय: नियमों की अवहेलना करते हैं। (vi) सहायता की धनराशि पर्याप्त नहीं है। (vii) लाभ कुछ महत्त्वपूर्ण जोखिमों तक ही सीमित है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में यह योजना जहाँ बीमा योग्य कर्मचारियों की संख्या 500 से अधिक है उन सभी केन्द्रों में चालू कर दी जायगी।

(4) कर्मचारी भविष्यनिधि अधिनियम

सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में कर्मचारी भविष्यनिधि अधिनियम 1952 एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिनियम है। सन् 1952 में यह अधिनियम 6 उद्योगों में लागू किया गया था और सितम्बर सन् 1978 तक इसके अन्तर्गत उद्योगों की संख्या 154 हो गयी थी। सितम्बर सन् 1978 में इस योजना के अन्तर्गत लाभ उठाने वाले व्यक्तियों की संख्या 84,266 संस्थानों में 93·18 लाख थी। सितम्बर 1978 के अन्त तक इस निधि के अन्तर्गत कुल एकत्रित राशि 5.466·34 करोड़ रुपए लौटाई गई राशि 2,446·49 करोड़ रुपए और विनियोग की गई राशि 4,539·22 करोड़ रुपए थी। इस योजना के अन्तर्गत जनवरी 1964 में एक मृतक राहत कोष (Death Relief Fund) की स्थापना की गई थी सितम्बर 1978 तक इस कोष में से 101·05 लाख रुपए का भुगतान किया जा चुका है। सन् 1966 में 'नाविक भविष्य निधि अधिनियम' भी पास किया गया है। यह अधिनियम उन कारखानों में लागू होता है, जिन्हें स्थापित हुए 3 वर्ष हो चुके हैं तथा श्रमिकों की संख्या 50 या इससे अधिक है। यह अधिनियम उन कारखानों में भी लागू होता है, जिन्हें 5 वर्ष पूरे हो गए हैं तथा जिनके श्रमिकों की संख्या 20 से अधिक तथा 50 से कम है। इस अधिनियम का उद्देश्य अनिवार्य रूप से प्राविडेन्ट फन्ड की व्यवस्था करना है, ताकि श्रमिक के सेवामुक्त होने के पश्चात् उसके भविष्य का प्रबन्ध हो सके अथवा उसकी असामयिक मृत्यु पर उसके आश्रितों को कुछ राशि मिल सके। इस योजना का लाभ उन सभी कर्मचारियों को मिलता है जिनकी मूल मजदूरी, मँहगाई व भत्ता मिलाकर 1,000 रुपये मासिक से अधिक न हो तथा जिन्होंने 1 वर्ष की निरन्तर सेवा पूरी कर ली है। अथवा 12 महीने या कम की अवधि में 240 दिन वस्तुतः काम किया हो। इस योजना में कर्मचारियों को अपने मूल वेतन का $3\frac{1}{4}$ प्रतिशत अनिवार्य रूप से भविष्य निधि में देना पड़ता है।

परन्तु यदि वे चाहे तो $8\frac{1}{3}$ प्रतिशत तक भी दे सकते हैं। मालिकों को भी इसी दर से चन्दा देना पड़ता है। 31 मार्च 1982 के अन्त में भविष्य निधि अंशदाताओं की संख्या 115·64 लाख थी। भविष्य निधियों में जमा धनराशि ब्याज सहित 8,554·26 करोड़ रुपए थी और भुगतान की गई रकम 3,780·60 करोड़ रुपए थी।

(5) कोयला खान भविष्यनिधि एव बोनस स्कीम अधिनियम, 1948

यह योजना जम्मू व काश्मीर को छोड़कर शेष भारत की समस्त कोयला खानों में लागू होती है। इस योजना के अन्तर्गत सेवायोजक व कर्मचारियों दोनों को अनिवार्य रूप से चंदे देने पड़ते हैं, जिनकी दर कर्मचारियों के कुल पुरस्कार का 8% है। इस समय इस योजना के अन्तर्गत 1001 कोयला खानों व अनुषंगी संगठनों के 6 लाख 78 हजार श्रमिक सदस्य हैं।

(6) ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम, 1972

कारखानों, खानों, तेल क्षेत्रों, बगानों, गोदियों, रेलवे, मोटर परिवहन प्रतिष्ठानों, कम्पनियों, दूकानों तथा अन्य संस्थानों में कार्य करने वाले कर्मचारी ग्रेच्युटी भुगतान अधिनियम के हकदार हैं। 1000 रुपए तक की मजदूरी प्राप्त करने वाले कर्मचारी हर पूरे किए गए सेवा वर्ष के पीछे 15 दिन की मजदूरी के हिसाब से इसके अधिकारी हैं और कुल राशि 20 महीनों की मजदूरी से अधिक नहीं हो सकती है। लेकिन ऐसे कारखाने जहाँ पूरे वर्ष कार्य नहीं होता, वहाँ पर ग्रेच्युटो की दर प्रति ऋतु में 7 दिन के वेतन के बराबर होगी। परन्तु यदि किसी कर्मचारी को मालिक के साथ किए किसी अन्य निर्णय या अनुबन्ध के अधीन अच्छी शर्तें मिलें तो उन पर अधिनियम का कोई असर नहीं पड़ता है।

7. **पारिवारिक पेंशन योजना**—औद्योगिक मजदूरों की आसमयिक मृत्यु होने पर उनके परिवारों के लिए लम्बे समय तक धन सम्बन्धी सुरक्षा देने के लिए 1 मार्च 1971 से कर्मचारी परिवार पेन्शन योजना शुरू की गई। कर्मचारी भविष्य निधि योजनाओं में मालिकों और कर्मचारियों के अंशदान के एक भाग को अलग करके इसके लिए धन प्राप्त होता है। इसमें केन्द्र सरकार भी कुछ अंश जमा करती है। निधि की सदस्यता की अवधि के आधार पर परिवार पेंशन की राशि 60 रुपए से लेकर 320 रुपए प्रतिमाह है।

8. **मृत्यु होने पर सहायता**—कर्मचारी भविष्य निधि योजना के अंतर्गत मृत्योपरान्त सहायता निधि की स्थापना जनवरी 1964 को की गई थी। इसक उद्देश्य गैर-छूट प्राप्त संस्थानों के मृतक के उत्तराधिकारियों या नामजद व्यक्तियों को वित्तीय सहायता प्रदान करना। इसका लाभ मृतक के उत्तराधिकारियों या नामजदा व्यक्तियों को मिलता है। जिनका मासिक वेतन (मूल वेतन, मँहगाई भत्ता आदि मिलाकर) मृत्यु के समय 1000 रु० से अधिक नहीं होना चाहिए। सहायता क राशि 1,250 रु० निश्चित की गई है।

9. **एम्प्लाईज डिपाजिट लिंक्ड इन्श्योरेंस स्कीम**—एम्प्लाईज डिपाजिट लिंक्ड

इश्योरेंस स्कीम 1976 अर्थात् भविष्य निधि से जमा धनराशि से जुड़ा बीमा सामाजिक सुरक्षा की एक योजना है। यह योजना 1 अगस्त 1976 से लागू की गई है। इस योजना के अन्तर्गत कर्मचारी की मृत्यु होने पर उसके वारिस को भविष्य निधि की धन राशि के अतिरिक्त एक और धनराशि दी जायगी जो पिछले तीन वर्षों के निधि में मौजूद औसत धनराशि के बराबर होगी। लेकिन निधि में औसत धन राशि 1,000 रुपए से कम न रही हो। इस योजना के अन्तर्गत अधिकतम भुगतान 10,000 रुपए होगा जिसके लिए कर्मचारी को कोई अंशदान नहीं करना पड़ेगा।

31 मार्च 1982 तक इस योजना के अन्तर्गत भुगतान के 34,444 प्रार्थना पत्रों का फैसला किया जा चुका है तथा 20·51 करोड़ रुपए प्रार्थियों को दिए गए हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के स्पष्ट है कि सरकार ने श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में सक्रिय योग दिया है किन्तु आवश्यकताओं को देखते हुए उपलब्ध सुविधा बहुत कम है। अभी तक जो उपाय अपनाए गए हैं वे अलग-अलग कानूनों के अन्तर्गत हैं और बहुत से उपाय दोहराए जाते हैं। वास्तव में देश को एक एकीकृत सामाजिक सुरक्षा और योजना की आवश्यकता है।

संक्षेप में भारत में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के दोष इस प्रकार हैं—

(i) इन योजनाओं व अधिनियमों में समन्वय का अभाव है। (ii) यह योजनाएँ एवं अधिनियम संगठित श्रमिकों पर लागू हैं। अभी भी करोड़ों कर्मचारी ऐसे हैं, जो कुटीर एवं लघु उद्योगों में कार्य करते हैं उनको इस योजना से लाभ नहीं मिल रहा है। (iii) इनकी देखभाल के लिए उचित प्रशासनिक मशीनरी भी नहीं है (vi) वृद्धावस्था के समय के लिए उचित सामाजिक सुरक्षा का भी अभाव है (v) अभी भी भारत में बेकारी के बीमे की कोई व्यवस्था नहीं है।

वस्तुतः भारत जैसे विकासशील देश के लिए एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(i) सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित करते समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सेवाएँ प्राप्त की जानी चाहिए (ii) सामाजिक सुरक्षा का सम्पूर्ण प्रशासन विकेन्द्रित किया जाना चाहिए (iii) न्यूनतम मजदूरी नीति शीघ्र से शीघ्र अपनायी जाय (iv) वर्तमान अधिनियमों व योजनाओं में समन्वय किया जाय (v) नियमों के पालन के लिए उचित प्रशासनिक मशीनरी की व्यवस्था की जाय। (vi) बेकारी के बीमे की व्यवस्था की जाय (vii) वे श्रमिक जिन्हें इन योजनाओं का लाभ नहीं मिल पाया है, उनके लिए भी सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाय।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्था है उसकी आलोचनात्मक व्यवस्था कीजिए।

2. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के प्रावधानों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। क्या आप इसे 'सामाजिक सुरक्षा' की पर्याप्त व्यवस्था मानते हैं।

3. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लीखिए—

(अ) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम ।

(ब) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम ।

(स) मातृत्व हित लाभ ।

4. गत वर्षों में भारत सरकार द्वारा श्रम कल्याण के क्षेत्र में क्या कार्य किए गए हैं ? क्या वे कार्य सन्तोषजनक हैं ।

5. क्या सामाजिक सुरक्षा औद्योगिक शान्ति प्रदान करेगी ?

6. औद्योगिक श्रमिकों की कल्याण वृद्धि के लिए विगत वर्षों में भारत सरकार द्वारा किए गए उपायों का एक विवरण प्रस्तुत कीजिए । क्या ये उपाय पर्याप्त हैं ।

30

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन

(Trade Union Movement in India)

श्रमिक संघ की परिभाषा—सिडनी और बेब ने श्रमिक संघ की परिभाषा इस प्रकार दी है, "श्रमिक संघ श्रमिकों के एक ऐसे स्थायी संघ को कहते हैं जिसका उद्देश्य काम की दशाओं को बनाए रखना और उसमें सुधार लाना होता है।"

बी० बी० गिरि के शब्दों में "श्रम संगठन श्रमिकों के आर्थिक हितों की रक्षा तथा सुधार हेतु बनाए जाते हैं।"

श्रमिक संघ के उद्देश्य

1. श्रमिक एवं मालिकों में पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न करना।
2. श्रमिकों के बीच सहकारिता की भावना उत्पन्न करना।
3. श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा करना।
4. कठिनाइयों के समय श्रमिकों आर्थिक सहायता प्रदान करना।
5. श्रमिकों को उचित वेतन दिलाना और कार्य करने की दशाओं में सुधार करना।
6. श्रमिक परिवारों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विकसित करना।
7. श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति में वृद्धि करना।
8. सम्बन्धित देश के विकास में सहायता करना।

मजदूर संघ के कार्य

मजदूर संघ के कार्यों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

1. **आन्तरिक कार्य** (Intramural Activities)—इन कार्यों के अन्तर्गत श्रमिक संघों के वे कार्य आते हैं जिन्हें वे श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए कारखाने के अन्दर करते हैं। प्रमुख आन्तरिक कार्य इस प्रकार हैं :—

(i) श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलवाना।

(ii) कार्य करने की दशाओं में सुधार करना।

(iii) कार्य के घण्टे को एक करवाना।

(iv) कारखाने के लाभ तथा प्रबन्ध में श्रमिकों को हिस्सा दिलवाना।

2. **बाह्य कार्य** (Extramural Activities)—बाह्य कार्य वे कार्य हैं जो श्रमिक संघों द्वारा श्रमिक को सुरक्षा व कल्याण की दृष्टि से कारखाने के बाहर किए जाते हैं जैसे :—

(i) श्रमिकों की दुर्घटना, अस्थायी बेकारी, हड़ताल व तालाबन्दी के समय उनको आर्थिक सहायता देना ।

(ii) श्रमिकों की बीमारी के समय चिकित्सा व अर्थ-सम्बन्धी सहायता करना ।

(iii) श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा, पार्क, वाचनालय एवं पुस्तकालय की व्यवस्था करना ।

(iv) श्रमिकों की तकनीकी व सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध करना ।

(v) श्रमिकों के लिए आवास की व्यवस्था करना ।

3. **राजनैतिक कार्य** (Political Activities)—श्रमिक संघ श्रमिकों में लोकतन्त्र की भावना जाग्रत कर उनमें राजनैतिक चेतना उत्पन्न करते हैं और अपने सदस्यों को अपने अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति जागरूक करते हैं । राजनैतिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष भाग लेकर श्रमिक संघ अपने सदस्यों को सुरक्षा और कल्याण के लिए आवश्यक अधिनियम पास कराते हैं ।

भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन का इतिहास

भारतीय श्रम आन्दोलन, सुविधा की दृष्टि से, निम्न चार कालों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. **श्रम संघ आन्दोलन का प्रादुर्भाव** (1875-1900)—अन्य देशों की तरह भारत में भी श्रमिक आन्दोलन का जन्म एवं विकास औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप हुआ । सर्वप्रथम सन् 1875 में **सोराबजी सापुरजी** ने श्रमिकों की दुर्दशा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया । इसी वर्ष बम्बई कारखाना आयुक्त नियुक्त किया गया । सन् 1881 में कारखाना अधिनियम बना । सन् 1884 में द्वितीय बम्बई कारखाना आयुक्त नियुक्त हुए । सन् 1884 में **नारायण मेघाणी लोखाड़े** ने, बम्बई के मजदूरों का एक सम्मेलन बुलाया था और उन्होंने ही सन् 1890 में **बम्बे मिल हैण्ड एसोसिएशन** नामक मजदूर का संगठन स्थापित किया । सन् 1897 ई० में रेलवे कर्मचारियों की एक समिति बनी । इस बार 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में श्रमिक संघों का जन्म हुआ परन्तु इस समय के श्रमिक संघ समुचित रूप के संगठित नहीं थे ।

2. **श्रम संघों की धीमी प्रगति का काल**—सन् 1904 में स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप श्रमिकों में राजनैतिक चेतना उत्पन्न हुई जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न केन्द्रों में श्रम संघों की स्थापना हुई, जैसे 1903 में पेन्टर्स यूनियन कलकत्ता, सन् 1907 में बम्बे पोस्टल यूनियन, सन् 1909 में कामगार हितवर्द्धक सभा और सन् 1910 में सोसल सर्विस लीग आदि ।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय मूल्य बहुत बढ़ गए थे, जबकि श्रमिकों की मजदूरी में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी । इस मँहगाई के कारण श्रमिकों में बहुत असंतोष था । देश में राजनैतिक जागृति और सन् 1917 में रूसी क्रान्ति ने भी श्रमिकों को संगठित होने के लिए उत्साहित किया और श्रम सङ्घों के विकास के लिए एक उचित वातावरण तैरकियया ।

यह उल्लेखनीय है कि अभी तक श्रम संघों ने केवल वैधानिक तरीकों पर ही ध्यान दिया। वस्तुतः श्रम सङ्घ श्रमिकों के नहीं वरन् श्रम नेताओं के सङ्गठन थे, जो समाज सुधारक होने के नाते श्रमिकों के कल्याण के लिए तथा श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील थे।

3. **श्रम संघों की तीव्र प्रगति का युग**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देश में श्रम संघ आन्दोलन का तेजी से विकास हुआ। सन् 1918 में मद्रास श्रम सङ्घ की स्थापना हुई, सूती मिलों में काम करने वाले प्रायः सभी श्रमिक इस संस्था के सदस्य बन गये। सन् 1920 में आल **इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस** की स्थापना हुई, ताकि यह श्रमिकों के हित की रक्षा कर सकें। सन् 1922 में तीन महत्त्वपूर्ण संगठनों की स्थापना हुई—श्रमिक समिति, आल इण्डिया रेलवेमेन फैडरेशन तथा आल इण्डिया पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ मेन फेडरेशन।

सन् 1926 में मजदूर सङ्घ अधिनियम पास हुआ जिसमें पंजीकृत मजदूर सङ्घ को कानूनी स्वीकृति प्रदान कर दी गयी।

सन् 1930 के पश्चात् ऐसा वातावरण बनना आरम्भ हो गया जो मजदूर सङ्घ के आन्दोलन के लिए अनुकूल न था; जैसे मेरठ काण्ड में बहुत से साम्यवादियों का पकड़ा जाना व सन् 1929 की घोर मन्दी।

सन् 1936 ई० में श्रमिक संघ आन्दोलन ने एकता लाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु उसमें सफलता मिलने से पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान युद्ध में भाग लेने के प्रश्न पर मजदूर सङ्घों के नेताओं में मतभेद हो गया और मजदूर संघ आन्दोलन में फूट पड़ गई। किन्तु बाद में जीवन निर्वाह व्यय बढ़ने के कारण श्रमिकों में अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए संगठित कार्य करने के लिए जागृति उत्पन्न हो गई। इससे मजदूर संघ को प्रोत्साहन मिला।

4. 1947 **से वर्तमान समय तक**—स्वतन्त्रता के बाद देश में बड़ी भारी मात्रा में हड़ताल हुईं। इसका कारण यह था कि श्रमिकों की ये आशाएँ कि राष्ट्रीय सरकार बनते ही वे अधिक मजदूरी और काम की अच्छी दशाएँ प्राप्त कर सकेंगे, पूरी नहीं हो सकीं। भारत में मजदूर संघ आन्दोलन की प्रगति की जानकारी निम्नलिखित सारणी से प्राप्त की जा सकती है।

विवरण	श्रमिक संघ		
	1961-62	1978	1979
1 रजिस्टर पर संघों की संख्या	11416	31721	33023
2 रिटर्न भेजने वाले संघों की संख्या	6954	8239	6655
3 रिपोर्ट भेजने वाले संघों की सदस्यता (हजार में)	3960	6022	4661

उक्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त श्रम सङ्घों की तीव्र उन्नति हुई है जिसके निम्न कारण हैं—

1. श्रमिक अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए अपने आपको संगठित करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

2. राजनैतिक दल श्रम सङ्घों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए होड़ करने लगे।

3. केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने समुदायिक सौदे की सुविधा का प्रयोग बढ़ाने के लिए कई कानून पास किए।

राष्ट्रीय स्तर के श्रम सङ्घ और उनकी वर्तमान स्थिति

कुछ समय पूर्व तक राष्ट्रीय स्तर पर केवल चार श्रम संघों इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेस (I N T U C), आल इण्डिया ट्रेड यूनियन काँग्रेस (A I T U C), हिन्दू मजदूर सभा (H M S), और युनाइटेड ट्रेड यूनियन काँग्रेस (U T U C) को मान्यता प्राप्त थी। 1978 में केन्द्रीय श्रम मंत्रालय ने श्रम सङ्घों की सदस्यता के सामान्य प्रमाणन के आदेश दिए। इसके आधार पर विभिन्न केन्द्रीय श्रम सङ्घों की सदस्यता निम्न प्रकार हैं—

इण्यिन नेशनल ट्रेड यूनियन काँग्रेस	(I N T U C)	23·88	लाख
आल इण्डिया ट्रेड यूनियन काँग्रेस	(A I T U C)	13·07	लाख
सेण्टर आफ इण्डिया ट्रेड यूनियन	(C I T U)	8·18	लाख
भारतीय मजदूर सङ्घ	(B M S)	8·59	लाख
हिन्दू मजदूर सभा	(H M S)	8·53	लाख
हिन्दू मजदूर पार्टी	(H M P)	2·22	लाख
राष्ट्रीय श्रम संगठन	(N L O)	2·03	लाख
युनाइटेड यूनियन काँग्रेस	(U U C)	1·05	लाख
युनाइटेड ट्रेड यूनियन काँग्रेस-लेनिन सरीनी	(U T U C)	1·73	लाख
	कुल	69·28	

सदस्यों की संख्या के उपर्युक्त प्रमाणों के पश्चात् यह तय किया गया है कि केवल उन्हीं केन्द्रीय श्रम संघों को राष्ट्रीय स्तर के श्रम सङ्घ की मान्यता होगी जिनकी सदस्य संख्या 5 लाख से अधिक है।

भारतीय श्रमिक संघ आन्दोलन की समस्याएँ, कठिनाइयाँ व दोष—(भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन की धीमी प्रगति के कारण)—यद्यपि हमारे देश में द्वितीय महायुद्ध से अब तक श्रमिक सङ्घ ने काफी उन्नति कर ली है, फिर भी इसके विकास के मार्ग में कुछ बाधाएँ हैं, कुछ दोष हैं और कुछ त्रुटियाँ हैं, जिनके कारण श्रमिक सङ्घों ने उतनी प्रगति नहीं की जितनी अपेक्षित थी। **श्री राबर्ट्स** के शब्दों में, "भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन इतना सुदृढ़ नहीं है जितना इसे होना चाहिए था।" सच बात

तो यह है कि भारतीय श्रमिक सङ्घ आन्दोलन के तीव्र विकास में प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयाँ व बाधाएँ रही हैं, जिन्हें हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—(अ) आन्तरिक बाधाएँ, (ब) बाहरी बाधाएँ।

आन्तरिक बाधाएँ

1. **श्रमिकों की अशिक्षा एवं अज्ञानता**—भारतीय श्रमिक अशिक्षित तथा अज्ञानी है इसलिए वे अपनी समस्याओं को समझने का प्रयत्न नहीं करते और भाग्य पर विश्वास करते हुए अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते। ऐसी परिस्थिति में हम श्रम सङ्घों के तीव्र विकास की आशा कैसे कर सकते हैं।

2. **श्रमिकों की निर्धनता**—भारतीय श्रमिकों को बहुत कम वेतन मिलता है। इस कारण हमारे अनेक श्रमिक तो चन्दा ही नहीं दे पाते। आवश्यक धनराशि के अभाव में श्रमिक सङ्घ प्रगति नहीं कर सकते।

3. **श्रमिकों में एकता की कमी**—श्रमिकों में जाति, धर्म और भाषा की क्षेत्रीय भिन्नता पाई जाती है, जो संगठन के मार्ग में बाधक है।

4. **श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति**—भारतीय श्रमिक स्वभाव से ही प्रवासी हैं। चूँकि श्रमिक औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी रूप से निवास नहीं करते, इसलिए वे श्रम संगठनों में रुचि नहीं लेते।

5. **उचित नेतृत्व का अभाव**—भारत में श्रमिक सङ्घों के संचालन करने वाले लोग श्रमिक नेता न होकर बाहरी व्यक्ति हैं, जिनका निजी स्वार्थ अथवा विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। उन्हें श्रम समस्याओं में रुचि नहीं होती। वे दलगत राजनीति में फँसे हुए हैं और श्रमिकों का गलत पथ-प्रदर्शन करते हैं।

6. **श्रमिकों में लोकतन्त्र की भावना का अभाव**—भारत में श्रम सङ्घों में लोकतन्त्र की भावना का अभाव पाया जाता है। प्रायः बड़े-बड़े निर्णय श्रमिकों की राय जाने बिना ही ले लिए जाते हैं। इसलिये इन सङ्घों को श्रमिकों के पूर्ण सहयोग नहीं प्राप्त होते।

7. **संघों का छोटा आकार**—**श्री वी० वी० गिरि** के अनुसार, "भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन के अविकसित होने का एक प्रधान कारण अधिकांश श्रम सङ्घों के आकार का छोटा होना है।

8. **आन्तरिक फूट**—भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन का एक अन्य भारी दोष इसमें आन्तरिक फूट है। एक ही उद्योग में विरोधी आदर्शों में विश्वास रखने वाले सङ्घ पाए जाते हैं जिनमें आपस में ही झगड़े होते रहते हैं।

9. **रचनात्मक कार्यों का अभाव**—भारत में अधिकांश श्रमिक सङ्घ केवल संघर्षात्मक कार्य करने में ही व्यस्त रहे हैं। रचनात्मक व कल्याण सम्बन्धी कार्यों, जैसे शिक्षा, चिकित्सा व मनोरंजन आदि की ओर उनका ध्यान अभी नहीं गया है जिसके अभाव में श्रमिक सङ्घ, श्रमिकों को अपनी ओर आकर्षित करने में असफल रहे हैं।

10. **काम करने की दशाएँ**—शहरों में श्रमिकों को कारखाने व गृहस्थी के

कार्यों में इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि संगठन कार्यों के लिए उन्हें अवकाश ही नहीं मिल पाता।

11. **पूर्णकालिक एवं वैतनिक अधिकारियों की कमी**—भारत में श्रमिक सङ्घों के संचालन करने वाले श्रमिकों की समस्याओं की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाते क्योंकि उन्हें न तो इस कार्य के लिए वेतन मिलता है और न ही उसके पास अधिक समय है जो कि इन कार्यों के लिए दे सकें।

बाहरी बाधाएँ

1. **मजदूरों से ठेकेदारों का विरोध**—भारत में उद्योग में भरती अधिकतर मध्यस्थों द्वारा होती है। ये मध्यस्थ अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए श्रमिकों में एकता की भावना उत्पन्न नहीं होने देते और वे सदैव यही प्रयत्न करते रहते हैं कि श्रमिकों में फूट पड़ी रहे और वे कभी भी संगठित न हो सकें।

2. **मालिकों का विरोध**—कारखाने के स्वामी भी श्रम सङ्घों को सहयोग देने के बजाय उनका विरोध करते हैं। वे यह नहीं समझते कि ये सङ्घ अनुचित हड़तालों को रोकने में कितने सहायक हो सकते हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योयना में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन के उद्देश्यों को संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार वर्णित किया गया है "श्रमिक सङ्घों की अधिकता, राजनीतिक मनमुटाव, साधनों की कमी एवं श्रमिकों में एकता का अभाव भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन की प्रधान त्रुटियाँ हैं।"

भारत के श्रमिक सङ्घ आन्दोलन को मजबूत बनाने के सुझाव-कार्य

भारत में मजदूर सङ्घ आन्दोलन को मजबूत बनाने के लिए उनके मार्ग में जो बाधाएँ एवं कठिनाइयाँ आदि हैं उन्हें दूर किया जाना चाहिए। संक्षेप में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) श्रमिकों की शिक्षा तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था को जानी चाहिए। (ii) शत-प्रतिशत सदस्यता अनिवार्य कर देनी चाहिए। (iii) श्रमिक सङ्घों को राजनीति से अलग रखना चाहिए। (iv) सङ्घों में पारस्परिक प्रतियोगिता का उन्मूलन होना चाहिए। (v) श्रमिक वर्ग में से ही श्रमिक नेताओं का विकास होना चाहिए। (vi) वैतनिक कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। (vii) श्रमिकों की प्रवासी प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए। (viii) श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना जागृत करनी चाहिए। (ix) श्रमिकों के लिए उचित मजदूरी की व्यवस्था की जानी चाहिए और आवास, कार्य करने का वातावरण तथा कार्य करने के घण्टों में सुधार किया जाना चाहिए। (x) श्रमिक संघों के प्रति मिल के मालिकों को भी सहानुभूति दिखानी चाहिए। (xi) श्रमिक सङ्घों को हड़ताल आदि के अतिरिक्त रचनात्मक कार्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। (xii) श्रमिकों में लोकतन्त्र की भावना उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए। (x|i) एक उद्योग में एक ही शक्तिशाली श्रमिक सङ्घ होना चाहिए, ताकि सामूहिक सौदेबाजी सफल हो सके। (xiv) सरकार को भी श्रम सङ्घों

के प्रति अपनी नीति को बदलना चाहिए और उनके साथ भावावेश में आकर पक्षपात नहीं करना चाहिए ।

योजना आयोग के मतानुसार श्रमिक सङ्घों को अधिक एवं औद्योगिक प्रशासन के एक अनिवार्य अंग या ढाँचे के रूप में माना जाना चाहिए और उन्हें जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए सचेतन किया जाना चाहिए ।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में श्रमिक सङ्घ आन्दोलन के जन्म तथा विकास का विवरण दीजिए। इसकी क्या कमजोरियाँ हैं ।

2. भारत में श्रमिक सङ्घ के कार्यों का विवेचन करते हुए उनकी कमियों को बताइए । इन कमियों को दूर करने के लिए सुझाव भी प्रस्तुत कीजिए ।

3. "भारत में श्रमिक सङ्घों के विकास में अधिकांश बाधाएँ आन्तरिक हैं । वे स्वयं श्रमिकों की ओर से आती हैं ।" विवेचना कीजिए ।

4. सन् 1939 से भारत में मजदूर सङ्गठन की प्रगति का संक्षेप में उल्लेख कीजिए । देश में औद्योगिक शांति को बढ़ावा देने हेतु सरकार इस आन्दोलन को सही दिशा में लाने में कहाँ तक सफल हुई है ?

5. "श्रमिक सङ्घों का नेतृत्व मध्यम वर्ग के राजनीतिज्ञों, विशेषतः वकीलों द्वारा किया जाता था तथा किया जा रहा है जो राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में ठीक-ठीक अन्तर न कर पा सके तथा न कर पा रहे हैं ।" इस कथन की पुष्टि कीजिए तथा बतलाइए कि भारत में श्रमिक सङ्घों के विकास में बाहरी नेतृत्व से क्या-क्या हानियाँ हुई हैं ?

31

भारत में रेल यातायात

(Rail Transport in India)

भारतीय अर्थव्यवस्था में रेलों का महत्त्व—आधुनिक युग में आर्थिक तथा व्यापारिक विकास एक बड़ी सीमा तक परिवहन के साधनों, विशेषत: रेलों के विकास पर निर्भर है। रेलों ने हमारी अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को निम्न प्रकार से प्रभावित किया है—

(1) आर्थिक

रेलों ने आर्थिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन किये हैं। कृषि, उद्योग, व्यापार, वनसम्पदा आदि सभी इससे प्रभावित हुए हैं।

(1) **कृषि में योगदान**—कृषि की उन्नति करने में रेलों का पर्याप्त योगदान है। रेलो के विकास के कारण ही (अ) कृषि पदार्थों का बाजार विस्तृत हुआ (ब) कृषक उत्तम बीज तथा यन्त्र आदि प्राप्त करता है। (स) फल तथा सब्जियों जैसे नाशवान पदार्थों को उत्पन्न करने में आर्थिक प्रेरणा मिलती है। (द) कृषि वस्तुओं का देश के विभिन्न भागों में वितरण समान हो गया है। (य) विभिन्न क्षेत्रों में कृषि पदार्थों के मूल्यों का अन्तर कम हुआ है। (र) भ्रमण से किसानों के ज्ञान में वृद्धि हुई। (ल) गाँवों की आत्मनिर्भरता और अलगाव समाप्त हो गये हैं।

(2) **उद्योगों को लाभ**—रेलों ने नये कारखानों की स्थापना एवं पुराने उद्योगों के विकास को गति प्रदान करके देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया है। संक्षेप में रेलों से उद्योगों के विकास में निम्न लाभ प्राप्त हुए हैं—

(i) रेलें उद्योगों में बनी हुई वस्तुओं को उपभोग केन्द्र तक ले जाती हैं।

(ii) उद्योगों के लिए कच्चा माल भी रेलों द्वारा कारखानों तक पहुँचता है।

(iii) रेलें उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों को कारखानों तक पहुँचाती हैं तथा रेलों द्वारा ही देश के एक कोने का व्यक्ति दूसरे कोने तक काम करने हेतु पहुँच जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रेलों द्वारा ही श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि हो पायी है।

(iv) स्वयं रेलवे विभाग भी औद्योगिक माल का बहुत बड़ा उपभोक्ता है।

(3) **व्यापार की उन्नति**—रेलों के चलने से देश के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार में आशातीत उन्नति हुई है। देश में बना माल अब देश के कोने-कोने में पहुँचने लगा है। विदेशों से आया हुआ माल बन्दरगाहों से नगरों तक पहुँचाने का कार्य भी रेलें सुगमतापूर्वक कर देती हैं। दूध, फल, मछली, सब्जी, अंडे आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का देशव्यापी व्यापार रेलों के कारण ही सम्भव हो सका है।

(4) **वन उद्योग का विकास**—वन की उपज और उसके उपयोग की मात्रा को बढ़ाने में रेलों का प्रशंसनीय योग रहा है। रेलों के डिब्बे तथा रेल के स्लीपर बनाने के लिए लकड़ी की आवश्यकता होती है। लकड़ी की प्राप्ति वनों से होती है, अतः वन-उद्योग का विकास हुआ है। यही नहीं, रेलें स्वयं वन-लकड़ी को ढोकर उपभोग केन्द्रों तक पहुँचाती हैं।

(5) **राजस्व प्राप्ति**—रेलें सरकारी राजस्व का एक बड़ा स्रोत है। 1680-81 में रेलों से प्राप्त आय 297·5 करोड़ रु० आँकी गई है। इसके अतिरिक्त परोक्ष रूप से (उक्त विकास-कार्यों के परिणामस्वरूप) भी रेलों द्वारा अधिक राजस्व प्राप्ति में सहयोग मिलता है।

(6) **रोजगार की उपलब्धि**—भारतीय रेलें आज 17 लाख परिवारों के लगभग 90 लाख व्यक्तियों की रोजी-रोटी का साधन है। इनमें 14 लाख कर्मचारी तो स्थायी हैं, शेष आकस्मिक श्रम के रूप में हैं। साथ ही नवशिक्षित बेरोजगारों के लिए चलायी गयी अप्रेन्टिसशिप की योजना में भी भारतीय रेलों द्वारा एक वर्ष में 12 हजार व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है।

(7) **अकालों पर नियन्त्रण**—रेल परिवहन के विकास से अकाल पर काफी हद तक नियन्त्रण किया जा सका है। आज कोई भी अकाल देशव्यापी नहीं होता। रेलें प्रचुर मात्रा के क्षेत्रों से अभावग्रस्त क्षेत्रों में खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक पदार्थ पहुँचाकर अकालों की कठिनाई को कम कर देती हैं।

(8) **नगरों में वृद्धि**—रेल परिवहन के कारण देश में अनेक नगरों का विकास हुआ है। हावड़ा, इटारसी, कानपुर, सिकन्दराबाद इत्यादि नगरों का विकास रेलवे जंक्शन होने के कारण हुआ है।

(9) **डाक सेवा**—आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र की विभिन्न गतिविधियों के सफल संचालन के लिए सस्ती नियमित और कुशल डाक सेवा का श्रेय भी भारतीय रेलों को ही है।

(2) सामाजिक एवं धार्मिक महत्त्व

(अ) **सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन**—रेलों के विकास के साथ-साथ लोगों के सामाजिक रीति-रिवाजों, विचारों तथा प्रथाओं में परिवर्तन होना प्रारंभ हो गया, तथा लोगों का सम्पर्क अन्य क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों से बढ़ना प्रारम्भ हो गया, जिससे लोगों के विचारों रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं में अत्यधिक परिवर्तन हुआ है।

(ब) **राष्ट्रीय भावात्मक एकता**—रेलों ने भारत जैसे विशाल एवं विविधता

उद्योग से प्रतिस्पर्धा करके जोखिम नहीं लेना चाहती हैं। परिणाम स्वरूप इस उद्योग में प्रतियोगिता के अभाव की स्थिति बनी हुई है।

रेल उद्योग को पूर्ण एकाधिकार प्राप्त नहीं है क्योंकि उन्हें परिवहन के अन्य साधनों जैसे—सड़क, जल, तथा वायु परिवहनों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है जिसके कारण रेल उद्योग के किराये व भाड़े अधिक नहीं बढ़ाये जा सकते हैं। इस प्रकार रेल उद्योग आंशिक एकाधिकारी उद्योग है।

2. **लोकोपयोगी** सेवा—लोकोपयोगी सेवाओं का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना न होकर लोक कल्याण, आर्थिक विकास तथा समाज की सेवा करना होता है। रेल उद्योग भी लोकोपयोगी सेवा प्रदान करने वाली एक संस्था है। इसका प्रमुख उद्देश्य समाज को न्यूनतम मूल्य पर परिवहन सेवाएँ प्रदान करना है। एकाधिकारी प्रकृति के कारण इस उद्योग को यात्रियों से उनकी भुगतान-क्षमता के अनुसार कम या अधिक मूल्य प्राप्त करने का अधिकार है। इस उद्योग द्वारा समाज कल्याण व आर्थिक विकास हेतु कुछ अनावश्यक वस्तुओं के आवागमन पर प्रतिबंध तथा आवश्यक वस्तुओं पर छूट भी प्रदान की जाती है। इस उद्योग को अपना व्यक्तिगत हित समाज और उपभोक्ता के साथ रखना पड़ता है। इस उद्योग के प्रबन्ध की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। उसे एक प्राइवेट निगम तथा सरकार के प्रतिनिधि, दोनों रूपों में कार्य करना पड़ता है।

3. **लोकवाहन**—लोकोपयोगी सेवा प्रदान करने वाली संस्था होने के नाते रेलों को अपने व्यावसायिक हितों की अपेक्षा जनता के सामाजिक हितों पर अधिक ध्यान रखना पड़ता है। यह विशेषता रेलों को अन्य परिवहन-साधनों से भिन्न करती है। रेल उद्योग की सेवायें सर्व साधारण के लिए सुलभ है। कोई भी नागरिक स्वतंत्रता-पूर्वक इन सेवाओं को प्राप्त कर सकता है। लोकवाहनों का कार्य यात्रियों तथा माल को सुरक्षित रूप से गन्तव्य स्थल तक पहुँचाना होता है। इस प्रकार उनका व्यक्तिगत हित, लोकहित के साथ जुड़ा रहता है। चूंकि रेलें उक्त कार्यों का निष्पादन सुचारु रूप से करती हैं अतः हम कह सकते हैं कि ये लोकवाहन हैं।

4. **अपार स्थायी पूँजी**—रेल उद्योग में जितनी प्रारंभिक पूंजी की आवश्यकता होती है उतना अन्य उद्योगों में नहीं होता है। इस उद्योग में एकबार पूंजी विनियोजित कर देने के बाद हम उसे हटाकर अन्य उद्योगों में नहीं लगा सकते हैं। यह पूँजी न केवल उद्योग में बँध जाती है अपितु उस स्थान विशेष से बँध जाती है जहाँ उसे लगाया जाता है। इस उद्योग में कुल विनियोजित पूंजी का लगभग 90% भाग स्थायी पूंजी के रूप में लग जाता है। इसमें चालू पूंजी की अपेक्षा बहुत कम होती है।

5. **प्रतियोगी उद्योग**—एकाधिकारी व्यवसाय होते हुए रेल उद्योग एक प्रतियोगी व्यवसाय भी है। रेल उद्योग में जो विशाल पूंजी लगती है उसे लाभप्रद बनाने के लिए अधिक से अधिक यातायात प्राप्त करना उसके लिये आवश्यक हो जाता है। यातायात-वृद्धि के प्रयासों के कारण प्रत्यक्ष प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है। यह प्रतियोगिता दो या दो से अधिक रेलों के बीच या रेलों तथा अन्य परिवहनों के बीच होती

है। रेलों को उद्योगपतियों की पारस्परिक होड़ से उत्पन्न प्रतियोगिता का भी अप्रत्यक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। ये प्रतियोगितायें अत्यन्त हानिप्रद होती हैं।

6. **संयुक्त व्यय और संयुक्त उत्पादन**—जब किसी वस्तु की उत्पत्ति करने पर उसी लागत में अन्य कोई वस्तु या वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं तो इन वस्तुओं को संयुक्त उत्पत्ति या संयुक्त पूर्ति अथवा संयुक्त लागत कहते हैं इसका मुख्य लक्षण यह है कि दो या अधिक वस्तुएँ एक ही स्रोत से उत्पन्न की जाती हैं। उदाहरण के लिए गेहूँ के साथ भूसा, शक्कर के साथ शीरा, भेड़ पालने पर ऊन के साथ मांस, और कपास के साथ बिनौला की उत्पत्ति होती है। इसमें से कम मूल्यवान वस्तु जो मुख्य वस्तु के साथ उत्पन्न होती है, उपोत्पाद या गौण उत्पाद कहलाती है।

रेल उद्योग में यह सिद्धान्त लागू होता है क्योंकि एक ही रेलवे लाइन पर और उन्हीं स्टेशनों से होकर सवारी गाड़ियाँ तथा माल गाड़ियाँ गुजरती हैं। सवारी गाड़ियों में भी प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के यात्री होते हैं और माल में भी कई आकार-प्रकारों कीमती एवं सस्ते माल होते हैं। स्पष्टतः रेलवे उद्योग में भी विभिन्न प्रकार की यातायात सेवायें प्रदान करने के लिए व्यय एक ही साथ करने पड़ते हैं। यह सिद्धान्त भी आंशिक रूप से ही लागू होता है क्योंकि रेलों के व्यय की एक बड़ी मात्रा स्थायी अवश्य होती है किन्तु फिर भी कुछ व्ययों को प्रत्येक इकाई में बाँटा जा सकता है। रेल उद्योग में यातायात विशेष की कमी हो जाने पर तत्सम्बन्धी अस्थायी व्यय अवश्य ही कम हो जाते हैं।

संयुक्त व्यय सिद्धान्त रेलों में रिक्त स्थान होने सर पूर्णतया लागू होता है जैसे—A से B स्थान तक यदि इतनी मात्रा से यातायात प्राप्त होता है कि गाड़ियाँ पूरी भर जाती हैं किन्तु B से A स्थान तक आने में उतना यातायात प्राप्त नहीं होता तो भी रेलवे को पहले के समान ही व्यय करने पड़ते हैं। इन व्ययों की पूर्ति के लिए रेलवे दूसरी ओर से किराये की दरों में कमी करके यातायात को अधिक मात्रा में अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है। ऐसा न करने पर A से B जाने वाले यातायात का भार खाली गाड़ियों के लौटने के व्यय के बराबर और बढ़ जायेगा।

संक्षेप में रेलों में संयुक्त व्यय अथवा संयुक्त उत्पादन का नियम केवल आंशिक रूप में लागू होता है। रेलों के लिये इस सिद्धान्त का महत्त्व केवल गौण रूप में है, मुख्यतयः नहीं।

7. **बृहत-कार्य व्यवसाय**—आधुनिक युग में रेलें आकार, संगठन, पूंजी, लाभ-हानि आय-व्यय आदि सभी बातों में अन्य व्यवसायों से आगे है। कोई व्यवसाय कितना बड़ा है इसका निर्धारण प्रायः उसमें विनियोजित पूंजी के अनुसार किया जाता है। रेलों में जितनी पूंजी लगी है उतनी किसी अन्य व्यवसाय में नहीं लगी है। इस उद्योग में लगभग 4099 करोड़ रुपये की पूंजी विनियोजित है। रेलों की आय भी कुल आय का 33%

भारत में रेलों का विकास
(Railway Development in India)

रेलवे विकास का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है। अध्ययन की सुविधा के लिए रेलवे के इतिहास को (काल-विभाजन की दृष्टि से) निम्नलिखित वर्गों में बाँटा गया है—

(1) प्रारम्भ काल से 19वीं शताब्दी तक

(i) पुरानी गारण्टी पद्धति (1844-1869)

(ii) सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (1869-1879)

(iii) नयी गारण्टी पद्धति (1879-1900)

(2) द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त तक समय

(iv) तीव्र प्रगति और विकास काल (1900-1914)

(v) प्रथम महायुद्ध काल—रेल व्यवस्था का विघटन (1914-1919)

(vi) नई नीति निर्धारण काल (1920-1929)

(vii) आर्थिक मन्दी का समय (1930-1939)

(viii) द्वितीय महायुद्ध काल (1940-1944)

(3) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् का काल

(ix) प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व का काल (1945-1950)

(x) पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय रेलवे का विकास (1951-82)

(i) पुरानी गारण्टी पद्धति (1844-1869) भारत में सर्वप्रथम रेलवे लाइन अप्रैल 1853 में थाना तथा बम्बई के मध्य निर्मित की गई। वस्तुतः भारत में रेलों का निर्माण 1844 ई० में ही प्रारम्भ हुआ जब 'ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने इंगलैंड में स्थापित कम्पनियों को एक निश्चित लाभ के आश्वासन पर रेल निर्माण का ठेका दिया। कलकत्ता और बम्बई के समीप दो छोटी रेल लाइनों के निर्माण के लिए अगस्त 1849 में सरकार ने दो अंग्रेजी कम्पनियों (ईस्ट इंडिया रेलवे कम्पनी व ग्रेट इण्डियन पेनिन्सुला रेलवे कम्पनी) के साथ समझौता किया जिसे पुरानी गारण्टी पद्धति कहते हैं। इस गारण्टी प्रथा की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं :—

(क) इस समझौते की अवधि 99 वर्ष होगी।

(ख) रेल कम्पनियों को रेलमार्ग, स्टेशन भवन आदि का निर्माण करने के लिए सरकार भूमि निःशुल्क देगी।

(ग) सरकार ने रेलवे कम्पनियों को उनके द्वारा लगाई गई पूंजी पर 4% से 5% तक ब्जाज देने की गारण्टी थी।

(घ) विनिमय की दर 22 पैसे प्रति रुपया निश्चित की गई।

(ङ) ब्याज के पश्चात् जो लाभ शेष बचेगा वह कम्पनियों तथा सरकार के बीच आधा-आधा बाँट दिया जायेगा।

(च) किराये-भाड़े के दर निर्धारण, गेज नियंत्रण व निरीक्षण आदि में सरकार का निर्णय माना जायेगा।

(छ) सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रखा कि वह चाहे तो 25 या 50 वर्ष के बाद रेलवे को खरीद सकती है।

यह प्रथा 1869 तक चलन में रही। इस अवधि में कुल 4,287 मील लम्बे रेल मार्ग का निर्माण हुआ। रेलों के निर्माण और संचालन पर दोहरा नियंत्रण होने तथा सरकार को गारण्टी पूरी करने में 20 करोड़ रुपये की हानि होने के कारण 1896 में गारण्टी प्रथा को त्याग दिया गया। श्री विलियम थार्टन ने संसदीय समिति के समक्ष गवाही देते हुए कहा था, "गारण्टी पद्धति से कोई भी लाभ न हुआ जो इसके बगैर नहीं हो सकता था। मेरी राय में ये ठेके कलंक हैं चाहे जिस आदमी ने इन्हें मान्यता दी हो।"

(ii) **सरकारी निर्माण और प्रबन्ध** (1869-1879)—1869 में गारण्टी प्रथा को त्याग दिया गया और सरकार ने स्वयं ही रेलों के निर्माण एवं उनकी व्यवस्था का कार्य सम्भाल लिया। इस काल की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं—(अ) सरकार ने 6 रेलों का निर्माण कराया। (ब) पुरानी गारण्टी प्रथा में निर्माण व्यय 20,000 पौंड प्रति मील पड़ता था, अब यह निर्माण व्यय घटकर 19,000 पौंड प्रति मील हो गया। (स) मुख्य रेलवे मार्गों के लिए चौड़ी रेलवे लाइनें तथा सहायक मार्गों के लिए कम चौड़ी लाइनें बनाई गईं। (द) रूस के आक्रमण का मुकाबला करने के लिये सरकार को सामरिक महत्त्व की रेलों का निर्माण करना पड़ा।

1869-1879 की मध्यावधि में रेलमार्गों की लम्बाई 9,875 मील हो गई तथा इस अवधि में सरकार ने कुल 134 करोड़ रुपये व्यय किये। पूंजी की अपर्याप्तता से विवश होकर सरकार ने 1879 में कम्पनियों की सहायता पुनः ली।

(iii) **नयी गारण्टी पद्धति** (1879-1900)—अतः सरकार ने फिर कम्पनियों की सहायता से रेलों का निर्माण किया, किन्तु समझौते की शर्तों में कुछ परिवर्तन किये गये। अतः इस प्रथा को नयी गारण्टी पद्धति कहते हैं। इस समझौते की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थीं—

(अ) कम्पनियों को 3% से $3\frac{1}{2}$% ब्याज की गारण्टी दी गयी।

(ब) सरकार रेलवे कम्पनियों का प्रबन्ध 25 वर्ष के पश्चात् या उसके प्रति 10 वर्ष बाद अपने हाथ में ले सकती थी।

(स) शुद्ध लाभ का 60% भाग सरकार के लिये सुरक्षित किया गया।

सरकार ने रेलों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया—(क) उत्पादक रेलें, (ख) अनुत्पादक रेलें और (ग) संरक्षणात्मक रेलें।

1900 तक रेल मार्गों की कुल लम्बाई 24,752 मील हो गई थी और 98 रेल मार्गों पर 33 रेल कम्पनियाँ कार्य करती रही थीं।

(iv) **तीव्र प्रगति और विकास का काल** (1900-1914)—बीसवीं सदी के आरम्भ होते ही रेलों के विकास में बहुत तेजी आई और रेलवे को घाटे के स्थान पर लाभ प्राप्त होने लगे। पूंजी का अभाव समाप्त हो गया और रेलों को इतनी धनराशि

मिलने लगी जिसे खर्च करना एक समस्या बन जाती थी। 1901 में **श्रीटामस राबर्टसन** को भारतीय रेलों के प्रबन्ध और संचालन की जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया। स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने रेलवे बोर्ड स्थापित करने, रेलवे में सुधार के लिये सामान्य राजस्व से अलग एक रेल कोष स्थापित करने तथा सरकार और कम्पनियों के दोहरे प्रबन्ध की समाप्ति के लिए सुझाव दिया। सरकार ने इन सुझावों को नहीं माना। फिर भी 1905 में रेलों के प्रबन्ध के लिए रेलवे बोर्ड बनाया गया। 1907 से **मैके समिति** की नियुक्ति की गई जिसके अध्यक्ष **सर जेम्स मैके** थे। इस समिति ने तत्कालीन रेल मार्गों को देश की आवश्यकता से कम बताया।

सन् 1914 तक रेलों की लम्बाई बढ़कर 35,285 मील हो गयी थी। औसतन प्रतिवर्ष 774 मील लम्बे रेल मार्ग का निर्माण हुआ।

(v) प्रथम महायुद्ध काल रेल व्यवस्था का विघटन (1914-1919)—युद्धकाल में रेलों की प्रगति रुक गई, क्योंकि आवश्यक सामानी (डिब्बे, इंजिन आदि) का आयात बन्द हो गया था तथा सरकार के पास धन की कमी थी। साथ ही युद्ध के लिए कुछ रेल मार्गों को उखाड़ कर पूर्वी अफ्रीका और मेसोपोटामिया भेजना पड़ा। इस प्रकार युद्ध का प्रभाव रेलवे पर प्रतिकूल पड़ा।

(vi) नई नीति निर्धारण काल (1920-1929)—भारतीय रेलों की बिगड़ती हुई स्थिति की जाँच के लिए भारत सरकार ने नवम्बर 1920 में रेलवे विशेषज्ञ **विलियम एजवर्थ** की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसने निम्न सुझाव दिये—

(अ) रेलवे बोर्ड के सङ्गठन एवं कार्य-प्रणाली में सुधार किया जाए।

(ब) रेल ट्रिब्युनल की स्थापना की जाये जो रेल भाड़ों को निश्चित करे।

(स) रेलवे अपना बजट पृथक बनाए।

(द) सरकार और कम्पनियों के दोहरे प्रबन्ध की बजाय केवल सरकार द्वारा ही प्रबन्ध किया जाए।

(य) केन्द्रीय एवं स्थानीय परामर्शदात्री समितियों की स्थापना द्वारा जन-सहयोग प्राप्त किया जाए।

(र) रेलवे ह्रास कोष (Depreciation Fund) तथा संचित कोष (Reserve Fund) की स्थापना की जाय।

सरकार ने वस्तुतः इस समिति के सभी सुझावों को मान लिया। फरवरी 1923 में रेलों के प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई, सितम्बर 1924 से रेलवे बजट पृथक् बनने लगा। एक संचित कोष भी स्थापित किया गया तथा ह्रास कोष की भी व्यवस्था की गई। रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन किया गया।

इन अवधि में रेलवे का विकास तीव्रगति से हुआ, जैसा कि अग्रांकित अङ्कों से स्पष्ट है—

रेलवे का विकास

वर्ष	रेलों की लम्बाई (मील)	विनियोजित पूँजी (करोड़ रु०)	आय (करोड़ रु०)
1919-20	36,735	566·38	89·15
1929-30	41,724	156·75	116·08

(vii) **आर्थिक मन्दी का समय** (1930-39) —सन् 1929-30 की आर्थिक मन्दी का प्रभाव भारतीय रेलों पर भी पड़ा, रेलों की आय में कमी और व्यय में वृद्धि हुई। घाटे की पूर्ति के लिए संचित कोष तथा ह्रास कोष का सहारा लेना पड़ा। व्यय में कमी हेतु सुझाव देने के लिए 1932 में **पोप समिति** और 1936 में रेलों की आर्थिक दशा की जाँच के लिये **वैजेवुड समिति** नियुक्ति हुई। वैजवुड समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—

(i) केन्द्रीय बचत अनुसंधान समिति की स्थापना की जाए।

(ii) मितव्ययिता लाने के लिए भविष्य में रेलों को आठ क्षेत्रों में बाँट दिया जाए।

(iii) रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को दिया जाने वाला अंशदान कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाए।

(iv) अतिरिक्त आय का प्रयोग यात्रियों को सुविधायें देने में किया जाए।

(v) रेलवे ह्रास कोष व संचित कोष की उचित व्यवस्था की जाए।

(vi) रेल सामग्री का सदुपयोग एवं रेल सड़क प्रतियोगिता को कम या समाप्त किया जाए।

सरकार ने समिति के कुछ सुझावों को मान लिया। सन् 1936-37 के बाद भारतीय रेलों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा तथा इनकी आय में पुनः वृद्धि होने लगी। सन् 1937 में बर्मा भारत से पृथक् हो गया, अतः 2,000 मील रेलमार्ग बर्मा में चला गया। सन् 1939-40 में भारतीय रेलों की लम्बाई 41,156 मील थी।

(viii) **द्वितीय महायुद्ध काल** (1940-1944)—द्वितीय महायुद्ध काल भारतीय रेलों के लिए आर्थिक दृष्टि से समृद्धि का समय था, क्योंकि रेल-सेवाओं के लिए माँग में वृद्धि हुई, और इनकी आय बढ़ी। युद्धकाल में रेलवे का नवानीकरण कार्य बन्द कर दिया गया, बहुत-सी रेल-सामग्री अन्य देशों को भेज दी गई। सन् 1942 में युद्ध परिवहन बोर्ड स्थापित हुआ एवं रेलों ने अपनी सेवाएँ प्रदान करने में प्राथमिकता पद्धति अपनाई जिसके अनुसार रेल द्वारा आवश्यक वस्तुएँ भेजने में प्राथमिकता दी जाने लगी। सन् 1944 में एक सुधार कोष भी स्थापित हुआ।

सन् 1939-40 में रेलवे की आय 111·5 करोड़ रुपए थी जो 1944-45 में बढ़कर 232·65 करोड़ रुपए हो गयी।

(ix) **प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व का काल** (1945-1950)—सन्

1947 में देश के विभाजन के फलस्वरूप बहुत से रेल-मार्ग पाकिस्तान में चले गए। विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगे के कारण भारतीय रेलों को बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थियों को ढोना पड़ा। साथ ही देश में प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव हो गया, क्योंकि बहुत से कुशल कर्मचारी पाकिस्तान चले गए। विभाजन के पश्चात् देश में ड्राइवरों की संख्या पहले की अपेक्षा 18 प्रतिशत घट गई। मुगलपुरा और सैदपुरा के वर्कशाप भी पाकिस्तान में रह गए। इससे रेलों की कार्यक्षमता बहुत घट गई।

31 मार्च, 1951 को भारतीय रेलवे की लम्बाई 34,079 मील थी तथा उसमें विनियोजित कुल पूंजी 838·17 करोड़ रुपए थी।

पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय रेलवे

(अ) **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—प्रथम योजना में भारतीय रेलों के आधुनिकीकरण तथा प्रतिस्थापन पर अधिक जोर दिया गया जो द्वितीय महायुद्ध तथा देश के विभाजन के कारण अत्यन्त शोचनीय स्थिति में थी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य था रेलों के डिब्बों, इंजनों, लाइनों तथा अन्य उपकरणों की मरम्मत तथा नवीनीकरण करना, जनता के लिए सुविधाएँ बढ़ाना तथा कुछ नई लाइनें बिछाना। इन सब कार्यों पर प्रथम योजना में 423·73 करोड़ रुपये व्यय हुआ। इसका अधिकांश अर्थात् 55·7 प्रतिशत इंजनों तथा डिब्बों के नवीनीकरण में व्यय हुआ। प्रथम योजना काल में 496 रेल इन्जन 4,351 यात्री डिब्बे तथा 41,192 मालगाड़ी के डिब्बों का उत्पादन हुआ था। प्रथम योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के फलस्वरूप रेलों की माल ढोने की क्षमता 16 प्रतिशत वृद्धि हो गई।

(ब) **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—द्वितीय योजना में भारतीय रेलों के विकास का एक महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम रखा गया। इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे—(1) रेलों की परिवहन क्षमता को बढ़ाना, (2) रेल मार्ग, पुलों तथा इन्जन और डिब्बों आदि के पुनर्स्थापन के कार्य को पूरा करना, व (3) रेल सम्बन्धी सामग्री का देश में उत्पादन बढ़ाकर रेलों को आत्मनिर्भर बनाना।

द्वितीय योजना में लगभग 1,311 किलोमीटर लम्बी लाइनें बिछाई गयीं। 1,512 किलोमीटर लम्बी लाइनों को दुहरा बनाया गया। सन् 1950-51 से सन् 1960-61 के दस वर्षों में ढोये जाने वाले माल में 60 प्रतिशत तथा यात्रियों में 24 प्रतिशत की वृद्धि हुई इस योजना में रेल पर लगभग 1,100 करोड़ रुपये व्यय किए गए।

(स) **तृतीय योजना** में रेल परिवहन के विकास पर 1,685 करोड़ रुपया व्यय किया गया। इस योजना काल में 1,801 किलोमीटर नये रेलमार्ग का निर्माण, 3,228 किलोमीटर मार्ग का दोहरीकरण तथा 1,746 किलोमीटर मार्ग का विद्युतीकरण किया गया। इसी अवधि में डीजल इंजनों का निर्माण भी देश में प्रारम्भ हुआ।

(द) **तीन वार्षिक योजनाओं** (1966-69) की अवधि में रेलों में 763 करोड़

रुपये का विनियोग हुआ। इस अवधि में 1,061 किलोमीटर नये रेलमार्ग का निर्माण, 1,268 किलोमीटर मार्ग का दोहरीकरण तथा 905 किलोमीटर मार्ग का विद्युतीकरण किया गया।

(य) चौथी पंचवर्षीय योजना में रेलवे—इस योजना में रेल विकास के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे—(अ) रेल क्षमता को उचित अंश में बढ़ाना, (ब) रेल उपकरणों एवं कार्यप्रणाली का यथाशक्ति अधिकतम आधुनिकीकरण करना, (स) अधिक परिवहन संभावना वाले क्षेत्रों में अधिक सक्षम बड़ी लाइन का विस्तार करना, (द) दूर संचार चलयान, कारखाना उपकरण, रेलपथ अनुरक्षण और तकनीकी क्षेत्र में गुणमूलक सुधार पर बल दिया जाना।

चौथी योजना में रेलों के विकास पर 1,419 करोड़ रु० व्यय किए गए जिसका विवरण आगे सारणी नं० 1 में दिया गया है।

2. पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79)

पाँचवीं पञ्चवर्षीय योजना में विस्तृत कार्यक्रमों को ध्यान में रखकर रेलवे की निम्नलिखित योजना तैयार की गई—

1. रेलवे की लम्बाई के 24% पर ही सबसे व्यस्त ट्रैफिक 72% माल की ढुलाई होती है इसकी तरक्की की जानी चाहिए।

2. जनता द्वारा ले जाया जाने वाला माल जैसे - सीमेंट, कोयला, उर्वरक, रसद, पेट्रोल जिससे 58 प्रतिशत की आय 1950-51 में होती थी उसे 1971-72 में 80 प्रतिशत करने का लक्ष्य बनाया गया।

3. पैसेञ्जर गाडियाँ प्रमुख नगरों एवं उद्योगों के स्थानों पर बढ़ाने एवं ठहराव करने की वृहत योजना बनायी गयी।

प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार रहे—

1. माल ट्रैफिक—पाँचवीं पञ्चवर्षीय योजना में माल ढुलाई का लक्ष्य 1978-79 तक लगभग 300 लाख टन रखा गया।

2. पैसेन्जर ट्रैफिक—इस योजना के अन्तर्गत शहरी क्षेत्रों की जनता के लिए लगभग 4 प्रतिशत रेलों से सड़कों पर यात्रा बढाने के लिए जोर दिया गया ताकि दूर से आने वाली जनता को आसानी से जगह मिल सके। फलत: 6·7 प्रतिशत पैसेन्सर ट्रैफिक जो दूर से आते हैं उन्हें सुविधा प्रदान करने में आसानी होगी।

3. विकास योजना—विदेशी सहायता 330 करोड़ रुपये के साथ रेलवे पर सम्पूर्ण व्यय 2350 करोड़ रुपये रखा गया। लगभग 68 प्रतिशत इस रकम का रोलिंग ट्रैक एवं लाइन स्टाक पर खर्च करने के लिए रखा गया। इस खर्च में अधिक वस्तु प्राप्त हो सके की नीति अपनायी गयी इसे अग्रांकित सारणी में प्रदर्शित किया गया है—

सारणी नं० 1

चौथी व पाँचवीं योजना में रेल विकास पर खर्च (करोड़ रुपये में)

विवरण	चतुर्थ योजना	पञ्चम योजना
1. रोलिंग स्टाक	609	900
2. वर्कशाप एवं शेड	22	120
3. मशीनरी एवं प्लान्ट	22	40
4. ट्रैक का नवीनीकरण	161	200
5. पुल का कार्य	30	60
6. लाइन क्षमता	230	500
7. तार एवं सुरक्षा	59	110
8. विद्युतीकरण	68	120
9. अन्य विद्युतीकरण कार्य	18	20
10. नई लाइनें	32	100
11. कर्मचारी हित	16	20
12. कर्मचारी आवास	65	40
13. उपभोक्ता सुविधा	20	20
14. अन्य विशेष कार्य	11	20
15. राजकीय रोडवेज में लगाया गया	14	30
16. इन्वेन्टरीज	61	50
17. पोस्ट एवं टेलीग्राफ की लाइनों का अधिग्रहण	2	—
योग	1416	2350

छठवीं योजना (1980-85) में रेलें—छठवीं योजना में विद्यमान सम्पत्ति से उत्पादन बढ़ाने तथा प्रयोग निर्देशांक में पर्याप्त वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। सन् 1979-80 में बड़ी रेलवे लाइनों पर प्रति वैगन शुद्ध टन किलोमीटर (NTKM) 972 टन था, जिसे 1,045 से 1,172 टन तक पहुँचाने का प्रयास किया जायेगा। छोटी रेलवे लाइनों पर यह मात्रा 534 टन है, जिसे 570 से 580 टन तक पहुँचाया जायेगा। योजना के अन्त में ढोये गये माल की मात्रा 309 मि० टन हो जाने की आशा है। रेलवे देश का एक विशाल और जटिल सङ्गठन होने के कारण इसके सङ्गठन में यथा सम्भव आधुनिक प्रबन्ध तकनीकों को अपनाया जायेगा।

छठवीं योजना में रेल विकास के लिए 5,100 करोड़ रु० का प्रावधान किया गया है। योजना में विकास कार्यक्रम की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—(1) योजनावधि में रेलों के रोलिग स्टॉक में 1 लाख माल डिब्बे, 5,680 सवारी डिब्बे और 780 डीजल तथा विद्युत इञ्जन बढ़ाये जायेंगे। (2) 14,000 किलोमीटर लम्बे मार्ग का नवीनीकरण किया जायेगा। (3) रेलवे पहियों और ऐक्सिल की उपलब्धता

बढ़ाने के लिए बङ्गलौर के पास एक नया कारखाना स्थापित किया जायेगा। (4) लगभग 2,800 किलोमीटर लम्बे रेलमार्ग का विद्युतीकरण किया जायेगा।

योजनाकाल में रेलमार्ग यात्रियों की संख्या व ढोये गये माल सभी में वृद्धि हुई है जिसका ब्यौरा निम्न है—

वर्ष	रेलमार्ग की लम्बाई (कि॰ मी॰)	यात्रियों की संख्या (करोड़ों में)	ढोया गया माल (करोड़ टनों में)
1950-51	53,596	128	9
1955-56	55,011	128	12
1960-61	56,247	159	16
1965-66	58,399	208	20
1973-74	60,234	265	18
1978-79	60,777	372	22·3
1980-81	61,240	361	22·0
1981-82	61,320	374	24·6

योजनाओं में रेलवे विकास की विशिष्ट बातें
अथवा
योजना में रेलवे विकास के विशिष्ट लक्षण[1]

योजना काल में रेल परिवहन में हुए विकास के लक्षण निम्नलिखित हैं—

(1) **विद्युती करण**—1950-51 में 388 किलोमीटर रेल मार्ग ही विद्युत युक्त था जो 1981-82 के अन्त में बढ़कर 5,473 किलोमीटर हो गया है। अगले दस वर्षों में देश के प्रमुख सात मुख्य मार्गों पर विद्युतीकरण का कार्य पूरा हो जायेगा।

(2) **डीजल इन्जन**—भारत में पहला डीजल इन्जन सन् 1948 में अमेरिका से आया था जिसको टाटा नगर रूरकेला—बर्नपुर रेलमार्ग पर चलाया गया था। 1950-51 में भारत के पास केवल 17 डीजल इन्जन थे लेकिन आज इनकी संख्या 2,515 है।

(3) **सूक्ष्म तरंग पद्धति**—रेलों के सुचारु, सुरक्षित और तीव्र सञ्चालन के लिए शीघ्र और विश्वसनीय संवाद-वाहन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। टेलीफोन लट्ठों द्वारा संवाद वाहन पद्धति मौसम की खराबी और तारों की चोरी के कारण अधिक विश्वसनीय नहीं रही है। अतः रेलवे द्वारा (Super high Frequency and Channeling System) पर आधारित सूक्ष्म तरङ्ग पद्धति अपनाई गई है। अब तक यह पद्धति 13,100 किलोमीटर रेलमार्ग पर अपनाई जा चुकी है।

---

1. यह लक्षण ही भारतीय रेलवे द्वारा आधुनिकीकरण की दिशा में उठाए गए पग हैं।

(4) **सिग्नल पद्धति में सुधार**—भारतीय रेलों में आधुनिकीकरण की दर में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास सिग्नल पद्धति में सुधार है। इस दृष्टि से लाल, हरे और पीले रंगों वाले विद्युतीय विभिन्न पहलू सिग्नलों (Multiaspect Signals) को लगाया गया है। यन्त्रीकृत (Mechanised) सिग्नलों की तुलना में वे विद्युतीय सिग्नल अधिक सुरक्षित, विश्वसनीय और वैज्ञानिक हैं।

(5) **एक्सप्रेस गाड़ियाँ**—रेल परिवहन में, निरन्तर रेलों की गति में वृद्धि करने तथा तीव्र गति वाली नई रेलों को चलाने की दृष्टि से भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई। इस सन्दर्भ में 'राजधानी एक्सप्रेस' महत्त्वपूर्ण है। प्रथम राजधानी एक्सप्रेस नई देहली और हावड़ा के मध्य 1 मार्च, 1961 से चलना प्रारम्भ हुई। यह गाड़ी 1,445 किलोमीटर लम्बे मार्ग को केवल 17 घण्टे में तय कर लेती है। तत्पश्चात् अन्य महत्त्वपूर्ण एक्सप्रेस गाड़ियाँ भी चलाई गई हैं। जिन्हें 'सुपर एक्सप्रेस' कहा जाता है। जैसे गीतांजलि एक्सप्रेस, नवजीवन एक्सप्रेस, गाँधीधाम एक्सप्रेस, कालिका एक्सप्रेस, मोनार एक्सप्रेस आदि।

(6) **रेल निर्णायक इकाइयाँ**—रेलवे परिवहन के उपकरणों, इन्जनों व डिब्बों के बनाने के लिए भारत में तीन प्रमुख कारखाने हैं जिनकी स्थापना स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हुई हैं—

(अ) **चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स कलकत्ता**—इस कारखाने की स्थापना 1950 में भाप के इन्जन बनाने के लिए की गई थी इसमें 1961 से बिजली व डीजल इन्जन लगे हैं। अब तक यह कारखाना 5,275 इन्जन बना चुका है। वर्तमान में इसकी उत्पादन क्षमता है 60 डीजल इन्जन व 80 बिजली इन्जन वार्षिक है।

(ब) **इण्टीग्रल कोच फैक्ट्री, पैराम्बूर (मद्रास)**—इस फैक्ट्री ने अपना उत्पादन कार्य अक्टूबर, सन् 1955 में प्रारम्भ किया। मार्च, सन् 1982 तक इस फैक्ट्री में 12,680 सज्जित डिब्बों (equipped coaches) का निर्माण किया गया।

(स) **डीजल लोकोमोटिव वर्क्स, वाराणसी**—इस फैक्ट्री द्वारा प्रथम डीजल इंजन जनवरी, सन् 1964 में निर्मित किया गया। मार्च, सन् 1981 तक इसके द्वारा 1,131 BG तथा 241 MG इंजनों का निर्माण किया जा चुका था। इनमें देशी सामान का प्रयोग क्रमशः 94 और 93 प्रतिशत था।

(7) **माल परिवहन व्यवस्था में सुधार** (Improvement in Goods Traffic)—

हाल ही के वर्षों में रेल द्वारा माल परिवहन व्यवस्था में अनेक उल्लेखनीय सुधार किये गये हैं। उच्च दर वाले माल यातायात को आकर्षित करने और बिना किसी देरी अथवा नुकसान के माल को घर तक पहुँचाने के लिए सन् 1965 में बम्बई और अहमदाबाद के मध्य 'कण्टेनर' सेवा प्रारम्भ की गई।

शीघ्रता से माल पहुँचाने के लिए प्रमुख शहरों के मध्य सीधी 'सुपर एक्सप्रेस मालगाड़ियाँ' चलायी जा रही हैं। 1969 से 'फ्रेट फारवर्ड स्कीम' लागू की गई है

जिसके अन्तर्गत फ्रेट फारवर्ड छोटे-छोटे सामान को एकत्रित कर रेलवे को वैगन माल के रूप में देता है। इस समय यह सेवा 50 स्थानों के बीच लागू है।

वर्तमान स्थिति

भारत में रेल यातायात के वर्तमान स्थिति का आभास योजना काल में रेलवे विकास की विशिष्ट बातों के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है। लेकिन कुछ अतिरिक्त तथ्य इस प्रकार हैं :—

(i) रेलों की लम्बाई—भारत में रेल की लम्बाई जो वर्ष 1950-51 में 53596 किलोमीटर थी, 1981-82 के आरम्भ में बढ़कर 61320 किलोमीटर हो गई।

(ii) यात्री परिवहन—पहली पाँच योजनाओं के दौरान रेलों पर यात्रा करने वाले यात्रियों की संख्या में दो गुना से अधिक वृद्धि हो गई है। पहली योजना के आरम्भ में प्रत्येक वर्ष 12,840 लाख यात्री रेलों का प्रयोग करते थे, जबकि 1981-82 के आरम्भ में रेल की यात्री संख्या बढ़कर 374 करोड़ प्रतिवर्ष हो गई थी।

(iii) माल यातायात—वर्ष 1950-51 में रेलों पर 930 लाख टन माल ढोया गया जबकि 1981-82 में रेलों से 24·6 करोड़ टन माल ढोया गया। छठीं योजना के अन्त तक इसके 3,000 लाख टन बढ़ जाने की आशा है।

(iv) रेल इंजन की संख्या—पहली योजना के आरम्भ में भारतीय रेलों के पास 9,209 रेल इंजन थे जबकि छठी योजना के प्रारम्भ में यह संख्या बढ़कर 11,043 हो गई थी। छठीं योजना के दौरान 800 नए इंजन जोड़े जाएँगे।

(v) माल डिब्बों की संख्या—रेलों के पास उपलब्ध डिब्बों की संख्या वर्ष 1950-51 में 2·06 लाख थी जो 1981-82 के आरम्भ में बढ़कर लगभग 5 लाख हो गयी थी।

(vi) सवारी डिब्बों की संख्या—रेलों के पास उपलब्ध सवारी डिब्बों की संख्या भी दुगुनी हो गई है। पहली योजना के प्रारम्भ में भारतीय रेलों के पास 19,628 सवारी डिब्बे उपलब्ध थे जबकि चौथी योजना के अन्त में इनकी संख्या बढ़कर 36,426 हो गई थी। पाँचवीं योजना में 76,426 हो गई थी। पाँचवीं योजना में 7,600 सवारी डिब्बे जोड़ने का प्रस्ताव रखा गया है। छठीं योजना में 3,500 सवारी डिब्बे जोड़ने का कार्यक्रम है।

(vii) उत्पादन कारखाने—भारतीय रेलों के तीनों कारखाने (अ) चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स (ब) डीजल लोकोमोटिव वर्क्स और (स) इन्ट्रीगल कोच फैक्ट्री देश की आन्तरिक आवश्यकताओं को पूरा ही नहीं करते वरन् निर्यात भी करते हैं।

(viii) परामर्श सेवा—भारतीय रेलों की परामर्श सेवा को दुनिया में इस क्षेत्र की अच्छी सेवाओं में एक माना जाता है। हाल की अवधि में भारतीय रेलों ने ईरान, ईराक, श्रीलंका, मिस्र, ताइवान, सीरिया, सऊदी अरब, फिलिपाइन्स और जॉर्डन आदि देशों को परामर्श सेवा उपलब्ध की है।

(ix) क्षेत्र—भारतीय रेलें 9 क्षेत्रों में विभाजित हैं, जिनका विवरण निम्न-लिखित हैं—

(i) उत्तरी रेलवे—यह रेलमार्ग पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान एवं उत्तरी-पश्चिमी उत्तर प्रदेश में फैला हुआ है। इस रेल मार्ग की कुल लम्बाई 10,688 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में है। यह रेलवे भारत को कश्मीर से जोड़ती है, इसलिए इसका सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। इस रेलवे द्वारा गेहूँ, गन्ना, चावल, कपास, गुड़, तिलहन चीनी तथा सूती कपड़े आदि पदार्थ ढोये जाते हैं।

इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

(अ) सहारनपुर से मुरादाबाद, बरेली, शाहजहाँपुर, लखनऊ और वाराणसी होती हुई मुगलसराय तक।

(ब) दिल्ली से कानपुर, इलाहाबाद होती हुई मुगलसराय तक।

(स) दिल्ली से भटिण्डा होती हुई फिरोजपुर तक।

(द) दिल्ली से अम्बाला, जालन्धर होती हुई अमृतसर तक।

(ii) पश्चिमी रेलवे—यह रेलमार्ग दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, गुजरात, उत्तरी महाराष्ट्र तथा पश्चिमी मध्य प्रदेश में फैला हुआ है। इस रेल मार्ग की कुल लम्बाई 10,147 कि० मी० है। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई (चर्च गेट) में है। इस रेलवे द्वारा सूती कपड़ा, कपास, तिलहन, नमक, सीमेंट आदि पदार्थ ढोये जाते हैं। इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

1. बम्बई से सूरत, बड़ौदा, रतलाम होते हुए दिल्ली तक।
2. दिल्ली से आबू रोड होकर अहमदाबाद तक।
3. मथुरा से उज्जैन तक।
4. कांधला से गाँधीधाम तक।

(iii) मध्य रेलवे—यह रेल मार्ग मुख्यतः महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश व उत्तर प्रदेश में फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 6,047 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय बम्बई में है। इस रेलवे के क्षेत्र में बम्बई, नागपुर, शोलापुर व हैदराबाद आदि प्रमुख औद्योगिक नगर स्थित हैं। इस रेलवे द्वारा कपास, सूती कपड़ा, मैंगनीज, सीमेंट, तिलहन आदि पदार्थ ढोये जाते हैं।

(iv) दक्षिणी रेलवे—इसका विस्तार दक्षिण भारत में है। यह तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, केरल व महाराष्ट्र में फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 7,502 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय मद्रास में है। इस रेलवे के क्षेत्र में कई प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र तथा बन्दरगाह हैं। इस रेलवे द्वारा कपास, चावल, कहवा, तिल-हन, गन्ना, रबड़ आदि पदार्थ ढोये जाते हैं। इस रेल मार्ग की प्रमुख शाखाएँ निम्न-लिखित हैं—

(अ) मद्रास से विजयवाड़ा होते हुए वाल्टेयर तक।

(ब) मद्रास से कोयम्बटूर और कालीकट होते हुए मंगलौर तक।

(स) मद्रास से त्रिचनापल्ली होते हुए धनुषकोडि तक ।

(द) मद्रास से मदुराई होते हुए टिन्नेवली तक ।

(v) पूर्वी रेलवे—यह रेल मार्ग पश्चिमी बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में फैला हुआ है । इस रेल मार्ग की लम्बाई 4,229 किलोमीटर है । इसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता में है । इसी के क्षेत्र में कलकत्ता प्रसिद्ध बन्दरगाह के पृष्ठभूमि का भाग भी पड़ता है । इस रेलवे द्वारा चाय, अभ्रक, लोहा, कोयला, मैंगनीज, रासायनिक खाद, जूट, चावल आदि पदार्थ ढोये जाते हैं । इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

(अ) मुगलसराय से पटना होते हुए कलकत्ता तक ।

(ब) मुगलसराय से गया होते हुए कलकत्ता तक ।

(स) कलकत्ता से जमशेदपुर तक ।

(vi) उत्तरी-पूर्वी रेलवे—यह रेल मार्ग असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार व उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग में फैला हुआ है । इस रेल मार्ग की लम्बाई 4,977 किलोमीटर है । इसका प्रधान कार्यालय गोरखपुर में है । इस रेलवे द्वारा चीनी, कोयला, जूट, चाय, पेट्रोल आदि पदार्थ ढोये जाते हैं । इस रेल मार्ग की मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) लखनऊ से सीतापुर और बरेली होती हुई मुरादाबाद तक ।

(ख) गोरखपुर से सारन और वाराणसी होती हुई इलाहाबाद तक ।

(ग) गोरखपुर से लखनऊ, कानपुर व कासगंज होती हुई आगरा तक ।

(घ) गोरखपुर से कटिहार, सिलीगुड़ी और फकीरग्राम होती हुई असम तक ।

(vii) उत्तरी-पूर्वी सीमान्त रेलवे—यह रेलमार्ग पहले उत्तरी-पूर्वी रेलवे का ही भाग था, किन्तु सन् 1958 में इसको एक अलग रेलवे क्षेत्र बना दिया गया है । यह रेल मार्ग नेपाल व बाँगला देश की सीमाओं से मिलता है । इसकी कुल लम्बाई 3,628 किलोमीटर है । इसका प्रधान कार्यालय मालीगाँव (गोहाटी) में है । इस रेलवे का सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है, क्योंकि यह उपर्युक्त सीमावर्ती प्रदेशों से होकर गुजरती है । इस रेलवे द्वारा चाय, पेट्रोल व चावल आदि पदार्थ ढोए जाते हैं ।

(viii) दक्षिणी पूर्वी रेलमार्ग—यह रेलमार्ग पश्चिमी बंगाल, दक्षिणी बिहार, पूर्वी मध्य प्रदेश व उड़ीसा में फैला हुआ है । यह रेलमार्ग 6,842 किलोमीटर लम्बा है । इसका प्रधान कार्यालय कलकत्ता में है । राउरकेला तथा भिलाई के लोहे व इस्पात के कारखाने इसी के मार्ग पर स्थित हैं । कलकत्ता व विशाखापत्तनम बन्दरगाहों की पृष्ठभूमि इसी रेलवे के मार्ग में पड़ती है । इस रेलवे द्वारा कोयला, लोहा, मैंगनीज, चूना, डोलोमाइट, बाक्साइट, ताँबा आदि महत्त्वपूर्ण खनिज पदार्थ ढोये जाते हैं । इसकी शाखाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) हावड़ा से होकर नागपुर तक ।

(ख) रायपुर से विशाखापत्तनम तक ।

(ग) कटनी से बिलासपुर होकर रायपुर तक ।

(घ) वाल्टेयर से कटक होते हुए खड़गपुर तक।

(ix) दक्षिणी-मध्य रेलवे—इस रेलवे क्षेत्र का निर्माण सन् 1966 में हुआ है। यह आन्ध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र के कुछ भाग में फैला हुआ है। इसकी कुल लम्बाई 6,175 किलोमीटर है। इसका प्रधान कार्यालय सिकन्दराबाद (आंध्र) में है। 'अजन्ता' और 'एलोरा की प्रसिद्ध गुफाएँ इसी रेलवे के मार्ग में स्थित हैं।

उत्तरी भारत में रेल मार्गों का जाल बिछा है—भारत के सभी भागों में धरातल एक समान नहीं पाया जाता इसलिए भारत में सर्वत्र रेल मार्गों का विकास एक समान नहीं हुआ है। उत्तरी भारत में समतल धरातल होने के कारण रेल की पटरियाँ बिछाना बहुत सरल है। यही कारण है कि उत्तरी भारत में रेल मार्गों का जाल-सा बिछा है।

भारतीय रेलों की समस्याएँ

(क) प्रशासनिक समस्याएँ	(ख) आर्थिक समस्याएँ	(ग) जन असहयोग की समस्याएँ	(घ) प्राकृतिक समस्याएँ
1. रेलों में भीड़-भाड़	1. रेलों के पुनर्स्थापन की कमी	1. बिना टिकट यात्रा	1. दैवी एवं मानवीय आपदाएँ
2. भ्रष्टाचार	2. ईंधन की कमी	2. माल की चोरी	2. दुर्गम स्थानों तक पहुँच असम्भव
3. दुर्घटनाएँ	3. सीमित साधन	3. उदासीनता	
4. अन्तर्माप की समस्याएँ	4. वेतन वृद्धि से भार		
5. बिम्लब से चलना	5. अनुसंधान की कमी		
6. प्रतिस्पर्द्धा	6. क्षतिपूर्ति		
7. सुविधाओं का अभाव	7. अलाभप्रद शाखाएँ		
8. दुर्व्यवहार	8. रेल मार्गों की कमी		

(क) प्रशासनिक समस्याएँ—ये वे समस्याएँ हैं जो रेलवे प्रशासन की कमियों के कारण उत्पन्न होती है। प्रमुखतः ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(1) रेलों में भीड़-भाड़ की समस्या—वर्तमान समय में रेलों में अत्यधिक भीड़ रहती है कि जिससे एक ओर तो जनता को असुविधा रहती है और दूसरी ओर रेलों की कार्यक्षमता में ह्रास होता है। श्री डी० पन्त के शब्दों में "पूर्ण भरी हुई लम्बी गाड़ियाँ छत पर, फुटबोर्ड पर लटकते हुए यात्री, भेड़-बकरियों की तरह भरे हुए, कुछ बन्दरों की तरह बाहर लटके हुए और दमे के रोगी की तरह साँस भरता हुआ इन्जन, यह देश में सामान्य दृश्य है।"

इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(i) **जनसंख्या में वृद्धि**—जनसंख्या में तीव्र गति से हो रही वृद्धि रेलों की भीड़-भाड़ का प्रमुख कारण है ।

(ii) **त्योहार एवं पर्व**—भारत पर्वों एवं त्योहारों का देश है । यहाँ हर महीने देश के किसी न किसी भाग में कोई न कोई त्योहार या पर्व होते रहते हैं । परिणामत: उस पर्व या त्योहार पर गाड़ियों में भीड़-भाड़ अधिक हो जाती है ।

(iii) **शिक्षा में वृद्धि**—देश में शिक्षा के प्रसार के कारण भी रेलों में विद्यार्थियों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि हुई है ।

(iv) **व्यापार तथा उद्योग में वृद्धि**—भारत में आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप व्यापार तथा उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ है । फलत: व्यापारियों और उनके प्रतिनिधियों के आवागमन में वृद्धि हुई है ।

(v) **टिकट व सीटों का सम्बन्ध न होना**—रेलों के द्वितीय श्रेणी के डिब्बों में टिकट व सीटों का सम्बन्ध न होने से यात्रियों के प्रवेश की कोई सीमा नहीं है ।

(vi) **किराये में वृद्धि न होना**—विगत वर्षों में वातानुकूल व प्रथम श्रेणी के किराये में पर्याप्त वृद्धि हुई है किन्तु द्वितीय श्रेणी का किराया नहीं बढ़ा है । फलत: द्वितीय श्रेणी में भीड़ अधिक रहती है ।

भीड़-भाड़ के दुष्परिणाम

इस भीड़-भाड़ के निम्नलिखित दुष्परिणाम हैं—

1. अत्यधिक भीड़-भाड़ के फलस्वरूप दुर्घटनाओं में वृद्धि हो जाती है और बहुसंख्यक यात्रियों के मरने की सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाती हैं ।
2. रेल कर्मचारियों के लिए टिकट निरीक्षण का कार्य कठिन हो जाता है ।
3. गाड़ियों के संचालन में व्यवधान उपस्थित हो जाता है । सेवा की समय पाबन्दी समाप्त हो जाती है ।
4. यात्रियों को मानसिक सन्ताप से गुजरना पड़ता है ।
5. अत्यधिक भीड़ के फलस्वरूप मर्यादायें टूट जाती हैं, भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है और असामाजिक व्यक्तियों को लाभ मिलता है ।

भीड़-भाड़ को कम करने के लिए उठाये गये कदम

यात्रियों की भीड़-भाड़ को कम करने के लिए योजना काल में सरकार ने—(i) अनेक नयी रेलगाड़ियों के चलाने की व्यवस्था की है (ii) अतिरिक्त रेल मार्ग का निर्माण किया है (iii) डिब्बे की संख्या को बढ़ाने के लिए डिब्बों के निर्माण का कारखाना खोला है (iv) लम्बी दूरी की यात्रा पर डीजल इंजनों का प्रयोग करके अधिकाधिक सुविधाएँ दी हैं । (v) कई रेल सेवाओं को अतिरिक्त स्टेशनों तक बढ़ाया हैं । (vi) वातानुकूलित एक्सप्रेस रेलगाड़ियों की सेवाएँ आरम्भ की हैं (vi) बहुधा भीड़-भाड़ निम्न श्रेणी के यात्रियों की होती है जिसे सुलझाने के लिए जनता और

जयन्ती जनता गाड़ियाँ चलायी गयी हैं। (vii) दक्षिण भारत में मीटर लाइन की सबसे तेज श्रेणी विहीन गाड़ी-वायगाई एक्सप्रेस भीड़-भाड़ को कम करने के उद्देश्य से ही चलायी गयी है।

सुझाव—रेलवे में भीड़-भाड़ की समस्या को सुलझाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—(i) बुकिंग व्यवस्था में सावधानी बरती जाए। पिछले स्टेशन से रेल में भीड़-भाड़ का पता लगा कर टिकट जारी किए जाएँ। (ii) थोड़ी दूर के मुसाफिरों के लिए डीजल इंजन की गाड़ियाँ चलाई जानी चाहिए। (iii) मेलों, नुमाइशों आदि विशेष अवसर पर अधिक मात्रा में स्पेशल गाड़ियाँ चलायी जानी चाहिए। रेलों में डिब्बों की संख्या तथा जनता गाड़ियों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए। (iv) जो यात्री बिना टिकट यात्रा करते हैं उन पर कड़ी निगरानी रखी जाए। (v) गाड़ियों की रफ्तार बढ़ाई जाय।

(2) भारतीय रेल में भ्रष्टाचार—अन्य क्षेत्रों की भाँति भारतीय रेलों में भ्रष्टाचार की समस्या बहुत अधिक गम्भीर है। डा० डी० पन्त ने अपनी पुस्तक 'भारत में यातायात समस्याएँ' में लिखा "यदि आपको एक वैगन की आवश्यकता है तो इसके आगे बढ़ने से पहले आप स्वयं आगे बढ़िए। सम्बन्धित पक्ष के कर्मचारियों से मिलिए और उनकी शर्तें स्वीकार कीजिए। यदि आपको माल छुड़ाना है तो या तो पाँच घन्टे बैठकर इन्तजार कीजिए या इनसे समझौता करके शीघ्र माल छुड़ा लीजिए और यदि अपने नम्बर से पहले आपको डिब्बा चाहिए तो 100 रुपए का एक नोट खिसकाइए, डिब्बा मालगाड़ी में जोड़ दिया जाएगा चाहे यह अतिरित्त डिब्बा इंजन पर जोर ही क्यों न डाले।" कभी-कभी तो बारात की बारात बिना टिकट के होती है और चेक करने वाला अपना हक लेकर बारात को जाने देता है। जब यात्रियों को टिकट नहीं मिलते तो रेलवे अधिकारियों को कुछ रुपया देकर यह समस्या हल कर ली जाती है। लगेज अधिक होने पर यात्रियों से पैसा वसूल कर लिया जाता है। और बिना रसीद दिए उनको छोड़ दिया जाता है। स्वतन्त्रता पाने के बाद देश का नैतिक स्तर और भी गिर गया है जिससे भ्रष्टाचार का रोग और भी पनप उठा है।

सन् 1948 में कुंजरू समिति ने यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक रेल कर्मचारी से उसकी अचल सम्पत्ति की घोषणा करा लेनी चाहिए। संसद सदस्यों की माँग पर सरकार ने इसके निवारणार्थ सन् 1953 में भ्रष्टाचार समिति की नियुक्ति की। समिति ने 1955 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत किया जिसमें भ्रष्टाचार के निम्नलिखित प्रकार बताये गये :—(i) माल बुक करते समय (ii) माल उतारते-चढ़ाते समय (iii) मार्ग में बिलम्ब कर (iv) तौल में कमी-बेशी कर (v) बिलम्ब शुल्क और स्थान शुल्क (vi) माल सुपुर्दगी के समय एवं (vii) पार्सल यातायात में।

भ्रष्टाचार निरोधक संगठन की रचना की गयी। इसका कार्य भ्रष्ट अधिकारियों एवं कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही करना है। चौकसी संगठनों ने व्याप्त भ्रष्टाचार को कम करने के लिए चारों तरफ जाल बिछाये हैं। प्रत्येक रेल क्षेत्र में एक मुख्य सतर्कता अधिकारी होते हैं। उनके अधीन सतर्कता निरीक्षक होते हैं जो हर रेल के

विभागों में भ्रष्टाचारियों को दंड दिलाते हैं। इन निवारक जाँच कार्यों से एक ओर राजस्व प्राप्त करने में सहायता मिलती है तथा दूसरी ओर भ्रष्ट अधिकारियों को दंडित कर प्रशासन स्वच्छ बनाया जाता है।

समय-समय पर रेलों में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठती रही है लेकिन समस्या का निदान नही हो सका है।

भ्रष्टाचार जाँच समिति, 1955 ने रेलों में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं।

(i) रेलवे विभाग के निर्धारित नियमों तथा निर्देशों का कड़ाई के साथ पालन किया जाना चाहिए।

(ii) निरीक्षकों को अपना कार्य न्याय से निष्ठापूर्वक और निडर होकर करना चाहिए।

(iii) पत्र-व्यवहार में कम से कम समय लगाना चाहिए।

(iv) थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् रेलवे कर्मचारियों का स्थानान्तरण कर देना चाहिए, जिससे से लोग व्यापारियों से अनुचित लाभ न उठा सकें।

(v) रेलवे कर्मचारियों के प्रति बनाए गए नियमों व उपनियमों का कठोरता के साथ पालन होना चाहिए।

(vi) अपराधियों को दंड अवश्य मिलना चाहिए।

(vii) सुयोग्य एवं ईमानदार कर्मचारियों को पुरस्कार मिलना चाहिए।

(viii) रेलवे पुलिस में सुधार होना चाहिए।

(ix) जनता की शिकायतें सुनने के लिए जाँच प्रणाली सरल होनी चाहिए।

(x) चलती-फिरती अदालतों द्वारा भ्रष्टाचार के मामले सुने जाने चाहिये।

(xi) सामान्य अनुशासन पर अधिक बल देना चाहिए।

(xii) रेलवे कर्मचारियों के लिए कल्याणकारी कार्यों पर अधिक धन व्यय किया जाना चाहिए।

(xiii) रेलवे कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की जानी चाहिए।

(xiv) प्रत्येक क्षेत्र में एक रेलवे न्यायालय स्थापित होना चाहिए, जो भ्रष्टाचार से सम्बन्धित मामलों पर शीघ्र निर्णय दे सकें।

(xv) देश की जनता को भी भ्रष्टाचार मिटाने में सहायता देनी चाहिए। जो रेलवे कर्मचारी रिश्वत माँगता है उसे रिश्वत न देकर उच्च अधिकारियों से तथा पुलिस में उसकी रिपोर्ट कर देनी चाहिए।

(3) दुर्घटनाओं की अधिकता—आधुनिक युग में रेल दुर्घटनायें एक गम्भीर समस्या बन गई हैं जिससे मानव, पशु और धन की हानि होती है और रेलवे को

ख्याति को भी कलंक लगता है। भारतीय रेल दुर्घटनाओं से सम्बन्धित आँकड़े नीचे सारिणी में दिये गये हैं।

वर्ष	टक्कर	गाड़ी का पटरी से उतर जाना	गाड़ियों में आग लग जाना	क्रासिंग पर होने वाली दुर्घटनायें	कुल गाड़ी दुर्घटनायें
1	2	3	4	5	6
1962-93	98	1316	55	168	1637
1970-71	59	648	12	121	840
1975-76	64	768	27	105	964
1977-78	54	705	14	93	866
1978-79	55	778	12	86	931
1979-80	72	692	21	115	900
1980-81	69	825	29	90	1013
1981-82	—	—	—	—	1130

रेल दुर्घटनाओं के कारणों में रेल फाटकों का खुला रह जाना, विस्फोटक पदार्थों से आग लगना, रेल कर्मचारियों की अकुशलता, यंत्र में खराबी होना आदि मुख्य है। कुछ रेल दुर्घटनाएँ विध्वंस कार्यों के कारण भी हुई हैं; सन् 1978 में रेल मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'दुर्घटनाओं की तथ्यात्मक' समीक्षा के अनुसार अधिकांश दुर्घटनाएँ रेल कर्मचारियों की असावधानी के कारण हुई थीं।

रेल प्रशासन और सरकार ने रेल दुर्घटनाओं की समस्या की रोकथाम और रेलों में सुरक्षा बढ़ाने के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं; इस सम्बन्ध में सन् 1954 में शाहनवाज समिति, सन् 1969 में कुंजरू समिति और सन् 1969 में वांचू समिति की नियुक्ति की गयी और इनके सुझावों के आधार पर उचित पग उठाये गये हैं।

रेल दुर्घटनाओं के संदर्भ में सरकारी प्रयत्न

रेल दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सरकार द्वारा विभिन्न कदम उठाये गए हैं। इनके क्रियान्वयन के लिए निदेशकों की समिति का गठन किया गया है। रेल कानून में संशोधन करते समय सरकार रेल यात्रियों के जीवन और उनकी सम्पत्ति का बीमा करने के सुझाव पर विशेष ध्यान देगी।

सरकार निम्नलिखित उपायों को युक्तिसंगत बनाने और उन्हें प्रभावकारी ढङ्ग से लागू करने के सम्बन्ध में विचार रखती है—

1. नियमित अन्तरालों पर गतायु रेल पथ की अल्ट्रासोनिक जाँच।

2. आधान लाइनों के लिए रेल पथ अन्तपार्शन सुौर धूरागणक जैसे तकनीकी उपकरणों का प्रभावी उपयोग।

3. ड्राइवरों की अनिवार्य स्वांस विश्लेषण परीक्षा को लागू करना ताकि वे नशे की हालत में काम पर न आ सकें।

4. सभी डीजल और बिजली के रेल इंजनों में शक्तिशाली फ्लैस, फ्लाइट लगाना ताकि निकटवर्ती लाइनों पर ड्राइवरों को गाड़ी के पटरी से उतर जाने आदि के कारण उत्पन्न किसी सम्भावित बाधा के बारे में सचेत किया जा सके।

5. परिचालनिक कोटियों में समस्या-कर्मचारियों का पता लगाने तथा उन्हें परामर्श देने के लिए सुरक्षा परामर्शदाताओं का अधिक उपयोग करके कर्मचारियों में संरक्षा के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना।

6. महाप्रबन्धकों द्वारा संरक्षा पर अधिक बल देते हुए ट्रैक मार्गों पर सर्वाङ्गपूर्ण निरीक्षण को जारी रखना।

इस प्रकार सरकार रेल दुर्घटनाओं को रोकने हेतु अनेकों प्रयास कर रही है, ताकि यात्री निश्चिन्त होकर सुरक्षित यात्रा कर सकें। आशा है कि अब रेल दुर्घटनाओं में पर्याप्त कमी आयेगी।

रेल दुर्घटनाओं को रोकने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—(i) कर्मचारियों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जानी चाहिए। (ii) दोषी कर्मचारियों को शीघ्र और कठोर सजा दी जानी चाहिए (iii) कर्मचारियों के स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए (iv) कर्मचारियों के लिये समय-समय पर 'रिफ्रेशर कोर्स' की व्यवस्था होनी चाहिए। (v) मासिक पत्रिकाओं के माध्यम से उपयोगी सूचनाएँ प्रसारित करनी चाहिए। (vi) यात्रियों को नियमानुसार और सावधानी पूर्वक रेल यात्रा करनी चाहिए। (vii) अधिक भीड़-भाड़ को हतोत्साहित किया जाना चाहिए। (viii) प्रत्येक रेलवे जिले, क्षेत्र, कर्मशाला तथा मुख्यालय स्तर पर सुरक्षात्मक संगठन शुरू किया जाना चाहिये। रेलवे मंत्रालय ने इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाये हैं।

(4) अन्तर्माप की समस्याएँ (Gauge Problem)—भारत में 4 रेल अन्तर्माप हैं। बड़ी लाइन (5 फीट 6 इंच) छोटी लाइन (3 फीट $3\frac{3}{4}$ इंच) उससे छोटी लाइन (2 फीट 6 इंच) और सबसे छोटी लाइन (2 फीट) है। जिसमें बड़ी लाइन और छोटी लाइन का अधिक प्रचार है।

विविध प्रकार के गेज होने के कारण व्यवसाय एवं व्यापार में असुविधा पैदा होती गई। कई स्थानों पर यानान्तरण यार्ड बनाये गये जिससे किराया भाड़ा अधिक पड़ता था फलतः माल अधिक कीमती होता था और जनता को अधिक पैसे चुकाने पड़ते थे। कभी-कभी यानान्तरण में कई दिन लग जाते थे जिससे आवागमन रुक जाता था।

उपर्युक्त कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए सारे देश में एक गेज के माप की रेल का होना उचित होगा। इस समय भारत सरकार अन्तर्माप परिवर्तन का कार्य विशेष प्रकार से कर रही है। प्रथम पचवर्षीय योजना में 46 मील छोटी लाइन बड़ी लाइन में बदली गई। द्वितीय योजना काल में 265 मील तृतीय में 350 कि० मी०

तथा चौथी में 750 कि० मी० को बड़े पथ में परिवर्तित किया गया। रेलवे बोर्ड ने आगामी 10-15 वर्षों में लगभग 3000 कि० मी० अन्तर्मापि परिवर्तन की योजना बनायी है परन्तु भारत की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए 5 फीट 6 इंच, 3 फीट $3\frac{3}{4}$ इंच, 2 फीट 6 इंच तथा 2 फीट के गेजों का रहना उचित है। जहाँ तक हो सके उसे 5 फीट 6 इंच में परिवर्तित होना अधिक लाभकारी होगा।

(5) **रेलों का विलम्ब से चलना**—रेलों की कार्यक्षमता कम होने के कारण रेलें अक्सर बिलम्ब से चला करती हैं रेलों के विलम्ब से चलने से राष्ट्रीय समय की बर्बादी एवं उत्पादकता में कमी हो जातो है जो कि रेलों की प्रमुख प्रशासनिक समस्या है।

(6) **प्रतिस्पर्धा**—भारत में रेलों की समस्याओं का एक कारण सड़क से प्रतिस्पर्द्धा का होना भी है। रेल किराये-भाड़े में कोई बढ़ोत्तरी होने पर सड़कों से प्रतिस्पर्द्धा हो जाती है। यद्यपि उक्त दोनों परिवहनों में समन्वयकारी नीति निधारित कर ली गई है, फिर भी सड़क परिवहन अपनी तीव्र सेवा और व्यापक उपयोगिता के कारण रेलों से टक्कर लिए हुए है।

(7) **सुविधाओं का अभाव**—रेलों में उठने-बैठने की व्यवस्था, प्रसाधन सुविधा, खाद्य सामग्री विक्रय व्यवस्था इत्यादि अभी तक उचित मानकों तक नहीं पहुँच पायी है, और यह रेल परिवहन की एक समस्या बनी हुई है।

(8) **दुर्व्यवहार**—भारतीय रेलों के प्रशासन तन्त्र में सामान्य व्यक्ति को हर स्थानों पर दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता है। लेकिन बड़े हर्ष की बात है कि "अच्छा बर्ताव कीजिए, जनता का दिल जीतिए" का नारा अब भारतीय रेलों में भी गूँजने लगा है।

(ख) **आर्थिक समस्याएँ**—एक विकासशील राष्ट्र के कारण भारत में आर्थिक साधनों की सीमितता है। इन सीमित आर्थिक साधनों से वृहत् रेल व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति नहीं की जा सकती। अतः ऐसी प्रमुख आर्थिक समस्याएँ इस प्रकार हैं—

(1) **रेलों के पुनर्स्थापन की कमी**—निरन्तर प्रयोग के कारण रेलवे रोलिंग स्टॉक (इंजन, डिब्बे) रेलवे ट्रेक, स्टेशन इत्यादि की कार्यक्षमता में काफी ह्रास हुआ है। अतः रेलगाड़ियाँ चलाने की लागत बढ़ जाती है जिससे रेलवे को काफी हानि उठानी पड़ती है। फलतः इनके पुनर्स्थापन की समस्या उत्पन्न होती है।

(2) **ईंधन की कमी**—ईंधन की समस्या आधुनिक औद्योगिक युग की प्रमुख समस्या है। भारत में अधिकांश रेलें कोयले से चलाई जाती हैं, और कोयले के भंडारों की भी मात्रा सीमित होने के कारण, समय-समय पर रेलों को ईंधन के अभाव के कारण बन्द करता पड़ता है। रेलों के विद्युतीकरण एवं इञ्जनों को डीजल से चलाकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(3) **सीमित साधन**—हमारे देश में रेलों पर जो व्यय किया जाता है वह आवश्यकढ़ा से कम है। सीमित आर्थिक संसाधनों के कारण रेल मार्गों की लम्बाई

आवश्यकता से कम है, तथा रोलिंग स्टॉक की मात्रा भी विशेष नहीं है। इस प्रकार भारतीय रेल सीमित आर्थिक संसाधनों के कुचक्र में फँसी हुई है।

(4) **अनुसंधान की कमी**—भारत में रेल समस्याओं का एक प्रमुख कारण अनुसंधान की कमी है। कुंजरू समिति ने अनुसंधान पर बहुत बल दिया है अनुसंधान में कमी के कारण यात्री सुविधाएँ, गति वृद्धि, लागत कमी, आदि के सम्बन्ध में नवीन आविष्कार नहीं हो पाते।

(5) **वेतन वृद्धि से भार**—वेतन आयोग की सिफारिशों पर अमल करने से रेल कर्मचारियों में हुई वेतन वृद्धि से रेल वित्त पर लगभग 50 करोड़ रुपये से अधिक का भार पड़ा है, जो कि रेल विभाग की दिन-प्रतिदिन की एक प्रमुख समस्या बनी हुई है।

(6) **क्षतिपूर्ति समस्या**—रेलों द्वारा भेजा गया माल अगर खो जाये, चोरी हो जाये, या खराब हो जाये तो इसके लिए रेलवे विभाग को क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है। 1978-79 में लगभग 30 करोड़ रुपये की क्षतिपूर्ति करनी पड़ी थी। इससे रेलवे विभाग को भारी वित्तीय समस्या का सामना करना पड़ता है।

(7) **अलाभप्रद दशाएँ**—अनेक समस्याओं के कारण रेलवे की अनेक शाखाएँ घाटे में चल रही हैं। इनको बन्द करना भी सम्भव नहीं है। इन शाखाओं से विभाग को भी भारी नुकसान हो रहा है। अतः अलाभप्रद शाखाएँ भी रेल विभाग की प्रमुख समस्या है।

(8) **रेल मार्गों की कमी**—अब भी देश में अनेक ऐसे भाग हैं जिनमें रेलमार्गों की कमी है। भारत में प्रतिवर्ग कि० मी० क्षेत्र में केवल 18 मीटर लम्बे रेल मार्ग हैं और देश के अनेक भाग रेल सेवा से अभी भी वंचित हैं।

(ग) जन असहयोग की समस्यायें—भारतीय रेलवे में जन असहयोग की समस्या भी गंभीर रूप से विद्यमान है। जन असहयोग की प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं—

(1) **बिना टिकट यात्रा**—रेल प्रशासन द्वारा अनेक प्रयास किये जाने के बावजूद बिना टिकट यात्रा रेल परिवहन की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बनी हुई है। 'डब्लू टी' शब्द जनता में साधारण रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि बिना टिकट यात्रा करने वालों के कारण रेलों को 20 से 25 करोड़ रुपये तक वार्षिक हानि उठानी पड़ती है। रेलों को भारी हानि के अतिरिक्त यात्रियों को भी भीड़-भाड़ के कारण बड़ी असुविधा होती है।

कुंजरू समिति ने बिना टिकट यात्रा करने वाले यात्रियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया है—

(क) बेईमान तथा कपटी व्यक्ति—ऐसे यात्री जिनके पास रुपया तो है किंतु देना नहीं चाहते और रेलों को धोखा देकर पैसा बचाना चाहते हैं।

(ख) धनहीन यात्री—टिकट विहीन यात्रियो का वह वर्ग जो अत्यन्त निर्धन होता है, अत. निर्धनता के कारण टिकट प्राप्त नहीं कर पाता है।

(ग) **विवश यात्री**—जिन्हें बुकिंग आफिस समय से न खुला होने अथवा बुकिंग की अपर्याप्त सुविधाओं के कारण प्रयत्न करने पर भी टिकट न मिला हो।

(घ) **विद्यार्थी एवं पुलिस**—विद्यार्थी वर्ग केवल बिना टिकट यात्रा ही नहीं करते हैं बल्कि रेल कर्मचारियों के प्रति अभद्रता भी करते हैं। यह वर्ग बिना टिकट यात्रा करना अपना गौरव समझता है।

पुलिस कर्मचारी अपने वर्दी का लाभ लेते हैं, और वर्दी पहनकर यात्रा करते समय टिकट नहीं लेते हैं।

रेल प्रशासन द्वारा बिना टिकट यात्रा की समस्या के समाधान के लिए अनेक उपाय किये गये हैं, जैसे—(i) टिकट निरीक्षकों की संख्या बढ़ाना (ii) अनायास निरीक्षण करना (iii) चलते-फिरते न्यायालयों की योजना चलाना (iv) बिना टिकट यात्रा पर दंड बढ़ाने की व्यवस्था करना (v) अतिरिक्त बुकिंग आफिसेज स्थापित करना (vi) स्टेशन क्षेत्र के दोनों ओर बेड़े लगाना और कड़ी देखभाल करना। (vii) बिना टिकट यात्रा के दुष्परिणामों का रेलवे द्वारा व्यापक सचित्र विज्ञापन भी किया जा रहा है।

समस्या के समाधान के लिये उपर्युक्त प्रयासों के अतिरिक्त कुछ सुझाव इस प्रकार दिये जा सकते हैं—(अ) टिकट घर गाड़ी के समय से बहुत पूर्व खोलने की व्यवस्था की जानी चाहिये। (ब) रेलवे के प्रत्येक विभाग के कर्मचारियों को टिकट देखने का अधिकार होना चाहिये। (स) महिलाओं के लिये टिकट बाँटने की खिड़कियाँ अलग होनी चाहिए। (द) 24 घन्टे काम करने वाले टिकट घर खोलने चाहिए। (य) शहरों में अधिक स्थानीय टिकट घर स्थापित किये जाने चाहिए। (र) मेला या नुमाइश के अवसर पर टिकट खिड़कियों और टिकट बाबुओं की संख्या बढ़ा देनी चाहिए। (ल) टिकट परिवर्तन तथा विस्तार के लिए टिकट निरीक्षक सुविधापूर्वक मिलने चाहिए (ब) शिक्षा संस्थाओं में बिना टिकट यात्रा सम्बन्धी वाद-विवाद एवं निबन्ध प्रतियोगिताओं का आयोजन करके जनजागृति उत्पन्न करनी चाहिए।

(2) **माल की चोरी**—प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की रेलवे सम्पत्ति या जनता द्वारा भेजा गया सामान रास्ते में चुरा लिया जाता है। रेलों में होने वाली चोरी व उठाईगीरी को 2 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(i) लदान के माल की चोरी और (ii) रेल सम्पत्ति की चोरी। रेलवे को ऐसे चुराये गये माल के सम्बन्ध में 1978-79 में 12·3 करोड़ रुपये की क्षतिपूर्ति करनी पड़ी। सरकार ने इसको रोकने के लिये रेल सुरक्षा दल आदि तैनात किये हैं लेकिन वे अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। अत: उनकी संख्या बढ़ाई जानी चाहिए। इसके साथ ही विभिन्न जन आन्दोलनों, आक्रोशों और हड़तालों से रेल विभागों को प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों की हानि उठानी पड़ती है। रेल प्रशासन ने राज्यों के अधिकारियों एवं रेल सेवा के अधिकारियों तथा श्रम सङ्गठनों के प्रतिनिधियों का एक सङ्गठन राज्य एवं क्षेत्रीय स्तरों पर अपराध रोकने के लिए बना रखा है। रेलों मार्गों की गहन निगरानी आर० पी० एफ० और आर० पी० एस० एफ० के जवानों द्वारा कराई जा रही है। सी० आई० डी० पुलिस

की व्यवस्था भी रेल विभाग में की गई है। इसका कार्यालय कलकत्ता में रखा गया है। बङ्गाल पुलिस ने रेल सामान के चोरों के खिलाफ आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम का भी प्रयोग किया है।

सुझाव—आवश्यकता इस बात की है कि हमारा रेल प्रशासन इस ओर अविलम्ब ध्यान दे तथा इन अपराधों को रोकने के लिए कारगर कदम उठाये। इसके लिए निम्न सुझाव उपयोगी हो सकते हैं—

(i) रेल सुरक्षा दल के सङ्गठन में आमूल परिवर्तन कर उसे मजबूत बनाया जाना चाहिये।

(ii) रेल सुरक्षा अधिनियम में आवश्यक परिवर्तन कर उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(iii) रेल यात्रा को सुरक्षित बनाने के लिए सुरक्षा सेवको की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिये।

(iv) खुले वैगनों की संख्या में कमी कर बन्द वैगनों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिये।

(v) एक डिब्बे से दूसरे डिब्बे में सुरक्षा कर्मचारियों के आवागमन की सुविधाओं से युक्त डिब्बों का निर्माण कराया जाना चाहिए।

(vi) रेल वैगनों के निर्माण की तकनीक में सुधार किया जाना चाहिए जिससे तोड़-फोड़ की सम्भावनायें कम हो सकें।

(vi) लेबल लगाने के तरीके में सुधार कर वैगनों को गाड़ी से तोड़ लेने या गलत पते पर पहुँचने के अपराध राके जाने चाहिये।

(viii) घटनाओं की सूचना तत्काल·प्रहरी को देने के लिए रेलवे के मुख्य स्टेशनों व जंक्शनों पर विद्युत ध्वनि प्रसारक यन्त्र लगाये जाने चाहिए।

(ix) अनिच्छित व्यक्तियों के प्रवेश को रोकने के लिए रेलयार्डों की हदबन्दी की जानी चाहिए।

(3) उदासीनता—भारतीय जन मानस रेलों को अपने राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं समझते और उनकी सुरक्षा, देख-रेख आदि के सम्बन्ध में पूर्णतः उदासीन रहते हैं। तोड़-फोड़ जैसी अनुचित हरकतों को भी करने में वे नहीं झिझकते। फलतः इससे रेलों को भारी क्षति होती है।

(4) प्राकृतिक समस्यायें—ये वे समस्यायें हैं, जो प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न होती हैं। प्रमुख प्राकृतिक समस्यायें इस प्रकार हैं—

(1) दैवी एवं मानवीय आपदायें—ये आपदाएँ आकस्मिक होती हैं, अतः कभी भी आ सकती है। इन आपदाओं से रेलों को प्रतिवर्ष लाखों रुपयों की हानि उठानी पड़ती है। दैवी आपदाओं में मुख्यतः घोर वर्षा, आँधी, ओला, भूकम्प तथा बाढ़ हैं।

मानवीय आपदाओं में हड़ताल, आन्दोलन, प्रदर्शन उपद्रव आदि प्रमुख हैं। परिणामतः इनसे भी रेलवे को भारी हानि उठानी पड़ती है।

(2) **दुर्गम स्थानों तक पहुँच असम्भव**—प्रकृति ने भारत को विभिन्नता एवं विविधता प्रदान की है। देश में अनेक उच्चावचन हैं। कहीं तो पठार हैं और कहीं पर्वत हैं। अतः रेल विकास की दृष्टि से इसका स्वरूप समस्या जनक रहा है। हिमालय पर्वत के उच्च भाग, व अन्य अनेक ऊबड़-खाबड़ प्रदेश आज भी अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण रेल सुविधाओं से वंचित हैं।

रेलों की प्रगति के लिए सुझाव

भारतीय रेलों की स्थिति को सुदृढ़ एवं प्रगतिशील बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(1) प्रमापीकरण—रेल सामाग्री एवं उपकरणों का सार्वजनिक उपयोग करने के लिए आवश्यक है कि उनका प्रमापीकरण किया जाए जिससे समरूप माल का आयात किया जा सके।

(2) सड़क परिवहन उपयोग—कम मात्रा में परिवहन और आंशिक वैगन-लदान का व्यय बहुत ही अधिक होता है अतः उपयुक्त क्षेत्रों में इसे सड़क परिवहन को सौंपा जा सकता है।

(3) **आधुनिकीकरण में सतर्कता**—हमारे यहाँ तेल के भण्डार अत्यन्त ही सीमित मात्रा में हैं। अतः डीजल इञ्जिन का उपयोग सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। क्योंकि आयात पर निर्भरता उचित नहीं है।

(4) **सड़क परिवहन का विकास**—नवीन रेल मार्ग के निर्माण की अपेक्षा सड़क परिवहन को विकसित किया जाना चाहिए जिससे गैर औद्योगिक उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

(5) **सकरे गेज का अन्त**—जिस स्थान पर सड़क परिवहन की सुविधायें मौजूद हैं वहाँ पर संकरे रेल मार्ग को समाप्त कर दूसरे परिवहन साधनों का विकास किया जाना चाहिए।

(6)**मीटर गेज का ब्रॉड गेज में रूपान्तरण**—मीटर गेज को चलाने में अधिक खर्च पड़ता है अतः मीटर गेज को धीरे-धीरे ब्रॉड गेज में बदल देना चाहिए। परिवर्तन के कार्य में प्रमुख रूप से रेल मार्गों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

(7) **यात्रियों की सुविधायें**—यात्रियों के लिए विभिन्न योजनाओं में सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखा गया, किन्तु अभी भी दूसरे दर्जे की कठिनाइयाँ मौजूद हैं। अतः इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

(8) **डीजलीकरण एवं विद्युतीरण**—ऐसे मार्ग जिनका घनत्व अधिक है, उन्हें बिजलीकृत या डीजल युक्त किया जाना चाहिए। तकनीकी आर्थिक अध्ययन कराये जाएँ जिससे विद्युतीकरण एवं डीजलीकरण का पुनरीक्षण किया जा सके।

(9) **हवा के ब्रेकों का उपयोग**—गाड़ियों की चाल मार्ग तय करने की शक्ति एवं सवारी गाड़ियों के भार में वृद्धि हेतु हवा ब्रेकों का उपयोग किया जाना चाहिए।

(10) **अन्य सुझाव**—(i) रेल पथ एवं सिगनल व्यवस्था में सुधार किया जाए। (ii) बिना टिकट यात्रा को निरापद बनाया जाए। (iii) रेल प्रशासन को राजनीतिक दबाव से मुक्त किया जाए। (iv) रेल सामग्रियों की वृद्धि की जाए (v) रेल कर्मचारियों की असावधानी से उत्पन्न होने वाली दुर्घटना पर कठोर नियन्त्रण रखा जाए।

सन् 2000 में रेलों की सम्भावित स्थिति

उपनगरीय (Suburban) रेल यात्री परिवहन 69,000 से 80,000 मिलियन यात्री किलोमीटर के मध्य होने की संभावना है जब कि अउपनगरीय (Non Suburban) यात्री परिवहन 2,50,000 से 4,20,000 मिलियन यात्री किलोमीटर के मध्य होने की संभावना है।

माल के यातायात की दृष्टि से अनुमान 2,50,000 से 6,00,000 मिलियन टन कि० मी० के मध्य है।

विद्युतीकृत रेल मार्गों की लम्बाई सन् 2000 में 25,000 कि० मी० होने की सम्भावना है तथा उस समय लगभग 4000 डीजल इन्जन और 8000 इलेक्ट्रिक इन्जनों की आवश्यकता होगी। सन् 2000 में यात्री डिब्बों की संख्या लगभग 75,000 और माल डिब्बों की संख्या लगभग 15,00,000 (चार पहियों के) होने की संभावना है।

परीक्षा-प्रश्न

1. रेलों को 'राष्ट्र की जीवन रेखा' कहा जाता है। विवेचन कीजिये ?

2. कृषि उद्योग एवं व्यापार पर रेलों का जो प्रभाव पड़ा है, उसकी विवेचना करिये।

3. रेल परिवहन एकाधिकार राष्ट्रीयकरण के लिए आदर्श है।" टिप्पणी कीजिए।

4. योजनावधि में भारतीय रेलों के विकास के प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिये ?

5. पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत रेलवे के विकास का परीक्षण कीजिए ?

6. रेल परिवहन की विभिन्न समस्याओं का वर्णन कीजिए ?

32

रेल किराया-भाड़ा सिद्धान्त व वस्तुओं का वर्गीकरण

(Principles of Rates and Fares and Classification of Goods)

बाजार में जब हम कोई वस्तु खरीदते हैं तो हमें उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। इसी प्रकार यदि हम रेल परिवहन की सेवाओं का उपयोग करते हैं तो उसका मूल्य हमको देना होगा। किराये-भाड़े को रेल-सेवा के मूल्य की संज्ञा दी जाती है। यात्रियों के स्थानान्तरण के लिए जो मूल्य लिया जाता है उसे दर (Rate) और माल के स्थानान्तरण के लिए जो मूल्य लिया जाता है उसे भाड़ा (Fare) कहते हैं।

रेल दरों व भाड़े के निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. सेवा लागत सिद्धान्त (Principle of Cost of Service)
2. सेवा की उपयोगिता या सेवा मूल्य का सिद्धान्त (Utility or Value of Service Principle)
3. विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त (Principle of Differential Charging)
4. अन्य सिद्धान्त (Other Principles)
   - (i) समानान्तर दर या मील भाड़ा (Flat or Mileage Rate)
   - (ii) प्रादेशिक भाड़ा (Zone Rate)
   - (iii) शुण्डाकार भाड़ा (Tapering Rate)
   - (iv) डाक सिद्धान्त (Postal Principle)
   - (v) सामूहिक भाड़ा (Group Rate)
   - (vi) वर्ग भाड़ा (Block Rate)
   - (vii) विशेष भाड़ा (Special Rate)

1. सेवा लागत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार रेलवे का भाड़ा (या दरें) उन व्ययों के आधार पर निश्चित की जानी चाहिए जो कि सम्बन्धित सेवाओं को प्रदान करने में की गई हो। संक्षेप में जिस सेवा को प्रदान करने में जितनी लागत लगे उसी के अनुसार भाड़ा निश्चित किया जाना चाहिए। लागत के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में

मतभेद है परन्तु लागत से तात्पर्य यहाँ औसत लागत से है। प्रति व्यक्ति या वस्तु जो औसत लागत आती है उसमें एक निश्चित लाभ जोड़कर प्रति व्यक्ति या वस्तु मूल्य निश्चित कर लिया जाता है। सबसे पहले इस सिद्धान्त का प्रयोग 1867 में जर्मनी में किया गया था।

सिद्धान्त के प्रयोग करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ—देखने में सेवा की लागत का सिद्धान्त बहुत सरल प्रतीत होता है किन्तु जब इसे व्यवहार में लाने की चेष्टा की जाती है तो अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(i) प्रति इकाई लागत व्यय निकालना कठिन है—प्रतिव्यक्ति और प्रति-वस्तु लागत निश्चित करना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि रेलें माल भी ले जाती हैं और सवारी भी। माल में भी विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित हैं और यात्रियों में भी श्रेणियाँ होती हैं। स्पष्टतः प्रति इकाई यातायात का औसत लागत ज्ञात करना कठिन है और जब तक औसत लागत मालूम नहीं होगा तब तक किस इकाई से कितना वसूल किया जाय यह कहना कठिन है।

(ii) सेवा से पूर्व ही किराया-भाड़ा निर्धारण की कठिनाई—सेवा की लागत सेवा के पश्चात् मालूम हो सकती है जब कि इस सिद्धान्त के अनुसार किराये-भाड़े की दरें पहले ही निश्चित करनी पड़ती हैं। अतः यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है।

(iii) रेल लागत व्यय निश्चित धनराशि नहीं—रेल उद्योग के लिए लागत व्यय का अर्थ विशेष व्यय, अतिरिक्त व्यय अथवा अस्थिर व्यय से लिया जाता है। परन्तु ये व्यय कोई निश्चित धनराशि नहीं होते क्योंकि परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन होता रहता है। अतः यातायात की किसी एक इकाई की लागत मालूम करना कठिन है क्योंकि यह मालूम करना सम्भव नहीं है कि यातायात की किसी इकाई पर कितनी मात्रा में पूँजी व्यय होती है और कितनी मात्रा में संचालन व्यय।

(iv) सेवा प्रदान करने की दशाओं में भिन्नता—रेलवे बड़ी भिन्न दशाओं में सेवा प्रदान करती है जिनमें उसका व्यय समान नहीं होता। कोई रेल परिवहन सेवा करती है, कोई माल का संचय एवं वितरण करती है, कोई माल स्वयं लाती है आदि। यदि हम परिवहन सेवा की ओर ध्यान दें तो हमारे सामने कई प्रश्न आते हैं जैसे—माल किस प्रकार की गाड़ी और किस प्रकार के डिब्बे में जायेगा, माल किस मार्ग से जाएगा, माल का जोखिम क्या है, माल रेलवे की अपनी जिम्मेदारी पर ले जाया जाएगा अथवा स्वामी के उत्तरदायित्व पर आदि। इस प्रकार की सभी बातें यातायात सम्बन्धी लागत को प्रभावित करती हैं। अतः स्पष्ट है कि सेवा की लागत जिन दशाओं में सेवा दी जाती है उसके अनुसार बदलती रहती है। दशा विशेष में सेवा की लागत क्या होगी यह निश्चित करना बहुत कठिन है।

(v) केवल पूर्ति पर ध्यान देना—सेवा के लागत व्यय सिद्धान्त की एक कमी यह भी है कि इसमें पूर्ति को तो विचार में लिया गया है किन्तु माँग पक्ष की उपेक्षा की गई है।

(vi) संयुक्त लागत—रेलों में संयुक्त व्यय का सिद्धान्त लागू होता है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक यातायात की इकाई के लिये ठीक-ठीक लागत का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है।

(vii) एकाधिकारी स्वभाव से सिद्धान्त की असंगति—केवल प्रतियोगिता की दशाओं में लागत व्यय कीमतों का नियंत्रण करता है किन्तु रेलों को एकाधिकार के ढंग पर चलाया जाता है।

महत्त्व—इस सिद्धान्त में उपर्युक्त कमियों के होते हुए भी इसके महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। इस सिद्धान्त की उपयोगिता निम्नलिखित है—

(i) **न्यूनतम दर निर्धारित करने के सुविधा**—यह सिद्धान्त किराये-भाड़े की न्यूनतम दर को बताता है जिससे कम किराया-भाड़ा निर्धारित नहीं किया जा सकता। यदि किया जाता है तो रेलों को अपना व्यावसायिक दृष्टिकोण बन्द कर देना पड़ेगा।

(ii) **तुलनात्मक लागतों को मालूम करना**—यद्यपि सही लागत निर्धारित करना कठिन कार्य है फिर भी विभिन्न वस्तुओं की तुलात्मक लागत मालूम की जा सकती है और उसी के अनुसार भाड़े को समायोजित किया जा सकता है।

(iii) **अधिकारियों की मनमानी पर अंकुश**—रेलवे अधिकारियों की मनोवृत्ति, ऊँची दरों को सेवा-मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर उचित ठहराने की होती है। उनकी मनमानी पर सेवा की लागत का सिद्धान्त एक समुचित अंकुश का कार्य करता है।

(iv) **देश की आर्थिक उन्नति**—यह सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है कि रेलवे विकास के लिये उनको भाड़े से हुई आय सेवा की लागत के लिये पर्याप्त रहे, नहीं तो रेलवे के विकास के लिये धनराशि नहीं बचेगी।

2. सेवा की उपयोगिता या सेवा मूल्य का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार रेल अधिकारियों को चाहिये कि वे रेल का भाड़ा यात्रियों व माल भेजने वाले ग्राहकों को परिवहन की सेवा से मिलने वाली उपयोगिता के आधार पर निर्धारित करें। व्यक्तिगत ग्राहक को जितनी सेवा दी जाती है, उससे उतनी रकम ली जाती है। सेवा के मूल्य की अधिकतम सीमा व्यक्ति के मूल्य देने की क्षमता पर निर्भर होती है। सेवा के मूल्य व्यक्ति को प्राप्त होने वाली उपयोगिता के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार ऊंचे मूल्य वाली वस्तुओं की देय क्षमता अधिक और कम मूल्य वाली वस्तुओं की देय क्षमता कम होती है।

कठिनाइयाँ—इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं—

(i) प्रत्येक व्यक्तियों की सेवाओं की उपयोगिता का मूल्यांकन करना सम्भव नहीं हो पाता है।

(ii) उपयोगिता में परिवर्तन समय-समय पर होता रहता है जिसका सही मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

(iii) यह अधिकतम मूल्य की ओर विशेष ध्यान देता है।

(iv) यह सिद्धान्त अन्यायपूर्ण है क्योंकि इससे समाज को विकसित होने का मौका नहीं मिलता है।

(v) यह सिद्धान्त सेवा लागत सिद्धान्त की उपेक्षा करता है ।

(vi) यह केवल माँग पक्ष की ओर ही ध्यान देता है ।

महत्त्व

(i) यह सिद्धान्त कुछ व्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि प्रत्येक यातायात द्वारा उतना ही किराया-भाड़ा लिया जाता है जितना कि वह वास्तव में दे सकता है ।

(ii) इस सिद्धान्त में गरीब और अमीर, कम मूल्यवान व अधिक मूल्यवान वस्तुओं को ध्यान में रखा जाता है ।

3. **विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त**--जिस सिद्धान्त द्वारा रेल अपनी किराये-भाड़े की नीति निर्धारित करती है । उसे विभेदात्मक मूल्य सिद्धान्त कहते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार रेल अमीर-गरीब में भेद-भाव करके किराया-भाड़ा लेती है । इसमें ग्राहक की देय शक्ति का विशेष ध्यान रखा जाता है । अत: जितना यातायात सहन कर सकता है (What the Traffic will Bear) नाम से भी इस सिद्धान्त को पुकारा जाता है और प्राय: यही नाम अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हो गया है ।

विभेदात्मक सिद्धान्त का आधार—विभेदात्मक नीति के निम्नलिखित आधार हैं—

(i) **माँग भेद**—रेल परिवहन से भेजी जाने वाली वस्तुओं में माँग के अनुसार विभेद किया जाता है । इस माँग विभेद के बहुधा 3 रूप देखने में आते हैं---

(अ) वस्तु विभेद

(ब) स्थान विभेद

(स) व्यक्ति विभेद

(अ) वस्तु विभेद---परिवहन लागत समान होते हुए भी केवल वस्तु मूल्य के आधार पर भाड़े में भेद-भाव करना वस्तु-विभेद कहलाता है । छोटे आकार के मूल्यवान पदार्थ अधिक परिवहन व्यय सहन कर सकते हैं किन्तु इसके विपरीत बड़े आकार के सस्ते पदार्थ अधिक परिवहन व्यय सहन नहीं कर सकते । इसी सिद्धान्त के अनुसार रेलें, चांदी, सोने जैसे मूल्यवान पदार्थों के सम्बन्ध में अधिक किराया लेती हैं और कोयला, लकड़ी आदि के सम्बन्ध में कम किराया लेती हैं ।

(ब) स्थान विभेद—वस्तुओं की भाँति विभिन्न स्थानों में भी भेदभाव किया जाता है । चक्करदार मार्गों का किराया-भाड़ा, समुदाय सम्बन्धी किराया-भाड़ा और कम व अधिक दूरी का किराया-भाड़ा इसके सजीव प्रमाण हैं ।

(स) व्यक्ति विभेद---इसमें माल भेजने वाले या यात्री से उसी सेवा के लिए दूसरे की अपेक्षा ऊंचा किराया-भाड़ा लिया जाता है अथवा उसी किराये-भाड़े पर एक को दूसरे की अपेक्षा अच्छी सेवा प्रदान की जाती है ।

(ii) **लागत भेद**---किराया-निर्धारण में लागत (औसत लागत) को आधार मानकर विभेद किये जाते हैं । जहाँ रेलवे पहाड़ी स्थानों के भारी उतार-चढ़ावों से

अथवा सुरंगों से निकलती है वहाँ उनका प्रारम्भिक पूँजीगत व्यय ही अधिक नहीं होता बल्कि उनको संचालन व्यय भी अधिक करना पड़ता है। ऐसे क्षेत्रों वाली रेलों द्वारा लागत व्यय के आधार पर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक किराया-भाड़ा लगाया जाता है जो कि न्याय संगत भी है। लागत व्यय के अनुसार ही उन वस्तुओं का भाड़ा भी अधिक होता है जिन्हें ले जाने में रेलों को अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है जैसे काँच का सामान अथवा अन्य वस्तुएँ जिनके लिए अधिक गति अपेक्षित है जैसे—ताजे फल इत्यादि।

(iii) **माँग और लागत भेद**—माँग और लागत दोनों के भेद के कारण किराये-भाड़े में अन्तर होने का व्यावहारिक उदाहरण प्रथम और द्वितीय श्रेणी का किराया है। प्रथम श्रेणी के यात्री अधिक सुख-सुविधाएँ चाहते हैं जिसके लिए रेलों को अधिक व्यय करना पड़ता है किन्तु साथ ही साथ उनकी माँग तीव्रतर और उनकी आय अधिक होने के कारण ही उनसे अधिक किराया लिया जाता है।

(iv) **भावी हित**—रेल किराये-भाड़े की नीति में भेद-भाव हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। रेलें एकाधिकारी व्यवसाय हैं। अतः उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास रहता है कि वर्तमान में किसी उद्योग विशेष को प्रोत्साहित करने के लिए यदि कम भाड़ा लिया जाता है तो भविष्य में उसके समुन्नत होने पर अधिक भाड़े का लाभ उन्हीं को मिलेगा, अन्य किसी को नहीं।

(v) **सामाजिक या लोक हित**—रेलें किराये-भाड़े में लोकहित से प्रेरित होकर भी विभेद करती है। सस्ती वस्तुओं का भाड़ा कम रखा जाता है ताकि ऐसी वस्तुओं का परिवहन प्रोत्साहित किया जा सके। भारत में कोयले, भूसा व चारे एवं जीवित पशुओं के लिए विशेष प्रकार के सस्ते भाड़े की दरें रखी गयी हैं। बाढ़ और अकाल के समय भी रेल में कुछ परिवर्तन किये जाते हैं।

(vi) **राष्ट्रीय विकास**—देश के विकास में कुछ आधारभूत वस्तुओं का विशेष महत्त्व होता है। उन पर किराये-भाड़े की दर कम रखी जाती है।

इस विभेदात्मक नीति में एक ओर तो रेलें यातायात की देय शक्ति का पूरा ध्यान रखती हैं और दूसरी ओर इस बात पर भी ध्यान रखती हैं कि यातायात क्या सहन करेगा। यही दोनों इस भेद-भाव की उच्चतम और न्यूनतम सीमायें बाँधती हैं अतः इन दोनों बातों का अर्थ समझ लेना उपयोगी होगा।

1. **यातायात क्या सहन करेगा** (What the traffic will bear)—यह यातायात की देय शक्ति की ओर संकेत करता है। रेल एक एकाधिकारी व्यवसाय है जिसे विभेदात्मक किराये लगाने की शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति का रेलें सदुपयोग भी कर सकती है और दुरुपयोग भी। यदि रेलें किराया-भाड़ा इस प्रकार निर्धारित करती हैं कि यातायात बढ़ता रहे और उसमें कमी न आने पाये तो इस शक्ति का सदुपयोग समझा जायेगा। यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब रेल दरें उपभोक्ता की उच्चतम देय शक्ति के अनुसार नहीं बल्कि उच्चतम लाभ की मात्रा का ध्येय रखकर लगायें इसके विपरीत यदि दरें उपभोक्ता की उच्चतम देय शक्ति के अनुसार ही लगायी जाती

है और यातायात के ऊपर उनके प्रभाव की ओर ध्यान नहीं दिया जाता तो रेलें अपनी एकाधिकारी शक्ति का दुरुपयोग करेंगी। संक्षेप में, देय शक्ति के अनुसार किराया-भाड़ा लगाते समय यातायात की नब्ज पर हाथ रख कर रेलों को काम करना चाहिए।

2. रेल क्या सहन कर सकती है (What the Railway can bear)—यातायात की देय शक्ति रेल भाड़े की उच्चतम सीमा का निर्धारण करती है और रेलों का यातायात ले जाने का विशेष व्यय उसकी न्यूनतम सीमा बाँधता है। यह उल्लेखनीय है कि न्यूनतम सीमा भी सदैव यातायात का ढुलाई व्यय ही नहीं होता बल्कि रेलों की अपनी सामर्थ्य होती है। खाद, नमक, कोयला इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें रेलें अपने वास्तविक ढुलाई व्यय से कम भाड़े पर ले जाने में समर्थ है किन्तु औद्योगिक कच्चे पदार्थ इत्यादि वस्तुएँ ऐसी हैं जिनसे उनका वास्तविक ढुलाई व्यय अवश्य वसूल होना चाहिए। कुछ और वस्तुएँ जिनसे ढुलाई व्यय से ऊँचा मूल्य लेकर ही रेलें उन्हें सेवा प्रदान कर सकती हैं। इस प्रकार भाड़े की न्यूनतम सीमा लगाते समय रेलें अपनी निजी सहन शक्ति को ध्यान में रखती हैं।

कठिनाइयाँ

इस सिद्धान्त की प्रमुख कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(i) सहन क्षमता का निर्धारण—इस सिद्धान्त में यातायात की देय शक्ति व रेल की सहन शक्ति आदि ऐसी धारणाएँ हैं जिनका निर्धारण करना सम्भव नहीं है। इनको निश्चित करने के लिए कोई उचित आधार नहीं है।

(ii) विवाद ग्रस्त—किराया निर्धारण एक विवादग्रस्त विषय है क्योंकि इसमें भुगतान क्षमता का निर्धारण नहीं हो पाता है। उपभोक्ता की भुगतान क्षमता क्या है यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। समाज के हित के मूल्यांकन का कोई निश्चित आधार न होने के कारण रेलवे अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार मनमानी ढंग से किराया निश्चित कर सकते हैं।

महत्त्व

(i) न्यायपूर्ण—यह एक न्यायपूर्ण एवं नीति संगत सिद्धान्त है क्योंकि इसमें कम आय वाले व्यक्तियों से कम किराया और अधिक आय वाले व्यक्तियों से अधिक किराया लिया जाता है। इसी प्रकार कम मूल्य वाली वस्तुओं पर कम भाड़ा और अधिक मूल्य वाली वस्तुओं पर अधिक भाड़ा लेना न्याय संगत है।

(ii) रेलों का विकास—यह सिद्धान्त रेलों के विकास के लिए अच्छा है क्योंकि रेलों को अधिक मात्रा में यातायात उपलब्ध होता है और उनके लाभ की मात्रा बनी रहती है।

(iii) यातायात की निरन्तर माँग—इस सिद्धान्त के अनुसार यातायात की निरन्तर माँग बनी रहती है क्योंकि सभी व्यक्तियों से उनकी क्षमता के अनुसार ही किराया लिया जाता है।

(iv) प्रतिस्पर्धा को कम करना—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कम से कम किराया भाड़ा लिया जाता है जिससे प्रतिस्पर्धा को कम किया जा सकता है। यातायात के दूसरे साधनों से अधिक सुविधा और कम किराया लेकर प्रतिस्पर्धा में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(v) संयुक्त लागत की पूर्ति—सेवा लागत और सेवा मूल्य सिद्धान्त में लागत और उपयोगिता को सही-सही आँकना असम्भव है अतः भुगतान करने की क्षमता के आधार पर किराया निर्धारित करके सम्पूर्ण लागत को निकाला जा सकता है। गरीबों से कम किराया और अमीरों से अधिक किराया लेकर लागत को पूरा किया जा सकता है।

(vi) सामाजिक कल्याण—इस सिद्धान्त में सामाजिक तथा राष्ट्रीय महत्त्व को ध्यान में रखते हुए किराया का निर्धारण अलग-अलग किया जाता है। उदाहरण के लिये सुरक्षा सम्बन्धी कार्य के लिए आर्थिक विकास के लिये, क्षेत्रीय तथा संतुलित विकास को प्रोत्साहित करने के लिये अलग-अलग किराया लिया जाता है।

भाड़े के प्रकार या अन्य सिद्धान्त
(Kinds of Fares or Other Principles)

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न प्रकार की भाड़ा-दरें प्रयोग में आ रही हैं। प्रमुख भाड़ा-दरें निम्न हैं—

1. समानान्तर दर या मील भाड़ा—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भाड़ा अथवा दर दूरी के अनुपात से घटता-बढ़ता है। जैसे 25 मील का भाड़ा 5 मील के भाड़े का ठीक 5 गुना होता है। स्पष्टतः जिस अनुपात में यातायात की दूरी बढ़ती है उसी अनुपात में उसके किराये में भी वृद्धि होती जाती है। सन् 1948 तक भारतीय रेलों के वर्ग भाड़े (Class Rates) इसी सिद्धान्त पर आधारित थे।

लाभ—(i) इस सिद्धान्त का प्रमुख गुण सरलता है। इसी गणना अत्यन्त सरल है।

(ii) यह सिद्धान्त एकाधिकारी की भेद-भाव नीति पर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध है।

(iii) दूरी के अनुसार भाड़ा वृद्धि न्याय संगत प्रतीत होती है।

(iv) इस सिद्धान्त को अपनाने के लिये मनुष्यों अथवा माल के वर्गीकरण की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है।

दोष—(i) यह सिद्धान्त दूरवर्ती यातायात को हतोत्साहित करता है।

(ii) यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक है क्योंकि दूरी बढ़ने के साथ-साथ ढुलाई व्यय उसी अनुपात में नहीं बढ़ता, वरन् कम दर से बढ़ता है।

(iii) इसे कठोर, लोचहीन एवं अवास्तविक कहा जाता है, क्योंकि यह यातायात को सीमित कर देता है।

(iv) यह रेल संचालन की भौगोलिक एवं भौतिक परिस्थितियों की उपेक्षा करता है।

(v) यह भाड़ा सिद्धान्त न्यायोचित नहीं माना जाता क्योंकि औद्योगिक कच्चे माल, कोयला और अन्य बड़े आकार किन्तु कम मूल्य की वस्तु में दूरवर्ती भाड़ा सहन नहीं कर सकतीं।

2. **प्रादेशिक भाड़ा**—इस पद्धति में रेल के प्रदेश को समान दूरी के क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और उस क्षेत्र के अन्तर्गत माल ले आने और ले जाने का भाड़ा एक ही रहता है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जाने में भाड़ा बढ़ता है। दूसरे क्षेत्र में चाहे यात्रा बहुत थोड़ी ही क्यों न हो, भाड़ा पूरा ले लिया जायेगा। उदाहरण के लिए यदि 100 किलोमीटर रेलवे लाइन को 10-10 किलोमीटर के वर्गों में बाँट दिया जाय तो किसी एक वर्ग में चलने वाले परिवहन से केवल 10 किलोमीटर के लिये निर्धारित औसत भाड़ा लिया जावेगा जैसे—4, 7 या 9 किलोमीटर तक जाने वाले ट्रैफिक के लिये भाड़ा एक ही होगा।

लाभ—(i) इसका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण सरलता है। एक प्रदेश का भाड़ा याद रखना सहज सम्भव है।

(ii) यह सिद्धान्त मितव्ययी भी है क्योंकि इसमें भाड़ा दर-पुस्तकें रखने तथा जटिल हिसाब प्रणाली अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

(iii) यह सिद्धान्त पर्याप्त व्यावहारिक है, क्योंकि कुछ यातायात कम दूरी का होता है तथा कुछ अधिक दूरी का तथा आशा यह रहती है कि दोनों प्रकार का यातायात मिलता रहेगा और एक की हानि दूसरे से पूरी हो सकेगी।

दोष—(i) यह सिद्धान्त कम दूरी के यातायात को हतोत्साहित करता है क्योंकि उसे अपने उचित भाग से अधिक भाड़ा देना पड़ता है तथा दूरवर्ती यातायात को उचित भाग से कम किराया देना पड़ता है।

(ii) इससे रेलों को हानि होती है, क्योंकि यातायात अन्य साधनों की ओर चला जाता है।

(iii) क्षेत्र का भाड़ा दूरी के औसत के अनुसार लगाया जाता है। यदि क्षेत्र अधिक बड़े हैं तो जनता में असन्तोष उत्पन्न करते हैं।

(iv) इस पद्धति के अन्तर्गत दरें बार-बार बदलनी पड़ती हैं और एक उचित संतुलन नहीं रह पाता।

(v) रेलो के लिये प्रादेशिक प्रभार पद्धति अनुपयुक्त है क्योंकि न तो रेलों को डाकखाने जैसा एकाधिकार होता और न रेल भाड़े उतने हो सकते हैं जितने कि डाक व्यय।

3. **शुण्डाकार भाड़ा**—इस पद्धति के अन्तर्गत भाड़े की दरों में दूरी के अनुपात में परिवर्तन नहीं होता बल्कि जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे किराये-भाड़े की दरों में कमी होती जाती है।

भारतवर्ष में माल परिवहन पर इस प्रथा के अनुसार ही भाड़ा वसूल किया

जाता है। इसी पद्धति के आधार पर भारत में सवारी गाड़ियों की दरों में अप्रैल सन् 1955 से परिवर्तन किया गया।

लाभ--(i) समानान्तर भाड़े की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि ठीक दूरी के अनुपात से परिवहन व्यय नहीं बढ़ता वरन कुछ कम बढ़ता है।

(ii) इस प्रकार की दर से दूरवर्ती यातायात को प्रोत्साहन मिलता है तथा विकेन्द्रीयकरण व औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है।

दोष—(i) यह सिद्धान्त अल्प दूरी के यातायात को हतोत्साहित करता है और उसे सीमित करता है।

(ii) इसका अकेला प्रयोग सम्भव नहीं है, इसे भेदमूलक सिद्धान्त के साथ अपनाया जाता है।

4. डाक सिद्धान्त -यह सिद्धान्त प्रादेशिक प्रमाण सिद्धान्त के समान है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को एक प्रदेश माना जाता है। अत: चाहे पत्र इलाहाबाद से बम्बई भेजें या इलाहाबाद से कलकत्ता डाक दर एक ही होगी अर्थात् देश के अन्दर डाक से भेजी जाने वाली वस्तुओं में दूरी को महत्त्व नहीं दिया जाता। इस प्रकार इस पद्धति में एक ही किराया भाड़ा होता है।

लाभ—(i) इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ इसकी सरलता है। इसमें हिसाब लगाना अत्यन्त सरल होता है संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा सिद्धान्त कुछ रेलों ने अपनाया है।

दोष—यह पद्धति बेकार और अन्यायपूर्ण है क्योंकि इसमें लागत, सामाजिक हित, आर्थिक विकास, यात्रा की इच्छा आदि पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

(ii) अधिक दूरी की यात्रा को यह पद्धति प्रोत्साहित करती है इससे कम दूरी की यात्रा नहीं की जाती है क्योंकि यात्रियों को यदि कहीं सस्ता साधन मिल जायेगा तो उसी का प्रयोग करेंगे।

(iii) यह पद्धति व्यावसायिक हित को भी ध्यान में नहीं रखती है।

5. सामूहिक भाड़ा—किसी क्षेत्र विशेष के अनेक स्थानों को एक समुदाय मान लिया जाता है जिसमें सभी स्थान प्रेषण स्थान से समान दूरी पर नहीं होते। इस केन्द्रीय स्थान से उस सभी स्थानों का भाड़ा बिना दूरी के विचार के एक ही रखा जाता है। वास्तविक भाड़ा कम से कम दूरवर्ती स्थान के भाड़े के समान रखा जाता है, इस पद्धति का लाभ यह है कि इसमें पुस्तकें लिखने-पढ़ने का काम बहुत कम रहता है।

6. वर्ग भाड़ा—इसके अन्तर्गत रेलों को छोटे-छोटे वर्गों में बाँट दिया जाता है। इन वर्गों को स्टेशनों के अनुसार उपवर्गों में बाँट दिया जाता है और वर्ग से वर्ग तथा उपवर्ग से उपवर्ग के लिए अलग-अलग दरें निश्चित की जाती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में इस सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है।

विशेष भाड़ा—विशेष परिस्थितियों में विशेष प्रकार के स्थानीय यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रकार का सस्ता भाड़ा लिया जाता है। भारतीय रेलें

स्टेशन से स्टेशन (Station to Station) तक के भाड़े इसी सिद्धान्त के अनुमार लगाती हैं।

व्यवहार में रेल भाड़े एवं दरें
(Railway Rates and Fares in Practice)

व्यवहार में रेलवे भाड़े किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित नहीं होते बल्कि अनुभव के द्वारा रेल दरों एवं भाड़ों का निर्धारण किया जाता है। रेलें थोड़े ट्रैफिक से अपना कार्य शुरू करती हैं इसलिये प्रारम्भ में रेल दरें एवं भाड़े भी ऊँचे होते हैं परन्तु जैसे-जैसे ट्रैफिक बढ़ता है और सेवा लागत कम होती जाती है तथा रेलवे भाड़ा भी कम होता जाता है। ट्रैफिक बढ़ने के साथ-साथ भाड़े घटना तब तक जारी रहता है जब तक कि सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर नहीं हो जाती। अन्य शब्दों में, जब तक निम्नतम दरवाले ट्रैफिक को ले जाने की लागत उससे प्राप्त आय के बराबर नहीं हो जाती। यदि रेलें इस सीमा से कम भाड़े लेती हैं तो उन्हें हानि होगी जिसकी क्षति पूर्ति के लिये अन्य वर्ग के ट्रैफिक दर में रेलवें वृद्धि करेगी।

व्यवहार में सभी देशों की रेलों ने उक्त नीति का अनुकरण किया है जिसमें उन्हें निम्न आदर्शों से मार्ग-दर्शन मिला है। "(i) ट्रैफिक प्राप्त करो। जितना अधिक ट्रैफिक ले जाया जायेगा, उतनी ही कम कीमत उनके ले जाने में पड़ेगी। इसलिये सर्वप्रथम ट्रैफिक प्राप्त करो (ii) भाड़ा दर इतनी ऊँची मत रखो कि कोई ट्रैफिक हाथ से निकल जाय, किन्तु यह ध्यान रहे कि, (iii) भाड़ा-दर इतनी कम भी न हो कि उसमें सम्बन्धित ट्रैफिक के लिये व्यय हुई अतिरिक्त लागत भी न निकल पाये।"[1]

वस्तुओं का वर्गीकरण
(Classification of Goods)

विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की भुगतान क्षमता पृथक्-पृथक् होती हैं, परन्तु प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग भाड़ा निर्धारित करना सम्भव नहीं है, इसलिए यह आवश्यक है कि वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाय और प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् भाड़ा निर्धारित किया जाय।

वर्गीकरण का आधार जितना उचित और न्यायपूर्ण होगा भाड़ा-निर्धारण उतना ही उचित और वैज्ञानिक होगा। वस्तुओं के वर्गीकरण के लिए निम्नलिखित 3 आधारों को अपनाते हैं—

1. माँग पक्ष—जिस वस्तु को रेल यातायात की सुविधा की अधिक आवश्यकता होगी उसका भाड़ा अधिक होगा। कम माँग वाली वस्तुओं का भाड़ा कम होगा। माँग

---

1. W.M. Ackworth : Elements of Railway Economics P. 79.

की तीव्रता के आधार पर भाड़ा देने की अधिकतम क्षमता निर्धारित होती है। इसका निर्धारण करते समय निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए—

(i) वस्तु का मूल्य—माँग की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु की भाड़ा सहन करने की शक्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। माँग का अनुमान मूल्य से लगाया जाता है। सस्ती वस्तुओं की सहन-शक्ति कम और मूल्यवान वस्तुओं की अधिक होती है। इसी कारण सस्ती वस्तुओं को वर्गीकरण करते समय निम्न श्रेणी में और मँहगी वस्तुओं को उच्च श्रेणी में रखते हैं। निम्न श्रेणी का भाड़ा कम और उच्च श्रेणी का भाड़ा अधिक होता है।

(ii) यात्रा के प्रारम्भिक और अन्तिम स्थानों का मूल्य—यात्रा के प्रारम्भिक और अन्तिम स्थानों के बीच वस्तु के मूल्य का सीमान्तर (margin) जितना अधिक होगा उतनी ही ऊँची श्रेणी प्रदान कर वस्तु से ऊँचा भाड़ा लिया जा सकता है और यह मूल्यान्तर जितना कम होगा उतनी ही निम्न श्रेणी में वस्तु रखी जाएगी तथा भाड़ा कम लिया जायेगा।

(iii) प्रतिस्पर्धा—जिन वस्तुओं के यातायात में अन्य परिवहन-साधनों से प्रतिस्पर्धा रहती है उन्हें अपेक्षाकृत नीची श्रेणी प्रदान की जाती है जिससे कि वस्तु पर अधिक भाड़ा न देना पड़े और वह अन्य परिवहन प्रसाधनों के प्रति आकर्षित न हो। भारतीय रेलें कोयले की ढुलाई लागत से भी कम भाड़े पर करती हैं क्योंकि ऊँचा भाड़ा लेने की स्थिति में इसका परिवहन समुद्र मार्ग से होने लगेगा।

(iv) नये उत्पादन केन्द्र—नये उत्पादन केन्द्रों अथवा नये बाजारों की क्षेत्रीय प्रतिस्पर्धा के बचाव के लिए भी वहाँ निर्मित या विक्रय की जाने वाली वस्तुओं को नीची श्रेणी प्रदान करके नीचा भाड़ा लिया जाता है।

(v) समान स्वभाव—वस्तुएँ यदि समान उपयोग की हैं तो उन्हें एक ही श्रेणी में रखा जाएगा जैसे साबुन, सोडा आदि को एक ही श्रेणी में रखा जाता है और लगभग समान भाड़ा वसूल किया जाता है।

(vi) सामाजिक हित—सामाजिक हित की वस्तुओं को निम्न श्रेणी में रखा जाता है और उनसे कम भाड़ा लिया जाता है। अनाज, नमक, हाथकरघा के वस्त्र आदि का विशेष महत्त्व है जिससे उनको निम्न श्रेणी में रखा जाता है।

2. पूर्ति पक्ष—पूर्ति की दृष्टि से परिवहन सेवा की लागत को ध्यान में रखा जाता है। विभिन्न परिस्थितियों में प्रदान की गई सेवा का लागत व्यय अलग-अलग होता है। अतः वस्तुओं का वर्गीकरण करते समय निम्न परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

(i) भार और आकार का अनुपात—भाड़ा वस्तुओं के भार के अनुसार निर्धारित होता है लेकिन जो वस्तुएँ छोटे आकार की होती हैं किन्तु जिनका भार अधिक होता है उनको ले जाने में रेलों को अधिक सुविधा होती है। दूसरी तरफ जो वस्तुएँ अपने भार के अनुपात से आकार में बड़ी होती हैं, उनको ले जाने में रेलों को असुविधा रहती है क्योंकि बड़े आकार के कारण एक डिब्बे में थोड़ी-सी वस्तुएँ रखी जा सकती

है उनको उच्च श्रेणी में रखा जाता है, क्योंकि इन डिब्बों का लागत व्यय अधिक होता है।

(viii) ढुलाई में रिक्त स्थान—माल के लादने अथवा ले जाने में डिब्बों में जितना ही अधिक रिक्त स्थान होगा, उतना ही उसका वर्गीकरण ऊँचा होगा।

(ix) प्रतियोगिता—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके लिये विभिन्न वाहनों जैसे रेल, मोटर व जलमार्ग में प्रतियोगिता होती है। ऐसी वस्तुओं को रेल मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिए निम्न श्रेणी में रखा जाता है।

(x) स्थानापन्न वस्तुएँ—जो वस्तुएँ अन्य किसी वस्तु की स्थानापन्न होती हैं उन्हें प्राय: एक ही श्रेणी में रखा जाता है जिससे कि उनमें से एक का परिवहन भाड़ा बढ़ने से उसका आना-जाना बन्द न हो जाय।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुओं का वर्गीकरण कोई सरल कार्य नहीं है।

भारतीय वस्तु वर्गीकरण
(Indian Classification of Goods)

1 अप्रैल 1970 से वस्तुओं का एक नवीन वर्गीकरण शुरू किया गया। वर्गों में अ, ब, स, का अन्तर समाप्त कर दिया गया और दो प्रकार के वर्गीकरण की रचना की गयी। एक वर्गीकरण (30 वर्ग संख्याएँ) थोक ढुलाई के निमित्त है जो दस क्विटल अथवा अधिक माल की ढुलाई पर लागू होता है और दूसरी वर्गमाला (17 वर्ग संख्याएँ) वह हैं, जो अल्प ढुलाई (10 क्विंटल से कम) पर लागू होती है।

वस्तु वर्गीकरण में समय-समय पर आवश्यकतानुसार समायोजन एवं संशोधन भी होते रहते हैं। कुछ न कुछ ऐसे हेर-फेर लगभग हर वर्ष होते रहते हैं जो विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के सूचक हैं।

परीक्षा प्रश्न

1. उन सिद्धान्तों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये जिनके द्वारा रेलें अपने किराये भाड़े निर्धारित करती हैं?

2. रेल दरें निर्धारित करने में 'सेवा लगात सिद्धान्त' और सेवा मूल्य सिद्धांत' में से किसे उत्तम समझते हैं और क्यों?

3. 'सेवा का मूल्य' एवं 'सेवा की लागत' सिद्धान्तों को समझाइये। रेल कियाये भाड़े के निर्धारण में इनके योगदान का विवेचन कीजिये। आपकी सम्मति में दोनों में कौन-सा सिद्धान्त रेल दरें निर्धारण में अधिक उचित एवं व्यावहारिक है?

4. उन सिद्धान्तों को संक्षेप में बतलाइये जिन पर रेलें भाड़ा दर निर्धारण के लिये माल का वर्गीकरण करती हैं?

5. रेल भाड़ा दर रूपी महल वस्तुओं के वर्गीकरण की नींव पर खड़ा होता है?

33

भारत में सड़क यातायात

(Road Transport in India)

सड़क यातायात का महत्त्व—भारत जैसे विशाल तथा ग्राम प्रधान देश के लिए सड़कों का विशेष महत्त्व है। जैसा कि जरमी बेन्थम ने ठीक ही कहा है, "सड़कें किसी देश की रक्तवाहिनी धमनी और शिराएँ हैं जिनसे होकर प्रत्येक सुधार प्रवाहित होता है।" रस्किन ने भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात कही है—"राष्ट्र की सारी सामाजिक व आर्थिक प्रगति सड़कों के निर्माण में निहित है।" वास्तव में देश की आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक प्रगति अच्छी सड़कों पर निर्भर करती है। "सड़कों को किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास व सभ्यता का माप-यन्त्र माना जा सकता है।" सड़कों के महत्त्व का हम निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं।

(1) आर्थिक महत्त्व

(i) **कृषि में महत्त्व**—सड़कों का विकास कृषि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। (अ) बेकार पड़ी हुई भूमि पर खेती प्रारम्भ करने के लिए सड़क परिवहन से सहायता मिलती है। (ब) सड़कों से उत्तम बीज, खाद तथा औजार शीघ्र पहुँचाने की सुविधा मिलती है। (स) सड़कों के माध्यम से कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य प्राप्त हो जाता है। वे अपना माल मण्डियों में ले जाकर उचित मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। (द) खाद्यान्न के अभाव को दूसरी जगह से खाद्यान्न लाकर पूरा किया जा सकता है और इस प्रकार सड़कें अकाल की तीव्रता को कम करती हैं। (य) सड़कों के विकास से कृषि-स्वरूप बदला जा सकता है अर्थात् खाद्यान्न फसल के स्थान पर व्यापारिक फसलें (चाय, कपास, जूट आदि) उत्पन्न की जा सकती हैं। तथा फल व सब्जियों जैसी नाशवान वस्तुओं का उत्पादन तथा बिक्री बढ़ायी जा सकती है। (र) ग्रामीण क्षेत्र के पुनर्निर्माण में सड़कों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

(ii) **उद्योग में महत्त्व**—(अ) सड़कों के विकास में कारखानों के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से कच्चा माल प्राप्त होता है तथा बना हुआ माल दूर-दूर तक फैले हुए उप-

भोक्ताओं तक पहुँचता है। (ब) सड़कें और सड़क परिवहन लघु और कुटीर उद्योगों से तो प्राण हैं, क्योंकि इनसे बना माल शहरों में आसानी से पहुँच जाता है। (स) सड़क परिवहन के विकास से सभी बड़े पैमाने के उद्योगों के विकेन्द्रीकरण में सहायता मिलती है। (द) सड़कें माल को रेलों तक पहुँचाकर उनके लिए पोषक कार्य करती हैं। (य) जिन क्षेत्रों में रेल सेवाएँ नहीं हैं वहाँ ट्रक द्वारा माल शीघ्रता से पहुँचाया जा सकता है। संक्षेप में उच्च कोटि का औद्योगिक विकास अच्छी सड़कों पर निर्भर करता है।

(iii) **व्यापार में महत्त्व**—सड़कें अन्य साधनों के सहायक के रूप में कार्य करके आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार की उन्नति करती हैं, क्योंकि अच्छी सड़कें होने से माल तथा मनुष्य देश के भीतरी भागों से बहुत बड़ी मात्रा में आसानी से बन्दरगाहों, रेलवे स्टेशनों तथा हवाई अड्डों पर पहुँचाए जा सकते हैं। पहाड़ी व पठारी इलाकों में जहाँ रेल व जल यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं, सड़कों का विशेष महत्त्व है।

(iv) **अन्य आर्थिक महत्त्व**—(i) सड़कों से सरकार को विविध करों के रूप में आय प्राप्त होती है। (ii) अन्य यातायात के साधनों की अपेक्षा सड़कों का निर्माण-व्यय कम होता है। (iii) सड़कों से भी रेलों की भाँति रोजगार बढ़ता है, मूल्यों में समानता लाई जाती है तथा श्रम की गतिशीलता बढ़ती है।

(2) सामाजिक महत्त्व

अच्छी सड़कों का सामाजिक महत्त्व भी है। (i) सड़कें देश के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों को निकट लाती हैं और उनमें सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग व एकता की भावना भरती हैं। (ii) सड़कों के द्वारा अनेक सामाजिक सुविधाओं, जैसे योग्य चिकित्सक, वकील, इन्जीनियर, प्रसूतिगृह इत्यादि की व्यवस्था की जा सकती है। (iii) अच्छी सड़कों के द्वारा पर्यटक यातायात को बढ़ावा देकर विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। (iv) सड़कें प्रजातन्त्र का उपकरण हैं तथा गलतफहमियों व भेद भाव का शत्रु हैं। इस प्रकार सड़कें देश की मानसिक तथा नैतिक उन्नति को तीव्र करती हैं।

(3) राजनैतिक महत्त्व

देश की सुरक्षा की दृष्टि से भी सड़कें महत्वपूर्ण हैं। सेना को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए अच्छी सड़कें चाहिए। समुचित सड़कों के विकास के अभाव में देश के सभी स्थानों पर फौजी चौकियाँ बनाना मुश्किल हो जाता है। सीमाओं की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि फौजी सामान न्यूनतम समय में पहुँचाया जा सके। चीन-पाक आक्रमणों ने हमें यह सबक सिखाया है कि सीमान्त सड़कों का विकास देश की सुरक्षा-व्यवस्था का आधार है। डॉ० एस० एम० अग्रवाल के शब्दों में "प्रतिरक्षा की दृष्टि से सड़कों को 'शान्ति की पूँजी' कहा जा सकता है, जो कि युद्धकाल में मुनाफा देती है।"

सड़क परिवहन की विशेषताएँ

सड़क परिवहन समाज की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति करता है । यह यातायात का प्राचीन साधन है । सड़क परिवहन का अपना अलग क्षेत्र व विशेषतायें हैं जिनके कारण उसका महत्त्व अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक है । ये विशेषतायें निम्न हैं—

(1) **लोचकता**—सड़क परिवहन अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण है । इसकी सेवाएँ कहीं भी प्राप्त की जा सकती हैं अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर बैलगाड़ी, ताँगे व मोटर को घर या गोदाम के द्वार तक ले जा सकते हैं । यह सुविधा रेल, जल व वायु परिवहन में नहीं प्राप्त है । इसी प्रकार माँग के अनुसार इनमें शीघ्रता से कमी व वृद्धि भी की जा सकती है । अत: लोचकता सड़क परिवहन की मूलभूत विशेषता है ।

(2) **स्वतंत्रता**—स्वतंत्रता से आशय इच्छानुसार मार्ग अथवा सेवा परिवर्तन से है । यदि कोई मार्ग वर्षा अथवा अन्य कारणों से खराब हो जाता है तो हम दूसरे मार्ग पर गाड़ी चला सकते हैं । इसी प्रकार सड़क परिवहन में गाड़ी को हम सवारियों के लिए प्रयोग कर सकते और माल के लिए भी संक्षेप में सड़क परिवहन में मार्ग और सेवा परिवर्तन की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है ।

(3) **कम पूँजी**—सड़क परिवहन में कम पूँजी की आवश्यकता होती है । जब कि रेल, वायुयान व जहाज परिवहन में विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है । यही कारण है कि सत्क परिवहन का संचालन निजी व्यक्तियों द्वारा भी किया जाता है ।

(4) **पूर्ण सेवा**—सड़क परिवहन पूर्ण सेवा प्रदान करते हैं अर्थात् इस यातायात के साधन से माल भेजने वाले के गोदाम से माल उठाकर पाने वाले के गोदाम तक पहुँचाया जाता है । इस प्रकार बीच में माल चढ़ाने या उतारने की आवश्यकता नहीं पड़ती है तथा माल शीघ्रता से बिना किसी जोखिम के पहुँच जाता है ।

(5) **बहुमुखी सेवा**—रेल, जल व वायु मार्ग विशेष प्रकार के वाहनों को चलाने के लिए निर्मित किये जाते हैं किन्तु इसके विपरीत सड़कों का निर्माण किसी वाहन विशेष के लिए न होकर सार्वजनिक हित के लिये किया जाता है । सड़क परिवाहन का प्रयोग बैलगाड़ी, रिक्शा, साइकिल, मोटर, ट्रक आदि किसी भी सेवा में हो सकता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सड़कें बहुउद्देशीय भावना से प्रेरित होकर सार्वजनिक हित के लिए बनाई जाती हैं ।

(6) **सस्ती सेवा**—सड़क परिवहन में पूँजी की कम आवश्यकता पड़ने के कारण सेवा सस्ती पड़ती है । सड़क निर्माण, व मरम्मत तथा गाड़ी का संचालन व्यय भी अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सस्ता पड़ता है । अत: यह सेवा पर्याप्त सस्ती पड़ती है ।

(7) **सुरक्षा**—माल की सुरक्षा सड़क परिवहन में अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योंकि इसमें माल एक विशेष व्यक्ति के सुपुर्द कर दिया जाता है तथा यात्रा की समाप्ति तक उसी व्यक्ति का उत्तरदायित्व बना रहता है । रास्ते में माल उतारने व चढ़ाने की आवश्यकता न होने से टूटने-फूटने का भय भी नहीं रहता है ।

(8) **समय की बचत**—यद्यपि वायुयान और रेल की अपेक्षा सड़क परिवहन

की चाल धीमी होती है। परन्तु थोड़ी दूर के लिए अनेक प्रकार से समय की बचत होती है। माल भेजने अथवा ले जाय वाले के अधिकार में गाड़ी के रहने के कारण उसे बीच में उतारने-चढ़ाने की आवश्यकता नहीं रहती है। इसके साथ ही थोड़े से माल से गाड़ी भर जाती है और तुरन्त यात्रा प्रारम्भ कर दी जाती है। अतः सड़क परिवहन में समय की पर्याप्त बचत हो जाती है।

(9) **पैकिंग**—जहाज अथवा रेल से माल भेजने पर मजबूत पैकिंग की आवश्यकता होती है। मजबूत पैकिंग के अभाव में रेल अथवा जहाजी कम्पनियाँ माल स्वीकार नहीं करती हैं जबकि सड़क परिवहन में पैकिंग में इतने चातुर्य की आवश्यकता नहीं होती है। बहुत-सी वस्तुएँ तो बिना पैकिंग के भी लाद दी जाती हैं।

(10) **अधिकतम सामाजिक हित**—रेल, जहाज तथा वायुयान से वही व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं जिनके पास पर्याप्त धन है। किन्तु सड़क परिवहन में यह समस्या नहीं होती है क्योंकि जिसके पास स्वयं की गाड़ी है वह सड़क से माल ले जा सकता है अथवा यात्रा कर सकता है जिसके पास गाड़ी नहीं है वह पैदल यात्रा व सिर पर माल आदि ले जा सकता है। संक्षेप में, सड़क परिवहन धनी व गरीब सबके लिए समान रूप के लाभदायक है तथा अधिकतम सामाजिक हित में वृद्धि करता है।

भारत में सड़कों का विकास

प्राचीन काल में भारत में बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मोहनजोदड़ो की खुदाई में विस्तृत सड़कें मिली हैं जो यह बताती हैं कि भारत के निवासी ईसा से 5000 वर्ष पूर्व भी सड़क बनाने की कला में निपुण थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक महान् और शेरशाह जैसे राजाओं के शासन काल में सड़कों का बड़े पैमाने पर निर्माण हुआ, किन्तु ब्रिटिश शासन काल के आरम्भ में सड़कों पर ध्यान नहीं दिया।

भारत में लार्ड डलहौजी के समय से सड़कों के निर्माण का एक नया युग प्रारंभ हुआ। सन् 1885 में देश में प्रथम बार सड़कों के विकास के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग खोला गया। उसी वर्ष विभिन्न प्रान्तों में भी सार्वजनिक निर्माण विभाग खोले गए। इससे देश में सड़क निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। सन् 1919 में सड़कों को प्रान्तीय विषय बना दिया गया। सन् 1927 में डा० एम० आर० जयकर के सभापतित्व में एक सड़क विकास समिति की नियुक्ति हुई जिसके सुझाव के फलस्वरूप सन् 1929 में केन्द्रीय सड़क विकास कोष स्थापित हुआ, जिसमें पेट्रोल पर आयात कर व उत्पादन कर से प्राप्त आय जमा की जाती थी। इस कोष की सहायता से सन् 1939 तक सड़कों का विकास धीरे-धीरे किया जाता रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध में सड़कों का अभाव सरकार को विशेष रूप में खटका। अतः सरकार ने दिसम्बर 1943 में चीफ आफ इन्जीनियरों का एक सम्मेलन नागपुर में बुलाया गया। इसने सड़कों के विकास की दस-वर्षीय योजना बनाई। यह योजना **नागपुर योजना** के नाम पर विख्यात हुई।

नागपुर योजना—नागपुर योजना के मुख्य तत्त्व अग्रलिखित थे :—

(i) योजना में सड़कों को पाँच वर्गों में विभाजित किया गया :—

राष्ट्रीय सड़कें (National Highways), प्रान्तीय सड़कें (Provincial Highways), बड़ी जिला सड़कें (Major District Roads), लघु जिला सड़कें (Minor District Roads) व ग्रामीण सड़कें (Village Roads)।

(ii) योजना का उद्देश्य था कि विकसित कृषि क्षेत्र में कोई भी गाँव सड़क से पाँच मील दूर तथा अविकसित कृषि क्षेत्र में दस मील से अधिक दूर न हो।

(iii) योजना में पुरानी सड़कों का सुधार एवं नयी सड़कों का निर्माण, ये दोनों कार्य सम्मिलित थे।

(iv) एक निष्पक्ष सड़क बोर्ड की स्थापना पर जोर दिया गया।

(v) सड़क अनुसन्धान, सड़क-निर्माण सामग्री, इन्जीनियरों के प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करने पर भी बल दिया गया।

(vi) अविभाजित भारत के लिए 448 करोड़ रुपये के व्यय से 4 लाख मील लम्बी सड़क बनाने का लक्ष्य रखा गया था। देश विभाजन के भारतीय संघ में नागपुर योजना के अनुसार 3,31,000 मील लम्बी सड़कों का निर्माण करना था, जैसा कि प्रदत्त अंकों से स्पष्ट है।

नागपुर सड़क योजना

सड़कें	सड़कों की लम्बाई (मीलों में)	व्यय (करोड़ रुपए में)
1. राष्ट्रीय सड़कें (National Highways)	16,600	39·0
राष्ट्रीय अनुयान (National Trail)	4,150	2·5
2. राजकीय सड़कें (Provincial Highways)	53,950	100·3
3. जिला की सड़कें (Major)	49,800	51·4
जिला की सड़कें—छोटी (Minor)	83,000	66·5
4. गाँव की सड़कें – (Village Roads)	1,23,500	24·7
5. युद्धकाल में पिछड़े हुए कार्य (Arears of war)		8·3
6. पुलों का निर्माण (Bridging)		37·8
7. भूमि प्राप्त करना (Land acquistion)		41·6
	कुल—3,31,000	371·5

भारत सरकार और राज्य सरकारों ने नागपुर योजना को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया। सम्मेलन के सुझाव के अनुसार 1 अप्रैल 1947 से राष्ट्रीय सडक के निमाण, सुधार और अनुरक्षण का उत्तरदायित्व भारत सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। एक केन्द्रीय सड़क संगठन (Central Road Organisation) की स्थापना की गई परन्तु (1) देश-विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अव्यवस्था, (2) आर्थिक कठिनाइयाँ, (3) सड़क-निर्माण की सामग्री की कमी, (4) भूमि-प्राप्त करने में विलम्ब

तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों के अभाव के कारण इस योजना के अधीन प्रगति बहुत धीमी रही। प्रथम योजना के आरम्भ तक केवल 27·11 करोड़ रुपये ही व्यय हुए थे। नागपुर योजना की प्रगति का अनुमान निम्न अंकों से लगा सकते हैं।

वर्ष	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
1947	88,000 मील	1,32,000 मील
1950-51	98,000 ,,	1,51,000 ,,

1950-51 में प्रथम योजना के आरम्भ होने पर नागपुर योजना के कार्यक्रमों की योजना कार्यक्रम का अंग बना लिया गया।

पंचवर्षीय योजनाओं में सड़कों का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना में सड़कों के निर्माण पर 147 करोड़ रुपये व्यय किए गये तथा 26,000 किलोमीटर नई पक्की तथा 72,398 किलोमीटर कच्ची सड़कें बनाई गईं। लगभग 16 हजार किलोमीटर पुरानी सड़कों की मरम्मत की गई तथा विभिन्न स्थानों को मिलाने के लिए 1,030 किलोमीटर लम्बी श्रृङ्खला सड़कें बनाई गयीं।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना—प्रथम योजना में सड़क यातायात के विकास पर 254 करोड़ रुपये खर्च किए गए। इस योजना में पक्की सड़कों की लम्बाई, 2 लाख 35 हजार किलोमीटर और कच्ची सड़कों की लम्बाई 4 लाख 73 हजार किलोमीटर हो गयीं। सन् 1960 में सीमा क्षेत्रों में सड़कों के विकास के लिए एक मंडल (Border Road Development Board) स्थापित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य इन क्षेत्रों में सड़कों के विकास को तीव्र करके इन तक पहुँचाने के लिए परिवहन का साधन उपलब्ध करना है। केन्द्रीय सड़क सङ्गठन के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम इस योजनावधि में इस प्रकार रहे—जम्मू श्रीनगर मार्ग पर जवाहर सुरङ्ग के दोनों ओर छोटी सुरंगें बनाई गयीं। रायगञ्ज से दालखोला तक राष्ट्रीय सड़क बनाई गई तथा देहली-आगरा राष्ट्रीय मार्ग को चौड़ा किया गया। इस प्रकार इस योजना काल में हम नागपुर योजना द्वारा निर्धारित लक्ष्य से भी आगे बढ़ गये।

हैदराबाद योजना—सन् 1959 में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के मुख्य इंजीनियरों का जो हैदराबाद में सम्मेलन हुआ था, उसमें सड़कों के विकास के लिए एक 20 वर्षीय योजना तैयार की गई जिसका समय सन् 1961 से 1981 तक रखा गया। इस योजना का लक्ष्य सन् 1980-81 के अन्त तक 4 लाख 5 हजार किलोमीटर पक्की सड़क व 6 लाख 51 हजार किलोमीटर कच्ची सड़कें बनाने का था। इस योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(क) हर एक विकसित व कृषि क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क से 6 किलोमीटर व अन्य सड़क से 2·5 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

(ख) अर्द्धविकसित क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क के 13 किलामीटर के अन्दर और किसी सड़क के 5 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

(ग) अविकसित और अकृषि योग्य क्षेत्र का गाँव पक्की सड़क के 19 किलोमीटर के अन्दर और किसी भी तरह की सड़क के 8 किलोमीटर के अन्दर आ जाय।

तृतीय पञ्चवर्षीय योजना—तृतीय योजना के सड़कों के विकास का कार्यक्रम हैदराबाद योजना के लक्ष्यों के अनुसार निर्धारित किया गया। इस योजना में 40 हजार किलोमीटर नई पक्की सड़कों के निर्माण का आयोजन था। इस योजना के अन्त तक पक्की सड़कों की कुल लम्बाई 2,85,300 किलोमीटर हो गई। ग्रामों व अविकसित क्षेत्रों तथा सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों मे सड़कों के विकास पर विशेष बल दिया गया। साथ ही पुलों का निर्माण, सड़कों को चौड़ा करने व सुधारने की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना में सड़कों के विकास पर 440 करोड़ रुपये व्यय किये।

तीन वार्षिक योजनाओं (1966-69) में सड़क विकास पर 308 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

चतुर्थ योजना काल में सड़क विकास—चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजना में सड़कों की लम्बाई में 29,000 कि०मी० की वृद्धि हुई जिसमें पक्की सड़कों की लम्बाई 1,31,000 कि० मी० और कच्ची सड़कों की लम्बाई 1,02,000 कि० मी० हो गई। इस अवधि में राष्ट्रीय राजमार्गों में 4,800 कि० मी० नई सड़कें जोड़ी गईं। योजनावधि में 826·94 करोड रुपया व्यय किया गया था।

पाँचवीं योजना में सड़क विकास—पाँचवीं पञ्चवर्षीय योजना में सड़कों के विकास पर 1,348 करोड़ रुपये व्यय किए गए। इस योजना के अन्तर्गत सड़कों के विकास के जो कार्य किये गये वे इस प्रकार हैं—

(i) प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों, खनिजों और विकास योजनाओं सम्बन्धी परियोजनाओं के बीच वाले क्षेत्रों में सडक का निर्माण किया गया।

(ii) 1,500 या उससे अधिक जनसंख्या वाले गाँवों को जोडने वाली सड़कें बनाई गईं।

(iii) पहाड़ी क्षेत्रों तथा तटीय भागों में विकास के लिए सड़कों का निर्माण किया गया।

(iv) बड़े नगरों, राजधानियों और उनके निकटवर्ती भागों में सड़कों का विकास किया गया।

(v) पटना के निकट गंगा पर तथा कलकत्ता के निकट हुगली पर दूसरा पुल बनाया गया।

(vi) चौथी योजना की अधूरी सड़कों को पूरा किया गया।

(vii) लगभग 1,000 कि० मी० राष्ट्रीय राज्य मार्ग को चौड़ा किया गया।

(viii) योजना के अन्त तक पक्की सड़कों की लम्बाई 5,50,000 कि० मी० की गई।

योजनाकाल में सड़कों की प्रगति निम्न प्रकार रही है—

सड़क निर्माण प्रगति

(हजार किलोमीटर)

वर्ष	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें	योग
1950-51	157	243	400
1960-61	263	263	525
1971-72	423	598	1021
1975-76	538	829	1367
1978-79	530	950	1480
1981-82	724	1010	1734

छठीं योजना में सड़क विकास—छठीं योजना में सड़क के विकास के लिए प्रस्तावित परिव्यय केन्द्रीय क्षेत्र के लिए 830 करोड़ रुपये तथा राज्य क्षेत्र के लिए 2,609 करोड़ रुपये है। इस योजना में सड़क विकास कार्यक्रम में देश में सड़कों के जाल से समन्वित एवं संतुलित विकास पर जोर दिया गया है। इनमें ये सड़कें होंगी—

(i) प्रमुख सड़कें जिनमें राष्ट्रीय राज्य मार्ग आते हैं।

(ii) गौण और सहायक सड़कें, जिनमें राज्यीय राजमार्ग और प्रमुख जिले शामिल हैं। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में सड़कों के विकास के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था की गई। इस योजना में सड़क परिवहन के विकास पर जो व्यय किये जायेंगे उनका विवरण नीचे सारणी में दर्शाया गया है—

सड़क परिवहन का परिव्यय
(केन्द्रीय क्षेत्र में परिव्यय)

(करोड़ रुपये में)

1. राष्ट्रस्तर की सड़कें	660·00
2. मशीनरी	18·00
3. स्ट्रेटिजिक रोड	38·00
4. आर्थिक एवं अन्तर्राज्यीय महत्त्व की सड़कें	40·00
5. सीमा क्षेत्रों में सड़क सम्बन्ध	50·00
6. सड़क विकास अनुसंधान एवं योजना अध्ययन	4·00
7. रेलवे क्रासिंग के ऊपर एवं नीचे के पुलों के लिए विशेष प्रावधान	9·00
8. आदिवासी क्षेत्रों में सड़क विकास के लिए विशेष प्रावधान	6·50
9. सड़क प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना के लिये	1·00
10. केन्द्रीय सड़क अनुसंधान संस्थान	3·00
सकल योग	830·00

राज्य क्षेत्र में परिव्यय

(करोड़ रुपये में)

1. ग्रामीण सड़कें न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अन्तर्गत	1164·90
2. अन्य सड़कें	1444·96
सकल योग	2608·96

सड़क का वर्गीकरण

सड़कों का वर्गीकरण आज भी प्रायः वैसा ही है जैसा नागपुर योजना में प्रस्तुत किया गया था। अब हमारी राष्ट्रीय सड़क प्रणाली एक्सप्रेस सड़कें और अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग भी सम्मिलित है। संक्षेप में भारत में सड़कों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

1. **राष्ट्रीय सड़कें**—केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय सड़कों का प्रबन्ध करती है। यह सड़कें भारत के प्रमुख नगरों को जोड़ती है।

2. **प्रान्तीय सड़कें**—इन सड़कों को बनवाना राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। ये सड़कें राज्य के विभिन्न नगरों को जोड़ती हैं।

3. **जिले की सड़कें**—जिला बोर्ड या नगरपालिका द्वारा इन सड़कों को बनवाया जाता है। ये सड़कें अधिकतर कच्ची हैं और इन सड़कों पर वर्षा के दिनों में मोटरगाड़ियाँ नहीं चल सकतीं। ये सड़कें जिलों के उत्पादन केन्द्रों तथा मण्डियों को आपस में या रेलवे स्टेशनों व राजमार्गों से मिलाती हैं।

4. **गाँव की सड़कें**—ये सड़कें ग्राम पञ्चायत और गाँव वालों के सहयोग से बनती हैं। ये सड़कें एक गाँव को दूसरे गाँव से मिलाती हैं या उन्हें राष्ट्रीय, प्रांतीय व अन्य सड़कों से मिलाती हैं।

5. **एक्सप्रेस सड़कें**—ये राजमार्ग तेज मोटरवाहनों के लिए निर्मित किये गये हैं। इनमें से दो बम्बई नगर के उत्तरी छोर पर हैं जिन्हें क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी एक्सप्रेस राजमार्ग कहा जाता है और तीसरा मार्ग कलकत्ते को दमदम हवाई अड्डे से मिलाता है। चौथे व पाँचवें एक्सप्रेस सड़कों पर काम जारी है।

6. **अंतर्राष्ट्रीय मार्ग**—इकाफे (ECAFE-Economic Commission for Asia and Far East)—के सुझाव पर तृतीय योजनावधि के अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग बनाने की योजना शुरू हुई है, जिसके अनुसार भारत अपने राष्ट्रीय राजमार्गों को अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्गों से मिला देगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजमार्ग के भाग भारत में आगरा, बम्बई, दिल्ली, मुल्तान, बङ्गलोर, मद्रास, गोलावाट, लोडो मार्ग हैं।

7. **सीमावर्ती सड़कें**—मार्च 1960 में एक सीमावर्ती सड़क विकास मण्डल स्थापित किया गया ताकि पार्श्व मार्गों के विकास के माध्यम से उत्तर और उत्तरी-पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्रों के लिए सुगम मार्गों का निर्माण कर उनके आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया जा सके। मण्डल के तत्काल कार्यक्रम में लगभग, 7,200 कि० मी० सड़कों

का निर्माण, लगभग 6.3 कि० मी० वर्तमान सड़कों का विकास और लगभग 11,400 कि० मी० सड़कों का पक्का करना शामिल है।

भारत की प्रमुख सड़कें

भारत की प्रमुख सड़कें निम्नलिखित हैं—

1. **ग्राण्ड ट्रंक रोड**—यह भारत की सबसे प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण सड़क है। इसकी लम्बाई 2400 कि० मी० है। इसकी दो शाखाएँ हैं—

(i) **उत्तरी ग्राण्ड ट्रंक रोड**—यह बम्बई से बड़ौदा, अहमदाबाद, अजमेर व जयपुर होती हुई दिल्ली को जाती है, जहाँ से यह अमृतसर होती हुई पाकिस्तान की सीमा तक चली जाती है।

(ii) **पूर्वी ग्राण्ड ट्रंक रोड**—यह कलकत्ता से वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, दिल्ली व अम्बाला होती हुई पाकिस्तान की सीमा तक चली जाती है।

2. **बम्बई-कलकत्ता रोड**—यह सड़क बम्बई से प्रारम्भ होकर नागपुर, सम्बलपुर व रायपुर होती हुई कलकत्ता को जाती है।

3. **बम्बई मद्रास रोड**—यह सड़क बम्बई से पूना, कोल्हापुर, बेलगांव, धारवार और बङ्गलौर होती हुई मद्रास तक जाती है।

4. **कलकत्ता-मद्रास रोड**—यह सड़क कलकत्ता से प्रारम्भ होकर सम्बलपुर, रायपुर, विजयवाड़ा व गन्टूर होते हुए मद्रास तक जाती है।

5. **बम्बई-आगरा रोड**—यह सड़क बम्बई से नासिक, इन्दौर, ग्वालियर होती हुई आगरा तक जाती है।

6. **ग्रेट डेकन रोड**—यह सड़क उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर नगर से निकल कर जबलपुर, नागपुर होती हुई बङ्गलौर तक जाती है। दक्षिणी भारत की यह सबसे प्रमुख सड़क है।

7. **गौहाटी चेरापूंजी रोड**—यह सड़क गौहाटी से शिलांग होती हुई चेरापूंजी (मेघालय) तक जाती है।

8. **पठानकोट जम्मू रोड**—यह सड़क पठानकोट से जम्मू तक जाती है तथा बाद में श्रीनगर से मिल जाती है।

9. **अन्य सड़कें**—उपर्युक्त सड़कों के अतिरिक्त कुछ अन्य सड़कें निम्नलिखित हैं—

(i) दिल्ली-मेरठ-सहारनपुर, देहरादून और मंसूरी रोड। (ii) अम्बाला-कालका-शिमला रोड (iii) मद्रास-कालीकट रोड (iv) बरेली-नैनीताल-अल्मोड़ा रोड (v) पूर्णिया-दार्जिलिङ्ग रोड (vi) मणिपुर-कोहिमा-इम्फाल रोड (vii) पठान-कोट-कुल्लू रोड (viii) जम्मू-श्रीनगर-पुरी रोड (ix) मद्रास-ट्रावनकोर रोड (x) गौहाटी-चेरापूंजी रोड (xi) दिल्ली-लखनऊ रोड।

दक्षिण के पठार पर असमतल धरातल के कारण रेलों की अपेक्षा सड़कों का अधिक विकास हुआ है। यातायात के प्रमुख मार्ग सड़कें ही हैं।

सड़क परिवहन का विकास (मोटर परिवहन)

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक—भारत में मोटर परिवहन का विकास प्रथम महायुद्ध के समय से हुआ। सन् 1914 में जब युद्ध शुरू हुआ तब रक्षा के हेतु अनेक मोटरों का आयात किया गया और 1918 के पश्चात् जब लड़ाई समाप्त हुई तब वही मोटरें अन्य व्यक्तियों को बेच दी गईं। इस प्रकार 1918-20 में मोटर परिवहन लोकप्रिय होने लगा व धीरे-धीरे मोटरों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सन् 1935-36 तक यह संख्या बढ़कर 11,500 हो गई।

मोटर परिवहन के नियमन के लिए सर्वप्रथम सन् 1914 में मोटर वाहन अधिनियम बनाया गया जिसमें ड्राइवरों को लाइसेन्स देने, मोटर गाड़ियों के रजिस्ट्रेशन कराने और असावधानी की दशा में दण्ड देने की व्यवस्था थी। स्थानीय सरकारों को मोटरगाड़ियों के नियम बनाने के अधिकार मिल गए। युद्ध के पश्चात् मोटरों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी परन्तु मन्दी काल में मोटर परिवहन की स्थिति बिगड़ गई। मन्दी के समय (1929) रेल तथा मोटर यातायात में प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गई। सन् 1932 में इस प्रतियोगिता की समस्या पर विचार करने के लिए मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने मोटर यातायात के कड़े नियमन पर जोर दिया। सन् 1937 में नियुक्त वेजवुड समिति ने भी मोटर यातायात के नियमन का सुझाव दिया। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए सन् 1939 में नया मोटर वाहन अधिनियम बना। इसके अन्तर्गत पहली बार राज्य परिवहन और क्षेत्रीय परिवहन अधिकारियों की स्थापना परमिट देने के हेतु की गई और परमिट देने की शर्तें निर्धारित की गईं। इस अधिनियम में मोटर यातायात के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए विस्तृत नियम बनाए गए। सन् 1955-56 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया।

द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद मोटर परिवहन—द्वितीय महायुद्ध (1939-45) काल में मोटर यातायात के समक्ष कठिनाइयाँ आयीं। यातायात के साधनों की माँग बढ़ी परन्तु मोटरों का यातायात बन्द हो गया। देश में पेट्रोल की कमी तो थीं ही, मोटर के पुर्जे भी कठिनाई से मिलते थे। सन् 1945 तक यही दशा रही। सन् 1945 में भारत सरकार ने राज्य सरकारों के पथ-प्रदर्शन के लिए एक सिद्धान्त व्यवहार संहिता लागू की जिसका उद्देश्य रेल हितों की रक्षा करनी थी। इसके द्वारा माल ले जाने के लिए मोटर परिवहन पर अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाए गए। मोटरगाड़ियों के क्षेत्र को 75 मील तक ही सीमित कर दिया गया। मोटर पर करों में भी भारी वृद्धि की गई। इन प्रतिबन्धों की कड़ी आलोचना की जाने लगी। अतः 1950 में मोटर वाहन कर जाँच समिति नियुक्ति की गई। समिति ने करों में कमी करने, सिद्धान्त व्यवहार संहिता को 3 वर्षों तक स्थगित करने आदि के सम्बन्ध में सुझाव दिया परन्तु सरकार इन सुझावों को कार्यान्वित न कर सकी।

योजनाकाल में विकास—सन् 1953 में नियुक्त परिवहन अध्ययन दल ने मोटर यातायात की समस्याओं का अध्ययन किया तथा मोटरों के सेवा-क्षेत्र को 75 से

150 मील कर देने व करों में कमी करने का सुझाव दिया। सन् 1956 में मोटर परिवहन अधिनियम में आवश्यक संशोधन किए गए। सन् 1958 में केन्द्रीय सरकार ने श्री मसानी की अध्यक्षता में सड़क परिवहन पुनर्गठन समिति नियुक्ति की। इसने सड़क परिवहन को रेलवे से आवश्यक बताया और मोटर यातायात की प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। सन् 1959 में श्री नियोगी की अध्यक्षता में परिवहन नीति एवं समन्वय समिति नियुक्ति की गई। समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि सड़क परिवहन का विकास इस प्रकार किया जाय कि इसके द्वारा निश्चित योजनाओं तथा क्षेत्रों में उचित लागत पर सेवाएँ प्रदान की जा सकें।

स्वतन्त्रता के पश्चात सड़क परिवहन में उल्लेखनीय प्रगति हुई है जिसका अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

1. **सड़क परिवहन मोटर गाड़ियाँ**—31 मार्च 1980 को सड़क पर मोटर गाड़ियों की संख्या 41 लाख थी जो 1947 की संख्या से 16 गुनी अधिक थी।

2. **सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण**—अधिकतर राज्यों और केन्द्र शासित क्षेत्रों ने पूर्णत: अथवा अंशत: यात्री परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। 31 मार्च, 1979 को सारे देश में अनुमानत: 55·5 प्रतिशत बसें सरकारी क्षेत्र द्वारा चलायी जा रही थीं। सड़क परिवहन निगम अधिनियम 1950 के अन्तर्गत अनेक राज्यों में सम्बन्धित निगम स्थापित किये जा चुके हैं।

3. **राष्ट्रीय परमिट योजना**—सड़क परिवहन गाडियों द्वारा माल ले जाने में आने वाली कठिनाइयाँ दूर करने के लिए 1975 में एक राष्ट्रीय योजना लागू की गई, जिसके अन्तर्गत केन्द्र सरकार ने प्रत्येक राज्य या संघीय क्षेत्र द्वारा जारी किए जाने वाले परमिटों की संख्या निश्चित कर दी।

4. **यात्री वाहन**—पिछले 10 वर्षों में सरकारी क्षेत्र में यात्री वाहनों का बेड़ा 1970 के 35,193 के बढ़कर 1980 में 69,478 हो गया तथा इनकी माँग विशेषकर महानगरों में निरन्तर बढ़ रही है।

5. **परिवहन निकाय**—केन्द्र और राज्यों की नीतियों और विभिन्न तरीकों से परिवहन व संचालन में समन्वय सुनिश्चित करने के लिए भारत सरकार ने एक परिवहन विकास परिषद स्थापित की है। अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग अन्तर्राज्यीय मार्गों पर सड़क परिवहन सेवाओं के विकास, समन्वय और नियमन का जिम्मेदार है।

6. **ढोए जाने वाले माल व यात्री** सेवाओं में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है जिनको निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

वर्ष	माल सेवाएँ (बिलियन टन कि०मी०)	यात्री सेवाएँ (बिलियन पैसेन्जर कि०मी०)
1950-51	5·5	23
1960-61	35·0	37
1970-71	66·0	169
1981-82	85·0	300

मोटर परिवहन की प्रगति के लिये सुझाव
(Suggestions for Improvement in Motar Transport)

भारतीय अर्थव्यवस्था में मोटर परिवहन का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः इसका द्रुत एवं समुचित विकास होना परम आवश्यक है। मोटर परिवहन को स्वस्थ्य बनाने के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं—

1. **आधुनिक सड़कों का निर्माण**—ऐसी सड़कों का निर्माण किया जाना चाहिये जो कम से कम 20 फीट चौड़ी हो। जिस पर नवीन गाड़ियाँ चलाई जा सकें।

2. **कर के भार में कमी**—विभिन्न राज्यों में लगाये जाने वाले करों में समरूपता होनी चाहिये। करों में कम से कम 20% की कमी की जानी चाहिये।

3. **सब राज्यों में भार की समरूपता**—ऐसी सीमा का निर्धारण करने में पुल-पुलियों की दशा और जन सुरक्षा को दृष्टिगत रखना चाहिये। प्रतिगाड़ी सीमा लगाने के बजाय प्रति धुरी भार सीमा बाँधना अधिक वैज्ञानिक है।

4. **प्रशासकीय संगठनों में सुधार**—प्रत्येक राज्य में परिवहन मंत्रालय विशेष रूप से होने चाहिये जिसका एक कक्ष सड़कों से तथा दूसरा कक्ष सड़क परिवहन से सम्बन्धित हो। प्रत्येक कार्य को ठीक ढंग से चलाने के लिये परिवहन आयुक्त के अधीन तीन उपायुक्त होने चाहिये। राज्य परिवहन प्राधिकारों का सभापति उस व्यक्ति को बनाया जाय जो अनुभवी हो। प्रादेशिक परिवहन प्राधिकार के सदस्यों की संख्या जनता की सुविधा को ध्यान में रखते हुए निश्चित करना चाहिये। जहाँ प्राधिकार बड़े हो वहाँ प्रत्येक जिले में उनकी शाखा या कार्यालय होना चाहिये।

5. **वित्तीय सुविधायें प्रदान करना**—श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता में नियुक्त अध्ययन दल ने सड़क परिवहन के लिये वित्त व्यवस्था का अध्ययन करने के उपरान्त एक रिपोर्ट दी जिसमें निम्न सुझाव दिये गये हैं—

(i) विकास छूट को पुनः प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

(ii) सड़क परिवहन उद्योग को प्राथमिकता वाले उद्योगों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

(iii) आयकर में 80% की अतिरिक्त छूट और भी दी जानी चाहिए।

(iv) विशेष सुविधाएँ प्रदान करने वाली परिवहन साख समितियों एवं सहकारी किराया क्रय समितियों का गठन किया जाना चाहिए।

(v) सरकारी सड़क परिवहन निगमों को राज्य विद्युत मण्डलों की भाँति खुले बाजार में ऋण लेने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

6. **राष्ट्रीयकरण का क्रमबद्ध कार्यक्रम**—यात्रा सेवा सम्बन्धी मोटर व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के क्रमबद्ध कार्यक्रम को राज्य सरकारों को लागू करना चाहिए। माल यातायात के राष्ट्रीयकरण को चोथी योजना तक स्थगित करने का सुझाव दिया गया है। जिन क्षेत्रों में परिवहन सुविधाओं की कमी है वहाँ मोटर मालिकों की दीर्घकालीन परमिट स्वतन्त्रतापूर्वक दिए जाने चाहिए। विस्थापित होने वाले संचालकों की अन्य मार्गों पर मोटरें चलाने का परमिट देना चाहिए।

7. राज्य में सहयोग समझौते—जिस प्रकार व्यक्तिगत पर्यटकों को बिना किसी बाधा के एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने की स्वतन्त्रता होती है उसी भाँति माल व यात्री सेवा प्रदान करने वाली बसों को भी जाने देना चाहिए। कुछ राज्यों ने पड़ोसी राज्यों की मोटरों पर कर लगाने की पारस्परिक सहयोगी व्यवस्था की। दूसरे राज्यों की भी इसी प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए।

8. प्रतियोगी इकाइयों का निर्माण करना—योजना आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि मोटर संचालन इतनी वृहद होनी चाहिए कि वर्कशाप और अन्य प्रबन्धकों का प्रबन्ध कर सके। तभी कम व्यय पर कुशल सेवा दी जा सकती है। अतः वर्तमान निजी मोटर सञ्चालन इकाइयों की परस्पर मिल कर आर्थिक इकाई बना लेनी चाहिए।

9. नियमन विधि में सुधार—मोटर वाहन अधिनियम की अस्पष्ट धाराओं को स्पष्ट किया जाना चाहिए तथा परमिट प्रदान करने की कार्य विधि में सुधार किया जाना चाहिए।

10. समन्वय व्यवस्था—परिवहन के विभिन्न साधनों में समन्वय चाहिए जिससे पूर्ण विकास हो सके। समन्वय की स्थापना करने के लिए परिवहन विकास परिषद् अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग और राज्य परिवहन सड़क संस्था कार्य कर रही है।

अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति मील सड़क के अनुसार गाड़ियों की संख्या बहुत थोड़ी है। हमारे यहाँ प्रति मील सड़क पर 0·5 ट्रक है जबकि अन्य देशों में 5 से 10 तक ट्रक पाये जाते हैं। प्रति मोटर वाहन व्यक्तियों की संख्या इंगलैण्ड में 6·3 कनाडा में 3·2, अमेरिका में 2·4, श्रीलंका में 85, ईरान में 156 और भारत में 695 है।

सड़क परिवहन की समस्याएँ

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सड़क परिवहन के विकास करने की आवश्यकता है लेकिन इसके विकास में निम्नलिखित बाधाएँ हैं—

1. अपर्याप्त एवं बुरी सड़कें—सड़क परिवहन की महत्वपूर्ण समस्या अपर्याप्त एवं बुरी सड़कें हैं। प्रति 10 वर्ग कि० मी० में जापान में 272 कि० मी०, पश्चिमी जर्मनी में 167 वर्ग कि० मी० तथा फ्रांस में 143 कि० मी० सड़कें हैं जबकि भारत में प्रति 100 वर्ग कि० मी० में केवल 36 कि० मी० सड़कें हैं। इसके अतिरिक्त भारत में दो-तिहाई सड़कें कच्ची हैं, रास्तों में पक्के पुलों का अभाव है और सड़कों की चौड़ाई कम है।

2. अपर्याप्त मोटरगाड़ियाँ—यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् मोटरगाड़ियों की संख्या में काफ़ी वृद्धि हुई है लेकिन फिर भी अन्य देशों की तुलना में भारत में मोटर-गाड़ियों की संख्या बहुत कम है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना है।

3. अत्यधिक कर भार—मोटर परिवहन के विकास में अत्यधिक कर भार

बहुत बाधक है। मोटरगाड़ियों पर इतना अधिक कर भार भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में नहीं है। सड़क यातायात कर जांच समिति के अनुसार भारत में एक मोटरगाड़ी पर कर का भार 3500 रुपया है जबकि अमरीका में यह कर भार केवल 862 रुपया तथा ब्रिटेन में 472 रुपया है।

4. **राष्ट्रीयकरण का भय**—सन् 1947 से अनेक राज्यों में सड़क यात्रा और माल परिवहन का राष्ट्रीयकरण किया गया है। कभी-कभी तो राष्ट्रीयकरण करते समय मोटर मालिकों को बहुत कम समय पूर्व सूचना दी जाती है, उन्हें उचित क्षति-पूर्ति भी नहीं दी जाती है। अतः यात्री बस परिवहन के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी निरंतर भय ने प्राइवेट संचालकों को नई मोटरें खरीदने अथवा विस्तार कार्यक्रम लागू करने से रोका है।

5. **प्रशासकीय संगठन**—विभिन्न राज्यों में जो वर्तमान सड़क प्रशासन है वह विकासोन्मुख मोटर परिवहन के लिए उपयुक्त नहीं है।

6. **राज्यों में सहयोग का अभाव**—विभिन्न राज्यों में आपस में सड़क नीति के सम्बन्ध में सहयोग का अभाव है। राज्यों में कर लगाने के सम्बन्ध में अलग-अलग नियम है। कभी-कभी तो राज्यों में आपस में कर लगाने की प्रतिस्पर्धा लग जाती है।

7. **प्रतिस्पर्धी इकाइयाँ**—हमारे देश में मोटर संचालकों को प्रतिस्पर्धी इकाइयाँ बहुत ही छोटी-छोटी हैं। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में 89% मोटर मालिकों के पास केवल एक गाड़ी और 98 प्रतिशत के पास 1 से 4 तक गाड़ियाँ हैं। इतनी छोटी इकाइयों में न तो समुचित रूप से सेवा की ही व्यवस्था की जा सकती है और न उन्हें ठीक प्रकार से संगठित ही किया जा सकता है।

8. **लाइसेन्स देने में देरी**—यद्यपि सन् 1956 और सन् 1969 में मोटर वाहन कानून में आवश्यक संशोधन किए गए हैं, लेकिन फिर भी मोटरों के लिए लाइसेन्स देने में काफी विलम्ब होता है।

9. **साख सुविधाओं का अभाव**—वित्त का अभाव मोटर व्यवसाय की प्रगति में बहुत बड़ी बाधा है। साख सुविधाओं के अभाव में संचालक मोटरों की संख्या नहीं बढ़ा पाते और वैज्ञानिक ढंग से वर्कशाप नहीं सजा पाते।

10. **उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग न होना**—माँग में कमी होने के कारण वर्तमान कारखानों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है। सभी प्रमुख इकाइयों का उत्पादन निर्धारित क्षमता से कम है फलतः विनियोजित पूंजी पर पर्याप्त प्रतिफल नहीं मिलता।

11. **वाहन भार सीमाएँ**—मोटर ठेलों की भार सीमाएँ विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। कुछ राज्यों को छोड़कर दूसरी जगह भार-सीमा इतनी कम है कि मोटरों का संचालन व्यय एवं भाड़ा दरें अनुचित रूप से ऊँची हो जाती हैं।

12. **नियमन विधि**—यद्यपि मोटर वाहन अधिनियम के बहुत से दोषों को 1956 के संशोधनों द्वारा दूर करने के प्रयास किए गए हैं, तथापि कुछ संदेहात्मक

धाराएँ अभी भी विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त लाइसेन्स देने की कार्यविधि दोषपूर्ण और अमितव्ययी है।

13. **तेल की कीमत में वृद्धि**—विगत वर्षों से वाहनों में उपयोग होने वाले तेल की कीमत में लगातार वृद्धि होती रही है।

14. **कम काम**—मोटर परिवहन के समक्ष एक कठिनाई यह भी है कि उन्हें अब कम कार्य मिल रहा है। विद्युत की कमी से उद्योगों में उत्पादन की मात्रा कम हो गई है जब उत्पादन ही नहीं है तो माल ढोने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सड़क परिवहन के विकास के लिए सुझाव

सड़क परिवहन को अधिक सुविधाजनक बनाने की दृष्टि से निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं :

(1) सड़क कर को समाप्त करके सड़क परिवहन को अधिक द्रुतगामी बनाया जा सकता है।

(2) राष्ट्रीय मार्गों पर प्रत्येक 50 किलोमीटर के अन्तर से ऐसे पेट्रोल स्टेशनों की व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ सर्विस एवं मरम्मत का प्रबन्ध हो।

(3) प्रमुख शहरों में औद्योगिक केन्द्रों एवं पर्यटन स्थलों पर रात्रि विश्राम-गृह बनाए जाने चाहिए।

(4) विभिन्न क्षेत्रों में समानता लाने की दृष्टि से पिछड़े एवं पर्वतीय क्षेत्रों में सड़कों का तीव्र गति से विकास किया जाना चाहिए।

(5) पेट्रोल स्टेशनों पर चिकित्सा एवं पुलिस की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

नई सरकार ने ग्रामीण विकास का जो नया रास्ता अपनाने का निश्चय किया है उसके लिए अच्छी सड़कें पहली आवश्यकता है। जब तक हम गांवों को सड़कों से अच्छी तरह जोड़ नहीं पाते तब तक ग्रामीण विकास कार्यक्रम अधूरा ही रह जाएगा।

भारत में सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में अनेक राज्यों में सड़क परिवहन (बस) का या तो पूर्ण अथवा आंशिक राष्ट्रीयकरण हो गया है। किन्तु सड़क परिवहन के राष्ट्रीय-करण के विषय में आज भी वाद-विवाद चलता है।

हमारे देश में सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क—

(1) सड़क परिवहन सार्वजनिक उपयोगिता सेवा है, इसीलिए इस पर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिए।

(2) यह समाजवादी समाज की व्यवस्था की दिशा में सहायक होगा।

(3) राष्ट्रीय सुरक्षा के खतरे के समय महत्त्वपूर्ण सेवाएँ उपलब्ध हो सकेंगी।

(4) अलाभकारी मार्गों में भी परिवहन की सुविधा प्राप्त हो सकेगी।

(5) इससे सरकार को पर्याप्त अतिरिक्त आय प्राप्त होगी जिसे देश के आर्थिक विकास में लगाया जा सकता है।

(6) यातायात के विभिन्न साधनों में समन्वय की सम्भावना बढ़ जाएगी।

(7) कर्मचारियों की दशा में सुधार एवं उनके कल्याण में वृद्धि होगी।

(8) सड़कों के राष्ट्रीयकरण से यात्रियों को भी लाभ होगा क्योंकि (अ) राष्ट्रीय कृत मोटर सेवा अपेक्षाकृत अधिक सस्ती होती है। (ब) किराये भाड़े पूर्णतः निश्चित होते हैं। (स) भीड़-भाड़ की समस्या से मुक्ति मिलती है। (द) समय की नियमितता का लाभ भी हो जाता है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क—

(i) सरकारी परिवहन सेवाओं में लोच का अभाव रहता है, क्योंकि वह निर्धारित स्थानों पर ही सवारी लेते हैं और माल की बुकिंग इत्यादि भी नियमानुसार करते हैं।

(ii) व्यक्तिगत मोटर-वाहन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लग जाने के उपरांत राष्ट्रीयकरण अनावश्यक हो गया है।

(iii) सरकारी कर्मचारियों में लगन, सेवा-भाव व व्यावसायिक योग्यता का सामान्यतः अभाव पाया जाता है।

(iv) सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण राजनैतिक दलबन्दी के लिये एक नया क्षेत्र खोलता है।

(v) राज्य सरकारों के पास राष्ट्रीयकरण करने के लिए पर्याप्त धन का अभाव है।

(vi) सरकार और कर्मचारियों में सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रहते हैं।

(vii) प्रतिस्पर्धा के अभाव में हो सकता है कि सरकारी बसों में वे सुविधायें उपलब्ध न हों जो निजी चालकों द्वारा प्रदान की जाती हैं।

निष्कर्ष– वर्तमान परिस्थितियों में देश में समाजवादी समाज की स्थापना करने, रेलवे तथा सड़क के बीच प्रतियोगिता को समाप्त करने तथा सड़क यातायात के आयोजित विकास के लिए सड़क परिवहन का राष्ट्रीयकरण अति आवश्यक है। राष्ट्रीय कृत सड़क पर परिवहन सेवा के महत्त्व को अधिक बल देने के लिए सरकार को निम्न चार बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(i) सस्तापन, (ii) नियमितता, (iii) सुरक्षा तथा (iv) सुविधाएँ। वास्तव में भारत में मोटर सेवा में शनैः शनैः राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई है।

सन् 2000 में सड़क परिवहन की सम्भावित स्थिति

सन् 2000 में माल परिवहन की दृष्टि से माँग 5,00,000 मिलियन टन कि० मी० होगी जो रेल परिवहन से 1,00,000 मिलियन टन कि० मी० अधिक होगी। पक्की सड़कों की लम्बाई 13,25,000 कि० मी० और कच्ची सड़कों की लम्बाई 32,00,000 से 6,75,000 कि० मी० के मध्य होगी। राष्ट्रीय व राज्य मार्गों की लम्बाई पक्की सड़कों की लगभग 30% होगी।

सड़क यात्री परिवहन 4,00,000 से 8,00,000 मिलियन यात्री कि० मी० होने की सम्भावना है। (5% आय में वृद्धि पर) और इसे उचित रूप से 6,00,000 मिलियन कि० मि० माना जा सकता है। यदि रेल यात्री परिवहन सन् 2000 में 3,00,000 मिलियन यात्री कि० मी० हो तो सड़कों का कुल भाग कुल यात्री परिवहन की लगभग तो तिहाई ($\frac{3}{2}$) हो जायेगा।

बसों द्वारा एक वर्ष में औसतन रूप से 1·50 मिलियन यात्री कि० मी० ढोने की सम्भावना है। अतः सन् 2000 में 4,00,000 बसों की आवश्यकता होगी। सन् 1951 में यह औसत 6·7 यात्री कि० मी० तथा 1968-69 में 1·13 मिलियन टन यात्री कि० मी० था।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में सड़क यातायात के महत्त्व व विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। मोटर-यातायात के राष्ट्रीयकरण से क्या लाभ है ?

2. विगत वर्षों में सरकार ने सड़क यातायात के विकास के लिए क्या कदम उठाये हैं ?

———

34

परिवहन समन्वय
(Transport Co-ordination)

अर्थ—परिवहन समन्वय से आशय प्रत्येक परिवहन सेवा को केवल यह कार्य सुपुर्द करना है, जिसे वह दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक करने में समर्थ हो और जिसे करने से उसका उस क्षेत्र में अधिकतम विकास सम्भव हो। समन्वय से विविध परिवहन सेवाओं का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाता है और प्रत्येक पक्ष के उसी यातायात को ले जाने में हाथ डालता है जिसके ले जाने में वह निम्नतम भाड़े ले सकता है।

रेल सड़क प्रतियोगिता के कारण
(Causes Competition Between Rail Road)

भारत में रेल एवं सड़क परिवहन के मध्य प्रतियोगिता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—

(i) रेल परिवहन में असुविधायें—रेल द्वारा माल के यातायात में अनेक शिकायतें रहती हैं। इनमें माल बुक कराने में देरी, परिवहन में अधिक समय, चोरी से माल का नुकसान इत्यादि शामिल हैं। इसके विपरीत सड़क परिवहन में माल का यातायात तेजी से होता है। और सामान्यत: माल की चोरी का डर नहीं रहता।

(ii) समय सारणी में लोच—सड़कों की समय सारणी में रेलों की तुलना में अधिक लोच पाई जाती है जिससे सड़क परिवहन की प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है।

(iii) सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति—रेलों के सामाजिक उद्देश्यों के अधीन परिवहन सुविधाओं में अनेक रियायतें देती होती हैं जैसे खाद्यान्नों को रियायती दर पर ले जाना जब कि सड़क परिवहन द्वारा ऐसी सुविधाएँ न देने से उसकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है।

(iv) द्वार-द्वार सेवा—सड़क परिवहन द्वारा माल तथा यात्रियों को द्वार से द्वार सेवा की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं किन्तु रेल परिवहन में इस प्रकार की सुविधाओं का अभाव होता है। रेल परिवहन में माल को रेलवे स्टेशन तक पहुँचाना होता

है और वहीं से प्राप्त भी किया जाता है। इस कारण सड़क परिवहन रेलों की प्रतियोगिता में सफल हो जाता है।

(v) **मार्ग परिवर्तन की सुविधा**—सड़क परिवहन में मार्ग का परिवहन आसानी से किया जाता है किन्तु रेलें निश्चित मार्ग पर ही चलती हैं। अगर रेलों के मार्ग को परिवर्तन करना पड़े तो भारी पूंजीगति हानि सहन करनी पड़ती है।

(iv) **सड़क परिवहन की कम लागत**—रेलों की अपेक्षा सड़क परिवहन की कम लागत आती है, जिससे उसकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक रहती है साथ ही रेलवे को रेल मार्गों की सुरक्षा और मरम्मत पर भी व्यय करना पड़ता है जबकि सड़क परिवहन में यह व्यय मोटर-मालिकों को व्यय नहीं करना पड़ता है।

रेल एवं सड़क परिवहन में माल ढोने की लागत (प्रति टन)

(रुपयों में)

दूरी किलोमीटर	रेल परिवहन		सड़क परिवहन
	स्टीम इंजन	डीजल इंजन	
50	21·35	20·72	10·35
100	23·67	22·35	15·75
200	65·28	32·65	26·50
500	59·53	63·95	49·23
1000	102·86	92·85	87·58

समन्वय की आवश्यकता
(Need of Co-ordination)

निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर सड़क और रेल परिवहन में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता का समर्थन किया जाता है।

(i) समन्वय की प्रमुख लाभ अस्वस्थ प्रतियोगिता को दूर करना है। इससे विभिन्न साधनों के सम्बन्ध अच्छे हो जाते हैं और सभी को विकास के समान अवसर मिलते हैं।

(ii) देश में सुनियोजित परिवहन व्यवस्था को स्थापित करने के लिए परिवहन के दोनों साधनों में नियोजित समन्वय आवश्यक है।

(iii) रेल और सड़क परिवहन में प्रभावशाली समन्वय के बिना व्यर्थ का दोहरा परिवहन स्थापित होगा।

(iv) रेलों द्वारा आर्थिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु परिवहन सुविधाओं में अनेक रियायतें देनी होती हैं।

(v) यातायात का चालन छोटे-छोटे मार्ग से होने लगता है जिससे माल शीघ्रता से निर्दिष्ट स्थान पर समय से पहुँच जाता है, जिससे समय और लागत की बचत होती है।

भारत में परिवहन के लिए किए गए प्रयास

देश में रेल और सड़क परिवहन के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए जो प्रयास किए गए हैं, उन्हें हम मोटे तौर पर दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

1. स्वतन्त्रता के पूर्व किए गए प्रयास ।
2. स्वतन्त्रता के पश्चात् किए गए प्रयास ।

स्वतन्त्रता के पूर्व किए गए प्रयास

1. **मिचेल किर्कनेस समिति** (Mitchel Kirkness Commitee)—सर्वप्रथम सन् 1932 में मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्ति की गई । इस समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—(i) मोटर यातायात पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय, (ii) मोटर सेवा के लिए 50 मील का क्षेत्र नियत किया जाय, (iii) रेलवे को सड़कों पर अपनी मोटरें चलाने का अधिकार दिया जाए, (iv) परिवहन के प्रबन्ध प्रशासन हेतु एक केन्द्रीय यातायात मण्डल स्थापित किया जाय व (v) मोटर-स्वामियों के लिए कर देना और भाड़े व समय की सारणियाँ रखना अनिवार्य बनाया जाए ।

2. **रेलवे-सड़क सम्मेलन शिमला, 1933** (Rail-Road Conference)—सन् 1933 में शिमला में रेल-सड़क सम्मेलन हुआ, जिसमें अनुचित प्रतियोगिता को दूर करने और उनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कुछ प्रस्ताव पास किए गए । —सम्मेलन का यह मत था कि समन्वय की योजना प्रान्तों तथा केन्द्रों की सहमति से लागू की जाए और रेल एवं सड़क अधिकारियों में अधिक सहयोग एवं विवेकपूर्ण समन्वय होना चाहिए, ताकि अलाभकारी प्रतियोगिता समाप्त हो सके ।

3. **रेलवे अधिनियम 1933**—भारत सरकार ने रेलवे सड़क सम्मेलन के सुझावों को व्यावहारिक रूप देने के लिए रेलवे अधिनियम सन् 1933 पारित किया, जिसके अनुसार रेल कम्पनियों को समानान्तर सड़कों पर अपनी मोटरें चलाने का अधिकार दिया गया ।

4. **केन्द्रीय परिवहन परामर्शदात्री परिषद् 1935**—सन् 1935 में परिवहन मंत्री की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय यातायात परामर्शदात्री परिषद् की स्थापना की गई, जिसका प्रमुख कार्य परिवहन के समस्त साधनों को संयोजित करके ऐसी नीति प्रस्तुत करनी थी, जो प्रान्तों द्वारा अपनाई जा सके ।

5. सन् 1937 में एक **यातायात एवं संवहन-विभाग** की स्थापना की गई, जिसको रेलवे, डाक-तार विभाग तथा सड़क आदि का काम मिला । इससे समन्वय कार्य में कुछ सुविधा हुई ।

इतने प्रयास के पश्चात् भी रेल-सड़क प्रतियोगिता गम्भीर होती ही चली गई ।

6. **वेजउड समिति** (Wedgewood Committee 1937)—यह समिति सन् 1936 में रेल-सड़क परिवहन के समन्वय हेतु व्यावहारिक नीति का सुझाव देने के लिए नियुक्त की गई थी । इस समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे—(i) मोटर

परिवहन पर कठिन नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। (ii) मोटर-गाड़ियाँ चलाने से पूर्व लाइसेन्स लेना अनिवार्य बनाया जाए। (iii) टाइम-टेबुल और किराये निश्चित होने चाहिए। (iv) मोटर वाहनों का एक क्षेत्र सीमित किया जाना चाहिए। (v) सभी प्रान्तों की मोटरगाड़ियों की दर सम्बन्धी नीति में समता रहनी चाहिए। (ui) सार्वजनिक और प्राइवेट दोनों प्रकार का मोटरों पर एक से नियम लागू करने चाहिए। (vii) समानान्तर सड़कों पर रेल कम्पनियों की मोटरें अधिक संख्या में चलानी चाहिए।

7. **मोटरगाड़ी अधिनियम** (Motor Vehicles Act 1939)—सन् 1939 में वेजउड समिति की सिफारिशों के अनुसार मोटरगाड़ी अधिनियम पारित हुआ जिसमें सड़क परिवहन पर नियन्त्रण स्थापित करने की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(i) प्रादेशिक राज्यों की मोटरगाड़ियों के पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया।

(ii) प्रादेशिक एवं क्षेत्रीय अधिकारियों की नियुक्ति की गई।

(iii) मोटरगाड़ियों के लिए लाइसेन्स लेना अनिवार्य बना दिया।

(iv) प्रत्येक मोटरगाड़ी का तीसरे पक्ष के प्रति नुकसान के लिए बीमा कराना अनिवार्य कर दिया गया।

(v) मोटर-ड्राइवरों के लिए काम के 9 घण्टे प्रतिदिन तथा 45 घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किए गए।

(vi) मोटर वाहनों का संचालन क्षेत्र भी सीमित कर दिया गया।

इस अधिनियम द्वारा मोटर-परिवहन पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण हो गया। द्वितीय महायुद्ध काल में परिवहन के साधनों की अधिक माँग के कारण रेल-सड़क प्रतियोगिता समाप्त हो गई।

8. **परिवहन समन्वय की युद्धोत्तर योजना**—सन् 1945 में सरकार ने राज्य सरकारों को मोटर परिवहन के नियन्त्रण के लिए सिद्धान्त और व्यवहार संहिता (Code of principle and practices) लागू की, जिसके अनुसार मोटर व्यवस्था का क्षेत्र 75 मील तक सीमित कर दिया गया। 75 मील से अधिक दूर तक मोटरों द्वारा माल ले जाने की अनुमति उसी प्रकार दी जाती है जब रेलें माल ले जाने में असमर्थ हों।

(2) स्वतन्त्रता के पश्चात् किए गए प्रयास

1. 1950 में मोटर वाहन कराधान जाँच समिति की नियुक्ति की गई, जिसने रेल-सड़क समन्वय की समस्या पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि जब तक मोटर परिवहन पर कर भार अधिक है, तब तक रेल-सड़क प्रतियोगिता की कोई सम्भावना नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपभोक्ता को किसी भी साधन के प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

2. सन् 1953 में परिवहन आयोग अध्ययन दल की नियुक्ति की गई। इस

अध्ययन दल ने यह सुझाव दिया कि "परिवहन के समस्त साधनों के अनुपूरक और समुचित विकास के लिए एक दीर्घकालीन परिवहन नीति निश्चित की जानी चाहिए।"

3. सन् 1958 में सड़क परिवहन की जाँच के लिए मसानी समिति की नियुक्ति की गई। सड़क परिवहन [illegible] विकास के लिए इस समिति ने सिफारिश की कि (i) प्रत्येक राज्य में एक [illegible] मन्त्रालय की स्थापना होनी चाहिए। (ii) अन्तर्राज्यीय सड़क परिवहन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए (iii) अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग के पास यथेष्ट कर्मचारी होना चाहिए और लाइसेन्स देने की उसे अधिक शक्तियाँ मिलनी चाहिए। (iv) यातायात के ऐसे साधन को सहायता देना जो कार्यक्रम में नहीं है, राष्ट्र-हित के विरुद्ध है।

4. इन सुझावों के अनुसार सन् 1958 में अन्तर्राज्य मार्गों पर सड़क परिवहन सेवाओं के विकास, समन्वय एवं नियमन के लिए भारत सरकार द्वारा अन्तर्राज्यीय परिवहन आयोग की स्थापना की गई।

राष्ट्रीय परिवहन समन्वय नीति, 1966
(National Transport Co-ordination policy, 1966)

1. सन् 1959 में सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में रेल सड़क समन्वय समिति नियुक्ति की, जिसने सन् 1966 में अपनी अन्तरिम रिपोर्ट पेश की। समिति के विचार तथा सुझाव निम्नलिखित थे—

(क) **राष्ट्रीय स्तर पर संगठन**—समिति के विचार केन्द्र में किसी स्थायी संगठन की आवश्यकता है जो स्वतन्त्र रूप में समन्वय समस्याओं का अध्ययन कर सके, लागत सम्बन्धी आँकड़े संकलित कर सके तथा महत्त्वपूर्ण निर्णय ले सके और उस निर्णय के अनुसार काम कर सके।

(ख) **राज्य स्तरीय संगठन**—राज्यों के अन्तर्गत परिवहन समन्वय की समस्याओं पर विचार करने का काम वर्तमान राज्य परिवहन अधिकारी (State Transport Authority) के सुपुर्द किया जाना चाहिए। अन्तर्राज्य परिवहन आयोग द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार यह अधिकारी कार्य करेंगे।

(ग) **सलाहकार परिवहन बोर्ड**—प्रत्येक राज्य में विशेष योजनाएँ बनाने के लिए राज्य सलाहकार परिवहन बोर्ड (State Advisory Transport Board) होना चाहिए।

(घ) **समन्वय के उचित मापदण्डों का निर्धारण**—परिवहन के समन्वय के लिए परिवहन साधनों के मध्य ट्राफिक का बँटवारा किए जाने के लिए ऐसे मापदण्डों का निर्धारण किया जाना चाहिए, जिससे यह बँटवारा उचित रूप से हो सके।

(च) **परिवहन के विभिन्न साधनों का समन्वित विकास**—यदि परिवहन प्रणाली को एक माना जाता है तो परिवहन के विभिन्न साधनों का एक दूसरे के पूरक के रूप में इस अनुपात में विकास करना चाहिए कि समाज की परिवहन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति न्यूनतम लागत पर हो सके।

(छ) परिवहन समन्वय परिषद् की स्थापना—परिवहन के विभिन्न साधनों में समन्वय के लिए 'परिवहन समन्वय परिषद्' (Council for Transport Co-ordination) का गठन किया जाना चाहिए।

(ज) परिवहन साधनों का समंक [illegible][illegible]वहन के अनेक साधनों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाओं और समंकों क[illegible]रण तथा विश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे परिवहन के [illegible] साधनों की माँग इत्यादि बातों पर नियमित ध्यान रखा जा सके।

(झ) सड़क परिवहन के विकास सम्बन्धी सुझाव—(1) सड़क यातायात को प्रोत्साहित करने के लिए इन्हें लाइसेन्स प्रदान करने में अधिक उदारता से काम लेना चाहिए और इन्हें सम्पूर्ण राज्य के लिए लाइसेन्स प्रदान करना चाहिए।

2. सड़क परिवहन का विकास एक सुसंगठित उद्योग के रूप में किया जाना चाहिए।

3. सड़क परिवहन के नियमों को सरल किया जाना चाहिए तथा उनमें एक-रूपता लानी चाहिए।

पंचवर्षीय योजनाओं में रेल-सड़क समन्वय

योजना आयोग ने भी यातायात के विभिन्न साधनों के बीच समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता तथा महत्त्व का अनुभव करते हुए प्रथम योजना में कहा था, "यातायात के विभिन्न साधनों के विकास को, अन्य योजनाओं से पृथक् करके नहीं सोचा जा सकता। उन्हें विभिन्न कृषि तथा औद्योगिक योजनाओं की आवश्यकता के अनुकूल ही बनाना चाहिए और उनको इस प्रकार निर्मित करना चाहिए कि एक प्रकार के परिवहन का सम्बन्ध दूसरे से हो और प्रत्येक का विकास उनके क्षेत्र में प्रभावपूर्ण सेवा के लिए हो।" अतः प्रथम योजना में परिवहन सुविधाओं के विकास के लिए वर्गीकृत कार्यक्रम बनाए गए।

द्वितीय योजना में भी विभिन्न प्रकार के परिवहन साधनों में समन्वय की नीति को और अधिक आगे बढ़ाया गया। इसका लक्ष्य, विभिन्न परिवहन साधनों का सन्तुलित तथा एक साथ विकास करना था और प्रत्येक का क्षेत्र निर्धारित करके उन्हें संगठित करना था।

तीसरी योजना में परिवहन नीति एवं समन्वय समिति ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में समन्वय सम्बन्धी उपयोगी सुझाव दिए।

चौथी एवं पाँचवीं योजना में सर्वाधिक राशि रेल परिवहन के लिए नियत की गई। तत्पश्चात् सड़क परिवहन का नम्बर है। ग्राम मार्गों के लिए राज्य सरकारों ने जिम्मेदारी ग्रहण की है। स्पष्ट है कि योजनावधि में माल व यात्री ट्रैफिक बहुत बढ़ जाएगा। आन्तरिक एवं तटीय जल-परिवहन तथा वायु-परिवहन से इस दिशा में अधिक सहायता न मिल सकेगी। अतः मुख्य जिम्मेदारी रेल एवं सड़क परिवहन पर ही आ गई है।

छठी योजना में परिवहन-साधनों की प्रबन्ध व्यवस्था में सुधार किया जाएगा उनकी कार्यक्षमता बढ़ायी जाएगा एवं लागत व्ययों को घटाने का प्रयास किया जाएगा।

समन्वय के लिए व्यावहारिक योजना

आजकल हमारे देश में निम्नलिखित संस्थाएँ परिवहन समन्वय का कार्य करती हैं—

(1) **अन्तर राज्य परिवहन आयोग**—यह संस्था अन्तर्राज्यीय मार्गों में सामंजस्य स्थापित करती है तथा उन्हें नियन्त्रित करने के लिए कानून बनाती है तथा सड़क परिवहन सेवाओं का विकास करती है। इस आयोग ने पड़ोसी राज्यों के बीच समझौते कराके जोनल परमिट योजना प्रारम्भ की है।

(2) **राष्ट्रीय अनुज्ञा योजना**—इस योजना को जुलाई 1975 से शुरू किया गया है जिसके अन्तर्गत मोटर ट्रक को लाइसेन्स दिए जाने लगे हैं। जब एक जोन से दूसरे जोन के बीच माल का यातायात बेरोक-टोक होने लगा है।

(3) **परिवहन विकास परिषद्**—यह परिषद् केन्द्रीय सरकार को सड़कों, सड़क परिवहन एवं जल मार्गों के विकास एवं समन्वय के सम्बन्ध में नीतियाँ बनाती है। परिषद् में एक स्थायी समिति भी है, जो समन्वय एवं विकास सम्बन्धी समस्याओं को विचार-विमर्श करके उसे उचित सलाह देती है।

(4) **राज्य सड़क परिवहन उपक्रम परिषद्**—इसका गठन 1973 में हुआ। इसका उद्देश्य राज्यों की सरकारी सड़क सेवाओं के बीच विचार-विमर्श के अवसर प्रदान करता है। परिषद् के तत्वावधान में विविध परिवहन आयुक्त वर्ष में एक बार मिलते हैं तथा समान हित की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

समन्वय हेतु व्यावहारिक योजना

देश में परिवहन समन्वय के लिए एक व्यावहारिक योजना के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं। (1) जहाँ जनसंख्या का 80% भाग रहता है, वहाँ विशेष रूप से सड़कों के विकास को और बड़े उद्योगों के क्षेत्रों में रेल परिवहन को प्रधानता दी जानी चाहिये। (2) यद्यपि रेलें आधुनिक परिवहन व्यवस्था का आधार हैं परन्तु ऐसा होते हुए भी अन्य साधनों का विकास किया जाना चाहिये। (3) यात्री परिवहन रेलों से मोटरों की ओर हटने के कारण रेलों द्वारा माल ढुलाई की क्षमता में पर्याप्त वृद्धि की जानी चाहिये। (4) किराये-भाड़े की दरें उचित सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए और इनमें समन्वय रखने की जिम्मेदारी कोई राष्ट्रीय संस्था उठाए। (5) 200 किलोमीटर तक के परिवहन के लिये सड़क को प्रोत्साहित करना चाहिये। (6) परिवहन समन्वय की योजना बनाते और लागू करते समय उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखना चाहिये। (7) रेल सड़क समन्वय स्थापित करने के लिए विशिष्ट यातायात के प्रवाहों (Specific flow of traffic) की लागत का अध्ययन किया जाना चाहिये। (8) योजनाओं में विनियोग की नीतियों के जरिये समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

(9) पिछड़े हुए क्षेत्रों व देहातों के आर्थिक विकास के लिए सड़कों के निर्माण व सड़क-परिवहन के विकास पर विशेष ध्यान देना उचित होगा। (10) एकीकरण की प्रक्रिया तीन दिशाओं में फैलायी जा सकती है—(अ) जहाँ परिवहन का काम विभागीय तौर पर चलाया जाता है, वहाँ इसे निगम या कंपनियों में परिवर्तित कर देना चाहिए जिससे यह पूर्णतया व्यापारिक दिशाओं में चलाया जा सके। (ब) केन्द्रीय व राज्य निगमों के कार्यों को भारतीय रेलवे के सहयोग से इतना विकसित कर लेना चाहिए कि उनको यातायात में महत्त्वपूर्ण अंश मिल सके। (स) भारतीय रेलवे व राज्य सड़क-परिवहन निगमों व अन्तर्राज्यीय मार्गों के लिये बनाये गये केन्द्रीय निगम के सहयोग से यात्री व माल के संयुक्त रेल-सड़क परिवहन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

भारत जैसे विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था के लिये परिवहन समन्वय अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है, ताकि परिवहन सुविधाओं के विस्तार के साथ-साथ एक स्थान पर दोहरी परिवहन सुविधाओं का विस्तार न हो और सीमित साधनों का दुरुपयोग भी न हो। परिवहन के आयोजित, समन्वित व एकीकृत विकास से आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को तेज करने में आसानी होगी। अतः भारत में परिवहन विकास समन्वित एवं पूर्व नियोजित योजना के अनुसार किया जाना चाहिये और उसका संचालन जनता के समन्वय हित में होना चाहिये।

राष्ट्रीय परिवहन समिति
(National Transport Policy)

छठवीं पंचवर्षीय योजना में जो प्राथमिकताएँ निश्चित की गयी हैं उनको किस प्रकार से प्राप्त किया जा सके इस उद्देश्य से योजना आयोग ने 28 अप्रैल 1978 को भूतपूर्व मंत्रिमंडल सचिव श्री बी० डी० पाण्डेय की अध्यक्षता में एक समिति गठित की हैं जिससे कि राष्ट्रीय परिवहन नीति बनायी जा सके। इस समिति के अन्य सदस्य थे—श्री पी० सी० लाल, श्री जी० पी० वारियर, डा० एफ० पी० अन्तिया, डा० एम० क्यू० डालवी व परिवहन सलाहकार योजना आयोग।

समिति द्वारा दिये गये सुझाव इस प्रकार हैं—(i) चुंगी कर समाप्त किया जाय जिससे कि समय की बचत हो (ii) राष्ट्रीय व क्षेत्रीय परमिटों वालों से कर उनके राज्य में ही लिया जाय तथा इनके करों में भी विभिन्नता होनी चाहिए (iii) परिवहन के लिए योजनाओं में अधिक राशि दी जाय (iv) एक राष्ट्रीय परिवहन योजना बनायी जाय (v) एक राष्ट्रीय परिवहन आयोग बनाया जाय जिससे कि परिवहन के सभी साधनों, राज्यों व केन्द्र में समन्वय स्थापित किया जा सके। (vi) उत्तरी पूर्वी दोनों क्षेत्रों में परिवहन के लिए सहायता दी जाय। (vii) राष्ट्रीय व क्षेत्रीय परमिटों की संख्या बढ़ायी जाय।

परीक्षा प्रश्न

1. भारत में परिवहन के समन्वय तथा नियोजन में उठने वाली कठिनाइयों की

संक्षिप्त विवेचना कीजिये तथा परिवहन के भिन्न-भिन्न साधनों के मध्य उत्तम समन्वय करने हेतु सुझाव दीजिये ।

2. भारत में रेल-सड़क स्पर्धा तथा समन्वय पर एक निबन्ध लिखिये ।

3. भारत में रेल-सड़क समन्वय की स्थापना के लिए क्या प्रयत्न किए गए हैं और उनमें क्या सफलता मिली है ? इस दिशा में अपने व्यावहारिक सुझाव दीजिए ।

35

भारत में जल परिवहन

(Water Transport in India)

परिवहन के विभिन्न साधनों में जल परिवहन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन समय में जब रेल और मोटर विकास नहीं हुआ था, उस समय जल यातायात ही प्रमुख साधन था। भारत में प्राचीन काल से ही जल मार्गों का प्रयोग होता रहा है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से जल परिवहन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) आंतरिक जलमार्ग (2) समुद्री जलमार्ग।

1. **आंतरिक जलमार्ग**—आंतरिक जलमार्ग में देश के आंतरिक भागों में नदियाँ एवं नहरों द्वारा किए जाने वाले परिवहन को सम्मिलित किया जाता है। प्राचीन भारत में देशी व्यापार के लिए आंतरिक जलमार्गों का विशेष महत्त्व था। जब रेलें नहीं थीं तब अधिकांश व्यापार और मनुष्यों का आवागमन नदियों द्वारा ही होता था। किन्तु आधुनिक युग में रेल मार्गों और सड़कों का विकास हो जाने के कारण आंतरिक जल मार्गों का महत्त्व घट गया है।

भारत में प्रधान आंतरिक जलमार्गों को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है (1) नदी परिवहन और (2) नहर परिवहन।

1. **नदी परिवहन**—उत्तरी भारत की नदियाँ अधिकांश रूप से वर्ष भर जल से परिपूर्ण रहती हैं जिससे इनमें नावें चलाई जा सकती हैं। इसके विपरीत दक्षिण भारत की नदियाँ पठारी भूमि पर बहने के कारण नाव चलाने योग्य नहीं हैं। भारत में इस समय निम्नलिखित नदियों में स्टीमर चलाए जा सकते हैं—

(i) **ब्रह्मपुत्र नदी**—ब्रह्मपुत्र नदी में मुहाने से लेकर डिब्रूगढ़ तक 1300 कि० मी० तक जहाज चलते हैं। बंगाल और असम में यातायात की दृष्टि से इस नदी का बहुत ही महत्त्व है। इसके द्वारा जूट, चावल, वनों की लकड़ी, चाय आदि ढोयी जाती है।

(ii) **गंगा नदी**—गङ्गा नदी में पटना तक स्टीमर चला करते हैं। गङ्गा की सहायक नदी घाघरा में भी फैजाबाद तक स्टीमर चलाए जाते हैं।

(iii) **यमुना नदी**—यमुना नदी में आगरा तक नावें चला करती थीं किन्तु वर्तमान में इसका महत्त्व नहीं रह गया है।

(iv) **हुगली नदी**—हुगली नदी परिवहन का महत्त्वपूर्ण साधन है। इस नदी में अब भी नदिया नामक स्थान तक नावें चलायी जा सकती हैं। वर्षा ऋतु में स्टीमर भी चल सकते हैं।

(v) **भागीरथी नदी**—वर्षा ऋतु में गङ्गा नदी में कलकत्ता से केवल 288 कि० मी० तक स्टीमर चलाये जा सकते हैं।

2. नहर परिवहन—भारत में नाव चलाने योग्य नहरों का बहुत ही अभाव है। हमारे देश में अधिकांश नहरें सिंचाई के लिए बनायी गयी हैं जो नगरों से दूर खेतों में होकर जाती हैं। भारत में नाव चलाने योग्य नहरों की लम्बाई 24140 कि० मी० है। जल परिवहन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहरें इस प्रकार हैं—

(i) गङ्गा की ऊपरी और निचली नहरें (उत्तर प्रदेश)
(ii) उड़ीसा तट की नहरें (उड़ीसा)
(iii) कर्नूल कड़प्पा नहर (तमिलनाडु)
(iv) बकिंघम नहर (तमिलनाडु)
(v) सरहिन्द नहर (पंजाब व हरियाणा)
(vi) सर्कुलर नहर (पश्चिमी बंगाल)
(vii) गोदावरी व कृष्णा डेल्टा की नहरें
(viii) पूर्वी नहर (पश्चिमी बंगाल)

योजनाकाल में आन्तरिक जल परिवहन की प्रगति

प्रथम योजना काल—(1952) में गङ्गा एवं ब्रह्मपुत्र नदियों में अन्तर्देशीय जलमार्ग के विकास का पता लगाने के लिए गङ्गा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड की स्थापना की गई जो केन्द्रीय सरकार बिहार उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल व असम की सरकारों द्वारा मिलकर बनाया गया था।

द्वितीय योजना काल में केरल वाडगरा से माही तक नहर का विस्तार व दामोदर घाटी में नौ-परिवहन सम्बन्धी कार्यों को शामिल किया गया।

तृतीय योजना काल में भारत सरकार ने अन्तर्देशीय जल परिवहन निदेशालय (Inland water transport directorate) की स्थापना की। 1967 में गङ्गा-ब्रह्मपुत्र जल परिवहन बोर्ड इस निदेशालय में मिला दिया गया तथा इसी वर्ष केन्द्रीय अन्तर्देशीय जल परिवहन निगम (Central Inland water transport corporation) की स्थापना की गयी।

चतुर्थ योजना काल में आन्तरिक जल परिवहन समिति (Inland water transport committee) नियुक्त की गयी जिसने आन्तरिक जल परिवहन के विकास पर 27·3 करोड़ रुपये व्यय करने की सिफारिश की। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर अब तक केन्द्रीय सरकार द्वारा 6 करोड़ रुपये की 20 योजनाएँ स्वीकार की जा चुकी हैं।

प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में एक-एक करोड़ रुपये, तृतीय योजना में 2·52 करोड़ रुपये, चतुर्थ योजना में 11 करोड़ रुपये व पाँचवीं योजना में 10·8 करोड़ रुपये आन्तरिक जल परिवहन विकास पर व्यय हुए हैं।

भारत में आंतरिक जलपरिवहन की अवनति के कारण

(i) नदियों में जल की मात्रा का कम होना—प्राचीन काल में गङ्गा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र नदियाँ नाव चलाने के लिए प्रसिद्ध थीं। किन्तु इनके किनारे पर जंगलों को नष्ट कर दिये जाने के कारण भू-संरक्षण के प्रभाव से इन नदियों में कहीं-कहीं पर रेत के टीले बन गये जिसके कारण जल स्तर में भारी कमी आयी है।

(ii) शासन की एकपक्षीय नीति—आंतरिक जल परिवहन की अपेक्षा रेलों से अधिक लाभ हैं इसलिए जल परिवहन रेलों से कभी भी प्रतियोगिता नहीं कर सकता। भारत में ब्रिटिश काल में रेलों का काफी पक्ष लिया गया जिसके कारण भारत के आंतरिक जलमार्गों की अवनति होती चली गई।

(iii) सिंचाई के लिए जल का उपयोग—नदियों और नहरों का पानी अब सिंचाई के लिए बहुत अधिक मात्रा में निकाल लिया जाता है जिसके कारण जल-स्तर अपर्याप्त रहता है और नावें सरलतापूर्वक नहीं चलाई जा सकतीं।

(iv) संगठन का अभाव—रेल व सड़क परिवहन की तरह देश के आंतरिक जल परिवहन का कोई संगठन नहीं है जिसके कारण इस परिवहन का विकास नहीं हो सका।

आंतरिक जलपरिवहन के विकास के लिए सुझाव

भीतरी जल परिवहन के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(i) शक्ति चालित नौकाएँ—शक्ति चालित नौकाओं के प्रयोग में वृद्धि से परिवहन की गति में वृद्धि हो जायेगी।

(ii) सहकारी संगठनों का निर्माण—नाविकों के सहकारी संगठन बनाये जाने चाहिए, जिससे जनता में इनके प्रति विकास की भावना जागृत हो सके।

(iii) घाट व बन्दरगाह का निर्माण—राज्य सरकारों को पक्के घाट व बन्दरगाह बनवाना चाहिए और इन्हें सड़कों द्वारा शहरों और नगरों से जोड़ा जाना चाहिए।

(iv) किराये का निर्धारण—राज्य सरकारों को जल यातायात के किराये का निर्धारण करना चाहिए।

(v) प्रशिक्षण—ऐसे नाविक जिन्हें नाव चलाने का अच्छा ज्ञान न हो उन्हें ही नाव चलाने का अधिकार प्रदान करना चाहिए।

(vi) निश्चित समय सारिणी—जिन क्षेत्रों में जल परिवहन अधिकांश रूप से

सम्भव है वहाँ रेल-मोटर परिवहन सारिणी के अनुसार नौका चालकों को भी समय-सारिणी निश्चित करना चाहिए।

भारत में जहाजरानी
(Shipping in India)

संक्षिप्त इतिहास—प्राचीन काल में भारत का समुद्री यातायात उन्नति के चरम शिखर पर था और उसे 'पूर्वी सागरों की रानी' का पद प्राप्त था। डॉ० राधा कमल मुखर्जी की दृष्टि में 'पूरी तीस शताब्दी तक भारत की स्थिति पुरानी दुनिया के मध्य में उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण रही, जैसे मनुष्य के शरीर में हृदय की' भारत संसार के सामुद्रिक राष्ट्रों में अग्रणी देश और महान् सामुद्रिक शक्ति बना रहा। अपनी जहाजरानी के कारण भारत का सम्बन्ध रोम, मिस्र, यूनान जैसी प्राचीन सभ्यताओं के साथ था। मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जहाजरानी की विषद चर्चा मिलती है। भोज नरपति नाम के संस्कृत विद्वान् की पुस्तक 'युक्ति कल्पतरु' में भारत के जहाज-निर्माण उद्योग के बारे में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। मुगल काल में 'आईने-अकबरी' से पता चलता है कि केवल सिन्धु नदी के व्यापार में ही 40,000 जहाज लगे हुए थे। सदियों तक समुद्री मार्गों पर भारत का प्रभुत्व बना रहा, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से इस प्रसिद्ध भारतीय उद्योग का पतन प्रारम्भ हुआ।

भारतीय जहाजरानी का पतन—भारतीय जहाजरानी के पतन का प्रमुख कारण विदेशी प्रतियोगिता तथा ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण नीति थी। महात्मा गांधी के शब्दों में, "भारतीय जहाजरानी को इसलिए नष्ट होना पड़ा कि ब्रिटिश जहाजरानी पनप सके।" भारत में अंग्रेजों के आने पर स्टीमशिप और जहाज-निर्माण में इस्पात का प्रयोग होने के कारण भारतीय जहाजरानी उद्योग को बहुत धक्का लगा। विदेशी शासन द्वारा भारतीय जहाजरानी पर लगाए गए प्रतिबन्धक कानून ने तो इस उद्योग का गला ही घोंट दिया। संक्षेप में, भारतीय जहाजरानी के पतन के कारण इस प्रकार थे—(i) इस्पात के जहाजों का प्रचलन। (ii) विदेशी सरकार की विद्वेषपूर्ण नीति। (iii) अंग्रेजी व्यापारियों की ईर्ष्या। (iv) अंग्रेजी जहाज कम्पनियों द्वारा भाड़े में रियायत, भुगतान की सरल प्रणाली तथा अन्य सुविधाओं द्वारा प्रतियोगिता करना। (v) किराए भाड़े की लड़ाई। (vi) भारतीय जहाज की धीमी गति। अतः विदेशी सरकार की उदासीनता तथा विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता के कारण भारतीय जहाजरानी का विकास न हो सका। भारतीय जहाज-व्यवसाय का पतन इस सीमा तक हुआ कि वर्तमान समय में भारत की कुल जहाजरानी शक्ति समस्त विश्व की जहाजरानी शक्ति का केवल 2% भाग है।

भारत में आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ—भारत में आधुनिक जहाजरानी का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1920 में हुआ; जबकि ब्रिटिश जहाजी एकाधिकार का मुकाबला करने के लिए सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना की गई। परन्तु इस कम्पनी की स्थापना के पूर्व भी इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए गए थे, जैसे सन्

1893 में टाटा ने चीन और जापान से सूत और रुई का व्यापार करने के लिए जहाज कम्पनी प्रारम्भ की थी। सन् 1906 में चिदम्बरम् पिल्ले ने तूतीकोरन में स्वदेशी जहाजी कम्पनी की स्थापना की, सन् 1905 में बङ्गाल स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ने चटगाँव-रंगून मार्ग पर अपनी जहाजी-सेवा प्रारम्भ की। सन् 1927 तक 33 भारतीय जहाजी कम्पनियाँ बनी थीं, परन्तु केवल चार ही शेष रहीं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत में राष्ट्रीय भावनाएँ उभरने लगीं फलतः भारतीय जहाजी व्यवसाय का भारतीयकरण करने की जनता की माँग काफी तीव्र हो गई। बढ़ते हुए विरोध के कारण सन् 1923 में सरकार ने हैडखाम की अध्यक्षता में **भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ा समिति** (Indian Mercantile Marine Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट मार्च सन् 1924 में प्रस्तुत की, जिसमें निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें थीं—

(1) भारतीय जहाजों के लिए तटीय व्यापार लाइसेन्स प्रणाली द्वारा सुरक्षित किया जाये।

(2) सरकार किसी एक ब्रिटिश मार्ग को खरीदकर उसे किसी मान्यता प्राप्त भारतीय कम्पनी को सौंप दे।

(3) भारतीयों को प्रशिक्षण देने के लिए एक प्रशिक्षण-पोत (Training Ship) की स्थापना की जाय।

(4) विदेशी जहाजों पर भी प्रशिक्षित भारतीयों को नौकरी दी जाये।

यद्यपि समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण थीं परन्तु सरकार ने इन्हें कार्यान्वित करने के लिए कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। दो वर्ष पश्चात् केवल प्रशिक्षण सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार किया। तदनुरूप सन् 1927 में भारतीय व्यापारिक प्रशिक्षण पोत 'डफरिन' का सङ्गठन किया गया।

सन् 1928 में **श्री साराभाई नेमीचन्द हाजी** ने विधान सभा में भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिये सुरक्षित करने के लिये एक बिल पेश किया। इस पर असेम्बली के अन्दर तीव्र संघर्ष हुआ। फलतः इस बिल पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।

वायसराय लार्ड इरविन ने जनवरी सन् 1930 में **शिपिंग कान्फ्रेंस** का आयोजन किया परन्तु ब्रिटिश कम्पनियों से असहयोग के कारण यह सम्मेलन असफल रहा।

सन् 1935 में भारत सरकार अधिनियम ने भारतीय असेम्बली से भारतीय जहाजरानी के विकास की शक्ति छीन ली।

सन् 1937 में सर **अब्दुल हलीम गजनवी** ने जहाजी क्षेत्र में अनुचित प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए बिल प्रस्तुत किया। इस बिल को जनता का अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। सरकार ने भारतीय व्यापारिक जहाजी व्यवसाय को विकसित करने के इरादे की घोषणा की और उसके लिए एक अलग विभाग बनाया।

द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल—द्वितीय विश्वयुद्ध में सरकार को यह आभास हुआ कि भारतीय कम्पनी को परिवहन के क्षेत्र में समुचित भाग प्रदान किया

जाना चाहिये। अतः सन् 1941 में सिंधिया कम्पनी को विशाखापट्टनम में जहाज निर्माण करने का कारखाना स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया गया और जहाजी परिवहन की समस्या पर विचार करने के लिये नवम्बर सन् 1945 में सर सी० पी० राजस्वामी अय्यर के सभापतित्व में **पोतचालन पुर्ननिर्माण नीति उपसमिति** (Reconstruction Policy Sub-committec on Shipping) की नियुक्ति की गई। इस समिति ने सन् 1947 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने सरकार की भूतपूर्व नीति की निन्दा करते हुए कहा, 'भारतीय जहाजरानी का इतिहास वचन-भंग अपूर्ण आश्वासनों और अवसरों की उपेक्षा की दुःखद कहानी है।' समिति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे—

(1) भारतीय जहाजरानी की परिभाषा में परिवर्तन किया जाये तथा केवल भारत के नागरिकों के स्वामित्व, नियन्त्रण और प्रबन्ध-प्रणाली वाली जहाज कम्पनी को भारतीय माना जाये।

(2) भारत को सब मिलाकर 20 लाख टन वजन के जहाजों की आवश्यकता है। आगामी 5-7 वर्षों में इस लक्ष्य की पूर्ति की जानी चाहिये।

(3) देशों के विदेशी व्यापार में भाग लेने वाली जहाजी कम्पनियों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(4) आँकड़ों के प्रकाशन सम्बन्धी दोष को दूर किया जाए।

(5) पोर्ट ट्रस्ट का प्रबन्ध वाणिज्य विभाग के अधीन होना चाहिए।

(6) उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए व्यापारियों, जहाजी कम्पनियों के प्रतिनिधियों तथा सरकार द्वारा एक जहाजी बोर्ड स्थापित किया जाना चाहिए, जिसे लाइसेन्स देने, आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में सुझाव देने तथा एकाधिकार से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने का अधिकार होना चाहिए।

भारत सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया। 3 नवम्बर सन् 1947 को बम्बई में **श्री सी० एच० भाभा** के सभापति में एक **जहाजी-सम्मेलन** आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि सरकार जहाजी उद्योगों की समस्याओं के समाधान के कार्य में पूर्ण सहयोग तथा यथाशक्ति आर्थिक सहायता देगी। इसमें यह भी निश्चित किया गया कि तीन जहाजी निगम स्थापित किये जाएँ, जिनमें से प्रत्येक की पूंजी 10 करोड़ रुपये हो।

सर्वप्रथम मार्च सन् 1950 में **पूर्वी जहाजी निगम** (Eastern Shipping Corporation) स्थापित किया गया। इसका प्रबन्ध सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी करती थी। 15 अगस्त सन् 1956 को भारत सरकार ने इस निगम का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। दूसरे निगम, **पश्चिमी जहाजी निगम** (Western Shipping Corporation) की स्थापना जून सन् 1956 में की गई। 2 अक्टूबर, सन् 1961 को इन दोनों निगमों को मिलाकर एक भारतीय जहाजी निगम (Shipping Corporation of India) की स्थापना की गई, जिसकी अधिकृत पूंजी 35 करोड़ रुपये थी। इसके पास 63 जहाज हैं। इसके माल जहाज भारत-आस्ट्रेलिया, भारत-सुदूर

पूर्व-जापान, भारत-काला सागर, भारत का पश्चिमी तट-पाकिस्तान-जापान, भारत-पाकिस्तान-ब्रिटेन यूरोप, भारत-पोलैण्ड, भारत संयुक्त अरब गणराज्य और भारत-अमेरिका-कनाडा जलमार्गों पर चलते हैं। सवारी और माल जहाज बम्बई-पूर्वी अफ्रीका, मद्रास-सिंगापुर जलमार्गों पर चलते हैं। इस निगम की सहायक कम्पनी मुगल लाइन लि० है।

पंचवर्षीय योजनाओं में जहाजरानी

(1) **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—इस योजना के प्रारम्भ (अर्थात् 1950-51) में देश के पास 3·91 लाख टन के जहाज थे। प्रथम योजना काल के अन्त में जहाजों का कुल वजन 4.80 लाख टन था। इस काल में 18·7 करोड़ रुपये जहाजों के विकास पर व्यय किए गए। बन्दरगाहों के विकास पर 27·6 करोड़ रुपये व्यय किए गए। जिससे कांदला का नया बन्दरगाह बना तथा बम्बई, कलकत्ता व अन्य बन्दरगाहों का विकास किया गया। इस योजना में प्रकाश-स्तम्भों के विस्तार और विकास पर 2 करोड़ रुपये खर्च किए गए। जहाजी कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ बढ़ाई गईं।

(2) **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—द्वितीय योजना में जहाजी सेवा पर 52·7 करोड़ रुपए खर्च किए गए। इस योजना अवधि में निर्धारित लक्ष्य प्राप्त हो गए तथा भारत के कुल सामुद्रिक व्यापार का 8 से 9 प्रतिशत भाग भारतीय जहाजी कम्पनियों द्वारा किया जाने लगा। योजनाकाल में जहाजी क्षमता 8·6 लाख टन हो गई।

द्वितीय योजनाकाल में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए, जैसे—(1) जहाजी **विकास** कोष की स्थापना की गई, जिससे जहाजी कम्पनियों को अतिरिक्त जहाज क्रय करने हेतु दिए जाते हैं। (2) जून सन् 1956 में **पश्चिम पोत निगम** की स्थापना की गई। (3) सन् 1959 में **मर्चेन्ट नेवी ट्रेनिंग बोर्ड** की स्थापना, सरकार को जहाजी प्रशिक्षण के विषय में परामर्श देने के लिए तथा प्रशिक्षण की योजनाओं की देखरेख करने के लिए की गई। (4) बड़े-बड़े बन्दरगाहों के पुरस्थापना तथा आधुनिकीकरण की व्यवस्था की गई।

(3) **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजनावधि में जहाजी क्षमता 15·4 लाख टन हो गई, जबकि लक्ष्य 104 लाख टन का ही था। इस योजना में कलकत्ता के बन्दरगाह में भीड़-भाड़ कम करने के उद्देश्य से हल्दिया में सहायक बन्दरगाह बनाने तथा फरक्का में गंगा पर एक बाँध बनाने का कार्यक्रम रखा गया। बम्बई बन्दरगाह के सुधार की व्यवस्था की गई। बड़े बन्दरगाहों की माल उठाने की क्षमता 5·7 करोड़ टन और मध्यम तथा छोटे बन्दरगाहों की क्षमता 90 लाख टन हो गई। इस योजनावधि में जहाजी सेवा पर 40 करोड़ रुपए व्यय हुए तथा प्रकाश-गृहों के विकास तथा विस्तार के लिए 4 करोड़ रुपए व्यय किये गये।

तीन वार्षिक योजनाओं—(1966-69) में जहाजरानी के विकास पर 25·4 करोड़ रुपये और बन्दरगाहों के विकास पर 55·3 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इन

योजनाओं के अन्त तक भारतीय जहाजरानी की क्षमता 21 लाख टन से ऊपर पहुँच चुकी थी।

चतुर्थ योजना में जहाजी क्षमता का लक्ष्य 35 लाख टन निर्धारित किया गया। जहाजों को खरीदने के लिए 135 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। इस योजना में हल्दिया गोदी योजना, बम्बई में गोदी विस्तार योजना, मद्रास के बाहरी बन्दरगाह में तेल गोदी योजना तथा मंगलौर और तूतीकोरन बन्दरगाह परियोजनाओं को पूरा किया गया।

पाँचवीं योजना—पाँचवीं योजना में जहाजरानी की क्षमता बढ़ाकर 96 लाख टन करना था तथा बन्दरगाहों और शिपयार्ड की क्षमता बढ़ाने का भी उद्देश्य था। भारतीय पोत परिवहन का स्थान एशिया महाद्वीप में प्रथम है तथा विश्व में 16वाँ है। 1978 तक 53.6 लाख टन क्षमता के 375 जहाज थे। 1977 में पहली बार 2 रेफ्रीजरेटेड जहाज चलाये गये।

छठवीं योजना छठवीं योजना में जहाजरानी की क्षमता 1984-85 तक 83 लाख टन तक पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया है तथा उद्योग के विकास के लिए 2,196 करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया है। योजनावधि में भारतीय जहाजरानी ने भारत से माल ले जाने में भी अच्छी उन्नति की है। 1955-56 में विदेशी व्यापार में भारतीय जहाजों का हिस्सा 6.5 प्रतिशत था. यह 1979-80 में बढ़कर 32 प्रतिशत हो गया।

योजना काल में जहाजरानी का विकास निम्न प्रकार हुआ है—

जहाजरानी की क्षमता का विकास

वर्ष	क्षमता (लाख GRT)	जहाजों की संख्या
1550-51 (प्रथम वर्ष प्रथम पंचवर्षीय योजना)	3·7	94
1955-56 (अन्तिम ,, ,, ,,)	4·8	126
1960-61 (,, ,, द्वितीय ,, ,,)	8·6	172
1965-66 (,, ,, तृतीय ,, ,,)	15·1	220
1973-74 (,, ,, चतुर्थ ,, ,,)	30·9	274
1675-76 (द्वितीय ,, पंचम ,, ,,)	47·2	336
1978-79 (— — ,, ,,)	56·0	381
1980-81 (— — ,, ,,)	60·5	407

जहाजरानी की वर्तमान स्थिति—विकासशील क्षेत्रों में भारत का व्यापारिक जहाजी बेड़ा सबसे बड़ा है और जहाजी टन भार में विश्व में उसका स्थान पन्द्रहवाँ हैं।

जहाजरानी की वर्तमान स्थिति का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :—

1. **क्षमता**—31 मार्च 1982 को भारत का चालू टन भार 60·5 लाख

जी० आर० टी० (सकल टन) था जबकि स्वतंत्रता के समय 1·90 लाख जी० आर० टी० ही था।

2. जहाजी कम्पनियाँ—देश में 63 जहाजी कम्पनियाँ हैं, इनमें से 17 कम्पनियाँ पूर्णतः तटवर्तीय व्यापार में, 40 कम्पनियाँ पूर्णतः समुद्रपारीय व्यापार में और 6 कम्पनियाँ दोनों प्रकार के व्यापार में लगी हैं। केन्द्रीय सरकार की दोनों जहाजी कम्पनियाँ 'शिपिंग कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया' तथा 'मुगल लाइन्स' समुद्रपारीय और तटवर्तीय दोनों प्रकार के व्यापार में लगी हैं। शिपिंग कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया विश्व की बड़ी जहाजी कम्पनियों में से एक है।

3. भारत में बन्दरगाह (Ports)—भारत की 6,100 किलोमीटर लम्बी समुद्रतटीय रेखा पर 10 बड़े और 160 छोटे तथा मँझले बन्दरगाह हैं। भारत के बड़े बन्दरगाह बम्बई, कलकत्ता, हल्दिया, कोचीन, मद्रास, विशाखापट्टनम, कान्दला, पाराद्वीप, मर्मुगाओ, मंगलोर (मैसूर) तथा तूतीकोरन (तमिलनाडु) हैं।

4. जहाजरानी संगठन—देश में जहाजरानी के सफल संचालन के लिए कुछ संस्थाएँ भी कार्य कर रही हैं। इनमें **'राष्ट्रीय जहाजरानी बोर्ड'** (National Shipping Board), **'जहाजरानी समन्वय समिति'** (Shipping Co-ordination Committee), **'अखिल भारतीय जहाजरानी परिषद्'** (All India Shipping Council), **'जहाजरानी विकास कोष समिति'** (SDFC) तथा **'इण्डियन नेशनल स्टीमशिप ओनर्स एसोसियेशन'** मुख्य हैं।

5. जहाजरानी निर्माण या पोत निर्माण—भारत में इस समय चार समुद्री जहाज निर्माण करने वाली संस्थाएँ हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र में हैं :—

(i) **हिन्दुस्तान शिपयार्ड, विशाखापट्टनम**—यह शिपयार्ड अब तक 80 जहाज बना चुका है इस यार्ड की क्षमता प्रतिवर्ष 21,500 DWT के 2 या 3 जहाज बनाने की है। लेकिन इसको 80,000 DWT के 14 जहाज बनाने की क्षमता तक लाया जा रहा है। यह कारखाना काफी उन्नति कर रहा है। यहाँ एक जहाज घाट प्रशिक्षण स्कूल है।

(ii) **गार्डन रीच शिप बिल्डर्स एण्ड इन्जीनियर्स, कलकत्ता**—इस वर्कशाप में कर्षण नावें (Tug), बजरे, निकर्षण पोत (ड्रेजर्स) और तटपोत बनते हैं। अब इसमें 15 हजार से 35 हजार DWT के समुद्री व्यापारिक जहाज बनाने की क्षमता है।

(iii) **मझगाँव डॉक, बम्बई**—यह इकाई मुख्य रूप से भारतीय जल सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसमें माल ढोने के जहाज, माल तथा यात्री जहाज और निकर्षण पोत बनाने की भी क्षमता है। इसका सहायक गोआ जहाज निर्माण घाट लाँच और कर्षण नावें तैयार करता है तथा जहाजों की मरम्मत भी करता है।

(iv) **कोचीन शिपयार्ड**—इस शिपयार्ड का निर्माण-कार्य जापान की एक फर्म के सहयोग से किया गया है। इसमें 85,000 DWT के जहाजों का निर्माण करने तथा 1,00,000 DWT तक के जहाजों की मरम्मत करने की व्यवस्था है। यहाँ 5 जहाज एक वर्ष में बनने की क्षमता है।

का शत-प्रतिशत तथा विदेशी व्यापार का कम से कम 50 प्रतिशत भाग किया जाना चाहिए।

(2) **जहाजी क्षमता का अभाव**—भारत में जहाजी क्षमता का अभाव है। भारत की जहाजी क्षमता विश्व क्षमता का केवल 1% है; अतः भारतीय जहाजी क्षमता बढ़ाने की आवश्यकता है, ताकि विदेशी व्यापार से लाभ कमाया जा सके।

(3) **रेल से प्रतियोगिता**—सामान्यतः जहाजों द्वार माल ढोने का व्यय रेलों की अपेक्षा कम होतो है परन्तु रेलें कम दर पर ही वस्तुओं की एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती हैं। रेलों की इस प्रतियोगिता के कारण तटीय जहाजरानी को कठिनाई होती है। रेल समुद्र समन्वय समिति (1955) में इस प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए सुझाव दिया था कि (i) रेल-भाड़े लागत-व्यय के अनुसार निश्चित किये जाएँ तथा (ii) कोयले का भाग रेलों से हटाकर समुद्र मार्ग को दे दिया जाय। परन्तु रेलों की प्रतियोगिता अब भी जारी है। रेलों की प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध चाहिये।

(4) **जहाजों की कीमत में वृद्धि**—वर्तमान समय में जहाजों की कीमत बहुत अधिक बढ़ गये हैं। ब्रिटेन में नये जहाजों का मूल्य सन् 1945 की अपेक्षा इस समय लगभग 175% अधिक है। भारत में जहाजों की कीमत ब्रिटेन से भी अधिक है। जहाजों की अधिक माँग के कारण ही उनकी कीमत में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अतः सरकार को जहाज-निर्माण कार्य में अधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिये।

(5) **ध्वजा भेद**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक जहाजी सम्मेलन है जिनमें विदेशी जहाजी कम्पनियों का प्रभुत्व है, इन सम्मेलनों में भारतीय जहाजरानी को सदस्यता नहीं दी जाती है, जिससे वे सम्मेलनों के मार्ग पर अपना व्यापार नहीं कर पाती।

(6) **उपयुक्त बन्दरगाहों के लिये सुविधाओं का अभाव**—भारतीय समुद्र-तट 6083 कि० मी० लम्बा होने के बावजूद भी उपयुक्त बन्दरगाहों का अभाव है क्योंकि किनारे सपाट हैं, कटे-फटे नहीं।

(7) **जहाजों की मरम्मत**—वर्तमान समय में हमारे देश में 8 ऐसे कारखाने हैं जिनमें जहाजों की मरम्मत होती है। परन्तु टन क्षमता विस्तार की दृष्टि से यह सुविधाएँ जहाजी बेड़े को समुचित दशा में रखने के लिए कम है।

(8) **संचालन व्यय बढ़ाना**—भारतीय जहाजों का संचालन व्यय बहुत ही ज्यादा है और प्रतिदिन बढ़ रहा है। इसका कारण यह है कि कोयला, तेल की कीमतें, लदाई व्यय, सामुद्रिक कर, नहर कर, मजदूरी वेतन आदि बढ़ गए हैं।

(9) **अकुशल व छोटी कम्पनियाँ**—इस समय भारतीय समुद्र-तट पर छोटी-बड़ी 27 कम्पनियाँ व्यवसाय करती हैं, उनके कार्य का स्तर बहुत ही निम्न है।

(10) **प्रशिक्षण सुविधाओं को अपर्याप्तता**—भारतीय जहाजरानी की टनभार क्षमता तो तीव्र गति से बढ़ रही है किन्तु कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की सुविधाओं में वृद्धि असंगति से नहीं हो रही है।

(11) **प्राविधिक ज्ञान में कमी**—देश के जहाजों के डिजायन और अन्य जहाज सम्बन्धी प्राविधिक ज्ञान की कमी है।

(12) **अन्य समस्यायें**—(1) स्वदेशी जहाजी कम्पनियों के पास पूंजी का अभाव। (2) भारतीय बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमिकों द्वारा आये दिन हड़-ताल और अन्य अवरोधात्मक क्रियायें। (3) अधिक पूंजी लगने से इस उद्योग पर भी मोनोपोली का नियन्त्रण लागू है। विकास छूट, विदेशी और देशी ऋण अत्यधिक ब्याज चुकाने की समस्याओं से भी वह त्रस्त है।

भारतीय जहाजरानी के तीव्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त समस्याओं का समाधान किया जाय।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में जहाजरानी के विकास का विवेचन कीजिए तथा इसकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए।

2. देश में जहाजरानी के विकास की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए उन्हें सुलझाने के लिए सुझाव दीजिए।

36

भारत में वायु परिवहन
(Air Transport in India)

महत्त्व, विशेषताएँ एवं सीमाएँ—श्री फेचर एवं विलियम्स के शब्दों में "मनुष्य को उपलब्ध परिवहन के साधनों में वायु परिवहन सबसे नवीनतम, सबसे अधिक विकासोन्मुख, सबसे अधिक चुनौती देने वाला और हमारे आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सबसे अधिक क्रांति लाने वाला है।" वस्तुतः वर्तमान युग में आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक सभी दृष्टियों में वायु परिवहन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाएगा—

(i) व्यापारिक क्षेत्र में महत्त्व—वायु परिवहन व्यापारिक क्षेत्रों के विस्तार करने में काफी सहयोग देते हैं, जैसे—(अ) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ यथा अण्डा, मछली, दूध आदि वायुयान द्वारा अल्प समय में विश्व के कोने-कोने में पहुँच जाती हैं। (ब) बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे हीरा, जवाहरात आदि वायु परिवहन द्वारा भेजना सुविधाजनक व सुरक्षापूर्ण रहता है। (स) तार द्वारा आदेश प्राप्त करके थोड़ी ही अवधि में माल भेज दिया जाता है। (द) समाचारपत्र-पत्रिकाएँ भी वायु यातायात के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान भेजी जा सकती हैं। (य) एक उद्योगपति वायुयान द्वारा प्रधान कार्यालय पर से शाखा कार्यालय पर पहुँच कर उनका उचित प्रबन्ध कर सकता है।

(ii) कृषि क्षेत्र में महत्त्व—कृषि-विकास के क्षेत्र में भी वायु परिवहन का योगदान प्रशंसनीय है (अ) वायुयानों द्वारा कीटनाशक पाउडर फसलों पर छिड़क कर उसकी रक्षा की जाती है। (ब) हवाई जहाजों द्वारा टिड्डियों के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया जाता है। (स) वायुयान खेतों के बोने में सहायता करते हैं तथा उनका प्रयोग खेतों में खाद डालने के हेतु भी किया जाता है।

(iii) देश की सुरक्षा में महत्त्व—(अ) देश के अन्दर साम्प्रदायिक झगड़े व राजनैतिक उपद्रव आदि की स्थितियों को वायुयान द्वारा पुलिस या सेना को घटनास्थल पर शीघ्रातिशीघ्र भेजकर नियंत्रित कर लिया जाता है। (ब) विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने में वायु परिवहन का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है, क्योंकि इनके

माध्यम से सैनिक क्षेत्र के अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन पदार्थ इत्यादि बहुत कम समय में भेजा जाता है। घायल सैनिकों को औषधियों व चिकित्सा-सहायता समय पर पहुँचाने और खतरे के समय उनकी प्राणरक्षा करने में भी वायु परिवहन का अद्वितीय योग रहता है। वायु फोटोग्राफी द्वारा शत्रु सेना तथा उनके गुप्त सैनिक अड्डों का पता लगाया जाता है। वायुयान को आधुनिक युग का विजय दूत कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

(iv) **राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास**—आज वायुयानों के फलस्वरूप एक देश के विभिन्न भाग निकट आ चुके हैं। विदेशों से सम्बन्ध घटित हुए हैं एवं विश्व सरकार की स्थापना के आसार बढ़ हैं। अतः वायु परिवहन सांस्कृतिक एकता व सम्पर्क बढ़ाने में योगदान देता है।

(v) **आपत्ति के समय महत्व**—आपत्ति काल में जैसे बाढ़, भूकम्प और युद्ध में वायु परिवहन का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। जब लाखों व्यक्ति बाढ़ में फँस जाते हैं तब उनको सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने का कार्य वायुयान ही करते हैं। भारत में आसाम के अकाल के समय अकाल पीड़ित जनता की रक्षा वायुयान द्वारा यथा-समय खाद्यान्न पहुँचा कर की गई थी।

(vi) **अन्य महत्व**—(i) वनों में लगी आग को बुझाने में वायुयानों से बड़ी सहायता ली जाती है। (ii) वायु फोटोग्राफी से विविध कार्यों के लिए विस्तृत क्षेत्रों का सर्वेक्षण सुविधाजनक हो गया। (iii) विमानों द्वारा मच्छरों को मारकर मलेरिया से छुटकारा पाया जा सकता है। (iv) इससे ऋतु-विज्ञान को सहायता मिलती है। (v) वायु परिवहन में अन्य मार्गों की भाँति मार्ग-निर्माण में व्यय नहीं करना पड़ता।

विशेषताएँ

वायु परिवहन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो परिवहन के अन्य साधनों में नहीं है—

(i) **द्रुतगति**—वायु परिवहन सबसे अधिक तीव्रगामी है। इसकी औसत गति 500 किलोमीटर प्रति घण्टे तक हो गई है। आजकल इनकी गति ध्वनि की गति से भी दुगनी होती जा रही है।

(ii) **भौगोलिक बाधाओं से मुक्ति**—वायुयान, स्थल और जल दोनों के ऊपर बिना किसी विशेष बाधा के उड़ जाता है। ऊँची-नीची भूमि, घने वन, मरुस्थल, बर्फीले प्रदेश, समुद्र आदि भौगोलिक बाधाएँ उसके मार्ग में बाधक नहीं होतीं।

(iii) **मार्ग व्यय में बचत**—वायु परिवहन में सड़कों, रेलों अथवा अन्य मार्गों की भाँति मार्ग-निर्माण में व्यय नहीं लगता, क्योंकि आकाश प्रकृति की निःशुल्क देन है।

सीमाएँ

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी वायु परिवहन को कुछ अग्रलिखित सीमाएँ हैं—

(i) प्रतिकूल मौसम, जैसे कुहरा, तेज हवा, बादल, अधिक बर्फ आदि वायु परिवहन की सेवा की अनिश्चितता को बढ़ाता है।

(ii) रेलों और जलयानों की दुर्घटना की अपेक्षा विमान दुर्घटनाओं की संख्या अधिक रहती है। प्रत्येक दुर्घटना के पश्चात् यातायात की प्रवृत्ति घटने की हो जाती है।

(iii) वायुयानों के निर्माण और उनकी मरम्मत, कल-पुर्जों, तेल आदि पर खर्च अधिक बैठता है, इसलिए वायुयान का किराया बहुत अधिक होता है अतः केवल धनी व्यक्ति एवं मूल्यवान पदार्थ ही, जो अधिक किराया सहन कर सकते हैं, वायुयान का उपयोग कर पाते हैं।

(iv) तीव्रगति से तकनीकी विकास होने के कारण वायुयान आदि अपेक्षाकृत कम समय में अप्रचलित हो जाते हैं।

(v) वायुयान के चलने पर तीव्र ध्वनि होती है जो कानों को अच्छी नहीं लगती।

(vi) वायुयान अपने देश के वायुमण्डल में ही उड़ सकते हैं। दूसरे देश की वायु सीमाओं में उड़ने के लिए उस देश की सरकार से हवाई समझौता करके आज्ञा लेनी पड़ती है। फलतः वायु परिवहन कम्पनियाँ विभिन्न सरकारों की दया पर निर्भर हैं। दो देशों में युद्ध होने पर भी वायु सेवा स्थगित करनी पड़ती है।

भारत में वायु परिवहन का विकास

भारत में वायु परिवहन अति प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा। रामायण में श्री रामचन्द्र जी के लंका से पुष्पक विमान द्वारा लौटने का वर्णन मिलता है। आधुनिक युग में, भारत में सन् 1911 से प्रयोगात्मक उड़ान प्रारम्भ हुई थी, जबकि बम्बई व कराची के बीच प्रथम बार उड़ान की व्यवस्था की गई थी। परन्तु भारत में वायु परिवहन का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1927 से हुआ, जबकि नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई और कई उड्डयन क्लब (Flying Clubs) स्थापित किए गए। सन् 1929 में ब्रिटेन, फ्रांस व हालैण्ड की साम्राज्य वायु सेवा (Empire Air Services) के विमान भारत में भी आने-जाने लगे।

भारतीय प्रयास—भारत में वायु परिवहन आरम्भ करने के लिए टाटा बन्धुओं ने सबसे पहला कदम उठाया। टाटा एण्ड सन्स लिमिटेड ने सन् 1932 में टाटा एयरवेज कम्पनी की स्थापना की, जिसने प्रति सप्ताह एक बार करांची और मद्रास के बीच वायु उड़ान संगठित की धीरे धीरे टाटा एण्ड सन्स ने इलाहाबाद, कलकत्ता और कोलम्बो के बीच वायु परिवहन सेवा शुरू कर दी। सन् 1933 में एक दूसरी भारतीय वायु कम्पनी इण्डियन नेशनल एयरवेज स्थापित की गई। इसके वायुयान करांची-लाहौर तक चलाए गए। इन्हीं दो कम्पनियों ने हमारे देश में वायु परिवहन

की नींव डाली। सन् 1936 में एयर सर्विस आफ इण्डिया (Air Service of India) की स्थापना की गई और इनके वायुयान बम्बई काठियावाड़ मार्ग पर चलाए गए। किन्तु मितव्ययिता की कमी के कारण इस कम्पनी को अधिक हानि होने से इसे सन् 1940 में बन्द कर दिया गया।

साम्राज्य हवाई डाक योजना (Empire Air-Mail Scheme)—भारत में वायु परिवहन के विकास के लिए एक नया प्रशंसनीय कदम सन् 1938 में साम्राज्य हवाई डाक योजना शुरू करना था। इस सेवा के अन्तर्गत साम्राज्य के सभी देशों में वायुयान द्वारा डाक पहुँचाने का निश्चय किया गया। इसके अन्तर्गत टाटा एयरवेज लिमिटेड तथा इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड के साथ 15 वर्ष के लिए समझौता किया गया। सरकार ने टाटा सन्स लिमिटेड को 15 लाख रुपए वार्षिक देने की गारण्टी दी और इस कम्पनी ने नियमित मार्गों पर 5,00,000 पौंड भार की डाक ले जाने का वचन दिया। इण्डियन नेशनल एयरवेज को लाहौर-करांची मार्ग पर 1,30,000 पौंड वार्षिक डाक ले जाने के लिए 3·25 लाख रुपए देने का वचन दिया गया। इस हवाई डाक योजना से भारत में वायु परिवहन के विकास को काफी प्रोत्साहन मिला। द्वितीय महायुद्ध-काल में साम्राज्य वायु सेवा बन्द कर दी गयी। सन् 1942 में इन दोनों कम्पनियों को War Transport Command के अधीन कर दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध—द्वितीय महायुद्ध काल में वायु परिवहन को अधिक प्रोत्साहन मिला। इस युद्ध में समस्त वायु सेवाएँ सरकार तथा सुरक्षा के कार्यों में लग गयीं। भारत की प्रमुख दो कम्पनियाँ 16 मार्गों पर जहाज चला रही थीं। युद्ध ने फ्लाइंग क्लबों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त योग्य छात्रों को एयरफोर्स में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। सन् 1940 में श्री बालचन्द हीराचन्द ने मैसूर राज्य के सहयोग से बंगलौर में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी की स्थापना की। सन् 1942 में भारत सरकार ने बालचन्द हीराचन्द का हिस्सा खरीद लिया। संक्षेप में युद्धकाल में देश के हवाई अड्डों, हवाई स्थलों और पायलटों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् 1944 में सन् 1938 की अपेक्षा यात्रियों की संख्या तथा ढोए गए माल की मात्रा में क्रमशः 8 गुनी तथा 3 गुनी वृद्धि हुई।

युद्धोत्तर पुनर्संगठन नीति—युद्ध समाप्त होने पर वायु यातायात के विकास के लिए Reconstruction Policy Sub-Committee on post-war Aviation 1946 नियुक्त की गई, जिसने वायु यातायात के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। भारत सरकार ने इन सुझावों को मानकर और उनके आधार पर परिवहन की उन्नति एवं विकास के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की। समिति के सुझाव इस प्रकार थे :—

(i) व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा देश की वायु सेवा संचालित की जानी चाहिए।

(ii) किसी भी कम्पनी को बिना लाइसेन्स लिए इस क्षेत्र में काम न करने दिया जाना चाहिए।

(iii) कम्पनियों पर ही हानि-लाभ का सम्पूर्ण दायित्व होना चाहिए।

(iv) आवश्यकता पड़ने पर विशेष अवस्थाओं में सरकार द्वारा कम्पनियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

(v) विशेष परिस्थितियों में सरकार को कम्पनियों के संचालन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए।

सन् 1946 में **वायु परिवहन लाइसेंसिंग बोर्ड** स्थापित किया गया जो लाइसेन्स देने का कार्य करता था। इस बोर्ड की स्थापना के बाद वायु-परिवहन ने काफी उन्नति की। इस बोर्ड के स्थापित होने के दो वर्ष के अन्दर ही 11 नई कम्पनियों को लाइ-सेन्स दिए गए।

अब सन् 1947 में भारत विभाजित हुआ तो ओरिएन्ट एयरवेज अपना हेड-आफिस करांची ले गई। एक अन्तर्राष्ट्रीय एयरपोर्ट, एक बड़ा हवाई अड्डा एवं छः मध्यम व लघु हवाई अड्डे भी पाकिस्तान में चले गए। विभाजन के पश्चात् भारतीय वायु परिवहन ने आशातीत उन्नति की। सन् 1847 से 1950 तक वायु परिवहन के विकास पर 6·6 करोड़ रुपया खर्च किया गया।

वायु परिवहन जाँच समिति (Air Transport Inquiry Committee)—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत में वायु परिवहन का विकास बहुत ही अव्यवस्थित था। अतः फरवरी सन् 1950 में वायु परिवहन जाँच समिति की नियुक्ति की गई। इसने अपनी रिपोर्ट में वायु परिवहन की अवस्था को सुधारने के लिए निम्न सुझाव दिए—

(i) तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए केवल 4 वायु परिवहन कम्पनियाँ होनी चाहिए, जिनके मुख्य कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हैदराबाद में स्थापित हों।

(ii) अस्थायी लाइसेन्सों की अवधि खत्म होने पर उनका नवीनीकरण नहीं किया जाना चाहिए।

(iii) कम्पनियों के भाड़े का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कम्पनियों को अपनी पूंजीगत स्थायी सम्पत्ति का 10 प्रतिशत लाभ प्राप्त हो सके।

(iv) वायुयान कम्पनियों के लाभ पर केन्द्रीय सरकार द्वारा अपना नियन्त्रण जारी रखी जाय।

(v) कम्पनियों को सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता सन् 1952 तक जारी रखी जाय।

(vi) लाइसेन्स-बोर्ड का पुनर्गठन होना चाहिए।

(vii) वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण अगले 5 वर्षों तक स्थगित रखा जाय।

वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण—उपर्युक्त रिपोर्ट के पश्चात् भी कम्पनियों की आर्थिक स्थित खराब हो गई, और निजी कम्पनियाँ स्वेच्छा से एकीकृत नहीं हुईं, इसलिए सरकार को वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा।

सन् 1953 में वायु निगम अधिनियम पास किया गया, जिसके द्वारा वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के कार्य को सम्पन्न करने के लिए दो वायु निगम स्थापित किए गए :—

(अ) **एयर इण्डिया इन्टरनेशनल कारपोरेशन** (Air India International Corporation)—अब इसका नाम एयर इण्डिया (Air India) है। इसके वायुयान विश्व के समस्त मुख्य वायु मार्गों पर चलाए जाते हैं।

(ब) **इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन** (Indian Airlines Corporation) — इस निगम की स्थापना 8 वायुयान कम्पनियों को मिलाकर की गई। यह देश के अधिकांश प्रमुख केन्द्रों को मिलाता है तथा बर्मा, श्रीलंका, अफगानिस्तान और नेपाल जैसे पड़ोसी देशों को भी सेवा प्रदान करता है।

योजनाकाल में वायु परिवहन का विकास

1. **प्रथम पंचवर्षीय योजना**—सन् 1947 से प्रथम योजनाकाल के प्रारम्भ तक वायु परिवहन विकास के लिए 6·6 करोड़ रुपए व्यय किए गए। प्रथम योजना में वायु परिवहन पर 7·2 करोड़ रुपए व्यय किए गए। योजनाकाल में हवाई अड्डे संचार सुविधाओं और यन्त्र-उपकरण आदि की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। सन् 1947 से प्रथम योजना के अन्त तक यात्रियों की संख्या से 34 प्रतिशत और माल के परिवहन में 1,700 प्रतिशत वृद्धि हुई।

2. **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में वायु परिवहन पर 15.9 करोड़ रुपए व्यय किए गए। वायुयान के विकास को काफी महत्त्व दिया गया, ताकि बढ़ती हुई माँग की पूर्ति हो सके। बम्बई (शान्ताक्रुज), कलकत्ता (दमदम) और दिल्ली (पालम) के हवाई अड्डों पर विस्तृत कार्यक्रम प्रारंभ किए गए तथा उन्हें जेट वायुयानों की सेवा के योग्य बनाया गया। इसके अतिरिक्त, वायु सेवा सम्बन्धी प्रशिक्षण व्यवस्था का केन्द्रीयकरण इलाहाबाद में किया गया।

3. **तृतीय पंचवर्षीय योजना**—इस योजना में वायु परिवहन पर 49 करोड़ रुपए व्यय किए गए। तीसरी योजना में विद्यमान धावन-पथों (Runways) का प्रसार करने, टैक्सी पथ, एपरान (Apron) अड्डों के सीमांत भवन एवं अन्य तकनीकी इमारतें बनाने और धावन-पथों पर प्रकाश का स्थायी प्रबन्ध करने के कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी गई। तृतीय योजना के प्रथम दो वर्षों में एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की उपलब्ध क्षमता में 61 प्रतिशत की तथा इसके द्वारा ढोये जाने वाले माल के 46 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इण्डियन एयरलाइन्स के ये आँकड़े क्रमशः 20% तथा 18% हैं।

4. **वार्षिक योजनायें** (Annual Plans 1966-69)—इन योजनाओं में वायु परिवहन पर 70 करोड़ रुपए व्यय किए गए।

5. **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में वायु परिवहन**—इस योजना में 202 करोड़ रुपए वायु परिवहन पर व्यय किए गए हैं जिसमें से 72 करोड़ रुपए नागरिक उड्डयन विभाग पर, 55 करोड़ रु० इंडियन एयर लाइन्स पर, 60 करोड़ रु० एयर इण्डिया

पर तथा 15 करोड़ रु० भारतीय ऋतु सूचना विभाग पर व्यय किए गए। योजनावधि में बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास के चार अन्तर्राष्ट्रीय विमान स्थलों पर विमानों के अवतरण पथ, सीमान्त भवन एवं संचार सुविधाओं को उन्नत किया गया। आन्तरिक वायु सेवाओं के लिए विभिन्न विमान घाटों के विकास के लिए भी प्रयास किया गया।

पाँचवीं योजना—इस योजनावधि में दिल्ली और बम्बई के हवाई अड्डों पर अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र और उसी स्तर की सुविधाएँ बढ़ाई गईं। कलकत्ता और मद्रास के वर्तमान हवाई अड्डों की इमारतों का विस्तार किया गया। सुदूर पूर्व मार्ग पर नई जम्बूजेट सेवायें प्रारम्भ की गईं। इस योजना में विशाल वायुयानों के खरीदने का कार्य भी किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात वायु परिवहन ने काफी प्रगति की है जिसे निम्न सारणी में प्रदर्शित किया गया है—

वायु परिवहन की अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उड़ान (करोड़ कि० मी०)	यात्री (लाखों में)	माल एवं डाक सेवा (टनों में)
1947	2 2	3·1	4,560
1971	6·3	26·3	52,000
1973	6·4	33·7	61,300
1974	5·4	28·4	52,200
1977	8·0	51·4	89,300
1979	8·2	65·6	114,000
1980	8·4	65 2	128,000

छठी योजना में वायु परिवहन के विकास पर 850 करोड़ रु० व्यय करने का प्रस्ताव रखा गया है। इस (1980-85) व्यय का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :—

क्षेत्र	परिव्यय (करोड़ रु०)
1. एअर इण्डिया	277
2. इण्डियन एअरलाइन्स	272
3. इण्टरनेशनल एअरपोर्ट्स अथॉरिटी ऑफ इण्डिया	141
4. सिविल एवियेशन डिपार्टमेंट	143
5. तृतीय स्तर वायु सेवाएँ	17
	850

छठवीं योजना में वायु परिवहन विकास नीति के प्रमुख उद्देश्य अग्रलिखित प्रकार हैं :—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों पर अतिरिक्त क्षमता विकसित करना, जिससे कार्य के चरम घण्टों में कार्य को सुविधा से किया जा सके, (2) कार्यशाला एवं रख-रखाव की सुविधाओं में वृद्धि करना, तथा (3) हवाई अड्डों पर सुरक्षा प्रदान उपकरणों में वृद्धि करना। छठवीं योजना में एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम उत्तरपूर्वी क्षेत्रों में संचार की अच्छी सुविधाएँ विकसित करने की दृष्टि से तृतीय स्तर वायु सेवा का विकास करना है।

वायु परिवहन की वर्तमान स्थिति

देश में वायु परिवहन की वर्तमान स्थिति निम्न प्रकार है :—

(1) **इण्डियन एअरलाइन्स**—इण्डियन एअरलाइन्स देश भर में नागरिक वायु यातायात को संचालित करती है। वर्तमान समय में भारत के 70 नगर इण्डियन एअरलाइन्स की सेवाओं से वायु-मार्ग द्वारा जुड़े हुए हैं। 31 मार्च, 1981 को इण्डियन एअरलाइन्स के पास 49 वायुयान थे। जिनमें 8 एअर बस, 19 बोइङ्ग—737, 8 फोकर—27 तथा 14 एच० एस०—748 वायुयान शामिल थे।

(2) **एअर इण्डिया**—इस निगम का कार्य पाँच महाद्वीपों में फैला हुआ है। सन् 1981 में एअर इण्डिया की उड़ानों पर 46 स्टेशन थे। 31 मार्च, 1981 को इसके पास 17 बोइङ्ग जहाज थे।

(3) **वायुदूत**—यह संस्था पूर्णतः सरकारी है और इसने अपना कार्य 26 जनवरी, 1981 से प्रारम्भ किया है। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य उन छोटे शहरों व नगरों को शीघ्र परिवहन सेवा प्रदान करना है जो इण्डियन एअरलाइन्स से सम्बन्धित नहीं हैं। इस समय यह तीन क्षेत्रों के 16 स्थानों को सेवा प्रदान कर रही है जिसे अब 33 स्थानों तक बढ़ाया जा रहा है। यह उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में लुधियाना से दिल्ली, चण्डीगढ़, देहरादून व कूलू तथा पूर्वी क्षेत्र में कलकत्ता, जमशेदपुर, राँची, पटना, मुजफ्फरपुर व राउरकेला आदि की सेवा प्रदान कर रही है।

(4) **हवाई अड्डे**—इस समय देश में 49 हवाई अड्डे हैं जहाँ से यात्री व माल लाने या ले जाने की सुविधा प्राप्त है। इसमें से 4 हवाई अड्डे अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे हैं : (i) सान्ताक्रूज (बम्बई), (ii) दमदम (कलकत्ता), (iii) पालम (दिल्ली), व (iv) मीनमबाकम (मद्रास)। इनके अतिरिक्त 22 बड़े, 20 मध्य-श्रेणी व 43 छोटे अड्डे हैं।

(5) **उड़ान एवं ग्लाइडिंग क्लब**—इस समय देश में 20 उड़ान क्लब (Flying Clubs), 5 उड़ान प्रशिक्षण केन्द्र, 8 ग्लाइडिंग क्लब तथा 7 ग्लाइडिंग विंग्स हैं। ये उड़ान क्लब वायु परिवहन के संचालन में शिक्षण के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। इनके अतिरिक्त इलाहाबाद में नागरिक उड्डयन प्रशिक्षण केन्द्र भी है।

(6) **विमान निर्माण**—सन् 1964 से हिन्दुस्तान ऐरोनॉटिक लि० वायु सेना और नागरिक उड्डयन दोनों के लिये विमान निर्माण का कार्य कर रही है। इस समय इस कम्पनी की 6 राज्यों में 11 फैक्टरियाँ हैं।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय समझौते**—अब तक 39 देशों के साथ वैमानिक समझौते किये जा चुके हैं जिनमें से कुछ प्रमुख देश इस प्रकार हैं—अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, श्रीलंका, फ्रांस, जापान, पाकिस्तान, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, ईरान, संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, रूस, इटली, हंगरी, पश्चिमी जर्मनी, मलेशिया, संयुक्त अरब गण-राज्य आदि।

वायु परिवहन की समस्याएँ

भारत में वायु परिवहन की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

1. **आर्थिक समस्याएँ**—आर्थिक दृष्टि से वायु परिवहन को निम्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है—

(i) **वित्तीय संसाधनों का अभाव**—नये-नये प्रकार के वायुयानों का आविष्कार एवं उनका विकास भारत से लिए वित्तीय संकट बन गया। अभी कुछ समय पूर्व बोइंग 747 खरीदने पर काफी व्यय किया गया था और अब जम्बो जेट खरीदने पर पुनः करोड़ों रुपये खर्च किया जा रहा है। भविष्य में किसी अन्य प्रकार के वायुयान की आवश्यकता होगी। इन सबका निर्माण भारत में न होने के कारण इन पर विदेशी मुद्रा व्यय करनी पड़ती है जिसकी हमारे यहाँ पहले से ही कमी है।

(ii) **अधिक किराया**—भारत के अंदर एवं बाहर जाने के लिए इंडियन एयर लाइन्स एयर एवं इंडिया के किराये इतने अधिक हैं कि अधिकांश व्यक्ति इसकी सेवाओं का लाभ नहीं उठा पाते हैं। किराया अधिक होने के दो कारण हैं—(क) अधिक संचालन व्यय तथा (ब) पूर्ण क्षमता का उपयोग न हो पाना। फलतः वायु परिवहन कुछ सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही रह गया है और लोकप्रिय एवं विकसित नहीं हो सका है।

(iii) **प्रतिस्पर्धा**—आंतरिक वायु परिवहन की दृष्टि से तो भारत में इंडियन एयरलाइन्स का एकाधिकार है किन्तु विदेशी प्रतिस्पर्धा की समस्या अत्यन्त भयावह रूप धारण किये हुए है। सीमित साधन एवं ऊँचे किराये के कारण एयर इंडिया अंत-र्राष्ट्रीय स्तर पर पीछे है।

2. **प्रशासनिक एवं प्रबन्धीय समस्याएँ**—प्रशासनिक एवं प्रबन्धकीय दृष्टि से वायु परिवहन को निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—

(i) **दोहरी प्रबन्ध व्यवस्था**—देश में वायु परिवहन का प्रबन्ध दो निगमों—इंडियन एयरलाइन्स कारपोरेशन और एयर इंडिया के हाथ में होने से अनावश्यक रूप से प्रबन्ध व्यय बढ़ जाता है। दुहरी प्रबन्ध क्षमता का कुप्रभाव कार्य क्षमता पर भी पड़ता है।

(ii) **सुविधाओं का अभाव**—भारतीय हवाई अड्डों पर आधुनिक सुविधाओं का अभाव है जिसके कारण वायु परिवहन की ओर कम यात्री आकर्षित होते हैं।

(iii) **प्रशिक्षण और अन्वेषण का अभाव**—भारत में वायुयान चालक प्रशिक्षण केन्द्र बहुत कम हैं और प्रशिक्षण भी काफी महँगा पड़ता है। अतः देश में चालकों का

अभाव बना रहता है और यह कमी हड़तालों में भी सहायक होती है। अन्वेषण कार्य भी नहीं के बराबर है।

(iv) **हड़तालें**—प्रशासनिक असमर्थता एवं अन्य कारणों से वायुयान चालक एवं अन्य कर्मचारी प्रायः हड़ताल करते रहते हैं। अनेक बार तो तालाबन्दी की नौबत आ गई और वायु सेवाओं को महीनों बन्द रखना पड़ा। इस प्रकार यात्रियों को अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है।

(v) **औपचारिकताएँ**—पर्यटकों को हमारे देश में कस्टम, आवास तथा स्वास्थ्य अधिकारियों की औपचारिकता के कारण काफी परेशानी उठानी पड़ती है। इसका वायु परिवहन के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

3. अन्य समस्याएँ—

(i) **सीमित क्षेत्र**—भारत में वायु परिवहन की सेवायें अत्यन्त सीमित हैं। आज भी ऐसे अनेक औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र हैं, जहां हवाई अड्डे नहीं हैं।

(ii) **वायुयान दुर्घटनाएँ एवं अपहरण**—वायुयान दुर्घटना एवं अपहरण भी वायु परिवहन के विकास में गतिरोध उत्पन्न करते हैं।

(iii) **उड्डयन क्लबों की कमी**—वर्तमान समय में देश में कुल 25 उड्डयन क्लब एवं 145 ग्लाइडिंग क्लब है। यह संख्या अत्यन्त न्यून है।

सुझाव—भारतीय वायु परिवहन की विविध समस्याओं के समाधान के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार है—

(i) वायुयान का अधिकाधिक यन्त्रीकरण किया जाय, वायु-यातायात नियंत्रण प्रणाली को सुधारा जाय, राडार यन्त्र आदि स्थापित किये जायँ।

(ii) वायु परिवहन सम्बन्धी शोध-कार्य को प्रोत्साहन दिया जाय, ताकि भविष्य में इस सेवा को सस्ता बनाया जा सके।

(iii) सरकार को निगमों के लिए पर्याप्त वित्त का प्रबन्ध करना चाहिये।

(iv) कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों का विकास किया जाना चाहिये तथा नये प्रशिक्षण केन्द्र खोलने चाहिये।

(v) वायु परिवहन की दुर्घटनाओं को कम करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये।

(vi) भार-वाहक विमानों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिये।

(vii) पर्यटकों के लिए अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी विभिन्न औपचारिकताओं को कम कर देना चाहिए।

(viii) भारत में वर्तमान दो निगमों के स्थान पर एक ही निगम बनाया जाय जिससे कि संचालन व्यय में कमी हो।

(ix) वायु परिवहन को लोकप्रिय बनाने हेतु किराये की दरें कम की जानी चाहिए।

(x) वायुयानों के निर्माण के लिए एक से अधिक कारखाने की आवश्यकता है।

(xi) मरम्मत कार्यों के लिए भी विशेष कारखानों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(xii) देश में विशेषज्ञों की एक समिति का निर्माण करके वायु परिवहन को लाभदायक बनाने की चेष्टा की जानी चाहिए।

भारत में वायु परिवहन का भविष्य

भारत में वायु परिवहन का भविष्य उज्ज्वल है। इसके पक्ष में निम्न तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है—

(अ) अनुकूल भौगोलिक स्थिति—भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक रचना एवं जलवायु के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि वायु परिवहन के विकास के लिए यहाँ पर्याप्त क्षेत्र है, क्योंकि भारत एक अत्यन्त विशाल देश है जिसके अनेक राज्यों का क्षेत्रफल योरोप के कई देशों से अधिक है। पूर्वी गोलार्द्ध में भारत की लगभग मध्यवर्ती स्थिति है। यहाँ की जलवायु मानसूनी है। अभी भारत को अपनी प्राकृतिक स्थिति का अनुकूलतम लाभ उठाना है।

(ब) शान्ति व सुरक्षा—हमारा देश अत्यन्त विशाल है, इसलिए वायु परिवहन की सहायता से सीमित संख्या में सेना रखकर देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित की जा सकती है। देश में प्राकृतिक प्रकोप जैसे अकाल, बाढ़, महामारी आदि होते ही रहते हैं, ऐसी परिस्थिति में वायु परिवहन का उपयोग 'रामबाण' सिद्ध हुआ है तथा होता रहेगा।

(स) विशाल व्यापार सम्भावनाएँ—अब हम वायु सेवाओं की विविध व्यापारिक संभावनाओं के प्रति भी जागरूक हैं, जैसे—(i) हीरा, सोना-चाँदी, सरकारी कागजात आदि बहुमूल्य वस्तुओं का सुविधाजनक यातायात; (ii) नाशवान वस्तुओं के व्यापार में वृद्धि; (iii) कुशल प्रबन्धकों की सेवाओं का व्यापार उपयोग व (iv) मूल्यों में स्थिरता लाना आदि। इस प्रकार बढ़ती हुई व्यापारिक सम्भावनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में वायु परिवहन का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

(द) कृषि व उद्योग के क्षेत्र में उपयोग—कृषि व उद्योग के क्षेत्र में वायु परिवहन का बढ़ता हुआ उपयोग भी इस बात का सूचक है कि हमारे देश में इसका भविष्य आशामय है। भारत में विमानों का उपयोग फसलों के रोग निवारण, नहर, पुल, बाँध, सड़कों से सम्बन्धित सर्वेक्षण करने व उद्योगों के प्रबन्ध हेतु किया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न

1. भारत में वायु परिवहन के महत्त्व तथा विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

2. भारत में वायु परिवहन के पिछड़ेपन के क्या कारण हैं ? इनके विकास के सुझाव दीजिए।

3. योजनाकाल में वायु परिवहन के विकास का वर्णन करते हुए इसकी वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए।

4. भारतीय वायु परिवहन की प्रमुख समस्याओं का विवेचन कीजिए तथा उनके समाधान के लिए उपाय कीजिए। क्या भारतीय वायु परिवहन का भविष्य उज्ज्वल है ?